देवीशंकर अवस्थी रचनावली

3

सम्पादक

रेखा अवस्थी

कमलेश अवस्थी

डॉ. देवीशंकर अवस्थी ने धर्मशास्त्र, तत्त्वमीमांसा, इतिहास, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र में हो रहे नये अनुसन्धानों के आलोक में भक्ति आन्दोलन के भावबोध और उसके ऐतिहासिक क्रम विकास को अपने निबन्धों/शोध में मुख्य चिन्तन-मनन का केन्द्र बनाया है। वे पर्याप्त साक्ष्यों से यह मान्यता रखते हैं कि वैदिक साधना से पहले भी 'धर्मभावना इस देश की धरती पर विद्यमान थी।' आर्यों या वेदपूर्व भक्ति अथवा धर्मभावना को वे 'लोक और वेद की सम्मिलित भूमि' पर देखने का प्रस्ताव करते हैं। बहुदेववाद और एकेश्वरवाद दोनों को भक्ति के सन्दर्भ में द्वन्द्वात्मक रूप में देखते हैं। वे यह भी मानते हैं कि हर प्रवृत्ति का उत्स वेदों में खोजना उचित नहीं है जैसे गाँधी की अहिंसा को बौद्ध धर्म से जोड़ना। गाँधी ने अपने मानवीय गुण को सामाजिक मूल्य बना दिया वैसे ही भक्ति के महत्त्व को समाज सापेक्षता एवं उसकी सामाजिक शक्ति (प्रभाव) के रूप में समझना अधिक तर्कसंगत होगा। वे भक्ति के विवेचन में ऐतिहासिक अन्वेषण और साहित्यिक समालोचना—दोनों प्रणालियों को एकाकार करते हैं। इनमें एक ओर जहाँ भक्ति के पौराणिक सन्दर्भ का विश्लेषण है तो दूसरी ओर आधुनिक दृष्टि से सर्वथा नयी व्याख्या का प्रस्फुटन और पल्लवन भी है।

(*सम्पादक की बात* से)

देवीशंकर अवस्थी रचनावली

आलोचना भक्ति

खण्ड तीन

'जौ लौं अनभै भाव न दरसै'

देवीशंकर अवस्थी रचनावली

आलोचना भक्ति

खण्ड तीन

सम्पादक
रेखा अवस्थी
कमलेश अवस्थी

वाणी प्रकाशन

वाणी प्रकाशन

4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली 110 002

शाखा

अशोक राजपथ, पटना 800 004

फ़ोन : +91 11 23273167 फ़ैक्स : +91 11 23275710

www.vaniprakashan.in
vaniprakashan@gmail.com
sales@vaniprakashan.in

DEVI SHANKER AWASTHI RACHNAWALI-3
Edited by Rekha Awasthi, Kamlesh Awasthi

ISBN : 978-93-87648-27-2
Rachnawali

प्रथम संस्करण

सम्पूर्ण (सेट) मूल्य : ₹ 7500

सिटी प्रेस, दिल्ली-110 095 में मुद्रित

वाणी प्रकाशन का लोगो मक़बूल फ़िदा हुसेन की कूची से
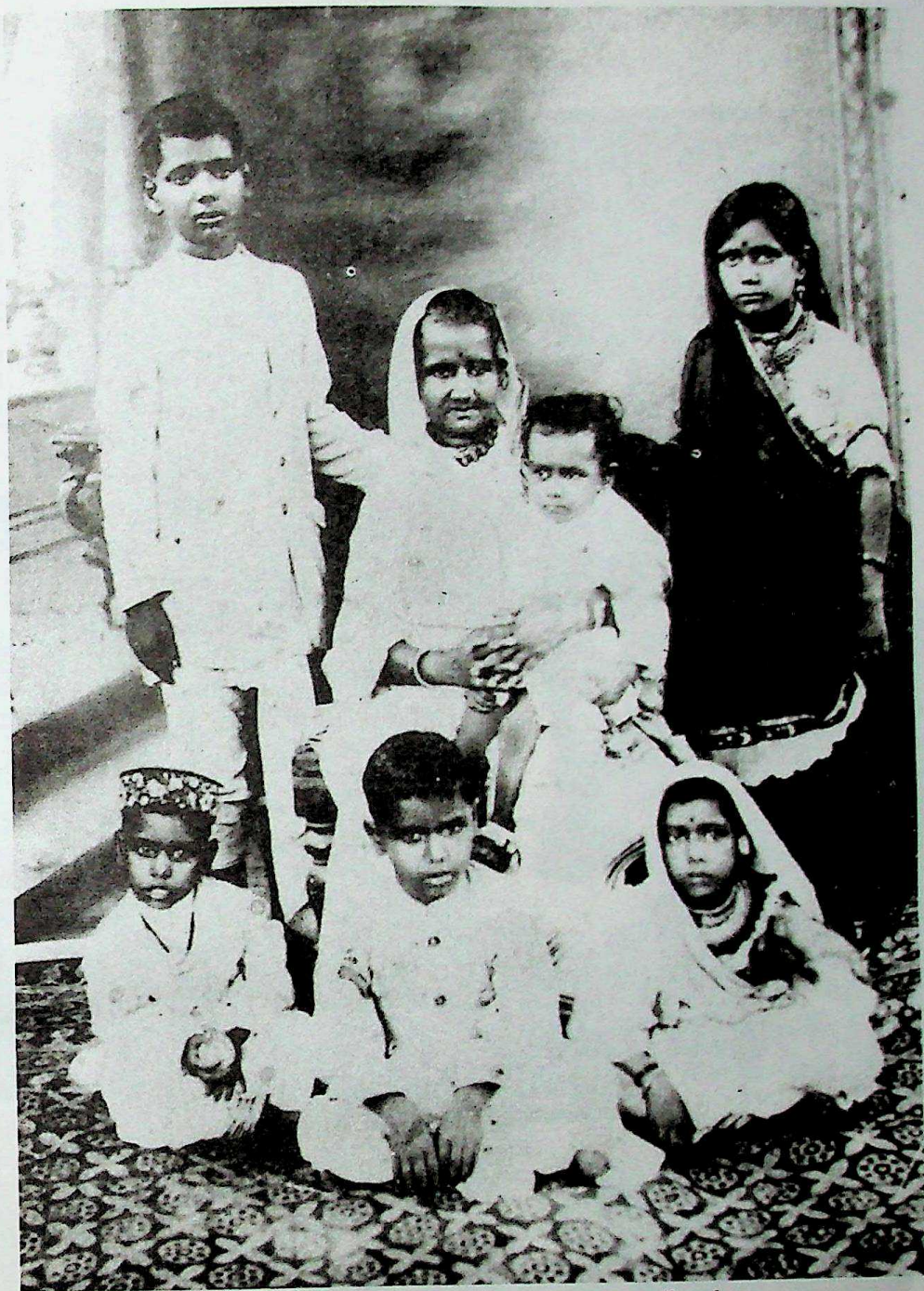
अजिया श्रीमती ललिता देवी की गोद में सगी बड़ी वहन विद्या, जमीन पर अन्य चचेरे भाई-वहन
गाँव सथनी, 1931
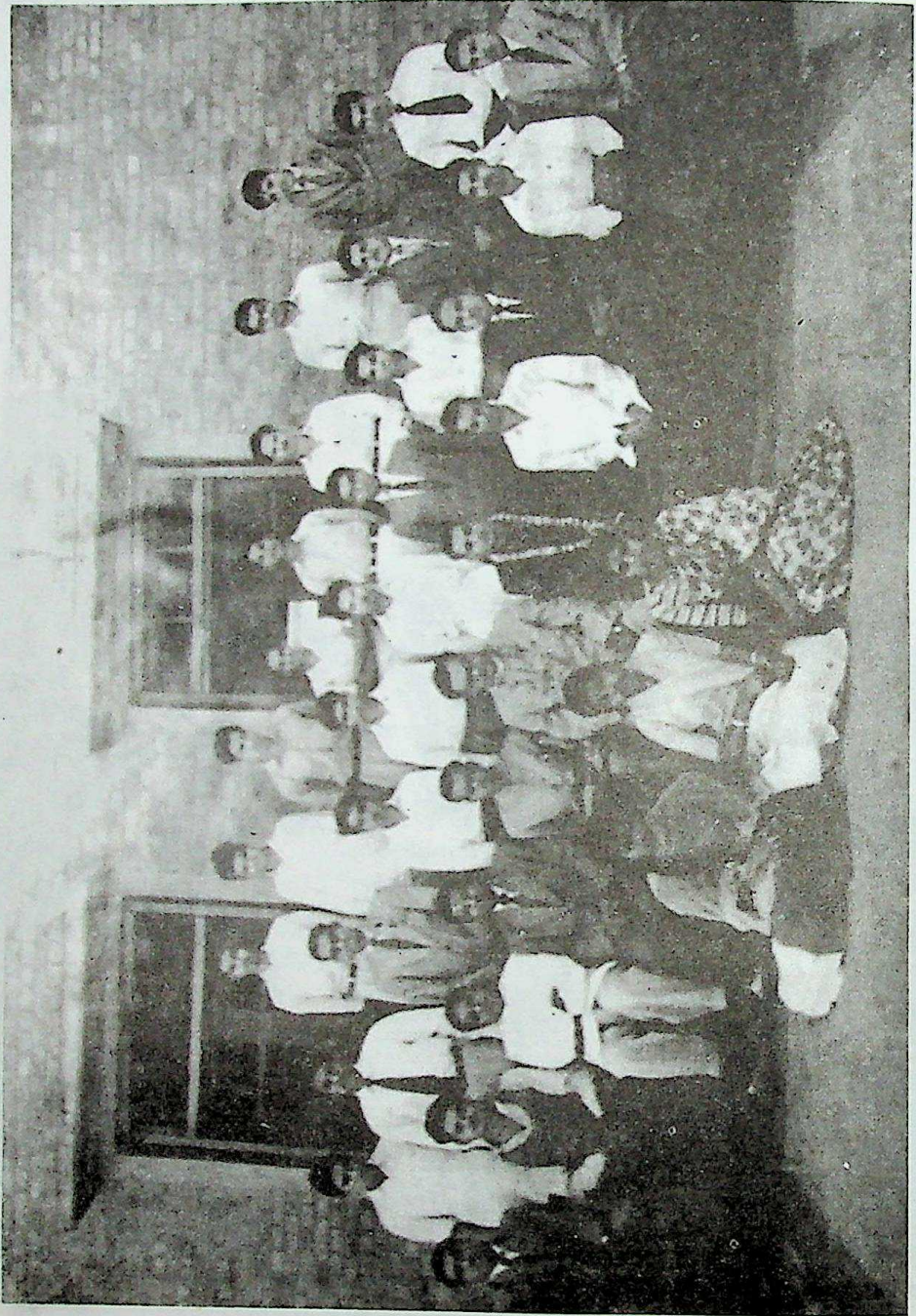
डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर, 1958
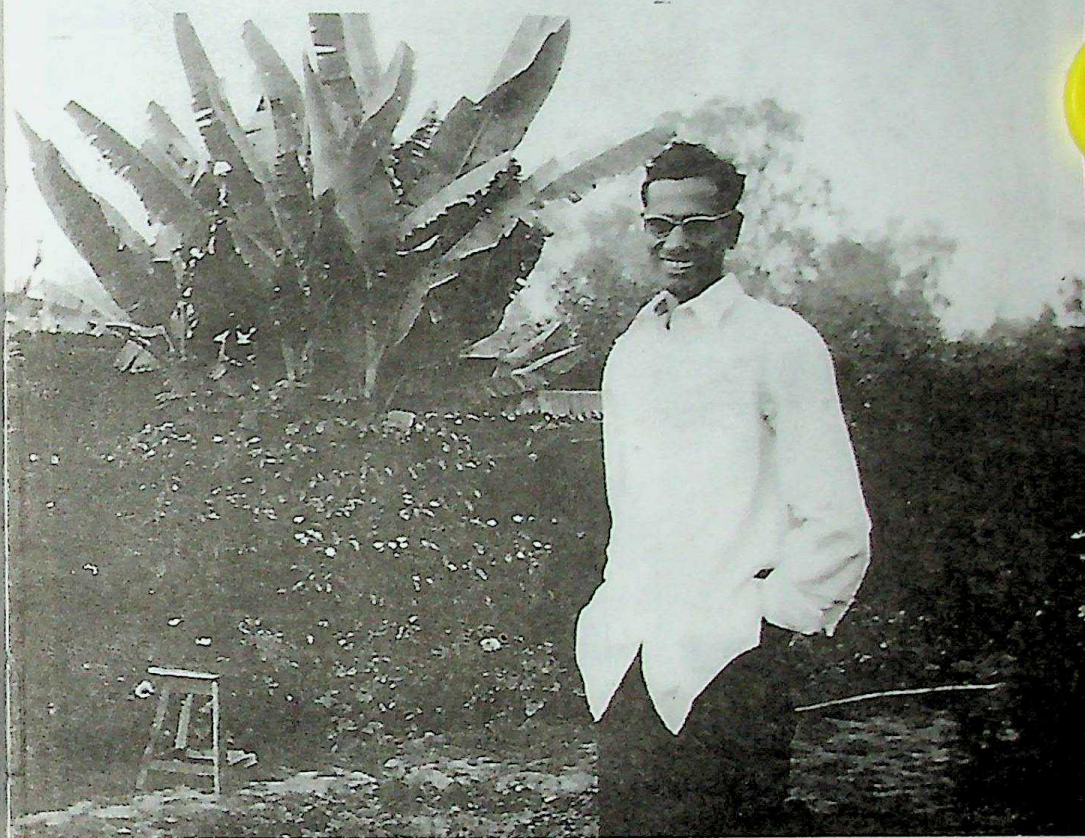
मैसूर, जून, 1958
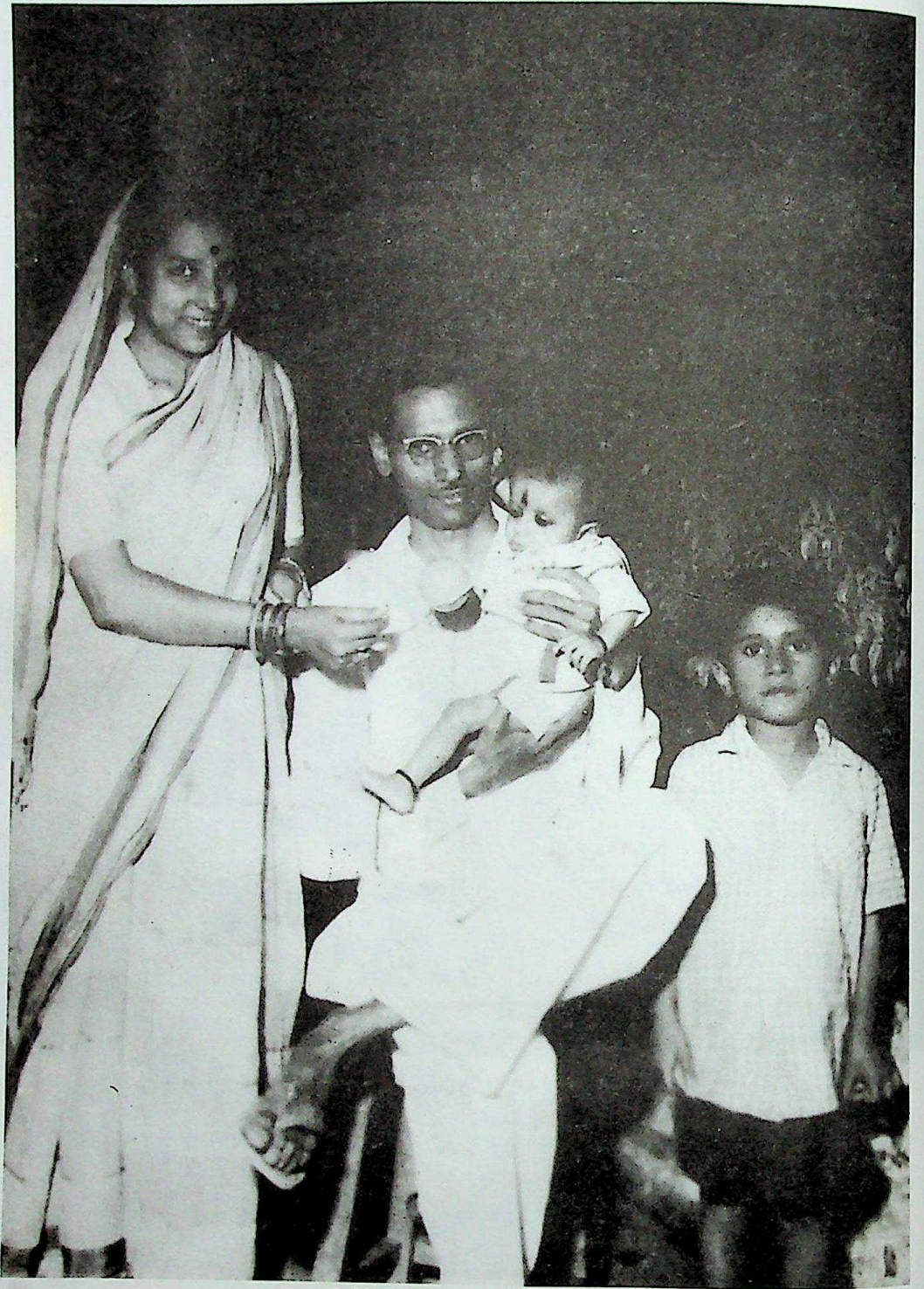
बड़े बेटे अनुराग के अन्नप्राशन पर, कानपुर, 1958
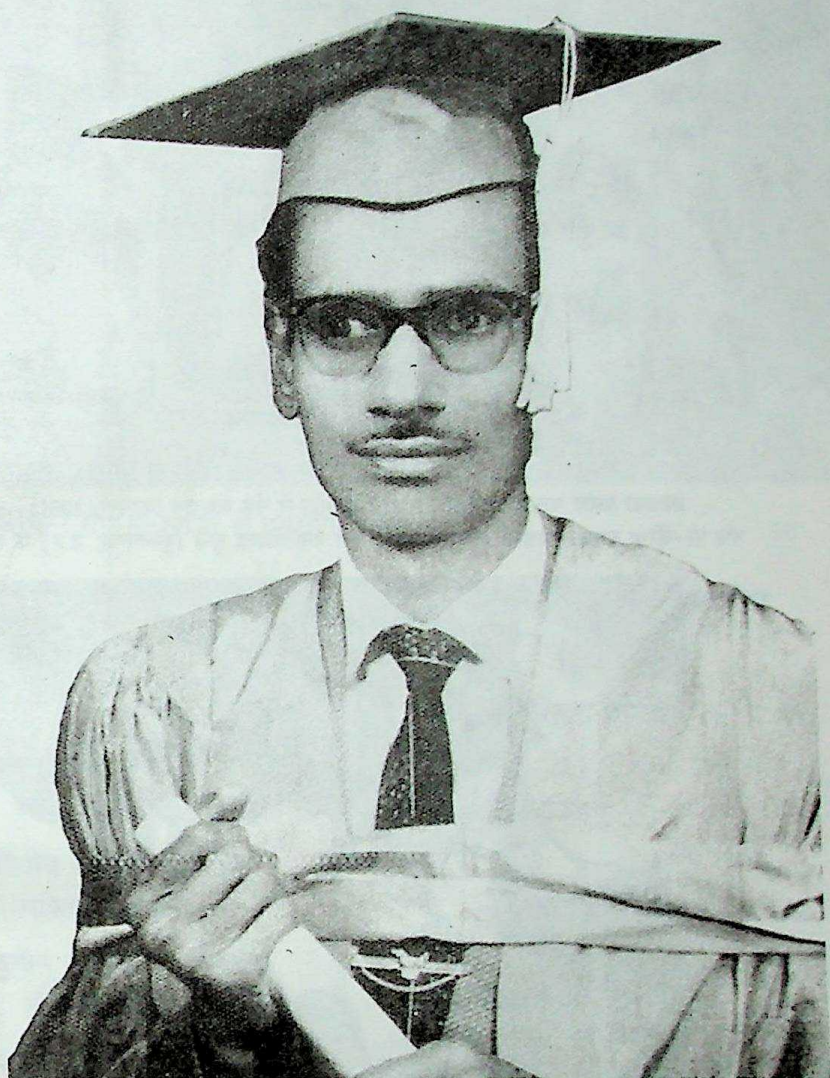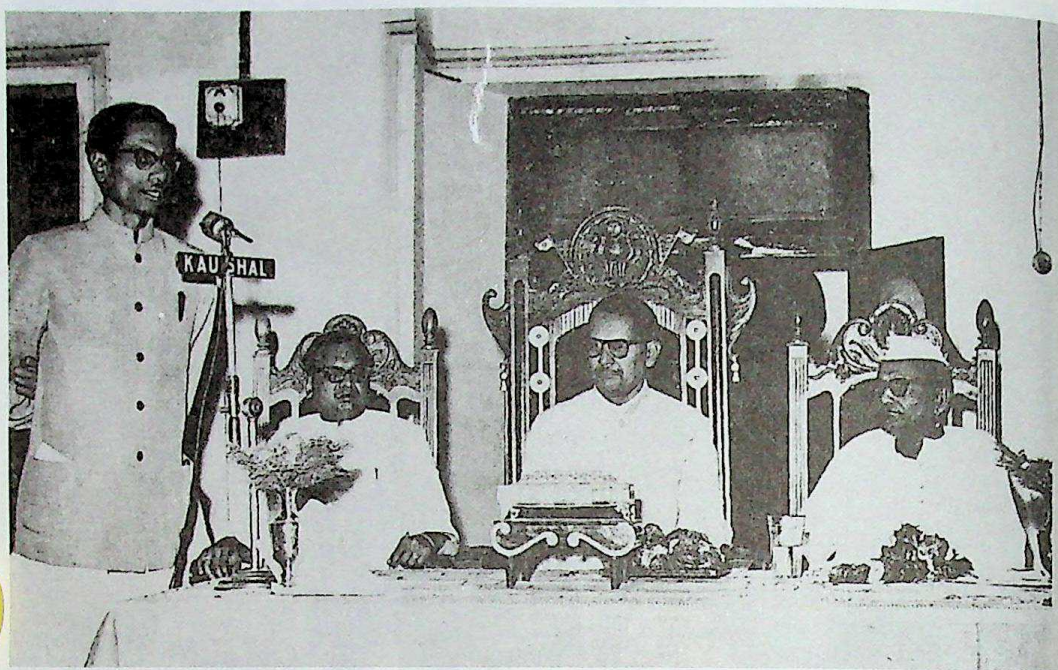
कालका प्रसाद भटनागर अभिनन्दन ग्रन्थ समारोह में मंच संचालन (कानपुर, 1961)
मंच पर–वीरेन्द्र स्वरूप, कालका प्रसाद भटनागर और बनारसीदास गुप्त (मुख्यमन्त्री, उ.प्र.) के साथ
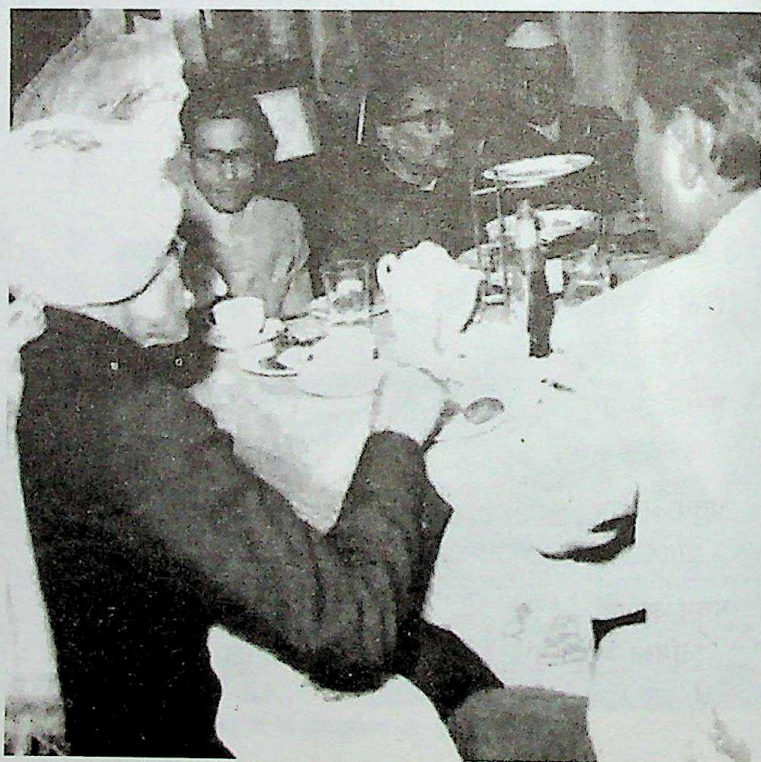
कालका प्रसाद भटनागर के सम्मान में रात्रि भोज, कानपुर, 1961

अनुक्रम

सम्पादक की बात

रचनावली के बारे में

'विवेक के रंग' पुस्तक की भूमिका में डॉ. देवीशंकर अवस्थी ने हिन्दी की एकेडेमिक आलोचना की पिष्टपेषण वाली प्रवृत्ति के प्रति असन्तोष का कारण बताते हुए लिखा है कि "हिन्दी की एकेडेमिक आलोचना पर जो आक्षेप होते रहे हैं (और ऐसी आलोचनाएँ लिखने वाले केवल विश्वविद्यालयों में ही सीमित नहीं हैं—स्वतन्त्र लेखकों में भी इस कोटि की कमी नहीं है।) वे इसलिए नहीं हुए कि वे 'एकेडेमिक' हैं बल्कि इसलिए कि वे समसामयिक जीवन और साहित्य दोनों के नजदीकी बोध से शून्य हैं।" उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि "समकालीनता-बोध से रहित आलोचना को आलोचना नहीं कहा जा सकता—शोध, पाण्डित्य या कुछ और भले कह लिया जाये।" उनकी आलोचना सैद्धान्तिकी का यह बहु उद्धृत वाक्य है कि "हर युग की आलोचनात्मक समझ अपने युग के साहित्य से अनुकूलित और अनुशासित होती है और उसे अनुकूलित करती भी है।" इस सैद्धान्तिकी का दूसरा पहलू 'पुनर्मूल्यांकन' से सापेक्ष रूप में जुड़ा हुआ है। यह पुनर्मूल्यांकन साहित्य-सिद्धान्तों का हो या काव्य परम्परा का, सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन का हो अथवा किसी विचारधारा या क्लासिक कृतियों का हो—उनकी पुनर्व्याख्या एवं पुनर्मूल्यांकन में 'समसामयिक जीवन और साहित्य के गहरे आग्रह' ही आलोचना दृष्टि को प्रसंगानुकूल एवं विश्वसनीय बनाते हैं।

रचनावली के 'आलोचना : भक्ति' खण्ड तीन में देवीशंकर अवस्थी को 'एकेडेमिक आलोचना' और 'पुनर्मूल्यांकन' के उनके स्वयं के मानदण्डों पर उनका मूल्यांकन पाठक और विद्वत् समाज कर सके, इस दृष्टि से ही सामग्री संयोजन की परिकल्पना की गयी है। दो भागों में नियोजित खण्ड तीन का पहला भाग 'भक्ति : आलेख' और दूसरा भाग 'भक्ति : शोध' है। पहले भाग में देवीशंकर अवस्थी के भक्ति सम्बन्धी चार आलेख हैं। दूसरे भाग में उनके शोध प्रबन्ध 'अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति' को अविकल रूप से समाहित किया गया है।

भक्ति : आलेख

1997 में वाणी प्रकाशन से 'भक्ति का सन्दर्भ' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में अवस्थी जी के पत्रिकाओं में प्रकाशित तीन निबन्ध और आठ अन्य लेख उनके शोध प्रबन्ध से चुनकर संकलित किये गये थे। शोध प्रबन्ध के ये लेख भी विभिन्न पत्रिकाओं यथा 'त्रिपथगा', 'हिन्दुस्तानी', 'सम्मेलन पत्रिका' एवं 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुए थे। शोध प्रबन्ध उनके दिवंगत होने के बाद 1968 में अक्षर प्रकाशन से प्रकाशित हो चुका था, पर तब बाजार में उपलब्ध नहीं था। भक्ति वाले तीनों निबन्ध अभी तक किसी भी पुस्तक में संगृहीत नहीं हुए थे। इसलिए तीनों निबन्ध और विवेचनात्मक शोध सामग्री से कुछ चुनकर स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में 'भक्ति का सन्दर्भ' नाम से तैयार की गयी थी। पुस्तक का बहुत स्वागत हुआ, यह बड़े सन्तोष का विषय रहा।

रचनावली में पुस्तक का स्वरूप इस अर्थ में भिन्न हो गया है कि इस पुस्तक के तीनों निबन्ध 'भक्ति : आलेख' वाले उपखण्ड में और आठ अन्य निबन्ध 'भक्ति: शोध' में शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत समाहित हैं चूँकि वे उसी के अंग थे।

'भक्ति : आलेख' में अब तीन नहीं चार लेख संकलित हैं। चौथा आलेख 'विभिन्न धर्म-साधनाओं से प्रस्फुटित भक्ति' सर्वथा अप्रकाशित है। रचनावली के प्रकाशन के लिए की जानेवाली छानबीन में शोध प्रबन्ध से सम्बन्धित नोट्स के बीच यह हस्तलिखित लेख प्राप्त हुआ। ऐसा लगता है कि यह लेख प्रेमाभक्ति की पूर्वपीठिका के रूप में लिखा गया होगा परन्तु बाद में किन्हीं कारणों से भाई साहब ने इसे थीसिस का अंग नहीं बनाया। इस आलेख का कोई शीर्षक नहीं था। हम लोगों ने अपनी समझ की सामर्थ्य के अनुसार उपर्युक्त शीर्षक दिया है। इस लेख का लेखनकाल भी अनुमानतः 1959-60 ही है। इस अप्रकाशित लेख में देवीशंकर अवस्थी ने इतिहास की भिन्न-भिन्न मंजिलों पर वैदिक और अवैदिक, वैष्णव, बौद्ध, जैन, शाक्त, शैव, नाथपन्थ तथा सूफीमत के बीच संघर्ष और अंतःक्रियाओं की विवेचना करते हुए भक्ति के स्वरूप के क्रमविकास को रेखांकित किया है। धर्म-साधनाओं के वर्चस्व और उनकी विभिन्न धाराओं के पतन को संक्रान्ति के अलग-अलग चरणों में वे व्याख्यायित करते हैं ताकि प्रेमाभक्ति के स्वरूप की धारणा को स्पष्ट कर सकें। प्रेमाभक्ति की लोकोन्मुखता के मूल में सामाजिक आधार किस प्रकार सक्रिय थे, इसका भी लेख में विशेष उल्लेख और विवेचन मिलता है। उत्तर से दक्षिण, दक्षिण से उत्तर, पूरब से पश्चिम और पश्चिम से पूरब तक भक्ति को उन्होंने 'सांस्कृतिक गत्वरता (Cultural Dynamism)' की अभिव्यक्ति कहा। भक्ति को देश की 'सांस्कृतिक एकता' का आधार मानते हुए भी इस सांस्कृतिक प्रस्फुटन को 'हिन्दुत्व' की अभिव्यक्ति नहीं मानते। 'हिन्दू' शब्द को मुसलमानों की देन बताया है।

इस उपखण्ड का पहला लेख 'कबीर के निर्गुण राम और उनकी भक्ति' मार्च, 1955 में 'कल्पना' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। वे कबीर की 'ग्रहणशीलता' और 'वर्जनशीलता' को उनसे सम्बन्धित विवाद का मुख्य कारण मानते हैं तथा प्रेम के मनोविज्ञान के आधार पर कबीर की निर्गुण भक्ति में प्रेम की महत्ता, गुरु महिमा, नाम स्मरण, उनकी अनन्यता एवं समर्पण आदि को ईश्वर के सगुण रूप की परिकल्पना का प्रतिबिम्ब मानते हैं। उनकी राय है कि प्रेम के ये सारे गुण ईश्वर की सगुण उपासना के माध्यम हैं। इस तरह भारतीय धर्म-साधना की उपासना पद्धति के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वे कबीर की भक्ति के माध्यम से भक्ति के सगुण-निर्गुण विभाजन को भी प्रश्नांकित करते हैं।

डॉ. देवीशंकर अवस्थी ने धर्मशास्त्र, तत्त्वमीमांसा, इतिहास, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र में हो रहे नये अनुसन्धानों के आलोक में भक्ति आन्दोलन के भावबोध और उसके ऐतिहासिक क्रम विकास को अपने निबन्धों में मुख्य चिन्तन-मनन का केन्द्र बनाया है। वे पर्याप्त साक्ष्यों से यह मान्यता रखते हैं कि वैदिक साधना से पहले भी 'धर्मभावना इस देश की धरती पर विद्यमान थी।' उनके भक्ति सम्बन्धी सभी आलेख 1958 से 1960 के बीच लिखे गये हैं। आर्यों या वेदपूर्व भक्ति अथवा धर्म-भावना को वे 'लोक और वेद की सम्मिलित भूमि' पर देखने का प्रस्ताव करते हैं। बहुदेववाद और एकेश्वरवाद दोनों को भक्ति के सन्दर्भ में द्वन्द्वात्मक रूप में देखते हैं। वे यह भी मानते हैं कि हर प्रवृत्ति का उत्स वेदों में खोजना उचित नहीं है जैसे गाँधी की अहिंसा को बौद्ध धर्म से जोड़ना। गाँधी ने अपने मानवीय गुण को सामाजिक मूल्य बना दिया वैसे ही भक्ति के महत्त्व को समाज सापेक्षता एवं उसकी सामाजिक शक्ति (प्रभाव) के रूप में समझना अधिक तर्कसंगत होगा। उनके भक्ति सम्बन्धी चारों निबन्ध ऐतिहासिक अन्वेषण और साहित्यिक समालोचना—दोनों प्रणालियों को एकाकार करते हैं। इनमें एक ओर जहाँ भक्ति के पौराणिक सन्दर्भ का विश्लेषण है तो दूसरी ओर आधुनिक दृष्टि से सर्वथा नयी व्याख्या का प्रस्फुटन और पल्लवन भी है। प्रो. राजेन्द्र कुमार* ने देवीशंकर अवस्थी के भक्ति सम्बन्धी निबन्धों का बहुत ही गम्भीर सारगर्भित विवेचन किया है।

भक्ति : शोध

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में सन् 1960 में देवीशंकर अवस्थी को आगरा विश्वविद्यालय से 'अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति' विषय पर पीएच.डी. की उपाधि मिली। उन्होंने पीएच.डी. के लिए अपना पंजीकरण किस

---

* आलोचना का विवेक, पृ. 225-230

वर्ष कराया, इसकी कोई तथ्यात्मक सूचना उपलब्ध नहीं है। यद्यपि 1953 की डायरी में सितम्बर महीने की नोटिंग में लखनऊ विश्वविद्यालय के श्री त्रिलोकनारायण जी से 'रिसर्च topic' पर चर्चा का उल्लेख है। इसलिए अनुमान है कि अगस्त, 1953 में डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर में प्रवक्ता के पद पर नियुक्ति के बाद 1954 या 1955 में पंजीकरण कराया होगा। क्योंकि 1955 की डायरी में इस विषय से सम्बन्धित व्यक्तियों के सम्पर्क के लिए जानकारियाँ नोट की गयी हैं। मथुरा और वृन्दावन के मन्दिरों के पुस्तकालयों एवं उनके न्यासियों के पते भी नोट किये गये हैं। इन व्यक्तियों और स्थानों से उपलब्ध किये जाने वाले ग्रन्थों के नाम डायरी में लिखे हैं। डी.ए.वी. कॉलेज और क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर के पुस्तकालयों में 'प्रेम' तथा 'वैष्णव धर्म' पर उपलब्ध अंग्रेजी/हिन्दी पुस्तकों के नाम और एक्सेशन नं. तक नोट हैं। यही वह दौर भी है जब वे कानपुर के सूर, ब्रजभाषा और भक्ति साहित्य के जानेमाने विद्वान डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम' के ज्ञान भण्डार को और अधिक समुन्नत एवं आधुनिकबोध से सम्पन्न करने के लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से दीक्षा के लिए काशी जाते हैं। 1953 की डायरी में ही अक्तूबर महीने में दो बार आ.ह.प्र. द्विवेदी से मुलाकात करने की नोटिंग है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपने संस्मरण* में 1955 में उनके बनारस आने और पण्डित जी से मिलने का उल्लेख किया है। उनकी यह तीव्र आकांक्षा थी कि 'साहित्य के ऐतिहासिक मूल्यों को आज की चेतना के साथ रचनात्मक सहयोग में स्थापित किया जाना चाहिए।'** पण्डित जी के निर्देशन में शोध कार्य करने का सर्वाधिक उत्प्रेरक कारण यही था कि विगत साहित्य परम्परा का मूल्यांकन उन्हें आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में करने की दृष्टि और खुलापन मिलेगा।

अपनी इस आलोचना दृष्टि को चरितार्थ करने के लिए उन्होंने 'अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति' विषय को चुना। अकसर सरसरी नजर से देखने वाले को यह महसूस होता होगा कि साहित्यिक इतिहास लेखन में यह विषय रीतिकाव्य की किसी समानान्तर प्रवृत्ति के काव्य का विषयगत अध्ययन है। क्योंकि सं. 1700 से 1900 तक का काल रीति युग माना गया है। 'राधा और कन्हाई सुमिरन को बहानो' उक्ति से साहित्य के सभी पाठक परिचित हैं। पर वास्तव में देवीशंकर अवस्थी ने रीतिकाल में रीतिकाव्य के बरअक्स प्रेमाभक्ति काव्य परम्परा के विपुल साहित्य की खोज और संग्रह भक्तिकाल की किसी अवशिष्ट परम्परा को स्थापित करने या सम्प्रदायों के अनुशीलन अथवा उनके उत्थान-पतन के लिए नहीं किया था। बल्कि इस वृहद् प्रबन्ध नियोजन में भक्ति के मूल में स्थित 'प्रेम' भावना के

* आलोचना का विवेक, पृ. 257

** रचनावली खण्ड एक, 'साहित्यिक लेखन : एक व्यावसायिक समस्या'

विवेचन, 'भक्ति प्रकारों' और 'साधना-क्रम-सम्बन्धी' विचारों के विश्लेषण के क्रम में प्रेम के मधुर भाव में रूपान्तरण की प्रक्रिया को समझने और समझाने का प्रयास जेण्डरगत अध्ययन की दृष्टि से बहुत सार्थक और महत्त्वपूर्ण है। मेरी दृष्टि में इस शोध प्रबन्ध का तीसरा अध्याय 'मधुर-भाव का विकास : पृष्ठभूमि-स्थित विविध तत्त्व' समकालीन मूल्यों एवं नये समाजशास्त्रीय अनुसन्धानों की दृष्टि से उनकी नवोन्मेषी आलोचनात्मक प्रज्ञा स्पष्ट रूप से आलोकित हो जाती है। विभिन्न प्राचीन स्रोतों और मनोविज्ञान के अधुनातन निष्कर्षों में स्त्री-पुरुष के मध्य की काम भावना को जीवन की सघन सार्वभौम वृत्ति माना जाता है। देवीशंकर अवस्थी के अनुसार प्रेमाभक्ति अभिव्यंजना में यह सम्बन्ध ही मधुर भाव है और 'समस्त साधना इसी उज्ज्वल भाव को प्राप्त' करने के लिए होती है। रूप गोस्वामी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' में मधुर भाव को लौकिक शृंगार रस के सदृश मानने के साथ 'इसे लोक शृंगार के समान' न समझने का संकेत भी किया गया है। वे लक्षणा में यह उल्लेख भी करते हैं कि कामशास्त्र से प्रभावित संस्कृत काव्यशास्त्र में वर्णित अलंकारशास्त्र की शब्दावली को 'मधुर भाव' या 'मधुर भक्ति' को व्याख्यायित करने के लिए ज्यों का त्यों उठा लिया गया है। इस तरह 'भगवत् रति' ही भक्ति का श्रेष्ठतम रूप मानी गयी। परन्तु पितृसत्तात्मक समाज में विवाह संस्था के 'सन्तानोत्पत्ति के रूप में आदर्शीकरण और स्त्री की सामाजिक हैसियत' में गिरावट के कारण पतिव्रत धर्म के महत्त्व को धर्मग्रन्थों में महत्तम बताना तथा पत्नीव्रत के आदर्श की समाप्ति की सामाजिक प्रवृत्ति ही प्रेमाभक्ति अर्थात् मधुर भाव की भक्ति की उत्पत्ति का आधार बनती है। उन्होंने स्पष्ट लिखा, "हमें लगता है कि बहुपत्नीवाद के बीच से फूट आये इस निष्ठावान अखण्ड प्रेम के नारी-आदर्श ने मधुर भाव को विकसित होने में यथेष्ट सहायता दी है। 'एक परमपुरुष की जीवात्मा रूपी अनेक स्त्रियाँ...' की व्याख्या के साथ उन्होंने मधुराभक्ति का पूरा ढाँचा सामन्ती बताया है जहाँ राजा-रानी के साथ रनिवास का पूरा रंगमहल अभिव्यक्त किया जाता है। उनके अनुसार यह पूरा ढाँचा 'सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है।' नम्रता, शिष्टता और व्यभिचार इसी सामन्ती परिवेश की दरबारी संस्कृति के प्रधान कारक प्रेम के प्रतीक बन गये। पत्नी सम्पत्ति है, मिली हुई है। और जो मिला हुआ है उसके साथ रोमांस कैसे हो सकता है। इसलिए परकीया प्रेम की प्रवृत्ति की शुरुआत होती है। इस तरह देवीशंकर अवस्थी ने विभिन्न प्रसंगों में मनोविज्ञान सम्मत एवं मानव सभ्यता के विकास क्रम में परिवार, निजी सम्पत्ति एवं राज्य की समाजशास्त्रीय विवचेना ऐतिहासिक विकास क्रम से विभिन्न सम्प्रदायों की भक्ति भावना साहित्य एवं शास्त्रीय रचनाओं के माध्यम से इस शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत की है। मैं उदाहरण के तौर पर केवल तीसरे अध्याय के दो पैराग्राफ उद्धृत कर रही हूँ :

" 'काम' जीवन की एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण वृत्ति है। वैदिक ऋषि ने अनुभव

किया था कि जगत्-जीवन के मूल में काम है—'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'। भारतीय समाज-चिन्तकों ने इस शक्तिशाली वृत्ति को पालतू बनाने के लिए विवाह की जिस संस्था का निर्माण किया, उसने काम को उन्नीत अवस्था में लाकर उसके माध्यम से पितृ-ऋण जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित कराने चाहे। पतिव्रत एवं पत्नीव्रत के रूप में जो आदर्श सामने आते हैं, वे इस अमर्यादित वृत्ति को सीमाबद्ध करते हैं। पति-पत्नी विवाह के पश्चात् लौकिक वासना की तृप्ति करते हुए भी एक अभिन्न एवं अपरिवर्तनीय सूत्र में बँधकर जो सुखलाभ करते हैं, उसमें 'काम' महत्त्वहीन हो जाता है अथवा यों कहें कि अधिक उदात्त बनकर मनुष्य को शक्ति और प्रेरणा देता है। धीरे-धीरे स्त्री की सामाजिक हैसियत पुरुष की अपेक्षा गिरती जाती है। पतिव्रत धर्म का महत्त्व बढ़ जाता है एवं एक पत्नीव्रत का आदर्श समाप्त हो जाता है। पत्नी समर्पणशीला बन जाती है, पति की दुर्बलताओं एवं तिरस्कार को सहन करके भी वह अपनी असीम गम्भीर प्रेमवृत्ति के साथ पुरुष के प्रति अनुरक्त रहती है। उसके चरित्र में एक कोमल मानवीय गहनता के साथ ही दिव्य एवं अलौकिक गुणों का अपूर्व समन्वय दिखाई देता है। इस निष्ठावान अधिबल प्रेम की प्रतिमूर्ति ही भारतीय काव्य-पुराण की नायिकाएँ हमें मिलती हैं। हमें लगता है कि बहुपत्नीवाद के बीच से फूटकर आये हुए इस निष्ठावान अखण्ड प्रेम के नारी-आदर्श ने मधुर भाव को विकसित होने में यथेष्ट सहायता दी है। एक परमपुरुष की जीवात्मा रूपी अनेक स्त्रियाँ हैं एवं ये स्त्रीरूपी जीवात्माएँ अपने प्रियतम से ऐसा ही दृढ़ प्रेम करें, जैसा कि स्त्री अपने पति से करती है—यह आदर्श महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों एवं प्रेम-वृत्ति के सामन्तीकरण (फ्यूडलाइजेशन ऑफ लव) का एक और प्रभाव भी हमें मधुर साधना में विकसित होता मिलता है। जैसे एक सामन्त के ऊपर दूसरा सामन्त होता है और उसकी सीढ़ी-दर-सीढ़ी सेवा होती है। प्रेम की लगभग वैसी ही सेवा हमें उत्तर-मध्ययुग में प्राप्त होने लगती है। राधा हैं, कृष्ण हैं, उनकी प्रधान-प्रधान सखियाँ हैं, यूथेश्वरियाँ हैं फिर उनकी भी सेविकाएँ, दासियाँ या मंजरियाँ हैं। यह सारा ढाँचा पूरी तौर से सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। मध्ययुग में व्यक्ति का व्यक्ति से प्रेम या घृणा अधिक सशक्त थे। देश भक्ति की भावना की अपेक्षा शरण में आये हुए को रक्षा देने की या मित्र के लिए प्राण देने की या प्रेमिका के लिए सब कुछ बलिदान कर देने की भावनाएँ बड़ी प्रबल थीं। इस वैयक्तिक आवेश के कारण ही प्रेम और विश्वासघात, दोनों का ही रूप महान था। मध्ययुग में प्रेम का आवेग एक नये रूप में शक्तिशाली हो उठा, यह बात दूसरी है कि उसकी वेशभूषा कुछ पुरानी ही रही। नम्रता, शिष्टता एवं एक प्रकार का व्यभिचार भी इस प्रेम के अंग बन

*गये। सामन्त और प्रजाजन का सम्बन्ध प्रेम के क्षेत्र में नम्रता के रूप में प्रकट हुआ। दरबारी शिष्टता के मानदण्ड प्रेम के क्षेत्र में प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक व्यवहार में प्रतिबिम्बित होते हैं। तीसरे तत्त्व व्यभिचार के कारण और गहरे हैं। सामन्ती विधान के भीतर पत्नी सम्पत्ति के एक टुकड़े की भाँति स्वीकृत थी, अतः उसके साथ प्रेम के अति आदर्शीकरण या रूमानी भावना को जोड़ने का प्रश्न नहीं उठता था। वह तो 'प्राप्त' ही थी। जमींदार के लिए जैसे भूमि वैसे पति के लिए स्त्री—यह सामान्य धारणा थी। इस प्रकार विवाह 'प्रेम' के लिए बहुत उपयोगी नहीं था। यों विवाह की उपयोगिता और पत्नी की आवश्यकता स्वीकृत थी—ऐन्द्रिक प्रसन्नता तथा घरेलू सुख-भावना के लिए। पर इसमें मध्ययुग का वह रोमांस कहाँ उभर पाता है? परिणाम परकीया प्रेम हुआ। वही स्त्री अपने पति के लिए महत्त्वहीन, पर वही स्त्री प्रेमी के लिए प्राणाधिक प्रियतमा हो जाती है। सी.एस. लेविस का यह कथन इस प्रसंग में नितान्त सार्थक है—एनी आइडियलाइजेशन ऑफ सेक्सुअल लव, इन ए सोसाइटी ह्वेयर मैरिज इज़ प्योरली यूटिलिटेरियन, मस्ट बिगिन बाई बीइंग ऐन आइडियलाइजेशन ऑफ ऐडल्टरी। (अर्थात् विवाह को मात्र उपयोगी मानने वाले समाज में, यौनप्रेम का आदर्शीकरण निश्चित ही व्यभिचार के आदर्शीकरण से प्रारम्भ होगा।) उत्तर-मध्ययुग में परकीया प्रेम के इस आदर्शीकरण के उदाहरण भारतीय भाषाओं के वैष्णव-भक्ति साहित्य में विरल नहीं हैं।**

उपर्युक्त उद्धृत देवीशंकर अवस्थी के सन् 1960 में किये गये विश्लेषण से निम्नलिखित सूत्र प्राप्त होते हैं—

1. स्त्री-पुरुष के मध्य काम भावना को विवाह संस्था के माध्यम से नियन्त्रित किया गया।
2. मातृसत्ता के शिथिल पड़ जाने पर स्त्री की सामाजिक हैसियत समाप्त हो जाती है।
3. विवाह और प्रेम का पुरुष प्रधान (पितृसत्तात्मक) सामन्ती ढाँचा सामाजिक मान्यता प्राप्त कर लेता है।
4. पत्नी मनुष्य से वस्तु अर्थात् सम्पत्ति, जमीन, जायदाद मान ली जाती है। उसकी मानवीय इकाई की अस्मिता समाप्त कर दी जाती है।
5. पत्नी जरूरी है पर केवल वंशरक्षा अर्थात् सन्तानोत्पत्ति के लिए।
6. कामोत्तेजना और प्रेम के उद्दाम वेग के लिए परकीया प्रेम एवं 'परदारानिदर्शन' को परोक्ष रूप से धार्मिक-सामाजिक मान्यता।

इस सम्पूर्ण प्रेमाभक्ति विवेचन में अनेक वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रतिपादित स्त्री

---

* रचनावली खण्ड तीन, पृ. 175-177

के प्रेम भाव और कामवृत्ति को साधना में साधन की तरह आरोपित या उनके स्व अनुभूत अनुभव का देवीशंकर अवस्थी ने बहुत ही सन्तुलित पद्धति से गम्भीर विवेचन-विश्लेषण किया है। इस प्रदेय को पाठक की आलोचनात्मक प्रज्ञा समझ लेती है कि कैसे एक सुचिन्तित प्रक्रिया में, समाज में स्त्री की व्यापक भूमिका समाप्त कर केवल सीमित क्षेत्र के बाड़े में उसकी भूमिका तय कर दी गयी। यद्यपि इन धार्मिक विवेचनों में भगवत् रति को लौकिक रति से पृथक् समझने का निर्देश भी है पर ये निर्देश धार्मिक पुस्तकों तक ही सीमित रहे। इस उपासना पद्धति का सम्यक् विवेचन शोध प्रबन्ध में इस प्रकार है कि "यह सब इतने लौकिक स्तर पर सम्पन्न होता है कि तत्त्वदर्शन का प्रतीक न रहकर वास्तविक सामाजिक का भ्रम (इल्यूज़न ऑफ़ रियलिटी) पैदा कर देता है।" यही कारण है कि धर्म और मर्यादा के नाम पर सांसारिक जीवन में प्रेम के आवेग और काम भावना को वासना कहकर तिरस्कृत किया गया। भक्ति के काल्पनिक भावलोक और जीवन के वास्तविक भावलोक के इस द्वैत में सभी धर्म सम्प्रदायों और काव्य साधकों ने स्त्री निन्दा की है।

भक्ति के भावलोक में, मधुर भाव की भक्ति में आकण्ठ निमग्न भक्ति साधकों की वैचारिकता पुरुषवादी ही रही, चाहे राधा को विवाहिता स्वकीया मानने का विवाद हो या गोपियों के परकीया प्रेम को श्रेष्ठ माना हो। देवीशंकर अवस्थी का यह शोध ग्रन्थ भक्ति के विविध पहलुओं यथा प्रकारों, पद्धतियों, वैचारिकी एवं रचनाओं का आकलन यह सिद्ध करता है कि परम्परा उनकी शक्ति है—सीमा नहीं। वे 'परम्परा का पूजन नहीं अनुसन्धान करते हैं, ताकि अपने समय को वे पकड़ सकें।' 58 वर्ष पहले लिखा यह शोध ग्रन्थ समसामयिकता को व्याप्ति और सन्दर्भ देने में आज भी सक्षम और उपयोगी है।

संस्कृत उद्धरणों में सहायता करने के लिए सुश्री शीला डागा और मोहित कुमार को बहुत धन्यवाद। वाणी प्रकाशन को पुनः धन्यवाद।

रेखा अवस्थी

1 मार्च, 2018
220, सहयोग अपार्टमेंट्स
मयूर विहार, फेज-I
दिल्ली-110091
मो. : 9818183255

भक्ति : आलेख

कबीर के निर्गुण राम और उनकी भक्ति

भक्ति : वैदिक-पौराणिक सन्दर्भ

भक्ति : आधुनिक सांस्कृतिक सन्दर्भ

विभिन्न धर्म-साधनाओं से प्रस्फुटित भक्ति

कबीर के निर्गुण राम और उनकी भक्ति

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कबीर' में लिखा है—'हिन्दी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक प्रतिद्वन्द्वी जानता है—तुलसीदास।' ऐसा महिमाशाली व्यक्तित्व यदि तमाम आलोचना-प्रत्यालोचना का विषय बना हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। नाना पण्डितों ने नाना भाव और नाना दृष्टियों से कबीर को समझने की चेष्टा की है। अनेक कारणों से कबीर में कुछ ऐसी परस्पर-विरोधिनी प्रवृत्तियाँ एवं असंगतियाँ सस्वर विद्यमान हैं कि कबीर पर नाना भाँति की शंकाओं का होना स्वाभाविक है। इस सन्त के उपास्यदेव राम एवं उनकी साधना-पद्धति अत्यधिक विवादास्पद विषय हैं। विद्वानों ने विभिन्न भाव-भूमियों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों की भूमिका में उन्हें परखा है।

कबीर कुछ ऐसे संक्रान्तिकाल में उत्पन्न हुए थे कि विभिन्न साधनाओं के सम्पर्क से उन्हें गुजरना पड़ा था। योग, ज्ञान, भक्ति, तन्त्र, मन्त्र, इस्लाम एवं अन्य अनेक लोक-साधनाओं तथा प्रचलित विश्वासों ने उन्हें प्रभावित किया था। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने एक स्थल पर कहा है, 'कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा एवं आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती; इसलिए उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफ़ी, वैष्णव, योगी, प्रभृति सभी साधनाओं को जोर से पकड़ रखा है।' परन्तु जिस प्रकार अनेक साधनाओं की समन्विति उनकी साधना-पद्धति में हुई, उसी प्रकार ग्रहणशीलता और वर्जनशीलता दोनों ही उनमें इकट्ठी आकर मिलीं। आचार्य सेन ने उनकी ग्रहणशीलता की ओर संकेत किया है, परन्तु वर्जनशीलता भी उनमें कम नहीं है। ग्रहणशीलता भावक्षेत्र (आध्यात्मिक क्षुधा) की बात है, आचार के क्षेत्र एवं प्रक्रिया के स्वरूप में वे सर्वथा वर्जनशील हैं। यह आन्तरिक विरोध ही कबीर के सम्बन्ध में होने वाले विवाद का मूल कारण है। उनके साहित्य की सबसे बड़ी असंगति यही है। परन्तु इसके साथ ही एक बड़ा प्रमुख तथ्य और है कि निरक्षर होने के कारण उन्हें विविध शास्त्रों के जटिल विधानों और नाना मतमतान्तरों की दार्शनिक भूल-भुलैयों में न उलझना पड़ा था। वे सच्चे अर्थ में साधक, जिज्ञासु और

भक्त थे। उस युग के दो कोटि के सन्तों—लोकवेद-पन्थी एवं अनभै साँच-पन्थी—में वे दूसरी कोटि के थे। इसी कारण नाना विरोधी स्वरों के भीतर से निकलकर भी प्रत्यक्ष अनुभव, आत्मविचार और गहन चिन्तन के फलस्वरूप उनकी साधना-पद्धति का एक स्पष्ट और सुव्यवस्थित स्वरूप हमें उपलब्ध होता है।

इस निबन्ध में हमें कबीर के राम को भारतीय उपासना की पृष्ठभूमि में रखकर देखना है। भारतीय विचारधारा के पण्डितों का मत है कि कर्मफलवाद अनार्य चिन्तन की देन है। कर्मफलवाद के स्वीकार कर लिये जाने पर चिन्तन-प्रवण मनीषा ने दुख से आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए जगत् का अध्ययन न करके आत्मा का ध्यान प्रारम्भ किया। आत्मा के स्वरूप, उसकी अवस्था एवं लक्ष्य पर विचार होने लगा। हम यह जाँचने लगे कि यह कञ्चन है अथवा काँचमात्र ही। बौद्धों के अनात्मवाद ने आगे चलकर इस प्रकार की परीक्षा एवं तर्कों को बड़ा बल दिया। अस्तु हमने यह स्वीकार किया कि यह वास्तव में कञ्चन ही है काँच नहीं, अज्ञान अथवा अविद्या के कारण यह काँच प्रतीत होता है। इस अज्ञानता का भी कारण गुण माना गया। अतः गुणातीत अवस्था लाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए विद्वानों ने अपरोक्ष ज्ञान की आवश्यकता बतलाई। ज्ञानी ने कहा कि प्रत्यय की आवृत्ति होनी चाहिए। विद्यारण्य स्वामी ने माण्डू, केन आदि उपनिषदों के आधार पर यह हठपूर्वक सिद्ध करने की चेष्टा की कि अद्वैत अथवा निर्गुण उपासना का विषय हो सकता है—

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसम्भवः।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसम्भवात्॥
अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यीमितिचेत्तदा।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च सम्भवेत॥

(पंचदशी, 9-55, 56)

परन्तु मध्ययुग के एक अन्य उद्भट विद्वान पं. मधुसूदन सरस्वती ने पंचदशी की इस अद्वैत साधना का खण्डन किया। उन्होंने भगवान के अनुग्रहकारी रूप की उपासना को स्वीकार किया। मधुसूदन सरस्वती ने कहा है—

एवं च एतस्य चतुर्मुख।
चतुर्भुजस्य भक्तानां अनुग्रहार्थम्॥

विद्वानों ने कबीर को निर्गुणोपासक बताते हुए उसका औचित्य पंचदशीकार विद्यारण्य स्वामी के कथन द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की है। परन्तु जैसा कि पूर्व ही श्री मधुसूदन सरस्वती इसका खण्डन कर चुके हैं, निर्गुण की उपासना और भक्ति सम्भव नहीं है। कबीर भी निर्गुण की उपासना केवल कहते भर हैं, पर करते उपासना सगुण की ही हैं। सिद्धान्त में कबीर निर्गुणोपासक हैं, व्यवहार में नहीं। कहते हैं, ऐसा ही आन्तरिक विरोध टॉल्स्टॉय में भी पाया जाता है। उनके उपदेश, नीति आदि

आदर्शों और कलात्मक कृतियों के मध्य सामंजस्य की रेखा बैठाना किंचित् कठिन है।

बहुधा लोग अवतारवाद को सगुण का पर्याय मान लेते हैं पर वास्तव में अवतार को न मानकर भी त्रिगुणों से युक्त कर देने पर ब्रह्म सगुण हो जाता है। कबीर ने क्षमा, दया, भक्तवत्सलता आदि अनेक गुणों का उस पर आरोप कर दिया है। उनका राम भक्त के दुखों को भली-भाँति जानता है–

भगति का दुख राम जानैं कहै दास कबीर।

कबीर अवतारवाद को नहीं मानते, मूर्तिपूजा उसके प्रत्यक्ष स्वरूप में नहीं करते, परन्तु मूर्ति के स्थान पर गुरु को उन्होंने अवश्य लिया है।

मनोविज्ञान भी कहता है कि जब तक हमारे निकट कोई स्पष्ट स्वरूप न हो रति पुष्ट नहीं हो सकती। अन्धा स्वरूप की स्पष्ट कल्पना नहीं कर पाता, इसी कारण उसकी रति पुष्ट नहीं होती। अतः निर्गुण साधक जिस किसी भी समय राम के शुष्क क्षेत्र से भक्ति की रागात्मिका भूमि पर आते हैं, उसी समय वे सगुणवादियों की सारी विधियों को ले लेते हैं एवं ब्रह्म को गुणयुक्त बना डालते हैं। प्रत्येक ज्ञानी अथवा योगी ने भक्ति की उल्लास और आवेशमयी स्थिति में ऐसा ही किया है। पंचेन्द्रियों के लिए रूप-कल्पना आवश्यक है। कबीर ने कहा है–

जिहि घट प्रीति न प्रेम रस, पुनि रसना नहिं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि भए बेकाम॥

इस प्रीति-प्रेमरस के स्थायित्व के लिए राम में रूप और गुण की प्रतिष्ठा अनिवार्य होती है। इसके अतिरिक्त भक्ति के आश्रय और आलम्बन की आवश्यकता होती है; ब्रह्म भी 'एकाकी न रमते'। कबीर ने भी उसकी गुरु, पिता, माता, पति आदि रूपों में कल्पना की है।

यहीं पर एक बात मैं और कह देना चाहता हूँ कि पति-रूप में उपासना कबीर पर सूफ़ी प्रभाव नहीं है, बल्कि वह विशुद्ध रूप से भारतीय है। जो बात शाक्तागमों एवं शैवागमों में प्रतीक रूप से थी, वही सहजिया सम्प्रदाय में वस्तु-रूप से आ गयी। वैष्णव काव्य पर शृंगार रस का प्रभाव सहजिया सम्प्रदाय की देन है, जिसे बाद में चैतन्य महाप्रभु ने शास्त्रीय स्वरूप दे दिया। कबीर पर उसी परम्परा का प्रभाव है; उनका रहस्यवाद भारतीय नारी का आदर्श है, ईरान का इश्क नहीं।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं श्री पुरुषोत्तम श्रीवास्तव प्रभृति विद्वानों ने निर्गुण उपासना का समर्थन करते हुए पंचदशी का ही तर्क दिया है कि यदि निर्गुण भक्ति और उपासना का विषय नहीं तो फिर वह ज्ञान का भी विषय नहीं हो सकता। पर हमें यहाँ पर एक सूक्ष्म अन्तर को दृष्टि में रखना है। अद्वैत साधना में मन को मारना होता है परन्तु भक्ति में एक केन्द्र पर लगाना होता है। ज्ञान बुद्धि का विषय है, मस्तिष्क से सम्बन्धित है तभी तो महाभाष्य चिन्तन के साथ विचार का सम्बन्ध आचार्य द्विवेदी ने भी स्वीकार किया है, और यह तो सभी स्वीकार करेंगे

कि विचार और चिन्तन का सम्बन्ध मस्तिष्क और बुद्धि से ही है। पर भक्ति का सम्बन्ध अनुरक्ति से है; 'भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे', अनुरक्ति का सम्बन्ध राग से है एवं रागात्मिका वृत्ति हृदय की अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति है। बुद्धि विश्लेषण-प्रवण होती है और राग संश्लेषण-प्रवण एवं समन्वयवादी। बुद्धि के द्वारा किन्हीं तत्त्वों की छानबीन करते हुए ज्ञान की कोटि तक पहुँचा जा सकता है परन्तु भक्ति में मन को एक केन्द्र पर स्थिर करना होता है। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है–

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिम् लभते पराम् ॥

इसका भी यही तात्पर्य है कि जब व्यक्ति चारों ओर से मन हटाकर समस्त आकांक्षाओं को त्यागकर सब भूतों को समान भाव से देखता है, तभी वह पराभक्ति को प्राप्त करता है। अतः एक केन्द्र की ओर संकेत इस ब्रह्म भूत के लक्षण में भी है। नारद भक्तिसूत्र में भी कहा गया है, 'यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।'

कबीर ने स्थल-स्थल पर राम-नाम की महिमा बड़े जोर से गायी है। सुमिरण कौ अंग तो पूरा इसी महिमा के गान के लिए है। कबीर कहते हैं कि ब्रह्मा और महेश्वर कह गये, और मैं भी कहे जाता हूँ कि एक राम-नाम ही सार-वस्तु है। 'सुमिरन ही सार है बाकी सब तो जंजाल है।' और कहाँ तक कहा जाये राम-नाम से विमुख व्यक्ति तो वेश्या के पुत्र की भाँति है। अतः कबीर साहब का स्पष्ट मत है कि राम (निर्गुण?) के अमृत गुण गाकर उसे रिझा लें।

कबीर राम रिझाइ ले मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूँ जोड़ि मन सन्धे सन्धि मिलाइ ॥

कबीर द्वारा बहुसमर्थित यह नामजप भी सर्वथा सगुणोपासना का ही द्योतक है। ऊपर वाली साखी में तो स्पष्ट रूप से राम के अमृत गुण गाने की सिफारिश है। नामजप में भी स्वरूप की प्रतिष्ठा मनोविज्ञान के अनुसार अनिवार्य है। मन को राम की ओर उन्मुख करने में किसी-न-किसी प्रकार की आकृति और गुण की कल्पना करनी ही होगी, अन्यथा कौन किसके सम्मुख जप करेगा! कबीर ने एक स्थल पर बड़े ही मार्मिक ढंग से कहा है–

पंच संगी पिव-पिव करैं, घटाजु सुमिरै मन्न।
आयी सूति कबीर की, पाया राम रतन्न ॥

'राम रतन' को एक निश्चित आकार अथवा गुण देने पर ही पंचेन्द्रियाँ पिव-पिव की रट लगाएँगी।

निर्गुणपन्थी और भक्त में एक भेद और भी है–निर्गुनिया कहता है कि विराट तू इसी शरीर में समा जा; परन्तु भक्त कहेगा–प्रभु, मैं भी तेरे विराट राज्य में हूँ। कबीर तो उसके विराट राज्य की सबसे हीन प्रजा बन जाते हैं–

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ ॥

एवं उसे स्पष्ट रूप से विराट में परिव्याप्त बताते हैं—

प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई,
वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छोड़ि जे कहिए
कहै कबीर हरि सोई ॥

निर्गुण राम के समर्थन के सिलसिले में आचार्य द्विवेदी ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन उद्धृत किया है; पर उसी कथन के द्वारा हमारे विचार से निर्गुण का प्रत्याख्यान हो जाता है। कथन यों है—'कुछ लोग कहते हैं कि उपासना में प्रार्थना का कोई स्थान नहीं; उपासना मात्र ध्यान है—ईश्वर के स्वरूप को मन-ही-मन उपलब्ध करना है। यह बात मैं स्वीकार कर लेता, यदि जगत् में मैं अपनी इच्छा का कोई प्रकाश न देख पाता। हम लोहे से प्रार्थना नहीं करते, पत्थर से प्रार्थना नहीं करते—उसी के निकट अपनी प्रार्थना प्रकट करते हैं, जिसमें इच्छा-वृत्ति हो।' निर्विकार ईश्वर पर इच्छा-गुण का आरोप स्पष्ट रूप से इस कथन से हो जाता है। मैं नहीं समझता, सगुणवाद का इससे अधिक समर्थन क्या हो सकता है! यह तो हुई व्यवहार-पक्ष की बात; अब उनके सिद्धान्त-पक्ष के निर्गुण के बारे में विचार कर लेना चाहिए। कबीर का निर्गुण वास्तव में नकारात्मक नहीं है, वह नागार्जुन के शून्य की भाँति किन्हीं अंशों तक सकारात्मक है। 'भाव-अभाव बिहूना' भावाभावविनिर्मुक्त। वह परात्पर और सर्वव्यापी भी है। 'खालिक खलक और खलक खालिक' है। यह सर्वव्यापकता यह भी पता नहीं लगने देती 'सुनु सखि पिउ महि जिउ बसै, जिउ महि बसै कि पीउ'। एक जगह उन्होंने कहा है—

बाहर कहौं तो सतगुरु लाजै,
भीतर कहौं तो झूठा लो।
बाहर-भीतर सकल निरन्तर
गुरु परतापै दीठा लो ॥

यदि यहीं पर हम कबीर के इस निर्गुण (?) की भक्ति के सम्बन्ध में भी विचार कर लें तो सम्भवतः अधिक अप्रासंगिक न होगा। यह तो निर्विवाद ही है कि वे भक्त थे। प्राचीन समय में नाभादास ने उन्हें भक्त मानकर ही भक्तमाल में पिरोया था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'कबीरदास का यह भक्त-रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं।'

ज्ञानी की ही भाँति एकाग्रता के मार्ग के सबसे बड़े बाधक अहंकार से वे सावधान थे। तभी तो उन्होंने कहा था—

माया तजी तौ का भया, मानि तजी नहिं जाइ।
मानि बड़े मुनिपर गिले, मानि सबनि कौं खाइ॥

तथा इसी कारण—'मुआ मन हम जीवत देखा'। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि व्यक्ति सारे ऐश्वर्यों, सुखोपभोग की सम्पूर्ण सज्जाओं एवं विलास के समस्त उपकरणों का त्याग कर सकता है; प्रिय एवं परिजनों को छोड़ सकता है, परन्तु अहं का परित्याग उसके लिए नितान्त दुष्कर है। मान, प्रशंसा और अहंकार उसे सदा अभिभूत कर लेते हैं।

भक्ति की व्याख्या करते हुए 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में कहा गया है—

अन्याभिलषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृत्तम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुच्यते॥

'अनुकूल भाव से भगवान के विषय में अनुशीलन करना ही भक्ति है। यह अनुशीलन ज्ञान और कर्म से ढका हुआ नहीं होना चाहिए और न अनुशीलन करने वाले के हृदय में भगवान की भक्ति के सिवा और कोई अभिलाषा होनी चाहिए।' नारद भक्तिसूत्र में 'फलरूपत्वात्' होने के कारण भक्ति को कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्य धिकतरा कहा गया है; क्योंकि भक्ति तो स्वयं फल है, जबकि ज्ञान, योग आदि का फल ब्रह्म है। कबीर ने भी इस निष्कामता की ओर संकेत करते हुए कहा है—

जब लगि भगति सकामता तब लगि निर्फल सेव
कहैं कबीर वै क्यूँ मिलै, निहकामी निज देव।

तथा अनाश्रयाणां त्यागोऽनन्यता के अनुसार वे कहते हैं—

मैं गुलाम मोहिं बेंचि गुसाईं,
तनमनधन मेरा रामजी के ताईं।

अनन्यता और समर्पण की इस पराकाष्ठा में एक दशा ऐसी आती है, जब भक्त भगवान पर अपना पूर्ण अधिकार समझने लगता है; कबीर भी इस स्थिति में आकर कहते हैं—

नैना अन्तर आवतें ज्यूँ ही नैन झँपेउँ।
नाँ हौं देखौं और कूँ; ना तोहि देखन देउँ॥

चरम स्थिति है, जब वे कहते हैं—

कबीर रेख सिन्दूर की काजर दिया न जाइ।
नैनु रमइया रमिरहा, दूजा कहाँ समाइ॥

कबीर ने उस सात्वस्मिन् परम प्रेम रूपा' भक्ति का गुणगान भाँति-भाँति से किया है—

भाग बिना नहिं पाइये प्रेम प्रीति की भक्ति।
बिना प्रेम नहिं भक्ति कुछ, भक्ति परयो सब जक्त॥

तथा

राता माता नाम का पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का माँगै मुक्तिबलाय॥

निष्काम भक्त के लिए आत्म-विचार अत्यधिक बहुमूल्य वस्तु है। मध्ययुग के उस अप्रतिम दार्शनिक शंकराचार्य का कहना है—

यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वाचि पराङ्मुखम्॥

जिस प्रकार शैवाल को जल पर से एक बार हटा देने पर वह क्षण भर भी अलग नहीं रहता (तुरन्त ही फिर उसको ढँक लेता है) उसी प्रकार आत्म-विचारविहीन विद्वान को भी माया फिर घेर लेती है। कबीरदास का भी मत है—

कहै कबीर जे आप विचारै
मिटि गया आवन जाना?

अथवा

जब थै आतम तत विचारा
तब निरबैर भया सबहिन थै,
काम क्रोध गहि डारा

आत्म-विचारविहीन व्यक्ति तो सूखे काठ के समान जड़ और अज्ञानी होता है, वह भगवान के प्रेम-रस का अनुभव ही नहीं कर सकता।

हरिया जाणैं रूखड़ा, उस पाणीं का नेह।
सूका काठन जाँणई, अम्बर बरस्या मेह॥

स्पष्ट है कि कबीर निष्काम भक्त थे। उनकी साधना-प्रक्रिया सगुण मार्ग का अवलम्बन करती है, परन्तु दूरदर्शी ज्ञानी होने के कारण मार्ग की बाधाओं को वे भली-भाँति जानते हैं और उनसे सावधान रहने के लिए आगाह भी कर देते हैं।

भक्ति : वैदिक-पौराणिक सन्दर्भ

वैदिक साहित्य संसार का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य तो है ही, हिन्दू समाज के लिए अत्यधिक श्रद्धेय भी है। इसी कारण हम सब लोगों का स्वभाव बन गया है कि धर्म, दर्शन, कला-संस्कृति आदि सभी मानवीय साधनाओं का मूल उत्स वैदिक साहित्य में ही ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाइयों के बाद भी अभी तक अपने देश की अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन सभ्यता की ओर हमारा ध्यान कम आकृष्ट हुआ है। सम्भवतः इसका प्रधान कारण यह है कि उस समस्त सामग्री का निर्भ्रान्त एवं प्रामाणिक विवेचन फिलहाल सम्भव नहीं हो सका है। परन्तु फिर भी मार्शल[1], मैकै[2] एवं आर.पी. चन्दा[3] आदि ने उस युग में उपासना-प्रधान-धर्म की स्थिति निश्चित मानी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपासना अधिक रागमयी और निजी देवता के प्रति प्रधावित होकर भक्ति का रूप धारण करती है। इसके पश्चात् आर्यों की समृद्ध सभ्यता में हमें ऋग्वेद में भक्ति का स्पष्ट स्वरूप प्राप्त होता है। उसमें बहुदेववाद का एकेश्वरवाद की ओर निश्चित विकास परिलक्षित होता है। जैसा कि श्री जे.एन. बनर्जी ने कहा है कि ऋग्वेद के अन्तिम स्तरों (सम्पादन के स्तरों) में हमें एक ऐसे ही देवता का स्वरूप छनकर सबसे ऊपर उठने का संघर्ष करता प्रतीत होता है।[4] इस देवता के प्रति पूजा का जो भाव है उसमें ज्ञान, कर्म और उपासना का समन्वय है। "भक्ति तीनों मार्गों की पावन त्रिवेणी का संगम है। ज्ञान और कर्म-सम्पत्ति का प्रभु-अनुग्रह के साथ सामंजस्य ही वैदिक भक्ति का आदर्श है।"[5]

मैकनिकल ने "भक्ति के प्रमुख तत्त्वों में से ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को माना है।"[6] डॉ. मुंशीराम शर्मा ने वेदों से प्रभूत उदाहरण देते हुए (पृ. 127 से 136) कहा है कि वेद में भक्तियोग के ये सभी स्तर और सम्बन्ध विद्यमान हैं।[7] प्रार्थना एवं आत्मनिवेदन के छहों अंग तथा 'नारद भक्तिसूत्र' में वर्णित एकादश आसक्तियों (सूत्र 82) में से अधिकांश की रूपरेखा वेदों में प्राप्त है।[8] यूरोपीय पण्डित कीथ ने ऋग्वेद की वरुणगीतियों में भक्ति का अस्तित्व एवं प्रादुर्भाव स्वीकार किया है।[9]

वैदिक भक्ति की निश्चित स्थिति के बारे में इतना कह चुकने के बाद भी मेरा प्रस्ताव है कि भारतीय भक्ति के प्रादुर्भाव को लोक और वेद की सम्मिलित

भूमि पर देखा जाना चाहिए। भक्ति का तत्त्व आर्यों की अपेक्षा इस देश के प्राचीन निवासियों एवं नीचे के तबके में पहले से ही था। वे अपने प्रिय देवताओं, जो कि वैदिक देवताओं से नितान्त भिन्न थे, को श्रद्धा और पूजा भेंट किया करते थे।[10] हम आगे चलकर देखेंगे कि इन वेदोत्तर देवताओं ने सम्प्रदाय-देवताओं (Cult-Gods) को अत्यधिक सहायता पहुँचाई है। कीथ, भण्डारकर आदि विद्वानों ने आर्य-धर्म को मुख्यतया कर्मकाण्ड एवं यज्ञबलि-प्रधान माना है। मेरा अनुमान है कि यह स्थिति प्रारम्भ में ही रही होगी। भारत-भूमि पर प्रतिष्ठित होने के बाद जिस आध्यात्मिकता की ओर उनका बौद्धिक वर्ग उन्मुख हुआ, उसने बहुदेववाद को एकेश्वरवाद की ओर विकसित किया होगा। यही नहीं, यज्ञकर्म-विधान के संकेत भी सूक्ष्मता की ओर बढ़े होंगे। उधर उनके पूर्व से ही भक्ति के तत्त्व यहाँ के निवासियों में थे ही। आर्यों के कर्म और ज्ञान की सामर्थ्य से संयुक्त हो जाने के पश्चात् लोक में विद्यमान श्रद्धा की वृत्ति एक ऐसी उच्छल साधना को जन्म देती है जिसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति का वैयक्तिक उद्घाटन होता है। हिन्दू धर्म भी ईसाई, बौद्ध, मुस्लिम आदि धर्ममतों की भाँति एक प्रकार के प्राकट्यवाद (Revelationism) पर आधारित है। अन्तर इतना है कि यह आप्त प्रकटीकरण किसी एक व्यक्ति के माध्यम से नहीं हुआ है बल्कि लोकाश्रित होकर यह वैदिक भक्ति विविध मन्त्रगानों में फूटी। इन लोगों ने अपने को दिव्य के सम्मुख समर्पित किया और प्रत्येक वस्तु उस दैवी विभूति से ही चाही।

ऋग्वेद में आयी कथा के अनुसार शुनःशेप ने अपने को वरुण को अर्पित कर मृत्यु से छुटकारा पाया था। इस सम्बन्ध में यह भी बात ध्यान में रखने योग्य है कि भागवतों ने अपने को बहुधा वेदों से प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास किया है।[11] उधर पराशर संहिता, वशिष्ठ संहिता, सूत संहिता, आश्वलायन स्मृति, कूर्मपुराण आदि में पाञ्चरात्रों को अवैदिक माना गया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि वैदिक साधना के अतिरिक्त भी एक प्रकार की धर्मभावना इस देश की धरती पर विद्यमान थी। आगे चलकर वेदोत्तर युग में जब सम्प्रदाय-देवताओं (Cult-Gods) का विकास होता है, तब यद्यपि केन्द्रस्थ देवता वैदिक ही रहते हैं, पर उनमें आदिम लोक-देवताओं की विशेषताओं का प्रभूत सम्मिश्रण हो जाता है।[12] इतना ही नहीं, इन्हीं के साथ कुछ और भी ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक या पौराणिक चरित्र भी एकमेक होने लगते हैं। ऐतिहासिक देवकीपुत्र कृष्ण, वैदिक विष्णु, कॉस्मिक नारायण आदि के साथ मिल जाते हैं; वाहन उनके पक्षिराज गरुड़ हो जाते हैं और शय्या शेषनाग की। ये अन्तिम चिह्न आदिम पशु-पक्षीपूजक धर्मभावना (Animism) के मिश्रण के स्पष्ट प्रमाण हैं। यद्यपि ये आदिम देवी-देवता भक्ति-भावना, साम्प्रदायिक-संगठन देवस्वरूप निर्णय में यथेष्ट सहायता पहुँचा रहे थे, परन्तु फिर भी ये सभी या तो नये सम्प्रदाय-देवताओं के गौण स्वरूप अथवा वाहन आदि बनकर रह गये या फिर वैदिक देवताओं के विरोधी के रूप में स्थिर हुए। ऐसी ही किसी रासायनिक प्रक्रिया में प्रमुख वैदिक

देवता अपदस्थ भी हुए और अपेक्षाकृत अमहत्त्वपूर्ण देवगण इन लोक-देवताओं के बल पर प्रमुख हो उठे। सम्भवतः स्वयं विष्णु और शिव इसी प्रक्रिया द्वारा प्रमुखता को प्राप्त करते हैं। पशु चराने वाली आर्य जाति और आर्यों तथा आर्यपूर्व जाति के सम्मिश्रण से प्रादुर्भूत हिन्दू सभ्यता के बीच की खाई का स्पष्ट चित्रांकन वैदिक देवताओं की 'मृत्यु' से बढ़कर और कोई चीज नहीं करती है।[13]

बौद्धकाल में प्रचलित इस देश के इन अनेक अवैदिक देवताओं का परिचय डॉ. भण्डारकर द्वारा उद्धृत 'चुल्ल-निद्देस' की सूची से प्राप्त होता है। बौद्ध धर्म के प्रारम्भ में, इस सूची के अनुसार, आजीवक, निगन्थ, जटिल, परिव्राजक, अविरुद्धक, वासुदेव, बलदेव, पुण्यभद्र, मणिभद्र, नाग, सुपर्ण, यक्ष, असुर, गन्धर्व, हाथी-घोड़ा, गाय, कुत्ता, कौवा आदि पूजने वाले सम्प्रदायों का उल्लेख वैदिक देवताओं के अतिरिक्त प्राप्त होता है। यह मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए कि ये देवता बुद्ध-पूर्व-युग से ही चले आ रहे थे। यही नहीं, भारतवर्ष में उत्तर से दक्षिण तक पूजित एक प्रमुख देवता 'गणपति' तो अपने स्वरूप में आदिम एनीमिस्टिक (पशु-पक्षीपूजक) भावना को आज भी बचाये हुए हैं।[14] श्री या लक्ष्मी के स्वरूप विश्लेषण से भी अनेक लौकिक उपादानों का योग उनके रूप में दिखाई देता है।[15] कुछ ऐसी ही विकासमान प्रवृत्तियों के बीच हम कर्मकाण्डी ब्राह्मणों और तत्त्वचिन्तक उपनिषदों के युग में प्रवेश करते हैं।

ब्राह्मण-उपनिषद् युग

जीवन के द्वन्द्वात्मक विकास की प्रक्रिया में हमें क्रिया-प्रतिक्रिया और उनका समन्वय, यही तीन स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। वैदिक युग के पूर्व की धर्म-साधनाओं एवं जीवन-प्रणाली के बारे में हमें पर्याप्त ज्ञान नहीं है—परन्तु इतना अधिकांश पण्डितों ने माना है कि वेदों में हमें तत्कालीन जीवन एवं ऐतिहासिक स्थितियों के सन्दर्भ में अपेक्षाकृत एक समृद्ध एवं समन्वित जीवन-दृष्टि प्राप्त होती है। विकास का चक्र और आगे बढ़ता है; संहिताओं से ब्राह्मण-काल तक आते-आते उनका वास्तविक मन्तव्य लोगों की आँखों से छिपने लगता है।[16] सम्भवतः समृद्ध होते हुए भौतिक जीवन की यह अनिवार्यता भी थी कि कर्मकाण्ड की ओर अधिक झुकाव हो। अनेक समाजशास्त्रियों ने कर्मकाण्ड (Ritual) का उत्पादन-पद्धति के साथ सीधा सम्बन्ध दिखाया है। ब्राह्मण-साहित्य इसी युग की देन है और वे याज्ञिक विधि-विधानों से पटे पड़े हैं। सम्भवतः हिन्दू संघटन को एक व्यवस्थित समाज के रूप में रखने के लिए भी इन विधि-विधानों के निरूपण की आवश्यकता थी। जप-तप, व्रत-दान आदि का उल्लेख तो उनमें है, पर भक्ति-संवेदना का वहाँ अभाव है। सीधे-सीधे भक्ति-भावना से तो नहीं, पर भक्ति-भावना के मुख्य केन्द्र विष्णु की स्थिति को अवश्य ब्राह्मण ग्रन्थों में महत्तर होते हुए देख सकते हैं।[17] जब देश समृद्ध होता है,

तब जहाँ एक ओर सामान्य जीवन कर्म-प्रधानता की ओर बढ़ता है, वहीं एक छोटा बौद्धिक वर्ग उस स्थूलता के प्रति सशंकित होकर विद्रोह भी करता है। जिसमें सभी लगे हैं, केवल उसी में रमे रहने में वह सार नहीं पाता। कुछ ऐसी ही मनोदशा में उपनिषदों के ऋषि 'इस आत्मा को कैसे जानें?' के तत्त्व-चिन्तन की ओर बढ़े यानी क्रिया-प्रतिक्रिया की रेखा में कर्मकाण्ड को छोड़कर शुद्ध ज्ञान-काण्ड की ओर बढ़ा गया। उपनिषदों के इन ऋषियों को न तो ब्राह्मणों द्वारा प्रवर्तित कर्मकाण्डों में रुचि है और न ही उन्हें वैदिक देवताओं की ही परवाह है। परन्तु यहीं पर यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि तत्त्व-चिन्तन (विशेष रूप से आध्यात्मिक) एक भावनात्मक लगाव या दिलचस्पी अवश्य चाहता है; और इसी कारण इन ज्ञानी ऋषियों के बौद्धिक चिन्तन के नीचे से यदा-कदा भक्तिमय वचन अन्तःसलिल की भाँति फूट पड़े हैं। तर्क आदि से ऊपर उठकर प्रभु-अनुग्रह एवं देव-प्रसाद को महत्त्व मिला (जिसे आगे के भक्ति-सम्प्रदायों में बहुमान प्राप्त होता है)।[18] शरणागति का भाव प्रबल हो उठता है।[19] इस जटिल मार्ग में मात्र श्रद्धा काम नहीं देती एवं मार्गदर्शक अनिवार्य हो जाता है।[20]

श्वेताश्वतर में तो स्पष्ट रूप से 'भक्ति' शब्द का उल्लेख (देव तथा गुरु दोनों की भक्तियों का) होता है।[21] यत्र-तत्र ऐसे उल्लेखों के होते हुए भी सब मिलाकर भक्ति एवं उपासना उपनिषदों में उपेक्षित रही तथा ज्ञान-काण्ड की ही प्रधानता है। मेरा अनुमान है कि उपनिषद-आन्दोलन अपने समय में बुद्धिजीवियों का ही आन्दोलन रहा है और उसके नीचे सामान्य जन की भावना भक्ति के यत्र-तत्र बिखरे उद्‌गारों के रूप में बलात् उच्छलित हो उठी है। और इसी कारण औपनिषदिक भक्ति का स्वरूप निवृत्तिप्रधान है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भक्ति के विकास की दृष्टि से उपनिषदों का महत्त्व नहीं है। वास्तव में ये अनिवार्य कड़ियाँ हैं। सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि वैदिक संहिताओं में जिस एकेश्वरवाद को उदय होता हुआ हम देखते हैं, उपनिषदों में उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है।[22] इस प्रकार परम देवता की यह भावना जब आगे सम्प्रदाय-देवताओं पर आरोपित होती है, तब उस एक अत्यन्त निजी ईश्वर का आविर्भाव होता है, जो भक्ति की विकसित स्थिति के लिए नितान्त आवश्यक था। इस प्रकार भक्ति के लिए एक दार्शनिक-बौद्धिक पृष्ठभूमि बनाने का कार्य इन उपनिषदों के द्वारा सम्पन्न हुआ है। इसी से सम्बन्धित दूसरा लाभ यह भी हुआ कि भक्ति के अगले समुन्नत विकासयुग में उसे बौद्धिक वर्ग का वह अनुमोदन भी मिल सका जिसने उसे शास्त्रीयता एवं प्रामाणिकता दी।

इन प्रारम्भिक उपनिषदों का ही विकास गीता है तथा गीता में दार्शनिक दृष्टि से कितनी ही संगतियाँ या असंगतियाँ क्यों न ढूँढ़ी जायें, परन्तु जैसा कि जॉन वी. नॉस से लिखा है कि उसका सबसे अधिक ऐतिहासिक महत्त्व इस बात में है कि उसने मोक्ष के लिए भक्तिमार्ग को पूरी सहमति दी तथा बौद्धिक दृष्टि से भक्ति

को आदरणीय बनाया।[23] उपनिषदों की एक तीसरी देन प्रतीक-विधान सम्बन्धी है। छान्दोग्य उपनिषद् (4।5-8) में निम्न वस्तुओं की प्रतीक रूप में उपासना करने की बात आयी है—(1) पूर्व, पश्चिम आदि चारों दिशाएँ; (2) पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा समुद्र; (3) अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत; (4) प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन। कठ में (1।2।16) ॐकार की ब्रह्म रूप में उपासना करने की बात कही गयी है—यह भी प्रतीक-उपासना ही है। यह प्रतीकोपासना और विकसित होकर प्रतिमोपासना का रूप धारण करती है तथा प्रतिमोपासना का मध्यकालीन भक्ति में जो स्थान रहा है, उससे कोई भी अपरिचित नहीं है। यहाँ तक कि सगुणोपासना को प्रतिमा-पूजन का पर्याय मान लिया गया। इसके अतिरिक्त यज्ञ-विद्या को भी नयी दिशा दी गयी। द्रव्ययज्ञ के स्थान पर ज्ञानयज्ञ भक्ति के अधिक निकट की वस्तु हुआ। गीता में ज्ञानी भक्त को ही श्रेष्ठता मिली।[24]

पुराण-महाकाव्य युग

इस प्रकार इस ब्राह्मणोपनिषद् युग के सामान्य वैदिक मतावलम्बी जहाँ एक ओर याज्ञिक अनुष्ठानों में लिप्त रहे होंगे, वहीं बुद्धिजीवियों का एक वर्ग सूक्ष्म तत्त्व-चिन्तन तक ऊपर उठा। साथ-साथ भक्ति की अन्तःसलिला भी वेद एवं वेदबाह्य साधनाओं के साथ ही चली आ रही थी। अब समय आ गया था कि फिर जीवन में एक सन्तुलित, समन्वित दृष्टि की स्थापना हो। इसी समय देश में चक्रवर्ती शासन स्थापित होते हैं; कला, संस्कृति, दर्शन, धन-धान्य सभी की अभूतपूर्व उन्नति होती है। ऐसे युग सदैव अपनी संगठित-समन्वित दृष्टि (Integrated Vision) के लिए प्रसिद्ध होते हैं। पुराण-महाकाव्य काल में हमें इसी सन्तुलन के पुनः दर्शन होते हैं। यहीं पर यह कहना अनुचित न होगा कि तर्क और चिन्तन की पद्धतियों से हटकर जिस भक्ति-भावना का प्रसार हम आगे मध्ययुग के मध्यकाल (16वीं शती) में देखते हैं, उसके स्थान पर इस युग में तत्त्व-दर्शन तथा विधि-विधानों के साथ ही भक्ति की हार्दिकता का प्रसार हुआ था।

यह बात बहुधा दुहराई जाती है कि जैन और बौद्ध धर्म याज्ञिक कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया में उद्भूत हुए। उपनिषदों के ऋषियों में भी इस कर्मप्रधानता की प्रतिक्रिया को हम ऊपर स्वीकार कर चुके हैं। यहीं पर इस बात को पुनः याद कर लेना अनुचित न रहेगा कि नीचे-नीचे लोक-चेतना की अपेक्षाकृत वैयक्तिक उपासना-प्रणाली वाली भक्ति-भावना भी चली आ रही थी। तैत्तिरीय, आरण्यक[25] एवं अष्टाध्यायी[26] आदि के आधार पर विद्वानों ने बुद्ध-पूर्व-युग में वासुदेवोपासना के अस्तित्व को स्वीकार किया है। मेगस्थनीज, कर्टियस आदि के विवरण भी कृष्ण-पूजा का समर्थन करते हैं। सेनार्ट[27], कीथ[28], बागची[29] जैसे विद्वानों ने जैन-बौद्ध मतवादों

पर इस भागवत धर्म का आभार स्वीकार किया है। इन विविध साधनाओं में जैन और बौद्ध जैसे मतवाद तो सीधे वेदों एवं वैदिक धर्म पर आघात करते हैं, अतः वहाँ सुलह और समन्वय का कोई लक्षण प्राप्त नहीं होता। परन्तु उपनिषद्-युग से ही इस लोकधर्म[30] और औपनिषदिक बौद्धिक मेधा का सम्मिलन प्रारम्भ हो जाता है। (इस सम्बन्ध में छान्दोग्य में ऋषि घोर आंगिरस और उनके शिष्य वृष्णी देवकी-पुत्र कृष्णवाला अंश द्रष्टव्य है। रायचौधुरी ने तो इस शिक्षा और गीता की शिक्षा के बीच आश्चर्यजनक साम्य देखा है। इस सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी द्रष्टव्य है कि ब्राह्मण-कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया में खड़े होने वाले तीनों—उपनिषद्, जैन-बौद्ध एवं सात्वत या भागवत-मतवाद—क्षत्रियों से सम्बन्धित हैं। ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष को अपनी अपूर्व व्याख्या पद्धति से महाभारत ने समाप्त किया।)[31] बल्कि कहना यों चाहिए कि जैन-बौद्ध मतवादों के बीच में आ जाने से वैदिक से वैष्णव भावना पर संक्रमण में सहायता मिली है। पुराणों-महाकाव्यों ने इस संक्रमण में अतिरिक्त सहायता दी।

वैदिक-उपनिषद् साहित्य एवं महाकाव्य-पुराण-तन्त्र साहित्य का एक प्रधान अन्तर शिव और विष्णु जैसे महादेवताओं की इन वादवालों में प्रतिष्ठा है। इनमें आकर धर्म-पूजा और साधना साम्प्रदायिक रूप धारण करती है। अपेक्षाकृत कम महत्त्व के देवताओं को महत्त्व प्राप्त करने या दो नये देवताओं के आविर्भाव मात्र की बात यह नहीं है, बल्कि जैसा कि चार्ल्स इलियट ने कहा है कि यह एक प्रकार से नया धर्ममत ही था; अन्तर मात्र इतना है कि यह पुराने का दुश्मन या संहारक बनकर नहीं आया।[32] इन नये देवताओं की पूजा पुराने रीति-रिवाजों के मध्य अत्यन्त शान्तिपूर्वक विकसित होती गयी। उन्हें वही जनता और पुरोहित मिले जो पुराणों के थे—बौद्ध धर्म के बीच में आ जाने के कारण यह संक्रमण हमारे लिए कुछ धुँधला पड़ गया है। बौद्धों के आन्दोलन ने जब सारे वैदिक मतवाद को हिला देना चाहा, तब विवश होकर इन ब्राह्मण पुरोहितों को इस जनप्रिय मत को सहारा देना और आश्रय लेना पड़ा, जिसे कि उन्होंने फिर अपने में ढाल भी लिया। उसे वैदिक देवताओं और उनके गुणों से युक्त कर लिया गया। (महाभारत इस प्रकार का सबसे महान प्रयत्न है—अपने अन्तिम सम्पादित रूप में) इन पुरोहितों का शास्त्रानुमोदन मिल जाने के बाद कला-साहित्य आदि में उनका समुचित वर्णन भी हमें प्राप्त होने लगता है, जबकि इसके पूर्व हमें एक-दो बिखरे संकेतों के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता। कुछ ऐसी ही स्थिति और युग में महाभारत में हम विष्णु, वासुदेव, नारायण और कृष्ण को एकत्व प्राप्त करते देखते हैं तथा सात्वत, पाञ्चरात्र, भागवत, एकान्तिक साधना आदि का भी उल्लेख पाते हैं। जैनियों, बौद्धों के विरुद्ध इस संगठन का अनुमान यों भी किया जा सकता है कि मथुरा जैन-बौद्ध धर्म का केन्द्र 6-7वीं शती ईसवी तक रहा है—उधर मेगस्थनीज आदि के वृत्तान्तों से शूरसेन प्रदेश में ही कृष्णोपासक सात्वतों का भी उल्लेख मिलता है। वैदिक धर्म पहले से ही था। इस स्थिति में वैदिकों

एवं सात्वतों का सम्मिलन पारस्परिक लाभ के लिए ही सिद्ध हुआ होगा—एक को लोकमत का सहारा मिला और दूसरे को शास्त्रीयता का स्तम्भ। (इधर मथुरा-कला पर कलाविदों ने ग्रीसो-बैक्टीरियन छाप देखी है और भारत में प्रतिमापूजन पर भी ग्रीक का प्रभाव देखा गया है। आश्चर्य का विषय न होगा यदि एक ही साथ यह प्रभाव जैन, बौद्ध और वैष्णव तीनों ही सम्प्रदायों ने ग्रहण किया हो।) एक ओर जैन, बौद्ध पाली-प्राकृतों में उपदेश करके अपने मतवाद का द्वार सबके लिए उन्मुक्त कर रहे थे तो दूसरी ओर गीता में भी ऊर्ध्वबाहु घोषणा की गयी है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्।। 9।32

गीताकार की वाणी सत्य हुई और आगे भागवतकार को कहना पड़ा—

किरातहूणांध्रपुलिन्द पुल्कशा, आभीरकंका यवनाः खसादयः
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।। 2।4।18

इस युग में आकर उपनिषदों के निर्गुण निराकार ब्रह्म की प्रतीकोपासना के स्थान पर व्यक्त मानवदेहधारी की उपासना की कल्पना आयी।[33] यह दिव्य देह 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' तथा 'धर्मसंस्थापनार्थाय' थी। यद्यपि कुछ लोगों का अनुमान है कि इसके मूल में बौद्ध प्रभाव है, परन्तु हमें इसकी चर्चा में जाकर प्रसंगातर में नहीं पड़ना। हमारा निवेदन मात्र इतना है कि भक्ति को भागवत धर्म का समर्थ बल मिला, जिसके कारण आगे उसका और अधिक विकास सम्भव हो सका। इस समय हम कृष्ण और विष्णु के विकास तथा सात्वत, एकायन या पाञ्चरात्र अथवा भागवत धर्म के ऐतिहासिक विकास को भी छोड़ रहे हैं—वे भी हमसे सीधी तरह सम्बन्धित नहीं हैं। इतना और ध्यान में रखने की बात है कि इस युग में आकर एकेश्वरवाद की विचित्र परिणति होती है : वह एक ओर तो सर्वात्मवाद की ओर जाता है और दूसरी ओर साम्प्रदायिक संगठन में संकुचित होता है। बल्कि इसे यों कहा जाये कि साम्प्रदायिक संगठन को केन्द्रबिन्दु बनाकर फिर उसे अन्य सारे देवताओं, सृष्टि आदि का उद्‌भावक, नियन्ता एवं संहर्ता दिखाया जाता है।

पुराणों पर बहुदेववादी होने का आरोप लगाया जाता है, यद्यपि ऊपर हम भक्ति को एकेश्वरवाद से सम्बन्धित कर चुके हैं। इसका मुख्य कारण भी हमारी समझ से लोकचिन्ता एवं शास्त्रचिन्ता का समन्वय ही है। लोकचिन्ता अपने साथ-साथ बहुत-से देवताओं को लेकर उपस्थित होती है। बौद्धिक वर्ग उनका विरोध कर एक बड़े जनसमुदाय को चोट पहुँचाने के स्थान पर उन्हें अनेक रूपों में स्वीकार लेता है। कोई पिता बन जाता है, कोई पुत्र; कोई विरोध करके भक्ति करता है तो कोई सेवा करके। कुछ वाहन बन जाते हैं, कुछ दिग्पाल, तो कुछ पर्यायवाची नाम। और फिर इन्हें तत्त्वचिन्तन के स्तर पर 'एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते' (निरुक्त 7।4।8-9) एक ही सत्ता के विविध रूप घोषित करके एकेश्वरवाद की रक्षा भी कर लेते हैं।

इस एकता के प्रतिपादन के लिए पद्मपुराण भूमि-खण्ड 2, पाताल-खण्ड अध्याय 73 ।51; विष्णुपुराण 5 ।33 ।49; ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्म-खण्ड, उत्तरार्द्ध 53 ।73; वायुपुराण 25 ।20-25 द्रष्टव्य हैं। इन सम्प्रदायों में सर्वप्रमुख विष्णु और शिव हैं। इनमें बहुत-सी समानताएँ और असमानताएँ हैं। पर भक्ति का भाव दोनों सम्प्रदायों में है। रामायण में तो रुद्र भयावह न होकर शिव हो गये हैं, वे आशुतोष हैं, दयानिधि हैं, वरदाता हैं। उनकी पत्नी उमा भी आदिम भयावह देवी न होकर दयालुता की मूर्ति हैं। यह सब भक्तिवाद की ही नम्र देन है। परन्तु आगे चलकर शैव सम्प्रदाय अधिक वैज्ञानिक, दार्शनिक और तार्किक होते गये तथा वैष्णव सम्प्रदाय अधिक भावुकतापरक। सम्भवतः इसीलिए हमें शिव का वैसा कोई जनप्रिय अवतार नहीं मिलता, जैसे कि विष्णु के (राम-कृष्ण) प्राप्त होते हैं। इतना अन्तर होते हुए भी दोनों ही आवागमन के बन्धन से छुटकारा दिलाते हैं, दोनों में ही मानवीय दुख के प्रति दर्द है, दोनों ने ही उन दार्शनिक सीमाओं को उपलब्ध किया जो साधारण विश्वास नहीं प्राप्त कर सकते; दोनों में ही शृंगारिक तत्त्व नैतिकता की सीमा के बाहर तक उतरे हैं। परन्तु फिर भी भावुक धर्म के अंग भक्ति के प्रसंग में लोग वैष्णव सम्प्रदायों का ही जिक्र करते हैं, यद्यपि शैव (शाक्त भी) साधना भक्ति के विकास में एक अनिवार्य कड़ी है।

अस्तु, सम्प्रदाय-रचना के बाद दो बातों की ओर ध्यान गया : प्रथम तो प्रचार और उसके लिए पुराणों की रचना हुई, दूसरे सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक उपासना-विधि का निरूपण जिसके लिए आगम और संहिताएँ बनीं। इन पुराणों ने भक्ति के व्यवहार और दर्शन को सामान्य जनता तक पहुँचाने में अत्यधिक मदद की। जो लोग इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि कैसे शक्तिशाली बौद्ध धर्म इस देश से अचानक गायब हो गया, उन्हें पुराणों के व्यापक कोलाहल शून्य पर गम्भीर प्रभाव को ध्यान में रखना चाहिए। इन पुराणों ने लाक्षणिक प्रणाली से यथार्थ जीवन के उदाहरणों के माध्यमों से भक्तिमार्ग एवं सगुणोपासना को बहुत अधिक प्रचारित किया। इन पुराणों के गहरे प्रभाव का परिचायक यह तथ्य भी है कि हिन्दू पुराणों के अनुकरण पर जैनों के चौबीस तथा बौद्धों के नौ पुराण बने। पुराणों के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि प्रारम्भ में शिव का महत्त्व अधिक रहा, बाद को विष्णु इतना आगे बढ़ सके हैं।[34] पुराणों में दस शैव पुराण हैं तथा वैष्णव पुराण चार ही हैं। यद्यपि कुछ अन्य पुराणों में भी यत्र-तत्र कृष्ण-वासुदेव का उल्लेख मिल जाता है। पुराणों द्वारा स्थापित देवताओं में ब्राह्मण देवताओं जैसी गम्भीरता एवं प्रभुत्वशीलता (Imposing Nature) हमें प्राप्त नहीं होती। भक्ति के आग्रह में ये अधिक मानवीय, सहज, सुलभ एवं प्रेममय तथा आत्मीय हो गये हैं। चार्ल्स इलियट ने पुराने वैदिक धर्म से इस नये हिन्दू मतवाद का अन्तर तीन मुख्य बातों में माना है। प्रथम तो यह कि धार्मिक वातावरण में एक सार्वभौम गहनता और व्यापकता आयी। इसका दुहरा

प्रभाव पड़ा—एक ओर तो प्राचीन सन्तों और संस्कारों के प्रति तर्कहीन श्रद्धा बनी रही, दूसरी ओर नये विश्वास उदित होते रहे—क्योंकि रचनात्मक शक्ति सदैव कुछ नया चाहती है। दूसरी मुख्य बात इलियट के अनुसार है किसी कठोर अनुशासन एवं श्रेणीबद्धता (Hierarchy) का अभाव! ब्राह्मणों ने किसी विशेष धर्म-शैली पर विशेष जोर कभी नहीं दिया, बल्कि उनका एक-न-एक वर्ग हर धर्म-शैली और मत को परामर्श देने के लिए तथा प्रयोक्ता के रूप में उपलब्ध हो जाता था।[35] अतः स्वाभाविक रूप में प्रत्येक पुरोहित अपने देवता और रीति का प्रवक्ता बन गया। परिणामस्वरूप प्राचीन मत को नये मत का संगठित विरोध नहीं सहना पड़ा और न पुराने मत ने नये मत का ही प्रतिरोध किया। एक तीसरी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात वह विचारधारा है जो उपनिषद्-काल से अब तक चली आ रही है कि विधि-विधान एवं धर्म-सम्प्रदाय और उनकी रीतियाँ सब निचले स्तर की चीजें हैं और आत्मा को उनका अतिक्रमण करना चाहिए।[36] अतिक्रमण की इस प्रवृत्ति ने भी स्थूल साम्प्रदायिकता में ही भारतीय साधना को बँधने नहीं दिया—उससे ऊपर भी उठकर चिन्तन एवं गायन तथा परिणामस्वरूप कलासृजन होता रहा।

पुराणों में ही आकर सगुण उपासना के अवतारवाद, मूर्तिपूजा, मन्दिर-निर्माण आदि पूरी तरह स्थापित होते हैं। यद्यपि मूर्तिपूजा की भावना सिन्धु-घाटी की सभ्यता में विद्यमान है,[37] परन्तु ऋग्वेद की धर्मसाधना में मूर्तिपूजा प्राप्त नहीं होती—ऐसा विद्वानों का निश्चित मत हो चला है।[38] परन्तु वेदों में शिश्नदेव, मूरदेव आदि के उपासकों को हेय दृष्टि से देखा गया है—इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों के श्रेष्ठ वर्गों के बाहर मूर्तिपूजा का कोई रूप प्रचलित अवश्य था—सम्भवतः सिन्धु-घाटी सभ्यता का विकसित रूप। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रतिमा-पूजा का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु गृह्यसूत्रों तथा पाणिनि (500 ई. पू.) के समय से लगातार स्पष्ट लिखित, उत्कीर्ण अनेक पुरातात्त्विक प्रमाण मिलने लगते हैं।[39] भक्ति के इस द्वितीय उत्थान में सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा के बाद से तो मूर्तिपूजा एवं सगुण मतवाद का पूर्ण स्थापन हो जाता है। मैं समझता हूँ कि यह धर्म-साधना के बढ़ाव का अनिवार्य परिणाम था, इसे ग्रीक छाया कहना बहुत उचित नहीं है। ग्रीक छाया मूर्तिगठन में हो सकती है, पर मूर्ति की धारणा में नहीं। इसके लिए अपने देश की ही वेद एवं वेदबाह्य साधनाओं के समन्वय पर ध्यान देना होगा। अवतारवाद की धारणा के मूल बीज भी विद्वानों ने वेदों में देखे हैं। परन्तु स्थिति प्रतिमा और अवतार के बारे में एक ही है। वहाँ पर नराकार या अर्द्धनराकार की भावना कल्पनामूलक वाग्वैदग्ध्य के रूप में है, किसी निश्चित व्यूह-सिद्धान्त आदि के रूप में नहीं। पर इस कल्पनात्मक रूप ने आगे सम्प्रदाय-देवों के रूप के निर्माण में सहायता पहुँचाई है।[40] इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि पुराण-काल में ही आकर जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों का निर्माण और पूजन प्रारम्भ होता है, इसी युग में अनात्मवादी बौद्धों के

महायान सम्प्रदाय की नींव पड़ती है और इनमें भी बोधिसत्वों की पूजा, चैत्य-पूजा आदि बातें प्रारम्भ होती हैं। स्पष्ट है कि मूर्तिपूजा के लिए श्रद्धा की अनिवार्य आवश्यकता है तथा श्रद्धा भक्ति का आन्तरिक पक्ष है। इस प्रकार भक्ति की यह भावना हमें सभी सम्प्रदायों में बिखरी दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित नहीं है कि भक्ति वह बिन्दु है जिस पर इकट्ठे होकर सारे हिन्दू सम्प्रदाय बौद्ध अनात्मवाद से लड़ रहे थे।[11]

सन्दर्भ

1. *Mohenjodaro and the Indus civilisation*, vol. I, pp. 52 & 59
2. *Further Excavations at Mohenjodaro*, vol. I, pp. 258-59
3. The Excavations at Harappa and Mohenjodaro have brought to light ample evidence to show that the worship of Images of human and superhuman beings in yoga postures both seated and standing prevailed in the Indus valley in the chalcolithic period—*Medieval Indian sculptures in the British Museum*, p. 9
4. *Development of Hindu Iconography*. p. 73
5. मुंशीराम शर्मा, भक्ति का विकास, पृ. 112
6. N. Macnicol, *Indian Theism*, p. 7
7. मुंशीराम शर्मा, भक्ति का विकास, पृ. 834
8. वही, पृ. 159
9. *Journal of Royal Asiatic society*, 1915, p. 834
10. J.N. Banerjea, *Development of Hindu Iconography*, p. 335
11. इदं महोपनिषदं पाञ्चरात्रानुशब्दितम्।
    (अ) महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्।।
    —वेंकटनाथेश्वरमीमांसा, (भक्ति का विकास, पृ. 236 पर उद्धृत)
    (व) वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।
    तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम्।।
    पाञ्चरात्र श्री प्रश्न संहिता (भक्ति का विकास, पृ. 236 पर उद्धृत)
12. बलराम या संकर्षण शेषनाग के अवतार माने गये हैं। ऐसा लगता है कि नाग-सम्प्रदाय मथुरा के आसपास जोरों पर था, धीरे-धीरे वह वासुदेव मत में विलीन होता गया। कालियदमन की कथा का संकेत भी इसी ओर है।
13. के.एम. पणिक्कर, भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण, पृ. 7
14. शैवमत नामक पुस्तक में डॉ. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने (पृ. 49) माना है कि शिव और पार्वती सिन्धु सभ्यता के पुरुष और स्त्री देवता के विकसित रूप हैं। और इसने द्वैतवादी सांख्य को पल्लवित होने में सहायता दी। सांख्य ने भक्ति को दार्शनिक सहारा भी दिया।
15. J.N. Banerjea, op. cit, p. 370
16. (क) यास्क ने निरुक्त में संकेत किया है कि उनके समय से बहुत पूर्व ही वेदार्थ का साक्षात् करने वाले ऋषियों का अभाव हो गया था।—भक्ति का विकास, पृ. 237
    (ख) उपनिषद् काल के ऋषि भी वास्तविक वेदार्थ से बहुत दूर हो गये थे, पर वे वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करते थे।—महर्षि अरविन्द, वेद-रहस्य, प्रथम खण्ड, पृ. 344

17. 'यज्ञो वै विष्णुः' तथा अग्नि को अपेक्षया हीन एवं विष्णु को परम देवता स्वीकार किया गया है : ओम् अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः, ऐतरेय ब्राह्मण, 1।1 पर अभी वे भक्ति या प्रसाद की अपेक्षा यज्ञ (कर्मकाण्ड) से ही अधिक सम्वन्धित हैं।
18. (क) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
    यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणते तनूँ स्वाम्।।
    —कठोपनिषद्, 1।2।23 तथा मुण्डक, 3।2।3
    (ख) अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
    तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।। —कठ., 1।12।120
    (ग) तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च, ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान। —श्वेताश्वतर., 6।121
19. मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। श्वे., 6।18
20. नैषा तर्केण मतिरापनेया, प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
    यां त्वमापः सत्यधृतिर्वतासि, त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा।। —कठ., 1।2।9
21. यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
    तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।। 6।23
22. (क) श्वेता., 3।2
    (ख) कठ., 2।2।12
    (ग) 'स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स शिवः' -आदि-कैवल्योपनिषद्, 8
    (घ) सर्व खल्विदं ब्रह्म।—छान्दो., 3।14।1
    (ङ) तैत्तिरीय की भृगुवल्ली में भी अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द की ब्रह्मरूप में उपासना इसी ओर संकेत करती है।
    (च) त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः।
    त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः।।
    त्वमनुस्त्वं यमश्च त्वं त्वं पृथ्वी त्वमथाच्युतः।
    स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा तिष्ठसे दिवि।। —मैत्रायण्युपनिषद्, 4।12।13
23. John B. Noss, *Man's Religions*, p. 236 and 242
24. श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप, 4।33 तथा 7।16-17
25. नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।
    —तैतिरीय आरण्यक, दशम प्रपाठक।
    (यदि यह अंश बाद का नहीं है तो पाणिनि के पूर्व ही नारायण, वासुदेव और विष्णु का एकीकरण हो चुका था।)
26. (क) पाणिनि, अष्टाध्यायी वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्, 4।3।98
    (ख) चुल्लनिद्देस में भी वासुदेवों एवं बालदेवों का वर्णन आया है। पतंजलि ने महाभाष्य में वासुदेव और बालदेव को वसुदेव और बलदेव का पुत्र बताते हुए उन्हें वृष्णि-वंश का सिद्ध किया है तथा वासुदेव को साक्षात् भगवान माना है। गीता में भी वृष्णीनाम् वासुदेवोस्मि (10।77) कहकर उन्हें वृष्णि-कुल से सम्बन्धित किया गया है।
    (ग) The ancient Bhagwata, Satwata or Panchatra sects devoted to the worship of Narayan and his defied teacher Krishna-Devki-Putra dates from a period anterior to the rise of Jains in 8th century B.C. Buhler, *Indian Antiquary*, Vol. XXIII (1894), p. 248

27. लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य, पृ. 547 पर उद्धृत तथा *A Comprehensive History of India*, Vol. II, (Edited by K.A.N. Shastri) में श्री पी.सी. बागची द्वारा पृ. 391 पर उद्धृत।
28. The (Jaina) faith is deeply permeated with Hindu influences and specially of Krishna worship. —*Journal of Royal Asiatic Society*, 1915, pp. 842-43
29. There is every reason to believe that early Bhagwatism exercised a great influence on Buddhism —*A comprehensive History of India*, p. 391
30. महाभारत इसे लोकधर्म कहता है, शान्तिपर्व, 335 ।29
31. के.एम. पणिक्कर, भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण, पृ. 13-14
32. Charles Eliot, *Hinduism and Buddhism*, p. 137
33. विष्णु और शिव के विकास में जिन प्रक्रियाओं ने योग दिया है, उनमें पश्चिम से होने वाले फ़ारसी तथा यूनानी आक्रमणों को नहीं भूलना चाहिए। इन आक्रमणों ने एक निश्चित और वैयक्तिक (बजाय अपरूप एवं बुद्धिप्रवण के) देवता की धारणा में महत्त्वपूर्ण भाग लिया होगा।
34. हरवंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, द्वितीय संस्करण, पृ. 111
35. देवताओं को अपनाने की विधि का उल्लेख पिछले पृष्ठों पर किया जा चुका है।
36. Charles Eliot, op. cit, p. 192
37. R.P. Chanda, op. cit, p. 9
38. (क) मैक्समूलर, विलसन, मैक्डॉनल जैसे ऋग्वेद में मूर्तिपूजा के लक्षणों को मानने वाले तथा वोलेन्सन, वेंकटेश्वर जैसे न मानने वाले विद्वानों के मतों की विस्तृत समीक्षा करते हुए श्री जे.एन. बनर्जी ने अपने उपरिलिखित ग्रन्थ मे कहा है :

    The Rigvedic verse 10/30/3 does not prove the existence of the practice of Image worship in early Vedic religion. After a critical consideration of all these data, it can be confidently observed that, even when some references to symbols or sensible representations are found in the Vedic and Brahmanic texts, this does not necessarily mean that they were the image proper of the respective divinities. p. 61

(ख) The mind of the Vedic poet is the rationalistic mind of ruminating philosopher, rather than the artistic mind which reproduces the finished product. It is engaged too much in reasoning about and constantly altering the wavering shapes of the Gods. So that these remain to the end of Vedic time too uncertain in outline, too fluid in substance for the modelling of the artist... As a matter of fact there is no record of Vedic Icons, or Vedic temples. In all these senses there is no Vedic pantheon. Bloomfield, *Religion of the Vedas*, p. 89

(ग) देवताओं के नराकार-रूप के वारे में यास्क के निरुक्त के 13 ।1 ।7 तथा अन्य मिलते-जुलते अंशों की समीक्षा करते हुए आर.पी. चाँदा ने कहा है, "The discussion clearly shows that upto the time of Yaska, which synchronises with the last phase of the Vedic period, the Vedic Gods had not been invested with the forms, in which they appear in the Epic and Puranas." —*Memoirs of the Arcbeological Survey of India*, no. 30, p. 2

39. In the last section of the Vedic literature, from the khilas (Supplement) to the earlier authrotative Brahmanas and Aranyaks and the Grhya Sutras we have clear and unmistakble evidence about the recognitgion of the images of the Gods and their shrines by the orthodox Vedic Brahmanas. —J.N. Banerjea, op. cit, p. 68.

40(क) But these and many other similar concepts are pure and simple imageries without actual concrete bases. These theriomorphic and Anthropomorphic descriptions, however, played an important part in the evolution of some of the Cult-Gods in the subsequent religious history of India. Ibid, p. 51

(ख) वैदिक युग में आकाश को पार करने वाले देवता 'सुपर्णो गरुत्मान्' थे। आगे चलकर जब आदित्य विष्णु भागवत विष्णु बनते हैं, तब गरुड़ उनका वाहन बन जाता है। इसी प्रकार रुद्र को ऋग्वेद 2।33।6 तथा 2।33।8 में 'वृषभ' कहा गया है। सिक्कों के आधार पर इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि उन्हें कुछ स्थानों में बैल का रूप दिया गया। आगे उपासकों के मानसिक परिवर्तन के साथ अर्द्धनराकार वृषभ उनका वाहन बन जाता है। इस प्रकार के उदाहरण विरल नहीं हैं।

41. Yusuf Hussain, *Glimpses of Medieval Indian culture*, p. 7

भक्ति : आधुनिक सांस्कृतिक सन्दर्भ

इतिहास-दर्शन के अनेक तत्त्व-वेत्ताओं ने संस्कृतियों के विकास के सम्बन्ध में गहराई से अध्ययन कर अनेक सिद्धान्त निश्चित किये हैं। इनमें तीन सिद्धान्तों की बहुधा चर्चा होती है; निकोलाई डैनिलेब्सकी तथा स्पेंग्लर का आवर्तवादी सिद्धान्त, आर्नल्ड ट्वायनबी का आरोह-अवरोहवादी लयात्मक सिद्धान्त एवं मार्क्सवादियों तथा अभिनव समाजशास्त्रियों (सोरोकिन इत्यादि) के रेखाकार या शंखाकार विकासमूलक मत। यहाँ पर हमें इन सिद्धान्तों के गुण-दोषों में नहीं जाना है तथा किसी सिद्धान्त विशेष को स्वीकार करने का प्रश्न भी नहीं उठता है। हमारा तात्पर्य मात्र इतना है कि इतिहास और संस्कृति के व्यापक परिवेश में ही धर्म-साधनाओं को देखा जाये। स्पेंग्लर ने संस्कृतियों के जन्म, विकास, प्रौढ़ावस्था और मृत्यु की चर्चा करते हुए कहा है कि अन्तिम अवस्था में एक प्रकार की सेकण्ड 'रिलिजसनेस' उत्पन्न हो जाती है, जबकि यौवनकाल की शक्तिमान धर्म-भावना की ओर लोग लौटते हैं। उसके अनुसार संस्कृति के युवाकाल में जो धर्म-भावना प्रस्फुटित होती है, उसमें उसकी आदिम-शक्ति की समस्त सरलता और बल होता है। परन्तु धीरे-धीरे धर्म-संगठनों एवं रीतियों में लचीलेपन और शक्ति का अभाव होता जाता है तथा मूल उद्देश्यों से हटकर रूढ़िप्रियता (कर्मकाण्ड) बढ़ जाती है। तब फिर एक प्रकार का सुधार प्रारम्भ होता है, जिसमें शुद्धतावाद तथा बौद्धिकता का बोलबाला हो जाता है एवं यह सुधारवाद बहुधा राजशक्तियों के माध्यम से लाया जाता है। वैदिक-औपनिषदिक युग, कर्मकाण्डी युग एवं बौद्ध-जैन धर्मों का उदय क्रमशः इन्हीं तीनों अवस्थाओं के द्योतक हैं।

स्पेंग्लर के अनुसार इस बौद्धिकता एवं तार्किकता (जैसी कि बौद्ध धर्म में थी) के विरुद्ध फिर जो प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है उसमें मिथ, अतार्किकता एवं अपार्थिवता के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है। उच्च वर्गों में न घटित होकर जनसामान्य में यह प्रवृत्ति विकसित होती है। उसके अनुसार 300 ई. पूर्व में विकसित हुए वैष्णव एवं शैवमत इसी द्वितीय धर्म-भावना के द्योतक हैं। अन्ततः यह द्वितीय धर्म-भावना एक प्रकार के कृषक धर्म में परिवर्तित हो जाती है तथा समाज का सांस्कृतिक विकास समाप्त होकर एक इतिहासरहित युग आ जाता है। ऐसी अवस्था में लोग कठिनतापूर्वक

जीवन-यापन करते हुए जीवन को बर्दाश्त करते रहते हैं। जनसमूह विजिगीषु योद्धाओं के चरणों तले कुचलता रहता है, सहता रहता है। ऊपर-ऊपर विजय और पराजय लोगों को दिखाई भी पड़ती है, पर 'अन्दर (इस) द्वितीय धर्म-भावना की शक्तिशालिनी पवित्रता के द्वारा सभी प्रकार की शंकाओं-सन्देहों से सदा के लिए मुक्त प्राणीमात्र प्रार्थना किया करते हैं।

ऊपर से देखने पर यह बात सत्य प्रतीत हो सकती है, परन्तु जैसा कि ट्वायनबी ने कहा है कि इक्कीस पूर्णतः विकसित हुई सभ्यताओं में सात अब भी जीवित हैं और उनमें हिन्दू (या भारतीय) एक है। इस प्रकार स्पेंग्लर के मत का सैद्धान्तिक आधार पर खण्डन न भी किया जाये, तब भी इस मत का निराकरण हो जाता है कि वैष्णव-शैवमत भारतवर्ष मैं द्वितीय धर्म-भावना के द्योतक थे। वास्तव में इन सन्तों के उदय के बाद ही हमारी सभ्यता का श्रेष्ठतम युग आता है—गुप्तयुग—जबकि परम भागवत गुप्त राजाओं ने वैष्णव धर्म को बहुमान प्रदान किया था।

ट्वायनबी सभ्यताओं के उत्थान-पतन की लयात्मक बात करता है यानी कोई सभ्यता ऊपर उठती है, नीचे गिरती है और फिर ऊपर उठती है। इसमें एक प्रकार की चुनौती और उसके प्रतिकार का रूप होता है। एक समाज को बार-बार चुनौती देते हैं और समाज उन चुनौतियों का उत्तर देता है। जब समाज उत्तर देने में असमर्थ और अक्षम हो जाता है तो वह सभ्यता नष्ट हो जाती है। इन चुनौतियों एवं जवाबों में सभ्यता ऊपर उठती या नीचे गिरती रहती है। उसके अनुसार सभ्यता के विकास के दिनों में चुनौतियों की अपेक्षा उत्तर अधिक शक्तिशाली होते हैं तथा अन्तिम स्थिति में चुनौतियाँ अधिक। ऐसा भी होता है कि किसी कठिन समय में सभ्यता अपने को पीछे हटा लेती है और पुनः अधिक शक्ति के साथ प्रकट होती है। इस प्रकार तीनों स्थितियों में एक लयात्मक गतिशीलता है। इसमें सभ्यताओं की मौत की कोई निश्चित अवस्था नहीं होती। जब तक समाज में सर्जनात्मक शक्ति बनी रहती है, तब तक वह सभ्यता नष्ट नहीं होती, चाहे उसे कितनी ही चुनौतियाँ क्यों न मिलती रहें। भारतीय इतिहास से इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। स्वयं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत ट्वायनबी से दूर नहीं है जब वे कहते हैं, "सन् ईसवी की 15वीं-16वीं शताब्दी भारतीय इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस काल में यद्यपि विजातीय संस्कृति के संघर्ष से भारतीय संस्कृति के विकास की स्वाभाविक गति कुण्ठित हो गयी थी, तथापि उसमें प्राण-शक्ति बची हुई थी। अवसर पाते ही उसने अत्यन्त शक्तिशाली मनीषियों को जन्म दिया। प्रधान रूप से भक्ति और धर्म के क्षेत्र में ही यह नवजागरण दिखाई दिया। उस काल में स्वामी रामानन्द, महाप्रभु वल्लभाचार्य, महाप्रभु चैतन्य देव, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, गोस्वामी हित हरिवंश, सूरदास, कबीरदास, नामदेव, नानक आदि एक-से-एक शक्तिशाली महापुरुष पैदा हुए और उन्होंने मूर्च्छित संस्कृति को नया जीवन प्रदान किया। यह सब कैसे हुआ, यह

कहना बड़ा कठिन है। इतिहास बताता है कि जब-जब भारतीय संस्कृति संकटापन्न हुई, तब-तब कोई अज्ञात शक्ति उसे एकदम मृत हो जाने से बचा लेती रही है।" (गोस्वामी हित हरिवंश समुदाय और साहित्य की भूमिका)

स्पष्ट है कि यह मत स्पेंग्लर की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। इसमें विकास की एक प्रक्रिया अवश्य है, पर इतिहास का बोध आगे बढ़ता है। ट्वायनबी के मत की, उसके उत्थान-पतनवादी दृष्टिकोण की, जमकर आलोचना हुई। सभ्यताओं को इस प्रकार एक बँधे-बँधाये साँचे के भीतर ढालने को त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया गया। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक (तथा एक अज्ञात रहस्यमय शक्ति के आरोपण को भी अस्वीकार किया गया) विकास की भी बँधी-बँधाई परिपाटी को अन्तिम सत्य नहीं स्वीकार किया गया। परन्तु फिर भी आर्थिक व्यवस्था और उससे निर्मित सम्बन्धों के महत्त्व को आगे के अन्य समाजशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है। यही नहीं, हेगेल के द्वन्द्वात्मक दर्शन को, जिसे कि मार्क्स ने अपनी विचार-सारणि का आधार बनाया था, किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया जा रहा है। इतना भर इसमें और जोड़ लेना अनुचित न होगा कि विकास की गति मात्र आर्थिक व्यवस्था पर निर्धारित नहीं करती है, अन्य मानवीय गतिविधियाँ बदले में आर्थिक व्यवस्था को भी प्रभावित करती हैं। दर्शन, धर्म और कलाओं का सामाजिक जीवन से इसी प्रकार अन्तरावलम्बी सम्बन्ध रहता है। मार्क्सवाद के अनुसार जहाँ इनकी उत्पत्ति वर्गों के आधार पर होती है, हम इस मत में इतना और जोड़ देना चाहेंगे कि वर्गों की उपज होते हुए भी वर्गों के मध्य विभिन्नता की अपेक्षा समानता अधिक होती है और इसीलिए इन मानवीय क्रियाओं (दर्शन, धर्म, कला) की अपील वर्गों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और व्यापक होती है।

मानवीय चेष्टाएँ या साधनाएँ, जिन्हें हम सभ्यता और संस्कृति के नाम से अभिहित करते हैं, अनेक दिशाओं में अनेक विधियों से आगे बढ़ती हैं। साहित्य, दर्शन, विज्ञान, धर्म, कला, राज्य शासन आदि सभी क्षेत्रों का साथ-साथ अध्ययन किया जाये तभी विकास-प्रक्रिया अधिक स्पष्ट हो सकती है। आधुनिक विज्ञान की सर्व-उन्मेषिनी दृष्टि के आने के पूर्व तक हमारी चिन्तन-प्रक्रिया के मूल में लगातार एक अज्ञात शक्ति ईश्वर और उससे सम्बन्धित साधना धर्म-मुख्य चालिका एवं सम्पोषिका शक्ति रहे हैं, विशेष रूप से मध्ययुग में। इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य मानव चेष्टाएँ दब गयी थीं; तात्पर्य केवल इतना है कि धार्मिक दृष्टिकोण अन्य सारी गतिविधियों को प्रभावित ही नहीं करता था, खड़ा होने के लिए आधार भी देता था। मार्क्स ने कुछ आश्चर्य के साथ प्रश्न किया था कि क्यों पूर्वी देशों का इतिहास धर्म का इतिहास प्रतीत होता है?

परन्तु आधुनिक युग के आने तक धर्म-साधना का स्वरूप एक ही नहीं बना रहा। प्रागैतिहासिक काल से लेकर अब तक धर्म के स्वरूप में अनेक परिवर्तन होते गये। भक्ति-प्रधान धर्म-साधना इन्हीं विकास-क्रमों में उत्थित हुई है—मध्ययुग में।

पूर्व-मध्ययुग में दक्षिण भारत में इसका उद्‌भव होता है तथा उत्तर-मध्ययुग में यह उत्तरी भारत की प्रधान शक्ति बन जाती है, दक्षिण से भी अधिक। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि भक्ति के बीज या स्वरूप हमें पहले प्राप्त नहीं होते। भक्ति में श्रद्धा और प्रेम की जो मूल भावना है, वह तो मनुष्य की एक सहज वृत्ति है। अतः उसकी उपलब्धि तो किसी भी समय के साहित्य में हो सकती है। परन्तु एक विशिष्ट शक्ति के रूप में उसका विकास मध्ययुग में ही होता है। यों विद्वानों ने भक्ति का व्यवस्थित क्रम-विकास दिखाया है। साधारणतः इसे वैष्णव धर्म के साथ एकात्म भी कर दिया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि भक्ति का सर्वोत्तम एवं मुख्य रूप वैष्णव मत में ही मिलता है। परन्तु भक्ति की धारणा का मूल रूप अन्य सम्प्रदायों में भी विकसित हुआ है, ऐसा इस लेखक का विचार है। शैव, शाक्त, बौद्ध, सन्त, स्मार्त, जैन, वैष्णव इन सभी सम्प्रदायों में इसका प्रकाशन हुआ है। वैष्णव मत के साथ सम्बद्ध करने पर हमें भक्ति के प्रारम्भिक विकास को दिखाकर फिर उसे सुदूर दक्षिण में पहुँचाकर तमिल प्रदेश के आलवारों में दिखाना पड़ता है। यदि भक्ति की भावना को अन्य साधनाओं में भी देखा जाये तो मेरे द्वारा कही गयी बात अधिक स्पष्ट होगी। पर इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि भक्ति की जिस भावुकता को हम वैष्णवों और आलवारों में पाते हैं, अन्यत्र उसकी कमी है।

उत्तर भारत में बुद्धिवादी बौद्ध-आन्दोलन, तर्क-प्रवण पण्डितों, दार्शनिकों (चाहे वे नागार्जुन न हों या कुमारिल भट्ट अथवा शंकराचार्य) के विवादों के कारण यह मत ऊपर से दबा प्रतीत होता है, पर मूल की प्रेरणा से शंकर भी अछूते नहीं रहे। भावुकताप्रधान भक्तिमार्ग की परम्परा को खोजने के लिए दक्षिणादिमुख यदि हम हों भी तब भी महायान की भक्ति-भावना की देन का उचित मूल्यांकन होना चाहिए। परन्तु यहीं एक बात को ध्यान में रखना होगा कि उत्तर भारत में जिन परिस्थितियों में और जिस शक्ति के रूप में यह मतवाद पुनर्जाग्रत हुआ है, वह एक महान लोकशक्ति के रूप में है। भक्ति की यह भावना नयी नहीं थी, नयापन था उसकी शक्ति, उसका लोकसुलभ रूप। शुक्ल जी ने कहा है, "नियमों से निराश होकर 'कर्मवाद' की कठोरता से घबराकर परोक्ष ज्ञान और परोक्ष शक्ति मात्र से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोज में लगा और अन्त में भक्तिमार्ग में जाकर इस परोक्ष हृदय को उसने पाया।" इस कथन का एक अर्थ यह निकाला जा सकता है कि मनुष्य की आध्यात्मिक आकांक्षाएँ पूर्व प्रचलित धर्म-साधनाओं से सन्तुष्ट नहीं हुई थीं। यह मत मुझे समीचीन नहीं लगता। इसके द्वारा इस बात की पूर्व-कल्पना कर ली जाती है कि भक्ति की आवश्यकता जिस समाज को थी, वह पहले से ही विद्यमान था। पर ऐसा तो नहीं ही था। वास्तव में पूर्व साधनाएँ भी मनुष्य की वैसी ही आध्यात्मिक तृप्ति करती रहीं, जैसी कि भक्ति कर सकी। वे नयी शक्ति बनकर आयीं और निःसत्व होकर अपनी उपलब्धि परम्परा के अगले

चरण को सौंपकर अन्धकार में पड़ गयीं। भक्ति भी चरम सत्य सिद्ध नहीं हुई। भक्ति एक विशेष परिस्थिति में चारों ओर व्याप्त हुई और एक विशिष्ट रूप में व्याप्त हुई है। उसका वैदिक-औपनिषदिक भक्ति से वही सम्बन्ध है, जो गाँधी जी की अहिंसा का सम्बन्ध बुद्ध की अहिंसा से है। गाँधी जी ने एक वैयक्तिक गुण को सामाजिक मूल्य बना दिया। उसी प्रकार भक्ति के विशिष्ट भावुक आत्म-निवेदन को सामाजिक-सामूहिक चिन्तन का आधार ही नहीं, कलश भी बनाया गया। प्रेम और भक्ति साध्य बन गये, साधन नहीं। इसके विशिष्ट सामाजिक कारण हैं।

जिस समय पाण्डित्य की मेधा मात्र शास्त्रानुवीक्षण में लगकर चहारदीवारों में बँधी ही नहीं, बल्कि चहारदीवार बनाने भी लगी, (निबन्ध ग्रन्थों का लेखन, काव्यशास्त्र का रूढ़ विवेचन एवं धर्म में विधि-निषेधों का आधिक्य 11-12 शताब्दी से मिलने लगता है); जिस समय सहजयान वज्रयान ने लोक को आकर्षित करने के चक्कर में मानव जाति की अद्यावधि उपलब्ध समस्त नैतिक मान्यताओं एवं मूल्यों को ध्वस्त कर दिया, जब उत्तर से दक्षिण तक मत-मतान्तरों एवं सम्प्रदायों का जाल जनता को दिग्मूढ़ करने लगा, जब जीवन के सम्मुख किसी ऊँचे लक्ष्य का अभाव हो गया—उसी समय इन समस्त परिस्थितियों से भी अधिक विकट इस्लाम का आक्रमण हुआ जिसने एक साथ अतीत की विराट परम्पराओं (गुणों और अवगुणों से युक्त) को गहराई से सँभाली गयी इस देश की संस्कृति के सम्मुख अस्तित्व का भयानक संकट उपस्थित कर दिया। कुछ काल के लिए ऐसा लगा कि नये धार्मिक उत्साह से दृप्त इस शक्ति के सम्मुख क्षीण-जर्जर और वृद्धा संस्कृति ठहर न सकेगी। हमारे यहाँ की 13वीं 14वीं शताब्दियाँ लगभग इसी अन्धकार को व्यंजित करती हैं। परन्तु यह जो वृद्धता थी, उसी ने इस सर्वातिशायी शक्ति से लोहा लिया। अन्तःसलिला भक्ति की भावधारा दक्षिणी वैष्णव मतवाद का सहारा लेकर तीव्र वेग से फूटी। भक्ति और वैष्णव मतवाद उत्तर से दक्षिण गया था, वहीं वह पल्लवित होता रहा। जिस समय उत्तर भारत एक सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक निर्बलता के मध्य पड़ा हुआ मुस्लिम आक्रमण से आन्दोलित हो रहा था, उस समय दक्षिण भारत ने उसे पुनः आस्था दी, सहारा दिया, जिसने गिरते हुए समाज और टूटती हुई संस्कृति को फिर से खड़ा कर दिया। जनशक्ति के रूप में भक्ति आयी, इस कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है। पर यह याद रखना चाहिए कि यह दक्षिणी भक्तिधारा किसी शून्य में आखिर प्रतिष्ठित नहीं हुई। भक्ति भावधारा अन्तःसलिल थी। उसे निकलने का अवकाश नहीं मिल रहा था जिसे वैष्णव आचार्यों ने ऊपर आने में सहायता दी और जिसका भरपूर उपयोग एवं प्रसार 15-16वीं शती के वैष्णव आचार्यों (चतुः सम्प्रदायोत्तर) ने किया।

यहाँ पर यह भी ध्यान में रखने योग्य तथ्य है कि पूर्व स्थापित चतुः सम्प्रदायों में निम्बार्क को छोड़कर अन्य सम्प्रदायों को उत्तर में अधिक गहरी प्रतिष्ठा या प्रचार

नहीं मिला। यह बात भी सूचित करती है कि उत्तर की स्थितियाँ कुछ भिन्न थीं। उनके लिए भिन्न प्रकार की शास्त्रीयता एवं साधना-विधि की आवश्यकता थी। निम्बार्कियों ने इस तथ्य को समझा था और अन्य तीन सम्प्रदायों से उनका मत निश्चित रूप से एक बात में भिन्न था कि उन्होंने प्रेम की देवी राधा को प्रतिष्ठा दी। इस प्रकार मधुर भाव को उत्तर की जमीन अधिक अनुकूल मिली और इसी कारण उत्तर भारत में बाद को जिन सम्प्रदायों की स्थापना हुई, वे सब-के-सब मधुर भाव की ओर झुके। तुलसीदास इनमें अपवाद हैं, जिन पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। दक्षिणी भक्तों में जो माधुरी भाव के यत्र-तत्र उद्‌गार हैं, वे प्रतीकात्मक अधिक हैं। अन्दाल या गोढ़ा के पद इस सम्बन्ध में बहुधा उद्धृत किये गये हैं। परन्तु एक तो अन्दाल स्वयं स्त्री थी और अपनी जैविक स्थिति में अपने पूर्ण यौवन को कृष्ण को सौंपने को प्रस्तुत हुई थी; पुरुष परमात्मा को जब तक स्त्री न माने, तब तक पूर्ण यौवन समर्पित करने की बात नहीं उठती। फ़ारस में परमात्मा की कल्पना स्त्रीरूप में हुई और परिणामतः सूफ़ी कवि और सन्त सहज ही माधुरी भाव की ओर झुक गये परन्तु हमारे देश में पुरुषरूप कल्पना रही—ईश्वर की। परिणामतः एक विशेष दार्शनिक दृष्टि, एक प्रकार की विशेष साधना (मानसिक विशेषकर) की आवश्यकता पड़ी जिसमें पुरुष अपने पुरुषत्व का अभिमान भुलाकर स्त्रीरूप में पुरुष परमात्मा को देख सके। जहाँ तक प्रतीकों का प्रश्न है, उनमें माधुरी भाव की रस सिद्धि नहीं मानी जा सकती—मात्र झुकाव भले मान लें।

उत्तर भारत में मधुर भावापन्न भक्ति का मुख्य कारण बंगाल-वैष्णवता है। स्त्री-पुरुष के रूप में साधना का प्रचलन पूर्वी भारत में तान्त्रिक मतवाद के प्रसारण के कारण था ही—उनका मिलन सुख महासुख का पर्याय भी बन सका था। तान्त्रिक दर्शन जब वैष्णव मत के सम्पर्क में आया, तब उसे भी उसने 'युगनद्ध' की परिभाषा के अन्तर्गत ले लेना चाहा। इधर साहित्य और कला के क्षेत्र में कृष्ण की प्रेमिका राधा कवियों के बीच में सुपरिचित थीं। उन्हें ही सहजिया-वैष्णव दर्शन के भीतर प्रतिष्ठित कर दिया गया। भक्ति-भावना यों भी प्रेममूलक होती है। जब उसमें 'युगनद्ध' दर्शन आ मिला और साहित्य का प्रेमी-प्रेमिका तत्त्व भी सम्मिलित हुआ, तब उसने उस रासायनिक मिश्रण का रूप ले लिया, जिसकी माधुरी से सारा उत्तरी भारत आप्लावित हो उठा। परन्तु बंगाल की भूमि तान्त्रिक अतिचारों के कारण जितनी विधि-निषेधरूपा हो गयी थी, उतनी मध्य देश की नहीं थी। परिणामस्वरूप बंगाल की परकीया राधा ब्रज में स्वकीया बन गयी। सूरदास ने राधा-कृष्ण का धूमधाम से विवाह कराया। इस मधुर साधना की समानधर्मा सूफ़ी-साधना इसी बीच यथेष्ट प्रचार पाती है। उसने भी मधुर भावापन्न भक्ति के पल्लवित होने में सहायता की। इनका विशेष प्रभाव 'भाव और दर्शन' की दृष्टि से निर्गुण कवियों पर पड़ा, क्योंकि नाथपन्थी जब ऐतिहासिक दबाव में पड़कर मुसलमान होने को बाध्य

हुए—उस समय सूफ़ी मुसलमानों से उनका स्वाभाविक रूप से अधिक सम्पर्क बढ़ा और वे मधुर भाव के प्रतीक वहाँ से लेते हैं।

तुलसी वास्तव में स्मार्त-भक्ति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं। मध्ययुग में जिस समन्वय-वादिनी दृष्टि का विकास हुआ, उसे मुस्लिम आक्रमण के कारण आत्मरक्षा एवं आचार-प्रधान होना पड़ा। यह दृष्टि स्मार्त-मत की थी जो 1000 ई. के बाद से मध्य प्रदेश की सामान्य जनता द्वारा अधिकाधिक अपनाई गयी। तुलसीदास ने आचार-प्रवणता के साथ भक्ति के आवेश को भी मिला दिया और इस प्रकार उस कठिन समय में सामान्य जन के सम्मुख वे एक व्यवस्थित जीवन-दर्शन एवं जीवन-प्रणाली देने में समर्थ हुए। प्राचीन जीवन के नैरन्तर्य को नवीन भावधारा के साथ संगुम्फित करने का तुलसीदास का प्रयास मध्ययुग में अप्रतिम है—सम्भवतः इसी कारण परम्पराओं में गहरी जड़ें रखने वाले इस वृद्ध देश में वे इतने अधिक जनप्रिय भी हो सके। मनुष्य केवल भाव में नहीं जीता, उसे अपने दैनन्दिन जीवन में एक प्रकार की आचार-पद्धति की भी आवश्यकता होती है तथा आचार इतना उथला नहीं होता, जितना लोग समझते हैं—उसके भी आन्तरिक मूल्य होते हैं जो शताब्दियों के परीक्षण में खरे उतरते हैं। इसके अतिरिक्त आचार मनुष्य के भाव जगत् की अभिव्यक्ति भी होते हैं। करुणा और दया, प्रेम एवं उदारता श्रेष्ठ भाव-मूल्य हैं। पर इनका प्रकाशन आचार के द्वारा ही सम्भव है। तुलसीदास ने इस महत्त्व को समझा था, इसी कारण केवल इष्टदेव के रूप एतं लीला-गान के मधुर पक्ष में ही नहीं लगे (उसका भी यत्र-तत्र संकेत है) बल्कि जिन्दगी जीने की उस प्रणाली को उन्होंने स्पष्ट करना चाहा जिसमें इन मानवीय मूल्यों की उपलब्धि प्रकाशित की जा सके। कृष्णभक्त कवियों ने इन बातों की उपेक्षा की—यद्यपि उस कठिन समय में समाज को आस्था देने का अनुपम कार्य इन्होंने किया। वैष्णव कवि की यह मधुरोपासना धीरे-धीरे स्थूल ऐहिकता में रीतिकाल के कवियों में परिणत होती गयी और उसकी रही-सही सामाजिक शक्तिवत्ता समाप्त कर दी गयी। इस प्रकार की उपासना के जो रसिकगण थे, वे भी इसके मर्म से दूर होते गये एवं बाह्याडम्बरों, साम्प्रदायिक विद्वेषों में रुचि लेने लगे। समाज-निरपेक्षता ने उनकी शक्ति का अपहरण कर लिया। इसी कारण 18वीं-19वीं शती के प्रेम-भक्ति के कवियों में परिमाण की प्रचुरता होते हुए भी वह सम्पन्नता नहीं प्राप्त होती जो 15वीं से 17वीं शती तक हमें दिखाई देती है। यह काल भी भक्तिकाल है पर अपनी सामाजिक शक्ति को खो चुका है और इसीलिए बहुत कुछ उपेक्षित-सा हो गया है।

विभिन्न धर्म-साधनाओं से प्रस्फुटित भक्ति

व्यापक विकास-क्रम में हिन्दू पौराणिक धर्म जैन-बौद्ध धर्मों के द्वारा एक कोने में कर दिया गया। यद्यपि कोई वैयक्तिक देवता इन सन्तों में न था पर दिव्य व्यक्तियों के प्रेम से ये नहीं बच सके। बोधिसत्व, बुद्ध और तीर्थंकर भक्ति के विषय बने।[1] वे ईश्वर के स्थानापन्न बने–यह एक प्रकार से भक्ति का मानवीकरण था। परन्तु ईश्वर के अस्तित्व से इनकार कर देने के बाद उनके पास आधार-भूमि केवल साधक की आचार प्रधानता रह गयी और जिस दिन नैतिकता एवं आचार की नीवें हिलीं, उसी दिन बौद्ध धर्म भरभराकर बैठ गया। इस ह्रास की चर्चा करने का प्रसंग आगे फिर मिल सकता है–यहाँ पर हम इस काल की एक प्रमुख विशेषता लोकधर्मिता की ओर बढ़ावा देख सकते हैं। यों तो बौद्ध, जैन धर्म प्रारम्भ से ही लोकधर्म थे तथा महाभारत ने वैष्णव धर्म को भी लोकधर्म कहा है पर ऐसा लगता है कि ईसवीं सन् के कुछ पूर्व ही इन साधनाओं में लोकधर्म के तत्त्वों का अभाव होने लगा था–बौद्ध धर्म दार्शनिक पद्धतियों की ओर बढ़ा तथा परमेश्वर या व्यक्ति इन दोनों में से किसी का भी निषेध सामान्य जन की आध्यात्मिक भूख को तृप्त नहीं कर पाता, जबकि बौद्धमत आत्मवादी होने के कारण मात्र आचार प्रधानता पर ही जोर देने लगा–यह बात सामान्य जन की आस्था को टिकाये रखने के लिये पर्याप्त न थी। इधर वैष्णव मतवाद भी पाञ्चरात्र संहिताओं एवं वैखानस आगमों के जंजाल में शुष्क विवेचन तथा जटिल विधि-विधानों के अम्बार के रूप में बढ़ रहा था। सम्भवतः कुछ ऐसी ही स्थिति में पुराण-निर्माण एवं महायान का विकास हुआ है। 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' के कारण महर्षि द्वैपायन वेद व्यास ने जनता के कल्याण-साधन के लिए वेद में निहित आध्यात्मिक निगूढ़ तत्त्वराशि को पुराणों में विस्तृत रूप से नाना प्रकार के आख्यान-उपाख्यानों की सहायता से प्रकट किया है–

वेदेभ्य उद्धृत्य समस्त धर्मान् षोद्वयं पुराणेषु जगाद देवः ।
व्यास स्वरूपेण जगद्धिताय, बन्दे तमेनं कमला समेतम् ॥

(पद्मपुराण, क्रियायोग, सार 2 ।3)

(जिन्होंने व्यास के रूप में वेदों से समस्त धर्मों को उद्धृत करके जगत् के

कल्याण के निमित्त निखिल पुराणों में व्यक्त किया है, कमला सहित उस नारायण की हम वन्दना करते हैं।)

देवी भागवत में (7 ।37 ।2-3) बताया गया है कि कर्म, ज्ञान और भक्तियोग ही अनायास प्राप्त होने वाला सुलभ है। श्रीमद्‌भागवत में (11 ।20 ।32) भगवान कृष्ण ने कहा है, "कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म तथा तीर्थयात्रा, व्रत आदि अन्य साधनों के द्वारा जो प्राप्त होता है, मेरा भक्त भक्तियोग के द्वारा वह सब अनायास प्राप्त कर लेता है तथा जिनके जिह्वाग्र पर तुम्हारा नाम रहता है, वे चाण्डाल होने पर भी श्रेष्ठ हो जाते हैं। जो तुम्हारा नाम लेते हैं, उन्होंने यथार्थ तपस्या कर ली, अग्नि में यथार्थ हवन कर लिया। उन्होंने तीर्थ में स्नान कर लिया, वे ही आर्य हैं, उन्होंने ही यथार्थतः वेदाध्ययन किया है।" (3 ।33 ।7)। वृहन्नारदीय पुराण ने तो उच्च स्तर से घोषित किया–

चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ, विष्णुभक्तो द्विजाधिकः।
विष्णुभक्तिविहीनश्च, द्विजोऽपि श्वपचाधमः ॥ 132 ।39

यद्यपि ये ग्रन्थ कुछ परवर्ती हैं, फिर भी इनसे इस लोकधर्मी स्वर का समर्थन होता है।[2]

इसी प्रकार महायान के विकास की मूल प्रेरणा बौद्ध धर्म को लोकजीवन के निकट पहुँचाने और ऐसे पथ का विकास करने की थी जिसमें केवल सम्बुद्ध व्यक्ति ही नहीं, वरन् समस्त लोक का कल्याण हो सके।[3] भारती ने इसी प्रसंग में अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की एक रोचक कथा उद्‌धृत की है। अवलोकितेश्वर जब निर्वाण प्राप्त करने जा रहे थे, उसी समय उन्होंने एक क्रन्दन सुना, चिन्तन करने पर ज्ञात हुआ कि जनसाधारण के दुखों और पीड़ाओं में जो एकमात्र आश्रय थे, उनके अन्तर्धान होने पर लोकसाधारण का परिताप है। इस पर विचलित हृदय अवलोकितेश्वर ने निश्चय किया कि 'वह अपने सुकृत पुष्पों द्वारा अर्जित निर्वाण को तब तक स्वीकार नहीं करेगा, जब तक भूमि पर एक भी व्यक्ति भवजाल में बँधा रहता है।' इसी प्रकार बोधिसत्व लोकहित के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं, "मैं प्रत्येक दिशा के सभी सम्बुद्धों, से बद्धकरों से प्रार्थना करता हूँ कि जो ममता के बन्धन के कारण दुखजाल में आबद्ध हैं, उनके लिए धर्म का दीपक प्रोज्ज्वल करें। मैं सभी आत्मनिग्रही सम्बुद्धों से आग्रह करता हूँ, जो महानिर्वाण प्राप्त करने को सन्नद्ध हैं कि वे असंख्य युगों तक रुके रहें (ताकि उनके अभाव में) यह संसार तमाच्छादित न हो जाये। मैंने अपनी साधनाओं से जितने भी पुण्य अर्जित किये हैं, उनसे सभी प्राणियों के सभी क्लेशों तथा तापों का परिशमन हो...तीनों भुवनों में व्याप्त अपने सम्पूर्ण सत्व, अपने सम्पूर्ण आनन्द और अपने सम्पूर्ण पुण्यों का मैं निस्संग परित्याग करता हूँ ताकि सभी प्राणियों की कामनाएँ पूर्ण हों।" इसी कारण लोकसाधारण भी अन्त में स्वतः साधना के कठिन पथ पर विशेष ध्यान न देकर बोधिसत्व की ही

महत्त्वासण के आकांक्षी हो रहे थे।[4] इसके अतिरिक्त जैन, बौद्ध और वैष्णव आदि सन्तों में अवतारवाद का कोई-न-कोई स्वरूप एवं मूर्तिपूजा और उसके विधि-विधान तथा देवता ही करुणा और अनुग्रह का भरोसा इसी प्रवृत्ति के लक्षण थे, आगे चलकर महायान ने उत्तरकालीन वैष्णव धर्म को बहुत अधिक प्रभावित किया।

धर्म के सहजीकृत रूप का विकास नाम जाप या कीर्तन आदि में उपलब्ध होता है। इस काल में (500 ई. पू. से लेकर 600 ई. तक) मन्त्रशास्त्र एवं आक्षरिक प्रतीकवाद में बहुत विकास हुआ। व्याकरण के स्फोटवाद के सहारे माण्डूक्योपनिषद एवं कठोपनिषद का अत्यधिक विस्तार होता है। इससे एक नये प्रकार का रहस्यवाद तेजी से बढ़ा जिसने बौद्धों को भी बहुत प्रभावित किया। जन-सुलभता के लिए पहले प्रज्ञा परिमिताओं में कुछ सरल मार्ग, शरणागति, पूजा-अर्चा बताये गये; कालान्तर में साधकों की और सुविधाओं के लिए पारमिता शास्त्र को संक्षिप्त करते-करते अन्त में केवल एक हृदय सूत्र मात्र में इसे संक्षिप्त करके मन्त्रयान आगे आया। आगमों (वैष्णव, शैव और शाक्त सभी) में भक्तियोग का साधन मन्त्रदीक्षा पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया। वैदिक काल की गायत्री-मन्त्र की दीक्षा की अपेक्षा भक्ति का मन्त्रजाप (जो कि आत्मसमर्पण और शरणागति का ही एक रूप बना) सर्वजन सुलभ था। यद्यापि यह लोकोन्मुखता आगे चलकर भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है। मूलतः अनात्मवादी, आचार-प्रधान, वैराग्यमूलक बौद्ध धर्म लोकाकर्षण के लिए अधिकाधिक तान्त्रिक और गुह्यसाधनाओं में फँसता गया और अन्त में उसी के वन में खो गया, जबकि वैष्णव मतवाद मूलतः रागप्रधान, ईश्वरवादी होने के कारण जनसाधारण की आस्था के लिए सिद्धियों आदि के चक्कर में पड़ने से बच गया। बल्कि कहना यों चाहिए कि राग प्रधान भावना को बौद्धिक वर्ग का भी सहयोग प्राप्त करने के लिए दाक्षिणात्य आचार्यों के प्रयासों के रूप में शास्त्रानुमोदन भी प्राप्त करना पड़ा।

सम्भवतः ऐसे ही कुछ कारणों से दक्षिण भारत में पहुँचकर भक्ति के मूल प्रेम को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों (शैव, वैष्णव) को एक नयी शक्ति मिली, जबकि जैन-बौद्ध मतवाद दक्षिण में और ह्रास की ओर ही बढ़े। उत्तर में तो अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा तथा कुछ राजनीतिक कारणों से बौद्धों का महत्त्व बना भी रहा, पर दक्षिण में ये कभी बहुत पनप नहीं सके।[5] यद्यपि लगभग साथ-साथ दक्षिण भारत में मतवाद पहुँचे हैं। भण्डारकर ने ई. पूर्व प्रथम शती के आसपास महाराष्ट्र एवं तमिल प्रदेश में वैष्णव सम्प्रदायों के अस्तित्व का अनुमान किया है,[6] उधर अशोक के समय आन्ध्र प्रदेश में महादेव नामक एक भिक्षु ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया था।[7] बहरहाल सब मिलकर 6-7वीं शती तक हम विचित्र, जटिल एवं अन्योन्याश्रित पर अनेकमुखी तथा बहुदिशा प्रवाहिनी धर्म-साधनाओं का विकास पाते हैं। उनमें परस्पर आदान-प्रदान भी होता है तथा प्रतिद्वन्द्विता भी चलती है—सामान्यजन को आकर्षित करने में भी तथा राज्य-शक्ति को वशीभूत करने में भी। यदि अशोक एवं अन्य मौर्य राजा बौद्ध

थे तो उनके उत्तराधिकारी शुंगवंश ने बौद्धों का समूलोच्छेदन एवं यात्रिक हिन्दूमत को प्रतिष्ठित करना चाहा। यह प्रतिक्रिया सम्भवतः बहुत स्वस्थ न थी क्योंकि द्रव्य यज्ञों के प्रति एक निश्चित अवमानना की भावना अब तक प्रतिष्ठित हो चुकी थी तथा जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं, सात्वत, पाञ्चरात्र या एकान्तिक मत अब तक वैदिक विष्णु और ब्राह्मणीय नारायण को अपना चुका था। गीता ने उसे शुद्ध वैदिक उपनिषद परम्परा के भीतर स्थापित कर दिया था। इसके अतिरिक्त बौद्ध-जैन धर्म अभी अत्यन्त जीवन्त धर्म थे, उन्हें सहज उखाड़ फेंकना सम्भव न था। ऐसी स्थिति में शुंगवंश की प्रतिक्रिया के स्थान पर प्रतापी गुप्त राजाओं ने परम भागवत की उपाधि धारण की, उनके समय में वैष्णव (शैव भी—कालिदास शैव ही थे।) साधना का प्रभूत प्रसार हुआ।[8]

गुप्त युग में वैष्णव धर्म ने अत्यन्त प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। फिर इसे भारतीय साधना से हटाया नहीं जा सका, भले ही बीच-बीच में प्रभाव कम पड़ता रहा। गुप्तकालीन वैष्णव धर्म की कुछ विशेषताएँ पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने इस प्रकार बताई हैं,[9] आगे के विकास को पूरी तरह से हृदयंगम करने के लिए इनका मानना आवश्यक है—'प्रथम यह कि साखतों या भागवतों ने इस समय विष्णु के साथ कृष्ण का एकीकरण स्वीकार लिया था।... भागवत धर्म तब तक वैष्णव धर्म में मग्न हो चुका था। दूसरी यह कि अवतारों की पूजा इस समय पहले से कुछ अधिक होने लगी थी और उनके नाम तथा संख्या में भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तन भी होने लगे थे। तीसरी यह कि अवतार-पूजा के महत्त्व के सामने व्यूहवाद कुछ गौण समझा जाने लगा था...। चौथी विशेषता यह भी थी कि विष्णु या नारायण के साथ-साथ अब लक्ष्मी की भी पूजा आरम्भ हो गयी थी और लक्ष्मीनारायण की मूर्तियाँ उस समय की मुद्राओं तक पर अंकित होने लगी थीं।[10]

एक ओर तो हेलियोडोरस जैसे विदेशी भी उसे स्वीकार करते हैं—दूसरी ओर उसका दक्षिण में भी प्रचार अवश्य हुआ होगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि दक्षिण के प्रसिद्ध आलवारों का समय गुप्त युग से ही प्रारम्भ होता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक वैष्णव नवोत्थान में हमें देश एक विचित्र शक्ति से भरा दिखाई देता है। कला, साहित्य, दर्शन, शास्त्र-चिन्तन सभी पराकाष्ठा को पहुँचने लगते हैं। वैष्णवों के प्रारम्भिक उत्थान में हम पाणिनि से पतंजलि तक में विद्वान महाभारत, रामायण जैसे साहित्य एवं मौर्य साम्राज्य का निर्माण प्राप्त करते हैं। वैष्णव भावना के द्वितीय उत्थान गुप्त युग को तो स्वर्णकाल ही कहा जाता है—तृतीय उत्थान, आलवार युग में कथा, आख्यायिका, काव्यशास्त्र, चित्र, मूर्ति, मन्दिर-निर्माण में हमें एक नवीन शक्ति मिलती है और चतुर्थ उत्थान जो 14वीं-15वीं शती में होता है, उसने तो सारी संस्कृति और परम्परा को ही बचा लिया। दक्षिण में बौद्ध और वैष्णव साधनाओं के प्रति सामान्य जनता का दृष्टिकोण उस कारण भी प्रभावित हो

सकता है कि जहाँ बौद्ध विजितों (पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल में उसके अत्याचारों से घबराकर बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षु दक्षिण एवं पश्चिम में चले गये थे।) का मत था, वहीं वैष्णव विजेताओं का—और वह भी ऐसा मतवाद जो प्रेम एवं भक्ति की स्रोतस्विनी में प्रत्येक को आकण्ठमग्न करने के लिए तत्पर बिना किसी प्रकार के भौतिक-पारिवारिक मूल्यों की हत्या कराये।

गुप्तों के बाद एक बार फिर राज्यशक्ति हर्षवर्धन के काल में बौद्धों के पास जाती है—और यहीं से उनमें तन्त्र साधना प्रवेश करती है। महायान की परिणति वज्रयान में होती है। और इसी युग के बाद फिर उन्हें मध्य प्रदेश में हम शक्तिशाली पाते हैं। हर्ष के काल तक बौद्धेतर मतवाद इतने प्रबल हो चुके थे कि कुशल शासक के नाते हर्ष कभी उनका विरोध नहीं कर सका, यद्यपि हर्ष के समकालीन शशांक ने बौद्धों पर अकल्पित अत्याचार किये थे, उनकी प्रतिक्रिया हर्ष को उत्तेजित कर सकती थी। यद्यपि यह हर्ष की वैयक्तिक विशेषता भी हो सकती है, पर वातावरण को नितान्त उपेक्षित करके देखना भी उचित नहीं है। शंकर और कुमारिल जैसे उद्भट पण्डितों का आविर्भाव भी अचानक नहीं हुआ था। यहाँ पर हमें बौद्ध धर्म के पतन की विवेचना नहीं करनी, अपितु उसके स्थान पर हमें इतना याद रखना है कि निषेधवादी हीनयान एवं अनैतिक गुह्य-तान्त्रिक महायान, यन्त्रयान, वज्रयान आदि की चुनौती के सामने आगमों-पुराणों की विजय हुई और इस विजय की सामाजिक सन्दर्भ में पूरी सार्थकता एवं औचित्य भी है। यह सार्थकता और औचित्य इसलिए और बढ़ जाती है कि अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय तथा शरणागति आदि को इन आगमों-पुराणों ने पूरी तरह अपना लिया था। पुराणों ने अपने लाक्षणिक, प्रतीकात्मक ढंग से एक ऐतिहासिक परम्परा भी उपस्थित कर दी थी, भले ही वह अनैतिहासिक एवं तथ्यहीन हो। इस परम्परा के माध्यम से समसामयिक जीवन को अस्पष्ट एवं दूरागत अतीत के साथ जोड़ दिया गया था।[11] इस प्रकार वैदिक मन्त्रगानों की भाँति ही भक्ति एक नये आवेश में दक्षिण के आलवार एवं नयनार भक्तों की वाणी में फूट पड़ी।

यहाँ से हम भावुकता के एकदम नये लोक में प्रवेश करते हैं। यहीं से भारतीय भक्ति साधना की तीसरी मंजिल प्रारम्भ होती है। यहीं यह याद दिला देना अनुचित न होगा कि बौद्ध धर्म नष्ट नहीं हुआ, केवल व्यापक हिन्दू धर्म में विलीन हो गया, आत्मसात कर लिया गया और 11वीं-12वीं शती में भक्ति साधना को एक नये रूप में प्रभावित करना प्रारम्भ करता है जिसके आधार पर आगे प्रेमाभक्ति की मधुर उपासना एवं निर्गुणिया भक्ति का विकास हो सका।[12] इसने दर्शन और व्यवहार, दोनों ही क्षेत्रों में भीतर से अपना प्रभाव डाला है। यह बात बहुधा जोर देकर कही जाती है कि भारतीय पूजा समन्वय-स्वीकारिणी रही है। समन्वय की यह प्रवृत्ति हमें इन विविध साधनाओं के बीच उगती मिलती है। ऋग्वेद के 'एक सद्विप्रा बहुधा

वदन्ति' में समन्वय के प्रथम लक्षण हमें दीखते हैं। वैष्णव मतवाद के आरम्भिक दिनों में ही हमें विष्णु, नारायण, वासुदेव और कृष्ण (योगवेत्ता भी और गोपालकृष्ण भी) एक में ही मिलते दिखाई देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न सम्प्रदायों के बौद्धिक लोग इस बात का बहुधा अनुभव करते थे कि किसी एक मूल तत्त्व की ही उपासना वे कर रहे हैं। वेदान्त की शिक्षाओं ने भी इस मौलिक एकता की ओर ध्यान दिलाया होगा। सम्भवतः इस दिशा में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य स्मृति शास्त्रों का रहा है जिन्होंने सामान्य जनता के लिए आचार-विचार प्रधान धर्म का रास्ता दिखाया। ईसवी सन् के आसपास निर्मित धर्मशास्त्रों, मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों में किसी विशेष सम्प्रदाय-देवता की उपासना के प्रचार का प्रयास नहीं है। उनसे एक प्रकार के धार्मिक उदारताभाव का प्रचार होता है (श्रेष्ठ दर्शन एवं नितान्त आदिम rituals एक साथ)। स्मृतियों के आधार पर ही आगे स्मार्त मत का विकास होता है जिसमें पंचायतन पूजा का प्रारम्भ होता है। वास्तव में धीरे-धीरे पंचायतन पूजा का स्मार्त मत सामान्य हिन्दू जनता में घर करता गया। आज भी भारतवर्ष के (विशेष रूप से उत्तर भारत के) अधिकांश जन स्मार्त पद्धतियों पर ही विश्वास करते हैं और उनके उदारता भाव में कमी नहीं आयी।[13] स्मार्त पद्धति की एक मजेदार विशेषता यह है कि यह सम्प्रदाय के सम्बन्ध (affiliation) को समाप्त नहीं करती। उपासक जिस सम्प्रदाय का हो, वह अपने सम्प्रदायगत देवता को केन्द्र में स्थापित करेगा, शेष देवताओं को अन्य चारों ओर। विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश एवं सूर्य तक ही यह पंचायतन पूजा सीमित नहीं रही। अलग-अलग देश-कालों में अन्य देवता जुड़ते या छँटते रहे हैं। कहीं ब्रह्मा आ गये हैं तो कहीं हनुमान, कहीं अन्य स्थानीय देवता। मध्य प्रदेश में ऐसे मन्दिर विरल नहीं हैं, जिनमें एक सम्प्रदाय देवता के मन्दिर के चारों ओर अन्य देवताओं के मन्दिर बने हुए हैं। इस स्मार्त प्रकृति को चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं हर्षवर्धन जैसे राजाओं के दृष्टिकोण से और बल मिला होगा।

इस सम्प्रदाय-समन्वय (cult-syncretism) प्रवृत्ति को और बढ़ावा देने वाला तथ्य सम्भवतः प्रारम्भिक विदेशियों का मानसिक दृष्टिकोण था। ये लोग एक साथ ही विभिन्न देवताओं के प्रति संभ्रम एवं श्रद्धा प्रदर्शित करते थे। श्री जे.एन. बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'Development of Hindu Iconography' में पृ. 543-44 पर प्राचीन मुद्राओं आदि ठोस व पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर यह दिखाया है कि प्रारम्भिक शक राजाओं के काल से ही यह रूप-समन्वय की भावना मिलने लगती है। प्रारम्भ में हेलेनिक एवं भारतीय तत्त्वों का सम्मिलन होता है, फिर कनिष्क एवं हुविष्क के समय में तो जोरास्थ्रियन, ब्राह्मण, बौद्ध आदि विभिन्न सन्तों का समन्वय प्राप्त होता है। सम्भवतः हुविष्क की मुद्राओं में ही हरि, हर और सूर्य को एक साथ दिखाया गया है। आगे की हरिहर उपासना (इसका जिक्र तुलसीदास ने भी किया है) का प्रोटोटाइप इसे माना जा सकता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी होगी कि यह

वह समय है जब शैव, वैष्णव एवं सौर सम्प्रदाय काफी विकसित हो चुके थे। इस प्रकार समन्वय की अन्तःसलिला वृत्ति उस युग में विद्यमान मिलती है।

यह तो धुर पश्चिमोत्तर प्रदेश की बात हुई, आगे चलकर मध्ययुग में हमें बिहार, बंगाल, उड़ीसा से कितनी ही मूर्तियाँ ऐसी मिलती हैं जिनमें 2, 3, 4 या 5 देवता एक साथ उत्कीर्ण हैं। पंचायतन के देवता; उमा-महेश्वर, अर्धनारीश्वर, गणपति, ब्रह्मा, नृसिंह, शिवलिंग, विष्णु-लक्ष्मी, नदी, श्रीवत्स, श्रीचिह्न, दुर्गा महिष्मर्दिनी[14] आदि की मूर्तियाँ मिलती हैं। बादामी गुफाओं की प्रसिद्ध हरिहर मूर्ति तक बहुत आश्चर्य न हो तो बिहार में प्राप्त और इण्डियन म्यूजियम में प्रदर्शित हरि, हर, सूर्य और बुद्ध की सम्मिलित मूर्ति, शिवलोकेश्वर, सूर्य लोकेश्वर की मूर्तियाँ हिन्दू एवं बौद्ध मतवादों का आन्तरिक सम्मिलन सूचित करती है।[15] बनर्जी महोदय ने आगे विस्तार से यह भी दिखाया है कि जैन एवं बौद्ध मूर्तियों का गठन, रूपरेखा किस प्रकार हिन्दू सम्प्रदाय-देवताओं से प्रभावित हो रही थी और हिन्दू देवताओं पर बौद्ध-जैन प्रभाव पड़ रहे थे।[16] इस पुस्तक में जिन मूर्तियों की चर्चा हुई है, उनके सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान में रखने की है कि ये मूर्तियाँ भारतवर्ष के विभिन्न भागों (उत्तर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण) से प्राप्त हुई हैं और अधिकांश मध्ययुग की हैं।

इस लम्बी चर्चा के पीछे एक उद्देश्य है कि उत्तरोत्तर स्मार्त प्रवृत्ति का बढ़ाव देखा जा सके। यह बात इसलिए और महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि इस युग में पूर्वी भारत में तान्त्रिक बौद्ध धर्म जोर पकड़ता है, पश्चिमोत्तर भारत में शैव-शाक्त साधना तथा दक्षिण भारत में शैव, शाक्त, बौद्ध एवं वैष्णव साधनाएँ (जिनमें प्रमुख शैव और वैष्णव) जोर आजमाती हैं।[17] परन्तु इस भौगोलिक स्थिति में मध्य प्रदेश में एक प्रकार का शून्य (Vacuum) प्राप्त होता है। मैं प्रस्ताव करना चाहता हूँ कि मध्य प्रदेश में इस युग ने स्मार्त मत को पूरी तरह अपना लिया गया था। इस सहिष्णु मनःस्थिति के मध्य साम्प्रदायिक साधना ही एकमात्र अभीप्सित न रही होगी। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन स्थानों में साम्प्रदायिक साधना नहीं थी या कि अन्य प्रदेशों में सहिष्णुता की भावना विकसित न हो सकी थी। जोर केवल इस बात पर ही है कि कुछ ज्ञात-अज्ञात ऐतिहासिक शक्तियों के दबाव में इस प्रदेश को अधिक उदार एवं समन्वय प्रधान होना पड़ा था।[18] इस स्मार्त चर्चा की ओर इसलिए भी ध्यान आकृष्ट कराना आवश्यक था कि यह युग गुह्य साधनाओं एवं तन्त्र पद्धतियों का था। दक्षिण की वैष्णव साधना में तो इन गुह्य, तान्त्रिक, यौन-यौगिक (Sexo-yogic) क्रियाओं का मिश्रण नहीं हो सका, शेष शैव, शाक्त एवं बौद्ध (कुछ सीमा तक जैन भी) सभी इनसे बुरी तरह आक्रान्त हुए। ऐसी स्थिति में स्मार्त धर्म की आचार-परायणता एवं स्पष्ट भाव के साथ उनका समझौता दूर तक सम्भव न था। इसी कारण विविध साधनाओं (भक्ति सम्बन्धि उपासनाओं आदि में भी) में केवल वैष्णव साधना ही इस प्रदेश के प्रारम्भ में स्थान पा सकी। अन्य साधना-समुदायों के

देवताओं को तो स्वीकार कर लिया गया, पर पूजा-पद्धति एवं उपासना-स्वरूप वैष्णव एवं स्मार्त अधिक रहा। बुद्ध भी अवतार हो गये, शिव भक्ति के प्रमुख उपास्य हो गये एवं देवी का मण्डप प्रत्येक गाँव के लिए अनिवार्य हो गया, पर उपासना पद्धति अभिचार प्रधान नहीं हो सकी। बहुत बाद में अनेक स्तरों से छनकर (बौद्ध सहजिया, वैष्णव सहजिया, चैतन्य सम्प्रदाय आदि) तथा राधाकृष्ण की आमुष्यिक, लौकिक प्रेमगाथा की साहित्यिक परम्परा के सहारे तथा सूफ़ी मतवाद से उद्दीप्त होकर माधुर्य भक्ति की रहस्यात्मकता मध्य देश में स्थान पा सकी थी। तथापि तात्त्विक रूप से देखने पर इसमें साधना की वैयक्तिक विकृति न होकर एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक संस्कारशीलता का प्रयास दिखाई पड़ता है।

विस्तारमय होते हुए भी यहीं पर उस युग की धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं तज्जन्य मानसिक अवस्था को समझ लेना आवश्यक है। इस काल को हम मध्ययुग का नाम पहले ही दे चुके हैं। यद्यपि मध्ययुग के नाम से चिन्ता जाड्य, आप्तावाक्यप्रामाण्य, स्थूल पतनोन्मुख दृष्टि आदि का बोध होता है, उसका मध्ययुग के पूर्वभाग में अभाव है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, वह काल जागरण, चिन्तन, कर्मण्यता और मानसिक औदार्य का है परन्तु इसके बाद के काल (10वीं शताब्दी के बाद) में शिथिलता अधिक लक्षित होती है।[19] साधारणतः इतिहासवेत्ताओं ने मध्ययुग को दो भागों में विभाजित किया है—650 ई. से 1200 ई. तथा 1200 ई. से 1700 ई. (हमारे देश में 1800 ई.) तक। मेरा अनुमान है कि भारतीय धर्म-साधना की दृष्टि से इसे तीन भागों में बाँटना अधिक सुविधाजनक होगा। प्रथम 7वीं से 10वीं शती के अन्त तक—इस युग में भारतीय जीवन में भक्ति का दक्षिण में नवोत्थान होता है, बड़े-बड़े दार्शनिक और पण्डित, कवि और काव्यशास्त्री, ज्योतिष और आयुर्वेद के ज्ञाता, एलोरा और अजन्ता के शिल्पकार-चित्रकार जन्म लेते हैं। दूसरा युग 11वीं से लेकर 14वीं शती तक माना जा सकता है। इस युग में आलवारों-नयनारों द्वारा भावित भक्ति को एक धार्मिक दार्शनिक सिस्टम के भीतर ढालने का प्रयत्न होता है। इसके परिणामस्वरूप सम्प्रदाय का निर्माण होता है।

निबन्धग्रन्थों का चिन्ताजाड्य और ऊहापोह काव्यशास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त के बाद पुनः शैली सम्प्रदायों का पिष्टपेषण[20] तान्त्रिक साधनाओं की चरमविकृति[21] इस युग में प्राप्त होती है। वास्तव में सही अर्थों में यह संक्रान्ति युग था। देश-भाषाएँ अभी भी भ्रूणावस्था में थीं, अतः श्रेष्ठ साहित्य के सृजन का प्रश्न नहीं उठता। मुसलमानों के आक्रमण, प्रत्याक्रमण और उसकी सम्भावित-असम्भावित प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ होती हैं। इस प्रकार यह युग आत्मरक्षण (self conservation) का युग था। पर मुसलामान साम्राज्य के स्थिर रूप ग्रहण करते ही 15वीं शताब्दी के आसपास एक नवोत्थान फिर आता है जिसमें तुलसी और सूर, कबीर और जायसी, मीरा और हरिदास, हित हरिवंश और चैतन्य, रामानन्द और बल्लाभाचार्य, नरसी मेहता और

तुकाराम, नानक और ज्ञानेश्वर जन्म लेते हैं। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ जैसे बादशाहों का शासन स्थापित होता है। राजपूत कलम, काँगड़ा कलम के चित्र बनते हैं। ध्रुपद और खयाल, ठुमरी और दादरा की धुनें बाँधी जाती हैं। ताजमहल, गोबिन्द देव का मन्दिर और फतेहपुर सीकरी का निर्माण होता है।

पूर्व मध्ययुग को बहुत-से लोग तन्त्रयुग कहना पसन्द करते हैं। "वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर से लेकर बौद्ध और जैन सम्प्रदायों तक में मन्त्र, यन्त्र, मुद्रा आदि का प्रचार बढ़ता दिखाई देता है। पर अपने चरम रूप में यह शैव, शाक्त एवं बौद्धों में दिखाई देता है। इस युग में बौद्ध धर्म में एक और विराट परिवर्तन होता है—महायान की परिणति वज्रयान में होती है। इस काल की बौद्ध मूर्तियों के नाम और रूप (ब्रजेश्वर, वज्रसत्व, हे वज्र तथा युगनद्ध रूप) द्वारा पता चलता है कि वज्रयान के सम्मुख महायान अस्त हो रहा था और उसमें शक्तितत्त्व प्रविष्ट हो चुका था। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, समस्त प्राणियों का कल्याण महायान की प्रतिज्ञा थी। इस कारण महायान को अपना दृष्टिकोण इतना उदार (catholic) बनाना पड़ा कि विभिन्न रुचियों और बौद्धिक शक्तियों के लोग भी उसमें स्थान पा सकें। जब ये परस्पर असंगत एवं कभी-कभी विरोधी विचार उसमें घुसे तो अपने साथ अपनी सारी कमजोरियाँ भी ले गये। साधारण जनों के लिए बहुधा धर्म अन्धरूढ़ियों, रहस्य, धार्मिक कृत्यों एवं आडम्बरों का समुच्चय होता है। एक बार जहाँ द्वार उन्मुक्त हुआ कि ये सब तथा प्राचीनकाल से ही निचले तबकों में चली आ रही गुह्य साधनात्मक क्रियाओं का प्रवेश हो गया और इन सबने पूरे नैतिक-धार्मिक दृष्टिकोण को बदल दिया। 'शून्य' का विचार 'वज्र' में, 'शून्यता और करुणा' का 'प्रज्ञा और उपाय में', 'निर्वाण' 'महासुख' में बदल जाते हैं। यौन-यौगिक क्रियाओं का प्रसार होता है, बोधिचित्त की धारणा में इसी कारण परिवर्तन होता है। आद्वय की धारणा का विकास 'युगनद्ध' में होता है।[22] इस प्रकार लोकोन्मुखता एवं वैयक्तिक साधना-पद्धति बौद्ध मतवाद को उस स्थिति तक पहुँचा देती है, जहाँ सारी उपलब्ध नैतिक मान्यताओं एवं मूल्यों को गहरा धक्का लगता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नोट किया है कि ये लोग परम्परा की विरोधिनी एवं बहुधा धक्कामार भाषा का प्रयोग करने लगे थे।[23] वास्तव में वैदिक आचार के प्रति श्रद्धा बौद्धों के मन में प्रारम्भ से ही नहीं थी। बीच के राजनीतिक-धार्मिक झगड़ों में यह विरोध और बढ़ा तथा जब लोक को आकृष्ट करने की प्रतिद्वन्द्विता आयी, तब भी प्रतिपक्षी को उन्होंने चिढ़ाना उचित समझा। पर यही वे सीमाएँ थीं जिनसे टकराकर बौद्ध धर्म की यह भ्रष्ट परिणति चूर-चूर हो गयी।

इस युग में शैवों के तीन स्पष्ट वर्ग दिखाई देते थे। एक थे गुजरात और दक्षिण के पाशुपत। उनमें ही दक्षिण के आलवारों के समकालीन प्रसिद्ध नयनार भक्त हुए हैं। दूसरा वर्ग कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन मानने वालों का था। इनका

सम्बन्ध शाक्त सम्प्रदायों से ज्ञात होता है, पर ये दार्शनिक और वैज्ञानिक अधिक रहे। इनके समरसानन्द की बौद्धों के महासुख जैसी भ्रष्ट परिणति नहीं हुई। तीसरा शैव सम्प्रदाय कापालिकों (भैरव, अघोरघंट आदि) का था जो पूर्व में अधिक प्रबल था। यह गुह्य साधनाओं से पूरी तरह आक्रान्त था। शाक्त मत भी तन्त्र-साधनाओं का केन्द्र ही था। आज भी पूर्वी भारत का यह एक जीवित सम्प्रदाय है। परन्तु शैव और शाक्त सम्प्रदायों पर शिव और शक्ति का नियन्त्रण था, पर अनीश्वरवादी बौद्धों पर ऐसा कोई नियन्त्रण नहीं था। ऐसी स्थिति में जब शक्ति सिद्धान्त (स्त्री-पूजा) का प्रवेश बौद्ध मार्ग में हुआ तो वह अत्यन्त निचले वासनात्मक स्तर तक पहुँच गया। शैव और शाक्त सम्प्रदाय इस स्थिति तक नहीं पहुँचे। यद्यपि सिद्धियों, गुटकों आदि पर उनका भी बड़ा विश्वास था, जो कि आगे चलकर इस्लाम के आक्रमण के समय उड़न-छू हो जाता है, और तब उन्हें या तो हिन्दू धर्म में आश्रय ग्रहण करना पड़ता है या फिर इस्लाम में शामिल होना पड़ता है। बहरहाल इतना ध्यान में रखना चाहिए कि वासनात्मक अतिघार से किसी सीमा तक बचे रहने के कारण ही शैव और शाक्त सम्प्रदाय आगे चलकर बचे रहे सके, जबकि बौद्ध धर्म कुछ फुटकर अवशेषों को छोड़कर समाप्त ही हो गया। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि तन्त्र-साधनाएँ मूलतः एक थीं, इसलिए विविध सन्तों को परस्पर निकट भी लायीं। उन्होंने आदान-प्रदान एवं पारस्परिक सहिष्णुता की उस भावना को जन्म दिया, जिस भूमि पर आगे भक्ति की लता फैल सकी। इसके अतिरिक्त जैन, वैष्णव आदि मतवादों पर भी तन्त्रों-आगमों का प्रभाव रहा है। पर तन्त्रों की साधना साधारणतः दो भागों में बाँटी जा सकती है—दक्षिण और वाम। गुह्य-साधनाओं वाले सन्तों में वामाचार है और शेष (वैष्णव, जैन, पाशुपत, स्मार्त) दक्षिणाचार के अन्तर्गत हैं।

ऊपर हम बौद्धों आदि गुह्य साधकों के वेद-विरोधी स्वर को देख चुके हैं, इसके साथ ही एक और प्रवृत्ति हम देखते हैं वेद प्रामाण्य की। जिसे हीन सिद्ध करना होगा उसको बहुधा पुराणों, टीकाओं और भाष्यों में वेदबाह्य कह दिया जाता है। इस पर बहुत-से लोग अपना वेद-सम्मत अस्तित्व सिद्ध करने में भी लगे हुए थे। शंकराचार्य ने वैष्णवों को वेदानुकूल नहीं माना, तब यमुनाचार्य और रामानुज इत्यादि को अपनी वेद-प्रामाणिकता स्थापित करने का प्रयास करना पड़ा। इस रूप में कह सकते हैं कि इस युग की धर्म-साधना दो प्रकार के लोगों में बँटी थी—एक तो वेद-सम्मत और दूसरे वेद-विरोधी। सम्भवतः स्मार्त, पाशुपत एवं वैष्णव वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करते थे, उधर बौद्ध साधनाओं से प्रभावित जन वेद-विरोधी थे। इस प्रकार उत्तर से दक्षिण तक एक प्रकार की शृंखला बनी हुई थी। एक बात यहाँ यह याद रखने की है कि मध्ययुग में सम्भवतः बौद्धों के अनुकरण पर धर्म और संस्कृति के केन्द्र मन्दिर बन जाते हैं। मन्दिरों का यह स्वरूप कितना महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ, इसे हम आगे देखेंगे।

धर्म, साधनाओं की विस्तार से चर्चा करने का मुख्य कारण है कि आधुनिक युग के पूर्व मुख्य चालिका शक्ति धर्म रहा है, राजनीति नहीं। स्वयं कुछ परेशान से होकर मार्क्स तक ने कहा था, "Why does the history of the east appear as a history of religion?"[24] दूसरे इस परिप्रेक्ष्य में हम भक्ति के स्थान का सही मूल्यांकन कर सकेंगे।

जिस प्रकार की जटिलता हमें धर्म के क्षेत्र में मिलती है, कुछ वैसी ही विशृंखल भावना राजनीति के भी क्षेत्र में दिखाई देती है। हर्ष के बाद देश में केन्द्रीय शक्ति का अभाव हो गया। अलग-अलग प्रदेशों में राजा राज्य करते थे, वे शूरता एवं विलासिता के लिए परस्पर युद्ध भी करते थे। अपने-अपने क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न धर्मों को आश्रय देते थे। पर तान्त्रिक वातावरण में सिद्धियों एवं सिद्ध-योगियों का मान सर्वत्र था। यह एक प्रकार से सामन्तवाद के ऊपरी ढाँचे (feudalism from above) की बढ़ती हुई निर्बलता की निशानी थी कि राजा लोग स्वयं प्रयास करने के स्थान पर सिद्ध-योगियों की सिद्धियों पर विश्वास करने लगे थे। वास्तव में गुप्तकाल feudalism from above का श्रेष्ठतम प्रतीक था, केन्द्रीय सत्ता के अभाव में उसकी सीढ़ियों (Hierarchy) में निर्बलता का आना अस्वाभाविक नहीं है।

परन्तु भारतीय सामन्तवाद का ढाँचा कुछ विचित्र प्रकार का है। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था की प्राथमिक यूनिट संयुक्त परिवार रही है और प्राथमिक समुदाय गाँव। गाँव और संयुक्त परिवार अपने आपमें एक पृथक सत्ता रहे हैं। ऊपर की हलचल उनमें कुछ विशेष परिवर्तन नहीं कर सकी है। केवल सिंचाई व्यवस्था केन्द्रीय सत्ता को करनी पड़ती थी। जब तक महासामन्त इस सिंचाई व्यवस्था को निबाहता रहा, तब तक हमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नजर नहीं आता। टैक्स उपज के आधार पर लिये जाते थे। गाँवों का गठन कुछ इस प्रकार का था कि उत्सव, पर्व, धार्मिक अनुष्ठान आदि समस्त जनता से सम्बन्धित होते थे, इससे सामाजिक सह-संवेदना को बढ़ावा मिलता था। भूमि की बेदखली आदि पर भी राज्यसत्ता की अपेक्षा ग्राम पंचायत का अधिक अधिकार रहता था। इस प्रकार भूमि व्यवस्था, कर व्यवस्था, ग्राम पंचायत, न्याय व्यवस्था तथा समूह संवेदना ने उस युग की जनता (विशेष रूप से खेतिहर एवं दबी हुई) को अत्यधिक शक्तिमान बना दिया था। यह एक प्रकार से feudalism from below की उन्नति थी। इस युग में राजा 'ही कमजोर नहीं' पड़ा, पुरोहित का भी महत्त्व घटा[25] (जो आज भी ऊपर नहीं उठ सका है।) कुछ ब्राह्मण तो खुल्लमखुल्ला निम्न श्रेणियों का साथ देने लगे थे। बहुधा निम्न श्रेणी की जातियाँ शक्ति पाकर ऊपर उठ आती थीं। इस प्रकार शक्तिमान होती हुई जनता की अभिव्यक्ति भी हुई।[26] धर्म लोकोन्मुख हुए, संस्कृत-प्राकृत के स्थान पर अपभ्रंशों को महत्त्व मिलने लगा। पहाड़पुर आदि की कला पर लोकजीवन का प्रभाव कलाविदों ने देखा है।[27]

कुछ इन्हीं विचित्र परिस्थितियों में दक्षिण भारत में आलवार एवं नयनार भक्तों का प्रादुर्भाव होता है। बहुधा इनकी चर्चा विद्वानों ने इस ढंग से की है कि जैसे ये अचानक ही उत्पन्न हो गये हैं। पर इस समय तमाम लम्बी चर्चाओं के पीछे हमारा उद्देश्य उस एकसूत्रता एवं पृष्ठभूमि को दिखाने का रहा है जिसने इन आलवारों इत्यादि को जन्म दिया और उनके माध्यम से भक्ति पुनः उत्तर भारत में लौटती है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि गुप्त नरपतियों ने परम भागवत की उपाधि धारण कर रखी थी, उनकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रेरणा से भागवत धर्म सारे देश में पहुँचा। यह एक प्रकार से feudalism from above की धार्मिक अभिव्यक्ति थी। हमने पीछे यह भी संकेत किया था कि आलवारों, नयनारों का समय गुप्तकाल के आसपास से ही प्रारम्भ होता है। यद्यपि आलवारों के समय के बारे में अत्यधिक मतभेद है, लोगों ने उन्हें ई. की दूसरी शती[28] से लेकर 12वीं शती तक रखा है। पर हम भण्डारकर जैसे लोगों के अनुसार इनका समय 5वीं-6वीं शती से लेकर 10वीं शती[29] तक मान सकते हैं। ऊपर हम यह भी देख चुके हैं कि वैष्णव धर्म दक्षिण में ईसा पूर्व पहली शताब्दी के आसपास पहुँचने लगा था।[30] 400-500 वर्षों तक यह वहाँ की भूमि पर पनपता रहा और गुप्तयुग के अनुकूल समय में आलवारों की वाणी में यह भक्ति-भाव लता कुसुमित हो उठी। उत्तर भारत में तो राजकीय और सामाजिक दोनों स्तरों पर इसे सीमित करने counter act करने का प्रयत्न किया गया, पर चूँकि दक्षिण में वैदिक धर्म का कर्मकाण्डी रूप और उसकी बौद्ध-जैन प्रतिक्रियाएँ उस रूप में अनुभव नहीं की गयी थीं, जिस रूप में वे उत्तर में अनुभूत हुई थीं। इसी कारण वैष्णव-शैवमतों को बहिष्कृत करने के प्रयास वहाँ सफल नहीं हो सके। न तो सामान्य जनता ने और न राजशक्ति ने ही वहाँ बौद्ध मतवाद को विशेष प्रश्रय दिया था। शैव-वैष्णव मत वेद-सम्मत और स्वीकृत हो जाने के बाद दक्षिण भारत में उतरे थे, इसलिए भी उनमें जहाँ एक ओर प्रामाणिकता थी, वहीं दूसरी ओर एक व्यापक उदार दृष्टि भी, जिसने प्रतिक्रियाजन्य बौद्ध-जैन प्रभावों को बहुत कुछ सीमित कर दिया। इस प्रकार सामान्य जनता और राजशक्ति दोनों से समर्थित होकर दक्षिण भारत में मध्ययुग में भक्ति की स्रोतस्विनी प्रबल वेग से प्रवाहित हुई। स्पष्ट है कि यह किसी प्रकार का न तो नवोत्थान था, जैसा कि अधिकांश विद्वान मानते हैं, और न ही यह शुद्ध हिन्दुत्व की अभिव्यक्ति थी।[31] दक्षिण भारत की भक्ति मात्र सांस्कृतिक गत्वरता (cultural dynamism) थी जो भाषाओं के बन्धन को तोड़कर सबको आप्लावित कर सकी। यह गुप्त नरपतियों की भक्ति का ही दक्षिण भारतीय संस्करण थी, उसी प्रकार जैसे इस दाक्षिणात्य भक्ति का नया संस्करण वृन्दावन, अयोध्या, नवद्वीप आदि में अपनी देशकाल मर्यादाओं के भीतर हुआ है उत्तर-मध्ययुग में।

इस युग में प्रेम का धर्म समाज के सभी स्तरों में प्रसारित हो गया। ईश्वर के साथ साख्य-भावना (fellowship) की स्थापना हुई। इसने एक प्रकार की सांस्कृतिक

एकता प्रदान की। इन भक्तों (आलवारों, नयनारों) ने इस मूर्ति की प्रतिष्ठा और पूजा करनी चाही जो मस्तिष्क और स्तुति द्वारा ध्यातव्य हो। ये अपने ढंग से "व्यावहारिक रहस्यवादी"[32] थे, उन्होंने एक प्रकार से ईश्वर के लाक्षणिक यथार्थ रूप को स्थापित किया जिसकी पूजा हो सके, ध्यान किया जा सके, प्रेम का आलम्बन बन सके तथा सेवा का लक्ष्य बन सके। धर्म उनके लिए अब मात्र नैतिक जीवन, शरीर की उपेक्षा या संसार त्यागकर कठिन तपस्या न रहकर अमर एवं दिव्य जीवन में भाग लेते हुए ईश्वर के साथ एक रहस्यात्मक-सा सम्मिलन बन गया। शठकोप के अनुसार बैकुण्ठ पृथ्वी पर उतर आया।[33] इस प्रवृत्ति की लाक्षणिक यथार्थता एक प्रकार के यथार्थ की लाक्षणिकता में परिवर्तित हो गयी। पृथ्वी पर के गोकुल एवं वृन्दावन, अवध और द्वारका किसी शाश्वत गोलोक, वृन्दावन, अवध या रुक्मिणी विहार के प्रतिनिधि हो गये। और स्पष्ट करके कहें तो पृथ्वी पर के इन यथार्थ प्रदेशों के आधार पर अलौकिक शाश्वत प्रदेशों की कल्पना कर ली गयी। मैं समझता हूँ जिसे Idelisation of reality बेलिंस्की (आदर्शोन्मुख यथार्थवाद—प्रेमचन्द) ने कहा है, उसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण यह लोक-कल्पना है जो realisation of ideal (शठकोप आलवार) से प्रारम्भ होकर Idealisation of reality तक सूर, हित हरिवंश, हरिदास, चैतन्य आदि में पहुँचती है। उनकी भावुक भक्ति और प्रवृत्ति ने सारे दक्षिण भारत को आप्लावित कर दिया—यहाँ तक कि आगे चलकर इनको आधार मानकर सम्प्रदाय उठ खड़े हुए, दार्शनिक सिस्टम बने और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सारे भारतवर्ष को ये सन्त-भक्त प्रभावित कर सके।

इस भक्ति के नवोत्थान काल से सम्बन्धित कुछ अन्य बातों की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है—आगे चलकर इन्होंने भारतीय समाज और उसकी साधना पर गहरा प्रभाव डाला है। इनमें तत्कालीन संस्कृति का 'मन्दिर केन्द्रित' स्वरूप ध्यान देने योग्य है। आर्य सभ्यता का प्रधान केन्द्र था यज्ञभूमि और द्रविड़ सभ्यता का तीर्थ।[34] पर यह एक नया केन्द्र उत्पन्न हो गया—मन्दिर। यह आकस्मिक नहीं है; बौद्धमत मठों में पहले से ही केन्द्रित था—मूर्तिपूजा और अवतारवाद की भावना की वृद्धि के साथ मन्दिर और प्रतिमा-निर्माण हिन्दुओं में (यह शब्द-सुविधा के लिए आता है, उन लोगों के लिए जो वेद-विरोधी नहीं थे—यों हिन्दू शब्द मुसलमानों की देन है) जोर पकड़ती है तथा इन मठों के प्रभाव में ही मन्दिरों को धर्म-साधना का केन्द्र भी बताया गया। परन्तु एक अन्तर फिर भी बना रहा कि मन्दिरों का स्वरूप भारतीय समाज व्यवस्था के विकेन्द्रीकृत स्वरूप ग्राम-व्यवस्था के ही अनुरूप प्रारम्भ में रहा है। हर गाँव की वैयक्तिक सत्ता के अनुरूप ग्राम-देवता के (का) मन्दिर बनते जिनमें सारे गाँव की श्रद्धा होती। गाँव से बड़े कुछ कस्बे बनते, वैसे ही आसपास एक कोई देवता अधिक प्रसिद्ध भी हो जाता, जहाँ छोटे-मोटे मेले उसके नाम पर लगते तथा द्रविड़-संस्कृति के तीर्थ मानो उस काल की धर्म-साधना के नगर थे।

इस विकेन्द्रीकृत मन्दिर साधना ने हिन्दू धर्म को मुसलमानों के समक्ष खड़ा रहने में अत्यधिक सहायता दी, जबकि केन्द्रित मठों की व्यवस्था होने के कारण मुसलमानों के विध्वंस ने उनके तन्तुकेन्द्र पर ही आक्रमण करके समस्त बौद्धों को नेतृत्वहीन स्थिति में डालकर हतसंज्ञ कर दिया। परिणामस्वरूप इनको या तो हिन्दू मतवाद स्वीकार करना पड़ा—नीची श्रेणी की जाति बनकर—या मुसलमान बनना पड़ा। इस मन्दिर-केन्द्रित साधना ने ही सामान्य जनता के हृदय में आस्था एवं श्रद्धा बनी रहने दी—उस समय भी जबकि सोमनाथ और विश्वनाथ के मन्दिर तोड़े जा रहे थे, जब मथुरा एवं नालन्दा देवगिरि तथा मगध एक साथ नष्ट हो रहे थे। और इसने ही वह भूमि प्रदान की जिसमें 15वीं शती में भक्ति की बिजली अचानक काँपती-सी दिखाई पड़ी ग्रियर्सन को।

अस्तु यह जो असीम को समीम, निराकार को साकार, अज्ञेय को ज्ञेय ही नहीं, प्रेम एवं अनुग्रह द्वारा प्राप्य बना लेने की भक्तों की साधना[35] थी, वह मन्दिरों के रूप में मूर्तिमती एवं जीवन्त हो उठी। अद्भुत स्थापत्य और वास्तुकला[36]—जिसके जोड़ का पहले का कुछ उपलब्ध नहीं होता—की कलाकृतियाँ उद्भूत हो पड़ीं। कला एक विराट वाहन बन गयी श्रद्धा-दृष्टि, ज्ञान और सेवा की। रचनात्मक शक्ति अपने नितान्त सात्त्विक स्वरूप में फूटी और आनन्द का उत्स बनी। जैसे कि विज्ञान का प्रभुत्व एवं भक्ति का कैंकर्य एक सहकारी भावना में समुद्भूत हो पड़े एवं कला के ऐसे श्रेष्ठ उदाहरणों की रचना सम्भव हो सकी। बुद्ध धर्म एवं कलाकृतियों से नितान्त भिन्न यहाँ इस अनुभूति का आनन्द उमगने लगा कि असीम और कालातीत मनुष्यों के बीच उनके दुखों को नष्ट करने के लिए अवतरित हो गया है या हो जाता है। पर परिवर्तन सचमुच महान था।

इस युग की एक दूसरी विशेषता है अनुभव-समर्थित दार्शनिक पुनरुत्थान। इसके प्रमुख प्रयोक्ता बने प्रभाकर, कुमारिल भट्ट और शंकर। शंकर ने यह बात स्वीकार की कि अद्वैत की स्थिति के पहले एक प्रकार की सात्त्विक द्वैत की स्थिति अनिवार्य है। इस स्थापना ने भक्ति को आगे बढ़ने में निश्चित रूप से सहायता दी होगी। साधारणतः लोग शांकरमत को भक्ति का विरोधी समझते हैं (रामानुज से आज तक) पर वे भूल जाते हैं कि बौद्धों के अद्वैत एवं संसार को क्षणभंगुर, नष्टशील और असार समझने वाले दृष्टिकोण को भक्ति की द्वैत एवं संसार को लीला मानने वाली दृष्टि तक के विकास की अनिवार्य मध्य कड़ी है शंकर। उन्होंने बौद्धों की उपर्युक्त बातों को स्वीकार भी किया और उन्हें जो आस्तिक व्याख्या और आधार दिया, वह भक्ति की स्थापना के लिए आवश्यक था। संसार असार है, यह ठीक है, पर है तो ब्रह्म की माया का ही प्रसार। अतः ब्रह्म के साथ उसका अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित करा देने से उसकी असारता ही कम नहीं पड़ती, बल्कि लीलावाद के प्रसार के लिए भूमि भी मिल जाती है। उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, उसके लिए जिस

आन्तरिक श्रद्धा की आवश्यकता है, वह उनके दर्शन से भी अधिक उनकी स्तुतियों आदि में उपलब्ध है। शंकर ने बुद्धिजीवियों पर से बौद्ध मतवाद का प्रभाव दूर किया और उन्हें अद्वैतवाद (मायावाद) के द्वारा आगे के भक्तिवाद के लिए प्रस्तुत किया। इस सम्बन्ध में श्री वरदाचारी का वक्तव्य ध्यान देने योग्य है—

शंकर का प्रभाव इस प्रकार दुहरा पड़ा—एक ओर तो उन्होंने बौद्धमत का भूत उच्च वर्ग के मन से हटाया, दूसरी ओर भक्ति के आचार्यों को भी उद्दीप्त किया कि वे अपने को शास्त्रसम्मत सिद्ध करके अपना सम्बन्ध परम्परा से ही न जोड़े रखें, बल्कि बुद्धिजीवियों को तृप्ति देकर पूरे समाज को भक्ति का प्रसार-क्षेत्र बना सकें।

संक्षेप में इस युग में एक ओर जहाँ वेद-निन्दक साधकों की हठयोग, राजयोग की साधनाएँ एवं गुह्याचार की विकृतियाँ थीं (जो इसे धीरे-धीरे जन-अप्रिय एवं आतंक की वस्तु बना रही थीं), वहीं दूसरी ओर प्रेममूलाभक्ति की भावधारा भी प्रवाहित हो रही थी, तीसरी ओर मायावादी एवं प्रत्यभिज्ञावादी दार्शनिकों की चिन्ता भी दर्शन के श्रेष्ठतम स्तरों का स्पर्श कर रही थी एवं चौथी ओर मन्दिर-केन्द्रित आत्मनिर्भर संस्कृति का प्रसार हो रहा था जो उत्तर भारत में अधिक सहिष्णु एवं स्मार्त-प्रवृत्तियों वाली भी थी जिसने आगे चलकर अन्य प्रभाव ग्रहण करके भक्ति की भावधारा में सारे देश को रंग दिया। इन अनेक साधनाओं के मूल में बढ़ती हुई लोकशक्ति के अभिव्यंजन को भी हम ऊपर देख चुके हैं। कर्मकाण्ड, बाह्याचार, वर्णाश्रम धर्म की उच्चवर्ग के लिए सुविधाजनक कठोरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। बौद्धों ने इसका खण्डन किया है। मायावादियों ने भी जब संसार को असार माना, तब अप्रत्यक्ष रूप से इस सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार किया एवं आलवारों में तो कई निचली श्रेणियों की एक आन्दाल स्त्री थी। स्त्री-पूजा के रूप में मानो शोषित स्त्रियाँ भी अपना सिर उठा रही हों। इस प्रकार यह सारा युग एक अद्भुत शक्ति से भरता दिखाई देता है, इसे हम consolidation of feudalism का युग मार्क्सीय शब्दावली में कह सकते हैं। और वह consolidation पूरे भारत में व्याप्त था।

सामान्य जनता की एकता और संस्कृति की गत्वर क्रियाशीलता ने उत्तरी भारत के भागवत धर्म को दक्षिण में पहुँचाया तथा दक्षिण की वैयक्तिक आवेश प्रधान प्रेम और भक्ति की भावना शीघ्र ही उत्तर की ओर बढ़ चली।[37] इसे हम भक्ति का नवोत्थान कहते हैं। इसका सूक्ष्म अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि अपने आवेश एवं वैयक्तिक सम्बन्धों में उत्तर भारत के प्राचीन भागवत आदि धर्मों की अपेक्षा यह अधिक मानवीय एवं निजी (Personal) है। परन्तु एक बात यहाँ ध्यान में रखने की है कि संसार का चाहे कितना ही बड़ा जनान्दोलन क्यों न हो, वह बुद्धिजीवियों की सहमति अवश्य प्राप्त करना चाहता है। और इसी कारण आवेग-सम्मत दृष्टिकोण भी अन्ततः दार्शनिकता का जामा पहनने को बाध्य होता है। इस सार्वभौम प्रवृत्ति के अतिरिक्त हमारी राष्ट्रीय विशेषताएँ भी इस सम्बन्ध में हैं: प्रथम तो हमारे देश

में धर्म और दर्शन (Theology & philosophy) कभी अलग-अलग नहीं रहे; दूसरे शास्त्र और परम्परा का हमारे देश में अक्षुण्ण महत्त्व रहा है। (ऊपर हम दिखा चुके हैं कि पूर्व मध्यकाल में जहाँ वेद-निन्दकों का एक दल था, वहीं वेद-प्रामाण्य पर विश्वास करने वाला समुदाय भी था और सम्भवतः बहुमत में भी।) इन दो विशेषताओं के कारण आलवार भक्तों का यह लोकधर्म नाथमुनि, यमुनाचार्य और रामानुजाचार्य में शास्त्र-सिद्धता का रूप ग्रहण करता है। शंकर के मायावाद का खण्डन अपना मुख्य लक्ष्य बनाकर (शंकर ने भक्तिभाव के लिए दर्शन का प्रारूप दिया था तथा भक्तिभावपूर्ण कविताएँ भी लिखी थीं, पर उनका दर्शन ज्ञानप्रधान अधिक था—भक्ति प्रधान कम—क्योंकि उनके मुख्य विरोधी बौद्ध थे। उन्होंने बौद्धों को बौद्धों के ही अखाड़े में उन्हीं के दावों पर पछाड़ा। संसार असार है—यह तो ठीक पर माया वह ब्रह्म की है, इतना और जोड़ दिया। पाञ्चरात्रों आदि को उन्होंने वेदबाह्य विवश होकर ही घोषित किया होगा। बात यह थी कि उनकी तर्कपद्धति उन पर लागू नहीं होती थी, इसलिए वे विवश थे। रामानुज, महव, निम्बार्क और विष्णुस्वामी ने चतुः वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना करके भक्ति के लोकधर्म को शास्त्र-सिद्ध रूप दिया।[38] उत्तर भारत की स्मार्त मतानुयायी जनता के लिए यह भक्ति रसायन अधिक अनुकूल था। स्मार्त पद्धति में विष्णु पंचदेवों में थे ही, उधर कुमारिल और शंकर के सिद्धान्तों से भी उनका साम्य हो जाता था,[39] धर्मशास्त्रों का सम्मान था ही। इधर वैष्णवों के 'वैखालस' (वैखानस और पाञ्चरात्र दो मुख्य सम्प्रदाय) सम्प्रदाय में वैदिक एवं स्मार्त पद्धतियों का आदर पहले ही था, इस काल में वैखानस एवं पाञ्चरात्रों के अन्तर पर जोर न देकर सामान्य भक्तिमार्ग ही अधिक विकसित हुआ। उपरोक्त आचार्यों ने भी ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों आदि पर भाष्य लिखे। इस प्रकार लौकिक एवं वैदिक पद्धतियों का एक विराट सम्मिलन एवं समन्वय हमें पूर्व मध्ययुग में प्राप्त होता है। इस समन्वय के फलस्वरूप ही दक्षिण की भक्ति उत्तर में इतनी तेजी से ग्रहण की गयी कि भागवत के माहात्म्य को लेकर लेखक को कहना पड़ा—

उत्पन्ना द्राविड़े साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।।1।48

(भागवत माहात्म्य)

वृन्दावनं पुनः प्राप्य तथा नवीनेव सुरूपिणी,
जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्।।1।50

एक विचित्र बात यहीं और नोट करने की है जिसका हमारे विवेचन से सीधा सम्बन्ध है, वह यह कि ईसवी की हजारवीं शताब्दी के बाद से लोकचेतना के ऊपर शास्त्रचेतना हावी होती प्रतीत होती है। इसे हम आचार्यों एवं पण्डितों का युग कह सकते हैं—और आचार्य और पण्डित भी मौलिक नहीं—व्याख्या या टीकाकार या पूर्व स्थापित मत की प्रतिक्रिया में खण्डन-मण्डन करने वाले। इसके पूर्व प्रत्येक दिशा में

लोकशक्ति की जय हम देख रहे थे, चाहे वह तन्त्र-साधना हो या आलवार-नयनार भक्ति हो या स्मार्त पद्धति का समन्वय हो अथवा पालवंश का उदय हो, सर्वत्र जनता की जय दिखाई देती है। पर अब आलवार भक्ति के ऊपर रामानुजादि आचार्यों के दर्शन एवं सम्प्रदाय दिखाई देते हैं, सामान्य आचार-व्यवहार विधि में निबन्ध ग्रन्थों एवं टीकाओं की प्रधानता दिखाई देती है। हेमाद्रि, रघुनन्दन कमलाकर आदि के रूप में वैष्णव पूजा पद्धति आदि बताने वाली अधिकांश पाञ्चरात्र संहिताएँ इसी काल में बनती हैं, काव्यशास्त्र में भी मम्मट के बाद दूसरा प्रतिभाशाली न दिखाई देकर खण्डन-मण्डन ही अधिक उपलब्ध होता है बल्कि शैलीकारों—वक्रोक्ति और अलंकार—का पुनः उद्‍भव होता है। (केवल स्थापत्य एवं वास्तु के क्षेत्र में भारतीय जीवन का अन्तिम पर विराट उन्मेष पुरी, कोणार्क, भुवनेश्वर, खजुराहो, आबू, हलेबीद, बेलूर, तंजौर आदि के विराट मन्दिरों के रूप में प्राप्त होता है) ऐसा लगता है कि लोकचेतना का प्रकाशन उन मन्दिरों के रूप में इसी काल में हुआ है तथा यह भी द्रष्टव्य है कि वे सारे मन्दिर 12वीं शती तक बन गये थे। इसीलिए विद्वानों ने इस युग को (1000-1400 तक) चिन्ता की जड़ता एवं स्तम्भन का युग कहा है।[40] वल्लभ, रामानन्द एवं चैतन्य इस युग के अन्तिम आचार्य हैं जिन्होंने शास्त्र को पुनः लोक के साथ जोड़ा। रामानुज इत्यादि ने लोक को शास्त्र से जोड़ा, टीकाकार-निबन्धकार केवल शास्त्र रचते रहे और उससे लोक को मर्यादित करते रहे पर इन अन्तिम आचार्यों ने शास्त्र को पुनः लोक के पास पहुँचाया। लोकचेतना की अन्तःसलिला 15वीं-16वीं शती में पुनः विजयिनी होती है, भक्त कवियों की वाणी में।

पर सचमुच ही क्या यह जब दी हुई मनोवृत्ति का युग था? मेरा अनुमान है नहीं। यह संक्रान्ति युग था, भारत में कठिन परिस्थितियों का समय था। एक ओर विविध प्रकार की विरोधी-अविरोधी साधनाएँ, दूसरी ओर विदेशी का आक्रमण, एक ओर किसी केन्द्रीय शक्ति का नितान्त अभाव और दूसरी ओर विकेन्द्रित व्यवस्था का सुदृढ़ संरक्षण, एक स्वर वेद-विरोधी और दूसरा अधिक प्रबल होकर वेद-समर्थक, एक सिद्धि, योग, जादू-टोना, चमत्कार का विश्वासी तो दूसरा आचार परायण धर्म का विश्वासी, एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर भक्ति। कुछ अजीब परिस्थिति थी। पर लोकचेतना शून्य नहीं थी—शून्य हो भी कैसे? ग्रामीण व्यवस्था विकेन्द्रित थी पर एंगेल्स के शब्दों में सिंचाई व्यवस्थाओं का अभाव बहुत कमजोर कर रहा था इस लोकजीवन को। विकेन्द्रीकृत मन्दिर-केन्द्रित धर्मसंस्कृति भी रक्षण हेतु तत्पर थी। लोकचेतना का सबसे बड़ा प्रमाण देशी भाषाओं का उदय और विकास इसी युग की देन है, डॉ. शशिभूषण दासगुप्ता ने कुछ दृढ़ शब्दों में कहा है, "There is a striking uniformity in the historical development of the different literatures of the modern Indo-Aryan vernaculars."

इसी प्रसंग में उन्होंने कारण बताते हुए कहा कि प्रत्येक का साहित्यिक इतिहास

किसी-न-किसी धर्ममत के साथ ढला है।[41] इन भाषाओं में रचे जाने वाले साहित्य के स्वरूप और कथ्य के बारे में संकेत करते हुए उक्त पुस्तक की भूमिका में ही कहा गया है, "The Modern Indo-Aryan literatures are essentially mass literatures and the religions of India."[42]

यह बात दूसरी है कि नव-भाषाओं के इस विकास की अवस्था में माध्यम की अशक्ति के कारण श्रेष्ठ साहित्य नहीं रचा जा सका। पर इसी काल में संस्कृति में जयदेव जैसे कवि होते हैं जो हरिस्मरण के साथ ही विलास-कला-कुतूहल[43] भी शान्त करते हैं, जो कि स्पष्ट ही जनरुचि का प्रभाव है। वे संस्कृत काव्य की अधिकाधिक परम्परा से कुछ भिन्न जान पड़ते हैं तथा इसी काल के अन्तिम हिस्से में अपनी 'सब जन' को मिट्ठा 'लगने वाली' 'देसिल बयना' का रस[44] लेकर विद्यापति आते हैं।

इसी युग में हमें पुरी, कोणार्क, भुवनेश्वर, खजुराहो, आबू, हलेबीद, बेलूर, चित्तौड़ आदि के स्थापत्य एवं वास्तु का अद्‌भुत सृजन प्राप्त होता है। यह याद रहे कि ये विशाल कलामन्दिर एवं जयस्तम्भ चक्रवर्ती सम्राटों के नहीं, छोटे-छोटे नरपतियों के निर्माण थे और इनमें लोकरुचि एवं तान्त्रिक प्रभावों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

"हमारा विश्वास है कि ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत के जनसाधारण में एक साधना विकसित होती जा रही थी। 15वीं शताब्दी में वह एकाएक फूट उठी।"[45] कहना न होगा कि यह साधना प्रेम और भक्ति की थी तथा इस साधना का मुस्लिम आक्रमण के कारण एक विशेष ढंग से अनुकूलन (कण्डीशनिंग) भी हुआ था।

भक्ति के ये मेघ केवल दक्षिण भारत के चतुः सम्प्रदायों आदि के माध्यम से ही नहीं आये थे, उत्तर भारत में भी महायान भक्ति समाज में पूरी-की-पूरी रह गयी थी। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने महायान-सम्प्रदाय की पण्डितों द्वारा चर्चित बातों का जिक्र करते हुए बताया है कि ये सभी बातें उत्तर भारत के हिन्दू धर्म में रह गयी हैं।[46] डॉ. कर्न ने भी कहा है कि वैष्णव भक्तिवाद इन महायानों की ही भक्ति का विकसित रूप है।[47] बुद्ध धर्म लोकाकर्षण के रास्ते चलता हुआ लोक में ही विलीन हो गया और भीतर से विविध साधनाओं को प्रभावित करता रहा। भक्ति के इस आन्तरिक तत्त्व को समेटे हुए अपने आचार-विचार में स्मार्त बनी हुई जनता में समन्वयवादी विचारधारा जड़ जमा चुकी थी, और उसे पंचदेवों में से एक विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों को स्वीकार करने में देर नहीं लगी। "हिन्दी साहित्य के गोरखनाथ एक ओर उस युग की हिन्दी भाषी जनता का सम्बन्ध महायान बौद्धों से जोड़ते हैं और दूसरी ओर बंगाल से भी सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हैं।"[48] गुह्य तान्त्रिक साधनाओं के सम्पर्क में आकर वामाचार एवं वासनात्मक साधना को बल मिला था, बंगाल इनका केन्द्र था। इसका तत्त्व-दर्शन

चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न रहा हो, पर सामान्य व्यवहार में वह काफी विकृत हुआ। शिव और शाक्त, प्रजा और उपाय से होता हुआ यह तन्त्रमत जब वैष्णवों में घुसा, तब राधा-कृष्ण उसके आधार बने।

ऐतिहासिक रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि पालवंश के पतन के साथ बौद्धमत का पतन और सेन वंश में हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ होता है। राधा और कृष्ण की प्रेमकथाएँ जो लोक और साहित्य में परम्परा से थीं, उन्हें प्रसार मिलने लगा। कृष्ण परम देवता हो ही चुके थे, शक्ति तत्त्व के रूप में उनकी ये कलात्मक प्रेमिका राधा भी बंगाल के वैष्णवों में बैठा दी गयीं।[49] इस प्रकार साहित्य के प्रेमतत्त्व को साधना के क्षेत्र में स्थान मिल गया। बंगाल के सहजिया वैष्णवों की यह मुख्य देन है। इस राधा-कृष्ण प्रेमतत्त्व को नराकार भावना के आधार पर समझा गया। 'आरोप' के सिद्धान्त के लिए जिस गहन प्रेम की आवश्यकता समझी गयी, उसके लिए पति-पत्नी के अति-परिचय जन्य नीरस प्रेम की अपेक्षा सामाजिक रूढ़ियों और आदर्शों को चुनौती देकर किये जाने वाले परकीया प्रेम को अत्यधिक महत्त्व मिला। बंगाल के तन्त्र प्रधान प्रदेश में लोकाचार को दुहराने वाली मनोभूमि भी उपस्थित थी, परन्तु जब युगल उपासना एवं प्रेमाभक्ति मध्य देश में पहुँची, तब उसमें पुनः एक रासायनिक परिवर्तन हुआ—स्मार्त विचारधारा के कारण। शास्त्रीय मर्यादाओं के प्रति आदरभाव रखने वाले इस प्रदेश में परकीया प्रेम को स्वकीया का रूप दे दिया गया। राधा कृष्ण की रानी बन गयीं।[50] दक्षिण भारत ने भक्ति की भावना को शास्त्र-सिद्धता देकर उसे प्रसारित किया (पर उसके पुत्र ज्ञान और वैराग्य ही रहे—भागवत), बंगाल-वैष्णवमत ने उसमें प्रेम का तत्त्व मिलाया[51] तथा स्थानीय स्मार्त प्रतिभा ने उस प्रेम को लोकमर्यादित कर दिया।

ऊपर हम नाथपन्थ का उल्लेख कर चुके हैं, नाथपन्थ ने वामाचार की भ्रष्टता को दूर कर सदाचार को पुनः प्रश्रय दिया। योग और ज्ञान उनके यहाँ मोक्ष के मुख्य साधन बने। महायान की पूजा-पद्धति तथा भक्ति के भी अंश इनमें थे ही। इसी काल में निर्गुण भक्ति का विकास हुआ। युगल उपासना इन लोगों ने नहीं स्वीकार की, पर रामानन्द के प्रत्यक्ष प्रभाव में भक्ति के प्रेमतत्त्व को स्वीकार किया। स्त्री-पुरुष का प्रेम और व्यवहार इसमें प्रतीक रूप में ही आये। एक प्रकार से यह भक्ति दक्षिण की भक्ति के अधिक निकट रही। इसके अतिरिक्त इन पर सूफ़ी प्रभाव भी बहुत अधिक पड़ा। ऐतिहासिक दबाव में इन नाथपन्थियों के बड़े-बड़े समूहों को मुसलमान हो जाना पड़ा था। इस ऐतिहासिक दबाव की चर्चा यहाँ पर न करके हम इतना ही कहना चाहते हैं कि मुसलमान हो जाने के बाद भी ये लोग अपनी विशेषताओं को बहुत कुछ बचाये रहे। इधर सूफ़ी प्रचारक (जो कि भारतीय साधना के अविरोधी थे) इन लोगों के सम्पर्क में मुसलमान होने के कारण अधिक आये, इसीलिए सूफ़ी प्रेम-पद्धति इनको अधिक प्रभावित कर सकी।

मुस्लिम आगमन के प्रभावों की विवेचना यहीं कर लेना उचित होगा। इसने 'भारतीय धर्ममत और समाज-व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली जाति-व्यवस्था को पहली बार जर्बदस्त ठोकर लगी थी। सारा भारतीय वातावरण संक्षुब्ध था। बहुत-से पण्डितजन इस संक्षोभ का कारण खोजने में व्यस्त थे और अपने-अपने ढंग पर भारतीय समाज और धार्मिक मत को सँभालने का प्रयत्न कर रहे थे।[52] टीकाकारों और निबन्धकारों ने हिन्दू धर्म को आचार-प्रवण बनाया, उसे एक निश्चित ठोस स्वरूप देने के लिए।[53] शासक वर्ग के अत्याचारों ने भक्ति की भावना विकसित होने में भी सहायता दी। टूटते समाज को इससे एक आस्था मिली। इस प्रकार स्पष्ट रूप से दो स्तरों पर इस नयी शक्ति से लोहा लिया गया। बौद्धों एवं नाथों ने पहले से ही वर्णाश्रम व्यवस्था को चुनौती दे रखी थी, इधर मुसलमान आये तो उन्होंने जनता पर घोर अत्याचार प्रारम्भ किये। भारतीय वैयक्तिक साधना-पद्धति का यह नया सामूहिक धर्ममत विरोधी था। बड़े-बड़े मठों में केन्द्रित बौद्धों को बख़्तियार ख़िलजी ने समाप्त कर दिया और बौद्ध-नाथपन्थी जनता नेतृत्वविहीन होकर या तो हिन्दू मतवाद में शरण लेने को बाध्य हुई या फिर यहाँ जगह न मिलने पर मुसलमान हो गयी। इनमें जो मुसलमान हुए, वे सूफ़ी साधनाओं के भी सम्पर्क में आये और उनके मार्फ़त ही सूफ़ी इश्क भावना हिन्दी साहित्य में प्रविष्ट हुई है। जो हिन्दू धर्म के भीतर आ गये, वे भी विविध प्रकार के आचार-विचार लेकर घुसे थे। इस प्रकार हिन्दू समाज के सामने दुहरा संकट था, भीतर से कोई एकता नहीं थी, एकता की आवश्यकता भी कभी नहीं समझी गयी थी तथा बाहर से एक ऐसा प्रबल शत्रु आक्रमण कर रहा था जो निरन्तर कुछ-न-कुछ अंग काटकर अपने में मिला लेता था। हिन्दू पण्डितों एवं निबन्धकारों ने इसी परिस्थिति से लोहा लेने में एक अपूर्व बौद्धिक शक्ति का परिचय दिया। उन्होंने सब शास्त्र-वचनों को शिरसः स्वीकार करते हुए, उनके बीच से एक सर्वसम्मत रास्ता निकालने का प्रयत्न किया, सामान्य जनता के लिए। सर्वमान्य विधि विधान की इस संघटना (Consolidation) में हिन्दू धर्म आचार प्रधान हो गया तथा बहुदेवोपासना (मूल में अद्वैत या निर्गुण ब्रह्म को स्वीकारते हुए) स्वीकृत हुई। बुद्ध भी विष्णु के अवतार स्वीकार कर लिये गये। कुछ ऐसी ही मनःस्थिति के कवि जयदेव, विद्यापति हैं। दशावतारों में बुद्ध की पूजा हुई, शिव सिद्धिदाता एवं विष्णु भक्ति के आश्रय हो गये।

परन्तु यह आचारप्रवण स्मार्त मत इस नयी शक्ति का मुकाबला नहीं कर सका, क्योंकि आचार पर उसे कोई श्रद्धा ही नहीं थी। भक्ति के लिए भूमि पहले से ही तैयार थी, उसका बीज-वपन हो चुका था, विदेशी आक्रमण ने उसे मानो अनुकूल जल से सींच दिया।[54] (पर इसका यह अर्थ नहीं कि प्रतिक्रियात्मक निराशा एवं सार्वजनिक जीवन में हीन स्थिति के कारण भक्ति को यह उत्तेजना नहीं मिली

थी, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय सांस्कृतिक विरासत एवं धर्मसाधना को जर्बदस्त चोट पहुँचती देखकर सजगता द्वारा अपनायी गयी। यह आत्मरक्षा भी थी और अपने ढंग से उसका प्रतिरोध भी।) जैसा कि हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं, हिन्दुओं का 'लोकजीवन कभी इस्लाम से परास्त नहीं हुआ। वह लोकभाषा के माध्यम से खड़ा रहा। इस सम्बन्ध में निर्गुण एवं सगुण भक्तियों का अन्तर करना ठीक नहीं है। दोनों ही पूरी तरह से भारतीय साधनाओं की परम्परा में थीं, यह बात दूसरी है कि सगुण मतवाद अपने आलम्बनों अर्थात् राम-कृष्ण के रूप में अधिक शक्तिशाली प्रतिरोध कर सका, पर निर्गुण भक्ति ने भी अपनी सीमाओं के भीतर कम आत्मविश्वास नहीं दिया। यह प्रतिरोध सामान्य जनता का था, इसलिए अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ।[55]

15वीं शती से उपर्युक्त विविध ऐतिहासिक परिस्थितियों में विकसित होती हुई यह भक्ति फूट पड़ी जिसे ग्रियर्सन ने अचानक बिजली की तरह इस छोर से उस छोर तक व्याप्त हो जाने वाली कहा था।[56] इस भक्तिधारा ने हिन्दू सामाजिक जीवन की एक अन्य व्याधि को भी एक सीमा तक दबा दिया। ऊँच-नीच, छुआछूत की भावना के प्रति आक्रमण पहले से हो रहे थे, पर अब जिस प्रेम और भक्ति के स्तर पर समानता शुरू हुई, उसने 'हरि को भजै सो हरि को होई' वाली स्थिति में एक ऐतिहासिक महत्त्व का काम पूरा किया। सामाजिक विद्वेष कम पड़ा, यद्यपि यह मूल चिकित्सा नहीं थी, पर फिर भी इसका महत्त्व मध्ययुग को दृष्टि में रखते हुए अत्यधिक है। स्पष्ट है कि ऊपर विवेचित सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में विकसित भक्ति का यह नवोत्थान एक विशिष्ट सन्दर्भ में हुआ था और एक विशिष्ट शक्ति बनकर भक्ति अवतरित हुई थी। महाराष्ट्र और गुजरात में यह बूढ़ी तो नहीं हुई थी पर वृन्दावन, काशी और नवद्वीप में अत्यन्त मोहक तरुणी अवश्य हुई। मोहक भी ऐसी कि लगातार चार शताब्दियों तक भारतीय जनमानस को मुग्ध किये रही और आज भी भारतवर्ष में वह निःशेष नहीं हुई है। वास्तव में भक्ति की भावना नयी नहीं थी। नयापन उसकी शक्ति है, अपने लोकसुलभ रूप के कारण। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन हमें बहुत समीचीन नहीं लगता कि 'नियमों से निराश होकर', 'कर्मवाद' की कठोरता से घबराकर, परोक्ष ज्ञान और परोक्ष शक्ति मात्र से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य परोक्ष हृदय की खोज में लगा और अन्त में भक्तिमार्ग में जाकर इस परोक्ष हृदय को पा सका।[57] इस कथन का अर्थ यदि यह है कि पूर्व प्रचलित धर्म-साधनाएँ मनुष्य की आध्यात्मिक आकांक्षाओं को तृप्त नहीं कर सकी थीं, तो सहमत होना कठिन है।

(अप्रकाशित)

रचनाकाल : अनुमानतः 1960

सन्दर्भ

1. 2500 years of Buddhism p. 349-50.
2. शिवपुराण में भी इस प्रकार श्रवण, कीर्तन, मनन (विश्वेश्वर संहिता 1 ।21) तथा शिव की करुणा से अयोग्य की भी मुक्ति सुलभ बतायी है—
पतितो वापि धर्मात्मा पण्डितो मूढ़ एव वा।
प्रसादे तत्क्षणादेव मुच्यते नात्र संशयः।
अयोग्यानां च कारुण्याद्भक्तानां परमेश्वरः।
प्रसीदति न सन्देहो निगृह्य विविधान् मलान्।
—शिवपुराण, कामवीय संहिता, उत्तर भाव, 8/25-26
3. डॉ. धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ. 101
4. धर्मवीर भारती द्वारा 'सिद्ध साहित्य' (पृ. 100-101) के विविध बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर उद्धृत।
5. धर्मवीर भारती द्वारा 'सिद्ध साहित्य' (पृ. 100-101) के विविध बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर उद्धृत।
6. पुरातत्त्व निबन्धावली : राहुल (पृ. 128-29)
7. R.G. Bhandarkar : Vaishnavism, Shaivism and other minor religion systems of India, P. 68-70.
8. "...सात्वतों के कुल धर्म को महाभारत और पुराणों की सहायता से एक व्यापक लोकधर्म बनाने का सतत उद्योग किया गया। कदाचित भागवत धर्म की यह परिणति चौथी-पाँचवीं शताब्दी में गुप्त वंश के राज्यकाल में हुई।...उन्होंने भी पौराणिक वैष्णव धर्म को प्रोत्साहन दिया।"—हिन्दी साहित्य कोश (पृ. सं. 538)
9. वैष्णव धर्म : पृ. 48
10. रामचौधरी : अ.हि.वै. पृ. 104-6
11. K.C. Varadachari : Aspects of Bhakti, p. 71
12. हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर और उनका साहित्य, पृ. 5... उत्तरकालीन वैष्णव धर्ममत पर महायान बौद्ध धर्म का प्रभाव वहुत अधिक है।
13. हिन्दुस्तान टाइम्स के 5 जुलाई, 1959 के रविवारीय संस्करण में प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता Arnold Toynbee का एक निवन्ध Hinduism Budhism प्रकाशित हुआ है। उसमें इस उदारता एवं सह-अस्तित्व को हिन्दू धर्म की एक प्रमुख विशेषता बताई गयी है, जिसका सेमैंटिक मतों में (कैथोलिक चर्च को छोड़कर) अभाव है।
14. बनर्जी द्वारा पृ. 545 पर कांदरी पक्कम के उत्कीर्ण प्रस्तर खण्ड का उल्लेख।
15. वही, पृ. 548-564
16. वही, पृ. 548-564
17. (क) शैव-शाक्त एवं बौद्ध तान्त्रिक साधनाओं के मुख्य केन्द्र निम्न-सिलहट (श्री हट्ट, आसाम), कामरूप-कामाख्या (आसाम), विक्रमशिला, नालन्दा, पूना (श्रर्णगिरी), श्री पर्वत (कर्नाटक), आबू (अबुर्द, राजस्थान), जालन्धर (पंजाब), ओडियान (पश्चिमोत्तर प्रदेश)।
(ख) प्रत्यभिज्ञा शैवमत काश्मीर में।
(ग) आलवार वैष्णव एवं नयनार शैवभक्त तमिल, कर्नाटक एवं केरल में बिखरे थे।
18. सम्भवतः उसका सबसे प्रधान कारण इस प्रकार का सहज प्रवेश सुलभ एवं उपजाऊ होना है। हर ओर का प्रभाव या आक्रमण सीधे यहीं आकर ठहरता था, ऐसी स्थिति में चित्तवृत्ति का उदार बन जाना विकास का सहज धर्म हो जाता है। कट्टरपन्थी दृष्टि ऐसे स्थानों पर विनाश की सृष्टि

करती है। प्रबन्ध की दृष्टि से अप्रासंगिक होते हुए भी यहीं पर उल्लेख करना अनावश्यक न होगा कि आज भी प्रान्तीयता की दृष्टि से उदारता एवं समन्वय की भावना इसी प्रदेश में सबसे अधिक है।

19. मध्यकालीन धर्म-साधना : पृ. 22
20. जयदेव, उद्भट, वक्रोक्तिजीवितकार आदि।
21. खजुराहो आदि मन्दिरों की मिथुन मूर्तियाँ।
22. एस.बी. दासगुप्ता : ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स में पृ. 30 से 37 के आधार पर।
23. म.घ.सा., पृ. 70-71
24. Marx letter to Engels, quoted in "Marx and Engels on religion" p. 120.
25. भारती : सिद्ध साहित्य 90
26. प्राचीन वर्ण-व्यवस्था अब ब्राह्मणें आदि परोपजीवी शासकों के मतलब की अधिक हो गयी थी। ऐसी स्थिति में इस शक्तिशाली होती हुई जनता ने विद्रोह किया—उसमें समस्त प्राचीन मान्यताओं को नष्ट करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। जॉर्ज थॉमसन ने अपने पैम्फलेट "An Essay on Religion" में कुछ ऐसी ही स्थितियों के लिए कहा है—"It is a protest, in religious form, against social in justice" स्पष्ट है कि यह विरोध काफी शक्तिशाली सिद्ध हुआ।
27. History of Bengal, Vol. I, p. 127, डॉ. धर्मवीर भारती द्वारा सिद्ध साहित्य में पृ. 93 पर उद्धृत।
28. K.S. Iyengar- Early History of Vaishnavism in South quoted by Bhandarkar and Parashuram Chaturvedi.
29. Bhandarkar, V.S. P. 70
30. बलदेव उपाध्याय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य कोश।
31. संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर
32. K.C. Varadachari : Aspects of Bhakti, p. 71
33. वही, पृ. 72
34. हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर साहित्य, पृ. 46
35. "The point of intersection of the timeless with time is an occupation for the saint" —T.S. Eliot, quoted by Varadachari on P. 72
36. एलोरा का कैलाश मन्दिर, एलीफेण्टा की त्रिमूर्ति इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं।
37. जायसी के पद्मावत की रचना के सौ वर्ष के भीतर ही उसका बँगला अनुवाद हो गया था। ....दादू के जीवनकाल में ही उनका प्रभाव बँगला में फैल गया था। चैतन्य देव के अनन्तर ही गौड़ीय वैष्णव धर्म राजस्थान तक फैल गया। मीराबाई के जीवनकाल में ही उनके गान पूर्वीय प्रान्तों में गाये जाने लगे थे।—ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ (अनुशीलन) में क्षितिमोहन सेन द्वारा लिखित निबन्ध—मध्ययुग में राजस्थान और बँगला का आध्यात्मिक सम्बन्ध के आधार पर।
38. "वैष्णव धर्म शास्त्रीय धर्म की अपेक्षा लोकधर्म अधिक है...ज्यों ही उसने एक बार शास्त्र का सहारा पाया, त्यों ही विद्युत की भाँति इस छोर से उस छोर तक फैल गया क्योंकि असल में उसके लिए क्षेत्र बहुत पहले से तैयार था।" —हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर साहित्य, पृ. 91
39. "कुमारिल के मीमांसा मार्ग और शंकर के वेदान्त से पंचदेवोपासक स्मार्त धर्म का पूर्ण मेल हो गया।" —साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय मध्ययुग, पृ. 14, आलोचना
40. मध्य धर्म.सा. : हजारी प्रसाद द्विवेदी
41. S.B. Das Gupta : Obscure Religious cults : In Introduction, P. 33
42. वही, पृ. 3 (भूमिका)

43. यदि हरिस्मरणे सरसं मतं यदि विलासकलासु कुतूहलम्
मधुर-कोमलकान्तपदावली शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्। —गीतगोविन्द, श्लोक 3
44. सक्कय बानी बहुजन भावह
जाअऊं रस को मम्म न पाई
देसिल बयना रस जन मिट्ठा
त तैसन जम्पओं अवहट्ठा। —विद्यापति
45. हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर साहित्य, पृ. 83
46. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 89
47. कर्न, मैनुअल ऑफ बुद्धिज्म, पृ. 124
48. हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर साहित्य, पृ. 85
49. शशिभूषण दास गुप्त : श्रीराधा का क्रम-विकास, पृ. 137-138 के आधार पर।
50. "बंगाल की भूमि में परकीया-भाव को ऊँचा रूप देने का उपकरण पहले से ही वर्तमान था, ब्रजभाषा प्रान्तों में यह बात नहीं थी अर्थात् राधा और कृष्ण सम्बन्धी प्रेम के गान तो इस प्रदेश में चल पड़े, परन्तु राधा कृष्ण की रानी ही समझी गयी।" सूर साहित्य, पृ. 90, गौड़ीय वैष्णवों ने भी परकीया प्रेम की सफाई देने की कोशिश की है।
51. चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भक्ति का स्रोत बंगाल को ही माना है, दक्षिण को नहीं।
52. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ. 170
53. कबीर : 173, पृष्ठ के आधार पर
54. वल्लभाचार्य के बहुचर्चित कृष्णाश्रय स्तोत्र से भी इस उद्दीपन का पता चलता है—
म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीड़ाव्यग्रलोकेषु, कृष्ण एव गतिर्मम।
गंगाद्वितीर्थवर्येषु, दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु, कृष्ण एव गतिर्मम।
अपरिज्ञाननष्टेषु, मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु।
तिरोहितार्थदेवेषु, कृष्ण एव गतिर्मम।
55. (क) डी.एस. शर्मा के ग्रन्थ में कहा गया है कि मराठा शक्ति का उदय किसी एक साहसी व्यक्ति का कलाप न था। आगे शर्मा जी ने जस्टिस राना डे की पुस्तक से एक उद्धरण दिया है जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।
(ख) डॉ. मुंशीराम शर्मा ने 'भक्ति का विकास' में भी ऐसा ही मन्तव्य प्रकट किया है।
(ग) ...इस्लाम हिन्दू मस्तिष्क को पराजित नहीं कर पाया था।—के.एम. पणिक्कर, भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण, पृ. 141
56. तुगलकों के शासन के बाद हिन्दू राजसत्ता, विशेषकर राजपूतों, का पुनरुत्थान होता है। चित्तौड़, रणथम्भोर, विजयनगर के राज्य बनते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दू सामन्त लगातार प्रतिरोध करते रहे। इस पुनरुत्थान के साथ भक्ति का नवीन विकास भी सम्बन्धित है। डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना द्वारा लिखित निबन्ध—'हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि'(हिन्दी साहित्य प्रकाशन भारतीय हिन्दी परिषद) में पृ. 54 पर इसी तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है।
57. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास (तुलसी की भावुकता अध्याय)

भक्ति : शोध

अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति

शोध-प्रबन्ध की प्रस्तावना

हिन्दी का भक्ति-साहित्य अपने वैविध्य एवं सम्पन्नता के कारण पाठक का ध्यान सहज ही आकर्षित कर लेता है। मूल में भक्ति का भाव सुरक्षित रखते हुए भी यह साहित्य नाना वर्णच्छटाओं से युक्त रहा है। भक्ति के मूल में प्रेम की जो भावना सतत विद्यमान रही है, वह भी इस साहित्य में अनेक रूपाकार ग्रहण करती है। विद्वानों ने प्रेम के इन प्रकारों की ओर ध्यान तो दिया है, पर एकमात्र उन्हें ही केन्द्र बनाकर अध्ययन नहीं किया गया। प्रेमाभक्ति के बहुत-से सम्प्रदाय एवं महत्त्वपूर्ण कवि एक लम्बे समय तक उपेक्षित ही रहे। डॉ. दीनदयालु गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' में सर्वप्रथम जिस विशेष अध्ययन-दिशा का उद्घाटन किया था, उस दिशा में चलने के लिए लगभग एक दशक तक अनुसन्धित्सु पथिक ही नहीं मिले। पर ठीक दस वर्ष बाद डॉ. विजयेन्द्र स्नातक का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ का ही समसामयिक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रकाशन डॉ. भगवती प्रसाद सिंह का 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय' है। डॉ. सिंह ने एकदम उपेक्षित पड़ी हुई एक साहित्य-धारा की ओर अध्येताओं का ध्यान खींचा। डॉ. स्नातक एवं डॉ. सिंह के इन अध्ययनों से सम्प्रदाय-सम्बन्धी अध्ययनों को बड़ी प्रेरणा मिली।

डॉ. बदरीनारायण श्रीवास्तव ने रामानन्द सम्प्रदाय, डॉ. गोपालदत्त शर्मा ने हरिदासी सम्प्रदाय तथा डॉ. नारायणदत्त शर्मा ने निम्बार्क सम्प्रदाय-सम्बन्धी शोध-कार्य भी इसी बीच पूरे किये। कुछ अन्य सम्प्रदायों पर भी कार्य अभी हो रहा है। अध्ययन के इस परिमाण ने तुलनात्मक अध्ययन की दिशा को भी बल दिया। डॉ. शरण बिहारी गोस्वामी ने इन सम्प्रदायों के एक पक्ष-विशेष 'सखी-भाव' को लेकर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया। अध्ययन की दिशाओं की इस संक्षिप्त रूपरेखा से यह स्पष्ट है कि प्रेमाभक्ति के सम्प्रदायों पर अलग-अलग कुछ काम हुआ और किसी एक पक्ष-विशेष पर तुलनात्मक ढंग से विचार करने का प्रयास भी हुआ, परन्तु महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इन शोध-कार्यों में एक बात खटकने वाली प्रतीत होती है। अपने-अपने सम्प्रदाय-विशेष या पक्ष-विशेष (यथा सखी-भाव) को ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने का आग्रह ऊपर उल्लिखित सभी ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रेमाभक्ति के अभिव्यंजना-रूप इन सम्प्रदायों एवं इन सम्प्रदायों के सन्देश प्रेमाभक्ति को केन्द्र में रखकर अधिक-से-अधिक तटस्थ एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस साहित्य पर विचार किया गया है। जहाँ पर पारम्परिक प्रभावों की विवेचना की गयी है, वहाँ भी उस प्रभाव-ग्रहण की प्रक्रिया के स्वरूप या परिणाम पर ही विचार हुआ है। हमने किसी को श्रेष्ठ या अपेक्षाकृत अमहत्त्वपूर्ण सिद्ध करना नहीं चाहा। पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि केवल तथ्यों का विश्लेषण हुआ है, आकलन नहीं। यथास्थान प्रेमाभक्ति के इन विविध सम्प्रदायों के प्रदेय एवं महत्त्व का मूल्यांकन भी होता गया है। तथ्यों की पुनर्व्याख्या के साथ ही पुनर्मूल्यांकन भी प्रस्तुत प्रबन्ध में प्राप्त होगा। इस प्रकार जहाँ एक ओर प्रसंगतः प्रेमाभक्ति पर ही आलोक-पुंज को केन्द्रित कर हिन्दी के भक्ति-साहित्य को समझने के लिए समुचित परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया गया है, वहीं मुख्य रूप से 18वीं शती के साहित्य का एक नितान्त उपेक्षित अंश भी उद्‌भासित हुआ है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि सं. 1700 से 1900 तक का काल रीतियुग है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध के उद्दिष्ट अध्ययन की काल-सीमा रीतियुग का पूर्वार्द्ध है। प्रबन्ध के माध्यम से इस तथ्य को उद्‌घाटित किया गया है कि तथाकथित रीतियुग में सृजन का एक बड़ा क्षेत्र ऐसा भी था जो रीतिकाव्य से बाहर था। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेमाभक्ति का कृतित्व किसी भी अर्थ में रीतिकाव्य की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बल्कि कहना यों चाहिए कि इस युग के साहित्य के माध्यम से भक्तिकालीन प्रवृत्तियों का रीतिकाव्य में संक्रमण होता है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध गौणतः भक्तिकाल एवं रीतिकाल के साहित्यों के पारस्परिक प्रतिदानों एवं प्रतिक्रिया के अध्ययन की दिशा को भी संकेतित करता है।

प्रबन्ध-नियोजन एवं अध्ययन-विधि

प्रबन्ध का नियोजन इस दृष्टि से करने का प्रयास किया गया है कि पीछे उल्लिखित नवीनताओं एवं दृष्टिकोण की उसमें रक्षा हो सके तथा उनका रूप उभर सके।

प्रबन्ध का प्रथम अध्याय शोध-ग्रन्थों की सामान्य परिपाटी से सम्भवतः कुछ भिन्न-सा प्रतीत होगा। वैदिक काल से लेकर 16वीं शताब्दी तक भक्ति का विकास सूचित करने के स्थान पर इस स्थापना को प्रारम्भ में ही स्वीकार कर लिया गया है कि भक्ति की पुरानी भावधारा 15वीं-16वीं शताब्दियों में उत्तर भारत में एक नये आन्दोलन के रूप में प्रकट होती है। इस भक्ति की प्रेम-सम्बन्धिनी विशेषता का उल्लेख करते हुए उन पाँच परम्पराओं की ओर (पूर्वी भारत की महायान तान्त्रिक भक्ति, दक्षिण भारत की आलवार-नयनार भक्ति, पश्चिमोत्तर भारत से आयी हुई सूफ़ी प्रेम-भक्ति, प्रेम-काव्य की साहित्यिक परम्परा, मध्य देश की स्मार्त उदारतावादी

विचारधारा) संकेत मात्र किया है, जिनके मिलन एवं प्रभाव की छाया के तले यह भक्ति विकसित हुई है। इसी स्थल से भक्ति के विकास की प्रक्रिया को भी एक भिन्न स्तर पर समझने की चेष्टा की गयी है। मध्यकाल वीरपूजा का युग था; व्यक्तियों को केन्द्र बनाकर ही जनमानस गतिशील होता था। सामन्ती आदर्शों वाले वीरपूजा के युग में कुछ व्यक्ति महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं एवं अन्य जन उनका ही अनुसरण करते हैं। वैष्णव आचार्य ने जब महत्तम व्यक्तियों को परात्पर-तत्त्व का आवेश रूप माना था, तब वे वस्तुतः वीरपूजा-युग के आदर्शों को ही शास्त्र-सिद्धान्त दे रहे थे। अस्तु, प्रथम अध्याय में ही भक्ति-क्षेत्र के इन महत्तम व्यक्तियों की जीवनी, रचनाएँ, सिद्धान्त तथा सम्प्रदाय-प्रतिष्ठापना के विवरण उपस्थित किये गये हैं। इस विवरण को देते समय भी शुष्क तथ्यों के वर्णन या उद्घाटन की अपेक्षा उन अंशों को अधिक उभारने का प्रयत्न रहा है जिनसे उनके महत्त्व एवं कार्य की गुरुता का रूप स्पष्ट हो सके। बहुधा ज्ञात तथ्यों को भी नयी व्याख्या देने की चेष्टा की गयी है। सूफ़ीमत किसी एक व्यक्ति को केन्द्र बनाकर आगे नहीं बढ़ता, उसके विकास, भारत-प्रवेश एवं भारत में प्रसार का संक्षिप्त विवरण भी दिया गया है। अध्याय के अन्तिम भाग में विविध भक्ति-सम्प्रदायों के पारस्परिक आदान-प्रदान की दिशा का संकेत प्राप्त होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण अध्याय भक्ति-विवेचन के लिए सामान्य पृष्ठभूमि उपस्थित करता है तथा उस प्रेम-दिशा की ओर इंगित भी करता है, जिस ओर भक्ति का बढ़ाव हो रहा था।

विकास-प्रक्रिया के इस स्पष्टीकरण के पश्चात् द्वितीय अध्याय में भक्ति के स्वरूप-निर्धारण का प्रयास किया गया है। दीर्घकाल-व्यापी भक्ति का संकुल-भाव अनेकानेक परिभाषाओं द्वारा व्याख्यात है। अतः इस अध्याय के प्रथम भाग में भक्ति के सूत्र में स्थित विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण किया गया है। द्वितीय भाग के प्रारम्भ में भक्ति-विवेचकों द्वारा विवेचित किये गये विभिन्न भक्ति-प्रकारों को उपस्थित करते हुए विभाजक रेखाओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न है तथा मध्य भाग में साधनाक्रम-सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण है। प्रकारों की रूपरेखा स्पष्ट करने के लिए वैज्ञानिक ढंग पर चार्टों के उपभोग द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। इस अध्याय के अन्त में गौड़ीय वैष्णव आलंकारिकों द्वारा विवेचित पंचभक्ति-रसों का स्वरूप बताते हुए विभिन्न सम्प्रदायों में उनकी स्थिति की मीमांसा भी है।

पहले अध्याय के प्रारम्भ में ही हम यह कह आये थे कि भक्ति का नया आन्दोलन प्रेम की भूमि पर खड़ा होता है। यह प्रेम मुख्य रूप से मधुर भाव में परिणत हो जाता है। द्वितीय अध्याय के अन्त में मधुर रस को पंचभक्ति-भावों में सर्वोत्तम बताया गया है। अतः पिछले अध्याय के प्रकृत विकास की दृष्टि से मधुर रस का विवेचन तृतीय अध्याय में हुआ है। इस विवेचन में सबसे पहले मधुर भाव के विकास की पृष्ठभूमि में स्थित विविध तत्त्वों की संक्षिप्त मीमांसा की गयी है।

इस ऐतिहासिक रूपरेखा के पश्चात् मधुर रस का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। मधुर रस लौकिक शृंगार रस के साथ एक करके न देखा जाये, इसलिए स्वरूप-विश्लेषण के पश्चात् काम और भगवत्प्रेम का अन्तर भी निरूपित हुआ है। इस रस-विवेचन की समाप्ति पर आवश्यक था कि इसे काव्य-शास्त्रीय कसौटी पर परख लिया जाये, अतः भक्ति रस-सम्बन्धी धारणा का काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक आधार पर विवेचन इसी अध्याय में हुआ है। परन्तु रस-सम्बन्धी गौड़ीय वैष्णवों की मान्यता प्रत्येक भक्ति-सम्प्रदाय को मान्य नहीं है। अतः तृतीय अध्याय का अन्तिम भाग गौड़ीय वैष्णवों, नित्यविहारोपासकों, रामोपासकों, निर्गुणवादियों एवं सूफ़ियों के प्रेम रस-सम्बन्धी दृष्टिकोणों का अन्तर एवं इस अन्तर के आधारभूत कारण स्पष्ट करने में प्रयुक्त हुआ है।

समस्त सगुणोपासक-सम्प्रदाय प्रभु-लीला के तत्त्व-दर्शन पर विकसित हुए हैं। इस लीला-तत्त्व को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थित कर भक्तिकाल में उसके स्वरूप एवं महत्त्व का निर्धारण चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में ही हमने करना चाहा है। परात्पर-तत्त्व की लीला का दर्शन, ज्ञान एवं आस्वादन प्रत्येक वैष्णव का काम्य है। परन्तु इसके बाद अनेक प्रश्न उठते हैं—उपास्य का स्वरूप क्या है? यदि उपास्य युगल है तो प्रत्येक का स्वरूप, गुण तथा पारस्परिक सम्बन्ध क्या हैं? इन दोनों में प्रधान कौन है? भक्त पर अनुग्रह किसका होता है? फिर इनकी लीलाएँ कौन-सी हैं—पुराण-शास्त्र-वर्णित या और कोई? ये लीलाएँ कहाँ पर होती हैं, उस धाम का स्वरूप, गुण एवं प्रभाव क्या है? लीला में भाग लेने वाले परिकर में कौन-कौन होते हैं एवं उनके नाम, गुण, रूप, क्रिया तथा सम्बन्ध क्या होते हैं? साधक के लिए इस सारे विस्तार में क्या करणीय है? इन प्रश्नों को लेकर विविध सम्प्रदायों में मत-वैभिन्न्य प्राप्त होता है। यह भी स्मरणीय है कि समस्त प्रेमाभक्ति का काव्य-सृजन लीला-सम्बन्धी इन धारणाओं पर ही आधृत है, बिना इन धारणाओं के सम्यक्-परिशीलन के इस साहित्य के मर्म को ठीक से ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी कारण चतुर्थ अध्याय में विभिन्न लीलागायक भक्ति-सम्प्रदायों के उपास्य, धाम, परिकर, लीला एवं उपासना-सम्बन्धी धारणाओं का सम्यक् विश्लेषण हुआ है। विश्लेषण करते समय विभिन्न सम्प्रदायों के पृथकतासूचक तत्त्वों अथवा सदृशताओं की ओर यथास्थान इंगित करने का प्रयास भी हुआ है। इस प्रकार इस बड़े एवं अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय के मध्य एकसूत्रता की रक्षा की गयी है। इस अध्याय में कुछ बातें और भी उल्लेखनीय हैं। हरिदासी एवं राधावल्लभीय सम्प्रदायों में इन प्रश्नों पर मतभेद इतना कम है कि उन्हें अलग-अलग विवेचित करने से प्रबन्ध का कलेवर अतिरिक्त रूप से अवश्य बढ़ जाता पर उससे लीला-सम्बन्धी किसी नवीनता का संकेत न होता। इसी कारण उन्हीं बातों के लिए नये उद्धरण जुटाने के स्थान पर दोनों सम्प्रदायों में जो यत्किंचित अन्तर है, उसे ही विवेचित करने का प्रयास प्राप्त होगा। शुक-सम्प्रदाय की विवेचना

भी विशेष दृष्टिकोण से की गयी है। 18वीं शती में निर्गुण एवं सगुण सम्प्रदायों में समन्वय की एक तीव्र प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। शुक-सम्प्रदाय, प्रगामी-सम्प्रदाय आदि इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण की उपज हैं।

शुक-सम्प्रदाय की विवेचना समन्वय की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने में सहायक होगी। भारतीय भक्ति-साधना को सूफ़ियों ने भी बहुत प्रभावित किया है। हमने इस बात के संकेत किये हैं कि सगुणोपासकों की विरह को महत्त्व देने वाली धारणा सूफ़ियों से प्रभावित है तथा निर्गुणमार्गियों का प्रेम-दर्शन वस्तुतः सूफ़ियों का ही है। अतः इस अध्याय के अन्त में सूफ़ी प्रेम-दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा भी उपस्थित की गयी है।

लीला-सम्बन्धी इन धारणाओं के आधार पर विभिन्न सम्प्रदायों में प्रभूत साहित्य की रचना हुई है। इस साहित्य को लिखने वाले सदैव ऊँची श्रेणियों के या उच्च पदस्थ लोग ही नहीं थे। वह सारा साहित्य सुरक्षित भी नहीं है। सम्भवतः सदैव सुरक्षित रखने के अभिप्राय से यह लिखा भी नहीं गया। जो साहित्य सम्प्रदायों के उत्तराधिकारियों के पास है भी, वह शोधकर्ता के लिए लगभग अनुपलब्ध ही रहता है। अन्धविश्वासों एवं रूढ़िवादिता के कारण इन ग्रन्थों के दर्शन भी कठिन हो जाते हैं। कभी-कभी ग्रन्थ या रचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं परन्तु स्पष्ट संकेतों के अभाव में उनका काल-निर्णय अत्यन्त दुरूह हो जाता है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी पंचम अध्याय में निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, हरिदास, राधावल्लभ, ललित, रामोपासक निर्गुण मतानुयायी एवं सूफ़ी सम्प्रदायों के अस्सी से ऊपर कवियों का परिचय एवं रचनाओं का विवरण हमने उपस्थित किया है। इन कवियों में जो अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं, उनके व्यक्तित्व एवं साहित्य के विश्लेषण तथा मूल्यांकन को अधिक स्थान दिया गया है। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत अध्याय के एक उप-विभाग में रीतिकाल के सोलह कवियों की चर्चा भी की गयी है। हमने इन कवियों को मुख्य रूप से रीति, परन्तु गौण रूप से प्रेमाभक्ति का कवि माना है। इस उप-विभाग की भूमिका एवं मुख्य कवियों के विवेचन में इनके द्वैध व्यक्तित्व का आकलन करते हुए कि एक नये दृष्टिकोण से इनकी मानसिक स्थिति एवं सृजन-प्रक्रिया को समझने का प्रयास भी है। इस प्रकार सब मिलाकर लगभग सौ कवियों को इस अध्याय में उपस्थित किया गया है।

षष्ठ अध्याय में इस उपलब्ध प्रेमाभक्ति-साहित्य के विश्लेषण और मूल्यांकन की चेष्टा है। इस विश्लेषण में भी कृति का 'आन्तरिक-अध्ययन' (इंट्रिंसिक स्टडी) करने वाली समीक्षा-विधि को अपनाने का प्रयास रहा है। केवल रस, अलंकार, छन्द, शब्द-शक्ति आदि के बँधे-बँधाये चौखटों में ढालकर इस साहित्य को परखने की शैली स्वीकार नहीं की गयी है। हमें लगता है कि इन स्थूल चौखटों में किसी भी साहित्य को ढालकर उसे महत्त्वपूर्ण बताया जा सकता है। वास्तव में किसी

भी रचना में अभिव्यंजना के उपादान एवं मूल वक्तव्य-वस्तु एक साथ घुले-मिले रहते हैं; वे एक साथ मिलकर ही रचना को प्रभविष्णु बना पाते हैं। इसी कारण हमने आलोच्य-साहित्य की भाव-सम्पदा का विश्लेषण करते हुए उसके साथ ही काव्य-सौन्दर्य का भी विश्लेषण किया है। शास्त्रीय विधि के भेदों-प्रभेदों में न जाकर भी मूलतः रस-दृष्टि का आग्रह इस विश्लेषण में बराबर बना रहा है। प्रेमाभक्ति की तीन स्पष्ट परम्पराओं—ब्रजलीला गान, निकुंज-लीला गान एवं प्रेम-प्रतीक भावधारा का अलग-अलग विवेचन करते हुए भी उनकी पारस्परिक स्थितियों का तुलनात्मक विश्लेषण यहाँ पर हुआ है। इसी अध्याय में मूल्यांकन करते समय पूर्ववर्ती भक्तिकाल एवं समसामयिक रीतिकाल के साहित्य को परिपार्श्व में रखकर तुलनात्मक प्रविधि को अपनाया गया है। कोई भी रचना अपने समसामयिक कृतित्व के मध्य स्थित होने के साथ ही पूर्ववर्ती परम्परा की अपने समय तक की अन्तिम कड़ी भी होती है। इसी कारण मूल्यांकन के प्रसंग में इन दोनों सन्दर्भों को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। 18वीं शती के इस प्रेमाभक्ति-साहित्य के विश्लेषण एवं मूल्यांकन में अधिकांश सम्प्रदायों के प्रमुख-प्रमुख कवियों के कृतित्व को दृष्टिपथ में रखा गया है। इस अंश में लगभग 35 कवियों की रचनाओं के उद्धरण देकर इसे सब प्रकार से प्रातिनिधिक बनाने का प्रयास उपलब्ध होगा।

इस प्रकार उत्तर भारत में भक्ति के नये आन्दोलन से उद्‌भूत इस साहित्य की 18वीं शती तक की परिणतियों, प्रभावों, सैद्धान्तिक आग्रहों तथा 18वीं शती की कृतियों के आकलन के साथ यह अध्ययन समाप्त होता है। उपसंहार में प्रस्तुत अध्ययन का विहंगावलोकन करते हुए मुख्य निष्कर्ष अत्यन्त संक्षेप में उपस्थित किये गये हैं।

आभार स्वीकार

यह मेरा सौभाग्य था कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसा आकाशधर्मा गुरु मुझे निदेशक के रूप में प्राप्त हो सका। द्विवेदी जी के सहज उदार चिन्तन एवं अगाध पाण्डित्य का लाभ मुझे बराबर मिलता रहा है। उन्होंने शोध के लिए मेरी रुचि का विषय ही नहीं सुझाया, अध्ययन की रूपरेखा भी बनाई। प्रस्तुत प्रबन्ध उसी रूपरेखा पर पल्लवित हुआ है। उनके श्रीचरणों में मेरी प्रणति निवेदित है।

श्रद्धेय कालका प्रसाद भटनागर, वाइस-चांसलर, आगरा विश्वविद्यालय का विराट् और गत्वर व्यक्तित्व मेरे लिए सदैव अक्षय प्रेरणा का स्रोत रहा है। उनके द्वारा प्राप्त स्नेह का प्रतिदिन धन्यवाद, आभार या कृतज्ञता नहीं है, प्रस्तुत प्रबन्ध मैं उनके ही आशीर्वाद का प्रसाद मानता हूँ।

सन् 1954 में शोध-कार्य प्रारम्भ करते ही यह अनुभव हुआ कि इस युग का जो थोड़ा-बहुत साहित्य प्रकाशित है, वह मुख्यतः रीति-साहित्य है। प्रेमाभक्ति का

अधिकांश साहित्य या तो अप्रकाशित है या धर्म-पीठों से निहायत अव्यवस्थित रूप में प्रकाशित होने पर भी दुष्प्राप्य। इस साहित्य को प्राप्त करने के प्रारम्भिक उद्योग में हमें बहुत सफलता नहीं मिली। कुछ छोटी-छोटी सी पुस्तिकाएँ चैतन्य सम्प्रदाय की ही हमें प्राप्त हो सकीं, साम्प्रदायिक संस्थानों के वेष्ठनों में बँधी पड़ी ग्रन्थ-राशियाँ अनुपलब्ध ही रहीं। कुछ समय बाद सन् 1956 में जब मैं वृन्दावन गया, तब आदरणीय पं. कृष्णदत्त वाजपेयी (तत्कालीन क्यूरेटर, मथुरा-संग्रहालय) के उद्योग से आंशिक सफलता मिल सकी। वाजपेयी जी ने मथुरा-संग्रहालय का पुस्तक-संग्रह भी मुझे सुलभ कर दिया था तथा ब्रज-साहित्य-मण्डल के हस्तलिखित पुस्तक संग्रहालय को देखने की सुविधा भी प्राप्त करा दी थी। उनके परिचय-पत्रों के माध्यम से वृन्दावन के अनेक सज्जनों का सहयोग मुझे मिल सका, जिनमें से दो नाम मेरे मन में सहज ही उभर आते हैं, वे हैं श्री ललिता चरण गोस्वामी एवं श्री ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य। दोनों ने ही राधावल्लभीय एवं निम्बार्कीय सम्प्रदायों के हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ लेने की सुविधा दे दी थी। गोस्वामी हितरूपलाल से भी कुछ सामग्री हमें प्राप्त हो सकी थी। चैतन्य मतानुयायी बाबा कृष्णदास ने अत्यन्त उत्साह से मेरी सहायता की है। इन सभी महानुभावों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अपने विद्वान मित्र डॉ. शरण बिहारी गोस्वामी एवं स्नेही अग्रज पं. रामनारायण पाण्डेय एम.एल.सी. के व्यक्तिगत संग्रहों से मुझे प्रभूत सामग्री प्राप्त हुई है। मैंने डॉ. गोस्वामी से प्रकाशित प्राप्य-अप्राप्य एवं हस्तलिखित सामग्री ही नहीं प्राप्त की, उनके साथ होने वाले विचार-विमर्श ने मुझे विषय की अनेक गुत्थियाँ सुलझाने में भी सहायता दी। उनके प्रति मैं सचमुच ही आभारी हूँ।

अनेक संस्थाओं, यथा—आगरा विश्वविद्यालय, हिन्दी-इन्स्टीट्यूट, हिन्दू-विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, नागरी-प्रचारिणी सभा, उत्तर प्रदेश विधानसभा, उत्तर प्रदेश सचिवालय, आकाशवाणी केन्द्र, लखनऊ; सनातन धर्म कॉलेज, कानपुर; क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर; डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर के पुस्तकालयों से मैंने लाभ उठाया है। मारवाड़ी पुस्तकालय, कानपुर से भी मुझे कुछ सहायता मिली है। इन सभी पुस्तकालयों के अधिकारियों को मेरे अनेकानेक धन्यवाद।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल (वाराणसी), डॉ. विश्वनाथ प्रसाद (आगरा), डॉ. दीनदयालु गुप्त (लखनऊ), डॉ. विजयेन्द्र स्नातक (दिल्ली), डॉ. हरवंशलाल शर्मा (अलीगढ़), पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (वाराणसी), डॉ. भगीरथ मिश्र (पूना), पं. परशुराम चतुर्वेदी (बलिया), डॉ. सत्येन्द्र (आगरा), डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित (लखनऊ), डॉ. मोतीचन्द्र (बम्बई), डॉ. मनोहरलाल गौड़ (अलीगढ़), डॉ. भगवती प्रताप सिंह (गोरखपुर), डॉ. नामवर सिंह (वाराणसी), श्री प्रभुदयाल मीतल (मथुरा) प्रभूत विद्वानों के प्रत्यक्ष या परोक्ष साक्षात्कार से मैंने लाभ उठाया है; उन सबके प्रति

आभार प्रगट करना मेरा पुनीत कर्तव्य है। जिन ग्रन्थकारों की रचनाओं से मैंने लाभ उठाया है, उन सबके प्रति भी मैं अत्यधिक कृतज्ञ हूँ।

श्रद्धेय प्रो. शारदा प्रसाद सक्सेना, पं. उमाशंकर पाण्डेय, पं. अयोध्यानाथ शर्मा, डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, डॉ. बालमुकुन्द गुप्त, डॉ. विश्वनाथ गौड़ इत्यादि गुरुजनों एवं अपने विभाग के अन्य सहयोगियों द्वारा प्राप्त स्नेह, सहयोग एवं प्रेरणा को धन्यवाद देकर मैं हल्का नहीं करना चाहता। भक्ति-तत्त्व की गुत्थियों को सुलझाने में पूज्य डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम' की विद्वत्ता का लाभ मैंने सदैव उठाया है। गुरुवर पं. कृष्ण शंकर शुक्ल का पाण्डित्य मेरे शोध-पथ को सरल बनाने में पद-पद पर सहायता करता रहा है। इन दोनों गुरुजनों के ममत्व के प्रति मेरा मन विनत है।

मेरे मित्र डॉ. शंकर दयालु त्रिपाठी, प्रो. कृष्णचन्द्र खेमका, श्री रामकुमार शर्मा निशंक ने इस प्रबन्ध को पूर्ण करने में जो परिश्रम किया है, वह किसी भी व्यक्ति को जीवन-भर अनुगृहीत रखने के लिए पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त मेरे परिवार, मित्र एवं विद्यार्थी-वर्ग ने जो अथक-अनवरत परिश्रम किया है, वह मेरे लिए हर्ष ही नहीं, गर्व का भी विषय है। सबके नाम नहीं गिनाऊँगा, पर मेरे मन में उन सबके प्रति कृतज्ञता एवं प्रीति का भाव किसी भी प्रकार कम नहीं है। ऐसे व्यक्तियों में सर्वश्री सुरेन्द्रनाथ तिवारी, अवध नारायण शुक्ल, ज्ञानेन्द्र शंकर अवस्थी, श्याम नारायण कपूर एवं प्रो. बालकृष्ण गुप्त का सहयोग सराहनीय रहा है। इन सभी को मैं धन्यवाद देता हूँ। प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में जिनका भी मुझे यत्किंचित् सहयोग, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुआ है, मैं उन सबके प्रति अनुगृहीत हूँ।

देवीशंकर अवस्थी

डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर
दीपावली, संवत् 2017

अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति

विस्तृत रूपरेखा

प्रथम अध्याय–मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन

1. उत्तर-भारत में भक्ति का नया आन्दोलन
2. 15वीं-16वीं शती के अग्रणी व्यक्तित्व, जीवनी, रचनाएँ: सिद्धान्त तथा सम्प्रदाय प्रतिष्ठापन।
   (अ) निम्बार्काचार्य तथा उनका तत्त्व-दर्शन
   (आ) रामानन्द तथा उनका तत्त्व-दर्शन
   (इ) वल्लभाचार्य तथा उनका तत्त्व-दर्शन
   (ई) चैतन्य तथा उनका तत्त्व-दर्शन
   (उ) स्वामी हरिदास
   (ऊ) गोस्वामी हित हरिवंश
   (ए) सूफ़ी-सम्प्रदाय: संक्षिप्त इतिहास तथा तत्त्व-दर्शन
3. निष्कर्ष

द्वितीय अध्याय–भक्ति-विवेचन

1. भक्ति के तत्त्व
   (अ) भक्ति की परिभाषाएँ
   (आ) विभिन्न तत्त्व
   प्रेम, सेवा, माहात्म्य-ज्ञान, अविच्छिन्नता या नैरन्तर्य, शरणागति या प्रपत्तिं, प्रभु–अनुग्रह, निष्काम एवं अहेतुकी वृत्ति, सर्वजन–अधिकारित्व।
2. भक्ति के प्रकार
   (अ) भक्ति-प्रकार सम्बन्धी चार्ट
3. भक्ति-साधना-क्रम

4. उपास्य एवं उपासक के मध्य भाव-सम्बन्ध
   (अ) शान्त-भक्ति
   (आ) दास्य-भक्ति
   (इ) सख्य-भक्ति
   (ई) वात्सल्य-भक्ति
   (उ) मधुरा या कान्ता-भक्ति

तृतीय अध्याय–उज्ज्वल-रस-मीमांसा

1. मधुर भाव का विकास : पृष्ठभूमि स्थित विविध तत्त्व
2. मधुर रस का स्वरूप
3. काम और भगवत्प्रेम में अन्तर
4. भक्ति रस : काव्यशास्त्र के आधार पर
5. गौड़ीय वैष्णव, नित्य-विहारोपासक, रामोपासक, निर्गुणवादी एवं सूफ़ियों के रस-दृष्टिकोण सम्बन्धी अन्तर
6. अध्याय-परिशिष्ट : भक्ति रस सम्बन्धी चार्ट

चतुर्थ अध्याय–प्रेमाभक्ति का साधना-दर्शन

1. लीला-तत्त्व का परिप्रेपक्ष्य
2. चैतन्य-सम्प्रदाय में कृष्ण-राधा, वृन्दावन, गोपी एवं सखी सम्बन्धी धारणाओं का सैद्धान्तिक विवेचन
   (अ) कृष्ण सम्बन्धी धारणा
      (शक्ति-कल्पना, दार्शनिक स्थापनाएँ, कृष्ण-लीला परम्पराओं का समन्वयन)
   (आ) धाम-तत्त्व
   (इ) लीला-तत्त्व
   (ई) परिकर-तत्त्व
   (उ) राधा-तत्त्व
   (भगवत्-राधा-जीव-जगत्तत्त्व सम्बन्धी चार्ट)
   (ऊ) सखी-तत्त्व
   (ए) गौड़ीय वैष्णव तत्त्ववाद की रूपरेखा
   (ऐ) सम्प्रदाय की साधना की समीक्षा के संक्षिप्त संकेत
3. ब्रजलीला एवं निकुंज-लीला : भिन्नता की मानसिक पृष्ठभूमि
4. सखी (हरिदासी)-सम्प्रदाय में उपास्य, लीला, धाम, परिकर एवं साधना-भाव

(उ) धाम
(ऊ) लीला
(ए) उपासना भाव
(ऐ) रामोपासक-रसिक-साधना की मुख्य-विशेषताएँ

12. शुक-सम्प्रदाय में उपास्य, लीला, धाम, परिकर एवं उपासना आदि
    (अ) इतिहास
    (आ) सेव्य
    (इ) परिकर
    (ई) उपासना भाव
13. सूफ़ी प्रेम-दर्शन
    (अ) सृष्टि
    (आ) प्राच्य
    (इ) साधनमार्ग

पंचम अध्याय–विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों का 18वीं शती का ब्रजभाषा-प्रेमाभक्ति-काव्य

1. चैतन्य-सम्प्रदाय का काव्य
   (अ) पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा
   (आ) चैतन्य-मतानुयायी कवि–
   (मनोहर राय, प्रियादास, वैष्णवदास रसजाति, भगवत् मुक्ति, किशोरीदास, गौरमणदास, सुबलश्याम, साधुचरण दास, ब्रह्मगोपाल एवं बृन्दावनदास)
2. हरिदास-सम्प्रदाय का काव्य–
   (अ) पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा
   (आ) हरिदासी-सम्प्रदाय के कवि–
   (नरहरि देव (नरहरि दास), रसिकदास (देव), बनीठनी (रसिकबिहारी), रूपसखी, शीलसखी एवं चरणदास)
3. राधावल्लभ-सम्प्रदाय का काव्य–
   (अ) पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा
   (आ) राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कवि–
   (रसिकदास, गुलाबलाल, अनन्यबलि, हित अनूप जी एवं बंशीधर, चन्द्रसखी, कृष्णदास भावुक, सहचरिसुख (सुखसुखी), रानी बखतकुँवरि, प्रिया सखी, हितरूपलाल, गो. अतिवल्लभ, रसिकलाल, ब्रजलाल, लोकनाथ एवं कमलनयन)

4. निम्बार्क-सम्प्रदाय का काव्य
   (अ) पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा
   (आ) निम्बार्क-सम्प्रदाय के कवि–
      (बृन्दाबन देव आचार्य, ब्रजदासी, घनानन्द एवं रूपरसिक देव)
5. वल्लभ सम्प्रदाय का काव्य
   (अ) पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा
   (आ) वल्लभ-सम्प्रदाय के कवि–
      (हरिराय (रसिकराय या रसिक), जगन्नाथ कविराय, गिरिधर जी (तृतीय घर), ब्रजभूषण जी (काकरोली), द्वारिकेश जी (पंचमगृह), काकावल्लभ, कृष्णजीवन लछीराम, नागरीदास, ब्रजभूषण, सुन्दरवताबहु जी एवं ब्रजराव जी (सूरत))
6. ललित-सम्प्रदाय का काव्य–
   (अ) संक्षिप्त रूपरेखा
   (आ) ललित सम्प्रदाय के कवि
      (वंशी अलि)
7. रामभक्तों का ब्रजभाषा-साहित्य
   (अ) पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा
   (आ) रामोपासक कवि
      (बालानन्द, बालकृष्ण नायक बाल अली, रामप्रियाशरण प्रेमकली, जानकीरसिकशरण रसमाला, रूपलाल रूपसखी, प्रेमसखी, रामसखे, रामप्रपन्न मधुराचार्य, सियासखी, महाराज छत्रसाल, सूरकिशोर, हर्याचार्य हरिसहचरि, गुरु गोविन्द सिंह, रामप्रसाद विन्दुकाचार्य एवं नामा प्रयागदास)
8. निर्गुणमार्गीय काव्य
   (अ) पृष्ठभूमि तथा संक्षिप्त रूपरेखा
   (आ) दादू पन्थ के कवि
      (रज्जब जी एवं सुन्दरदास)
   (इ) सत्तनामी सम्प्रदाय के कवि
   (ई) शुक-सम्प्रदाय के कवि
      (चरणदास, सहजोबाई एवं दयाबाई)
   (उ) बावरी पन्थ के कवि
      (यारी साहब, केशवदास, बुल्ला (बूला) साहब एवं गुलाल साहब)

(ऊ) कतिपय अन्य कवि
(मलूकदास, सन्त तुलसीदास निरंजनी एवं चरणीदास)
(ए) प्रणामी (धामी)—सम्प्रदाय के कवि
(प्राणनाथ, महात्मा मुकुन्ददास एवं सूझनदास)

9. सूफ़ी-प्रेमाख्यान-काव्य
(अ) पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा
(आ) प्रेमाख्यानक कवि
(जानकवि एवं दुखहरनदास)

10. रीति-प्रवृत्तियों की छाया में पलने वाला काव्य एवं उसके अध्ययन की दिशा—
(अ) प्रेमाभक्ति की अभिव्यक्ति : पृष्ठभूमि और रूपरेखा
(आ) प्रमुख रूप से रीति और गौड़तः
प्रेमाभक्ति के कवि—
(सेनापति, बेनी, चिन्तामणि, बिहारीलाल, मतिराम, कुलपति, बृन्द, देव, कालिदास, त्रिवेदी, उदयनाथ कवीन्द्र, महाराज, बुधसिंह, राजसिंह, सुरति मिश्र, श्रीपति, सोमनाथ, आलम एवं भिखारीदास)

षष्ठ अध्याय—18वीं शती के ब्रजभाषा के प्रेमाभक्ति-काव्य का साहित्यिक विश्लेषण और मूल्यांकन

1. प्रेमाभक्ति काव्य की तीन परम्पराएँ : संक्षिप्त परिचय
2. नित्य-विहारोपासकों द्वारा सृजित काव्य
(अ) रूप-चित्रण
(रूप-चित्रण की दृष्टि से राधा-सीता का महत्त्व, युगल-सौन्दर्य, कृष्ण या राम का सौन्दर्य, प्रियारूप चित्रण (वस्तुपरक सौन्दर्यांकन, नेब, नारी के अन्य अंग, सौन्दर्य का अनुभूतिपरक चित्रण)
(आ) आकर्षण और प्रेम—
(नायक का अनुराग, युगलरूप का परस्पर आकर्षण, नायिका में आकर्षणजन्य विह्वलता का अभाव)
(इ) मिलनाकुलनता

(ई) विरह और मान–
(विरह-दशा का अभाव, प्रणयमान की स्वीकृति, सखियों द्वारा मानमोचन)
(उ) विहार-क्रीड़ाएँ
(अभिसार, मिलनकाल के हास-परिहास, अभिसार के मासल और ऐन्द्रिक चित्र, सुरतान्त एवं जागरण)
(ऊ) सहचरी-सेवा
(ए) सिद्धान्त-कथन

3. ब्रज-लीला (आवरण-लीला) गायकों द्वारा सृजित काव्य–
(निकुंज-लीला और ब्रज-लीला का अन्तर)
(अ) रूप-चित्रण–
(कृष्ण का रूप-सौन्दर्य और उसका प्रभाव, नायिका-रूप-चित्रण)
(आ) नायिका-भेद
(इ) आकर्षण और मिलनेच्छा
(ई) मिलन और अभिसार की लीलाएँ
(रास-लीला, जलक्रीड़न, होली)
(उ) विरह
(पूर्वराम, प्रवास, मान, प्रेम-वैचित्र्य)
(ऊ) उपालम्भ
(ए) बाल-लीलाएँ
(ऐ) सिद्धान्त-कथन

4. सन्त-परम्परा के अन्तर्गत रचा गया प्रेमाभक्ति-काव्य
(प्रेम-प्रतीक-भावधारा, सगुण-लीला से प्रेम-प्रतीकवाद का अन्तर, संसार के प्रति वैराग्य, ईश्वर के प्रति राग, उपमानों और प्रतीकों का प्रयोग, शान्त एवं दास भावों की अभिव्यक्ति)

5. ब्रजभाषा-प्रेमाभक्ति-साहित्य का मूल्यांकन
(अ) मूल्यांकन-निकष
(आ) पूर्ववर्ती भक्तिकाव्य से तुलना–
(पिष्टपेषण, लीला का सीमित क्षेत्र और परिणाम, सम्प्रदाय- निष्ठा का दबाव, युगलोपासना की प्रवृत्ति,

सिद्धान्त-कथन का आधिक्य, भक्ति-आवेग की शिथिलता, अलंकृत अभिव्यंजना)

(इ) समसामयिक रीतिकाव्य से तुलना–
(शिल्प की समानता, प्रेमाभक्ति के नायिका भेद आदि प्रसंगों पर काव्यशास्त्र का प्रभाव, रीतिकाव्य से भिन्नता, कवियों का बाहुल्य और उसके कारण वैयक्तिक एवं सामूहिक रूप से प्रेमाभक्ति की रचनाओं का प्रचुर परिणाम और उसके कारण, अभिव्यंजना-संयम का अभाव, आलोच्य काव्यकला-सौष्ठव में अपेक्षाकृत शिथिल, समीक्ष्य काव्य एवं रीतिकाव्य में प्रत्यक्ष सम्बन्ध, प्रभाव-ग्रहण की प्रक्रिया, प्रस्तुत काव्य का महत्त्व)

सप्तम अध्याय–उपसंहार

1. अध्ययन की उपलब्धियाँ–
   (क) प्रबन्ध में प्रयुक्त शब्द-संक्षेप-सूची
   (ख) सहायक-ग्रन्थ-सूची

प्रथम अध्याय

मध्यकालीन भक्ति : नया आन्दोलन और अग्रणी व्यक्तित्व

उत्तर भारत में भक्ति का नया आन्दोलन

विद्वानों ने भागवत धर्म एवं भक्तिमार्ग की प्राचीनता के पर्याप्त प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किये हैं।[1] इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन में न जाकर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि भक्तिमार्ग को केवल भागवत (वैष्णव) धर्म के साथ एकात्म करके नहीं देखा जाना चाहिए। शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, तन्त्र, योग आदि सम्प्रदायों की साधना-प्रणालियों में भी भक्ति किसी-न-किसी रूप में प्रकाशित होती रही है। हमें लगता है कि भक्ति-भाव अन्तःसलिला के रूप में इस देश के लोक-जीवन में बराबर प्रवाहित रहा है और अवसर पाते ही उसके सोते फूटते रहे हैं। पर इतना अवश्य है कि भागवत धर्म के साथ भक्ति का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही अधिक घनिष्ठ रहा है। सम्भवतः भागवत धर्म की लोकोन्मुखता ने उसे सदैव अधिक प्रश्रय एवं महत्त्व दिया है।[2]

संवत् 1000 के आसपास से मध्य देश की स्मार्त आचार-परायण भूमि में आलवारों की भावभक्ति एवं प्रेम-प्रतीकवाद आचार्यों के शास्त्र-सिद्ध व्यक्तित्व के सहारे पहुँचते हैं। पूर्वी भारत की महायान-भक्ति और तन्त्र-साधनाओं, गुह्य-उपासनाओं के सम्मिलन से विकसित सहजिया से वैष्णव-तत्त्व का प्रेममार्ग एवं परकीयोपासना (जो आगे चलकर गोपी भाव का रूप धारण करती है) भी इसी में आ जुड़ते हैं। इसी काल में पश्चिमोत्तर भारत से प्रेम की पीर के गायक सूफ़ी भी इस देश में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। तुर्क सुल्तानों के समय इन सूफ़ियों के कार्यों को काफी व्यापकता और सफलता प्राप्त हुई थी। इसी समय मुसलमानों के आक्रमण भी होते हैं और कुछेक समय के लिए लगा कि यह दुर्दान्त शक्ति भारतवर्ष के श्रेष्ठतम को कुचलकर रख देगी। ऐसी दशा में इस अनुभव-वृद्ध देश के जन को श्रद्धा एवं भक्ति ने इस झंझावात के समक्ष खड़ा रह सकने की शक्ति प्रदान की। एक पाँचवाँ तत्त्व भी

इसी काल में इस परम्परा में आ जुड़ता है। राधा एवं कृष्ण की प्रेम-लीलाओं की साहित्यिक परम्परा धर्म-भावना के अन्दर स्थान पा जाती है और यह लीलावाद उपर्युक्त समन्वय से अद्भुत प्रेम-प्रधान भक्ति को अपूर्व रस-निर्भर बना देता है।

यहीं पर एक और तथ्य की ओर ध्यान दिला देना उचित होगा कि इस युग की संस्कृति मन्दिरों को केन्द्र बनाकर बढ़ रही थी। प्रत्येक गाँव एवं मुहल्ले में छोटे-बड़े अनेक मन्दिर विविध देवी-देवताओं के हुआ करते थे। ये मन्दिर एक प्रकार के विकेन्द्रीकरण के द्योतक थे।[3] बौद्ध विहारों में सामूहिक रूप से निवास, प्रार्थना एवं पूजन होता था, पर इन स्मार्त मन्दिरों में वैयक्तिकता एवं सामूहिकता का अपूर्व समन्वय था। उनमें रहता कोई नहीं था, पूजन भी वैयक्तिक था, परन्तु उत्सव, व्रत एवं श्रद्धा सामूहिक थी। परिणामस्वरूप जब बख़्तियार ख़िलजी जैसे मुसलमानों ने बौद्ध विहारों पर आक्रमण किया तो उन विहारों की विनष्टि के साथ ही बौद्ध धर्म को भी सांघातिक आघात लगा, पर मन्दिरों को तोड़ने के बाद भी मुसलमान न तो मन्दिरों के निर्माण का क्रम तोड़ सके और न मन्दिरों पर श्रद्धा रखने वाले जन की श्रद्धा को नष्ट कर सके। यह द्रष्टव्य है कि भारत के अधिकांश श्रेष्ठतम मन्दिर इसी युग में बनते हैं। खजुराहो, कोणार्क, भुवनेश्वर हलेबीद, बेलूर आदि के मन्दिर ग्यारहवीं शताब्दी के बाद ही बने हैं।

विक्रम की 15वीं शताब्दी तक आते-आते तुर्कों के शासन का अन्त दिखाई पड़ने लगता है। मुसलमानों की अजेयता को इससे भारी धक्का लगता है तथा इस देश के हिन्दू के मन से मुसलमानों का आतंक उठने लगता है। यह तथ्य इस अर्थ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दुओं में इससे एक नये आशावाद एवं उत्साह का जन्म हुआ। इस उत्साह के मध्य ही 15वीं-16वीं शताब्दियों में भक्ति का नवोत्थान हमें प्राप्त होता है। उपर्युक्त तथ्य इस अर्थ में भी महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दू-मुसलमानों के मध्य पारस्परिक बोध भी इस कारण बढ़ता है एवं सूफ़ीमत को फैलने-बढ़ने या प्रभावित करने अथवा प्रभावित होने का अवसर मिलता है। नये बने मुसलमानों के कारण यह प्रक्रिया और अधिक गति प्राप्त करती है।[4]

यहीं पर एक और तथ्य याद कर लेना आवश्यक है। बौद्ध धर्म ने अपनी अन्तिम परिणतियों में लोकाकर्षण का रास्ता ग्रहण किया था।[5] विशेष रूप से समाज की निम्न श्रेणियों में इसने आध्यात्मिक आकांक्षाएँ उत्पन्न कर दी थीं; उनमें आत्मविश्वास का गौरव भी स्थापित हो गया था। इस प्रकार नीची कही जाने वाली जातियाँ एक प्रकार की समानता की इच्छा प्रकट करती हैं। एक विचित्र अन्तर्विरोध इस युग में दिखाई पड़ता है : एक ओर तो जाति-पाँति एवं कौलीन्य-भाव की जकड़बन्दी होती है और दूसरी ओर ये तथाकथित नीची जातियाँ ऊपर आने या समानता के स्तर की घोषणा करती हैं। इस अन्तर्विरोध में भक्ति-भाव को गति मिली है—क्योंकि भक्ति ने कौलीन्य को चोट पहुँचाए बिना कम-से-कम धर्म और प्रेम (भक्ति) के क्षेत्र में

सबको समान मान लिया। मध्यकाल की दृष्टि से यह समानता साधारण नहीं है। इसी समय मुसलमानी आक्रमणों ने एक और समानता स्थापित की। उनके अत्याचारों के शिकार छोटे-बड़े, ऊँचे-नीचे सभी हुए। इस प्रकार की स्थिति में यह अनिवार्य हो गया था कि जो भी साधना-मार्ग उदित हो, वह व्यापक जीवन को समेटने वाला हो।

15वीं-16वीं शताब्दियों में नये आवेश से जगने वाले भक्तिमार्ग में प्रेम की यह साधना सारे लोक-जीवन के लिए ग्रहणीय शक्ति बनकर उदित होती है। समन्वय एवं सामंजस्य की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत इस समाज में भक्ति का यह मार्ग सगुण को स्वीकार करने के बाद भी निर्गुण का प्रत्याख्यान नहीं करता एवं निर्गुण रंग की बात उठाकर उसे प्रियतम या मालिक के अनेक गुणों से विभूषित भी कर देता है। यहाँ पर शर्त केवल एक रह जाती है—प्रेम। जैसे भी बने प्रेम होना चाहिए, इसके अतिरिक्त भक्तिकाल का कुछ भी काम्य नहीं रह जाता। जप, तप, तीर्थ, व्रत, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान, वैराग्य सब इसी ओर उन्मुख हैं। आदर्श है—'रीझि मजो या खीझि।' प्रेम ही मुक्ति-प्राप्ति का एक साधन था तथा प्रेम के द्वारा ही ऊँच-नीच तथा जाति-पाँति का भेद मिटाया जा सकता था। भक्ति-आन्दोलन का ध्येय न केवल आध्यात्मिक उन्नति था, वरन् सामाजिक उत्थान भी था। बल्कि कहना यों चाहिए कि भक्तिकाल में आध्यात्मिक उन्नति एवं सामाजिक उत्थान, दोनों ही पर्यायवाची-से बन गये थे। इसी कारण छोटे, उपेक्षित, अपढ़, निर्धन एवं अकुलीन भी इस युग में पूज्य बने। ध्यान रहे कि जुलाहे कबीर, अन्धे सूरदास, निर्धन-तिरस्कृत तुलसीदास, बेलीक चलने वाली मीरा किन्हीं सिद्धियों, चमत्कारों या डाँट-फटकार के कारण श्रद्धेय नहीं बनते। ये सभी प्रभु, प्रभु-युग एवं प्रभु-सेवा और प्रभु-प्रेम के गुण गाकर ही सामान्य जन का हृदय जीत सके थे। आल्हखण्ड में एक पंक्ति आती है—जननी ऐसा बेटा जनिये, कै सूरा कै भक्त कहाय।[6] (माँ, ऐसा पुत्र उत्पन्न करो जो या तो शूर कहलावे या भक्त) यह पंक्ति उस दृष्टिकोण को पूरी तरह व्यक्त कर रही है जो भक्ति को शूरवीरता (वह भी मध्यकाल की वीरता) के समकक्ष स्वीकार करता है।

प्रेम के इस प्रसंग में हम यह याद दिला देना आवश्यक समझते हैं कि ऊपर जिन तत्त्वों के आधार पर मध्य देश के क्षेत्र में भक्ति के बीज-वपन की चर्चा कर रहे हैं, वे सब प्रेम पर ही बल देने वाले हैं। पूर्वी भारत में तन्त्र-मत एवं वैष्णव-मत का समन्वय जिस महायान भूमि पर हुआ था, उसमें भी प्रेम का अतिशय महत्त्व था। अनेक प्रकार की यौन-यौगिक क्रियाएँ उससे सम्बन्धित थीं। दक्षिण की आलवार भक्ति में प्रेम का भाव अत्यन्त समृद्ध था ही तथा सूफ़ी-साधना प्रेम की पीर के प्रचारक-रूप में प्रसिद्ध ही है। राधा-कृष्ण लीला की साहित्यिक परम्परा भी रति-भावना के ही आधार पर खड़ी थी। इधर स्मार्त विचारधारा में श्रद्धा और उदारता का जो अंश है, उसने इन सभी प्रेम-प्रभावों को ग्रहण करने में सहायता दी। 15वीं शती में भक्ति के नये आन्दोलन[7] में प्रेमाभक्ति का स्वर अत्यन्त प्रबल

रूप ग्रहण करता है। परिणामस्वरूप इस युग में प्रेमाभक्ति के अनेक सम्प्रदाय एवं उसके प्रचारक कृती एवं साधक महात्मा उभरते दिखाई देते हैं। ये महात्मा ही इस आन्दोलन का नेतृत्व करते हैं।

15वीं-16वीं शती के भक्ति क्षेत्र में अग्रणी व्यक्तित्व : जीवनी, रचनाएँ तथा सम्प्रदाय-प्रतिष्ठापन

कैसा भी जन-आन्दोलन क्यों न हो, कोई-न-कोई प्रतिभाशाली उस जन-शक्ति का नेतृत्व करता हुआ उसे लक्ष्य तक ले जाता है। रामानन्द, वल्लभ, चैतन्य, हित हरिवंश, हरिदास, हरिव्यास आदि इस नव-जाग्रत शक्ति के अग्रदूत बने। यहीं पर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि काशी और राजस्थान निर्गुण-भक्ति के केन्द्र बने या फिर सगुण मर्यादावाद के। सम्भवतः शैव-नाथपन्थियों के गढ़ ये स्थान थे, अतः निर्गुण-भक्ति इनका स्वाभाविक विकास सिद्ध हुई, राम उनकी भक्ति के आलम्बन बने। धुर पूरब बंगाल में सहजिया तान्त्रिक साधना की पृष्ठभूमि में विकसित होने वाले वैष्णव मतवाद का प्रेमतत्त्व परकीयोन्मुख हुआ। राधा-कृष्ण के रूप को अपनाकर ब्रज प्रदेश (मथुरा-वृन्दावन) राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रमुख केन्द्र एक बार पुनः बना (ई.पू. शूरसेन प्रदेश में सात्वत या भागवत धर्म का जोर था, ऐसा भण्डारकर, राय चौधरी आदि सभी विद्वानों को मान्य है)।[8] वल्लभ, चैतन्य, हित हरिवंश, हरिदास आदि के सम्प्रदाय और साधनाएँ यहीं पुष्पित-पल्लवित हुईं। उत्तर भारत में भक्ति-प्रसार में चतुः सम्प्रदायों के योग के प्रति कुछ असन्तुलित एवं अत्युक्तिपूर्ण दृष्टिकोण रहा है। यह योगदान अपने आपमें एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है, इसलिए विस्तार में न जाकर हम मात्र इतना कहना चाहते हैं कि निम्बार्क-सम्प्रदाय को छोड़कर और किसी सम्प्रदाय की ब्रज में अवस्थिति वल्लभ-चैतन्य आदि के पूर्व की प्राप्त नहीं होती। रामानुज की परम्परा काशी में मिलती अवश्य है, परन्तु रामानन्द के पहले वह एकदम क्षीण थी तथा रामानन्द शुद्ध रामानुजी कितने रहे, यह काफी विवाद की बात है। कुछ लोग तो उन्हें एकदम पृथक् मानते हैं, जो रामानुज के साथ उन्हें सम्बन्धित करते भी हैं, वे भी केवल दर्शन के क्षेत्र में बाकी उपासना-पद्धति, आचार-व्यवहार, तिलक, माला और मन्त्र में उनकी भिन्नता स्वीकार्य है।

निम्बार्क के बारे में भण्डारकर[9], परशुराम चतुर्वेदी[10], बलदेव उपाध्याय[11] आदि सभी विद्वानों ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि उनके सम्प्रदाय का प्रसार ब्रज प्रदेश (राजस्थान भी) तथा बंगाल में ही अधिक हुआ, दक्षिण में वह नितान्त नगण्य रहा। बलदेव उपाध्याय ने तो स्पष्ट संकेत किया है—

"उत्तर भारत में विशेषकर मथुरा-मण्डल में ही इन वैष्णवों की स्थिति निम्बार्क का सम्बन्ध ब्रज-मण्डल में ही जोड़ती है।"[12] हम समझते हैं कि यह बात काफी महत्त्वपूर्ण

है। यह सम्प्रदाय उत्तर भारत की ही देन है। रामानुज के सिद्धान्त के आधार[13] पर उत्तर भारत के अनुकूल विकसित इस सम्प्रदाय को दक्षिण के साथ जोड़ना उचित नहीं है। भले ही निम्बार्क दाक्षिणात्य रहे हों पर उनका सम्प्रदाय उसी प्रकार उत्तर भारत का है, जैसे दाक्षिणात्य वल्लभ का सम्प्रदाय भी उत्तर का ही था। हम कहना चाहते हैं कि निम्बार्क और रामानन्द ये दो प्रारम्भिक सेतु हैं जिन्होंने भक्ति के क्षेत्र में दक्षिण और उत्तर को मिलाया है। दर्शन-ज्ञान के क्षेत्र में शंकराचार्य पहले ही सेतु बन चुके थे। आगे वल्लभाचार्य एवं चैतन्य महाप्रभु ने अपने को विष्णु स्वामी एवं माध्व से सम्बन्धित किया है। पर यह केवल प्रामाणिकता के लिए है, अन्यथा जैसा कि डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने भी कहा है कि नये सम्प्रदाय चतुःसम्प्रदायों से अपनी प्रतिभा में नितान्त पृथक् हैं।[14] प्रदेश-विशेष की स्थिति के साथ भक्ति-साधना में कुछ विभेद हो जाना असम्भव या अनुचित भी नहीं है। आगे हम उत्तर भारत के प्रमुख वैष्णवाचार्यों का संक्षिप्त जीवन-विवरण उपस्थित कर रहे हैं। इस विवरण से उस समय की साधना-दिशा के परिचय के साथ ही यह भी ज्ञात हो सकेगा कि इन लोगों ने कितना महान कार्य सम्पादित किया था।

निम्बार्काचार्य

यथेष्ट ऊहापोह होने के बाद भी अब तक निम्बार्क का समय निश्चित नहीं हो पाया है। एक ओर बलदेव उपाध्याय तथा निम्बार्क-मतानुयायी अनेक आधुनिक विद्वान उन्हें वैष्णव सम्प्रदायों में प्राचीनतम मानते हैं।[15] दूसरी ओर भण्डारकर ने (और उनके ही अनुरूप परशुराम चतुर्वेदी, दीनदयालु गुप्त, हरवंश लाल शर्मा आदि हिन्दी के विद्वानों ने भी) उनका समय 1162 ई. के आसपास, रामानुज के बाद, माना है। इनकी भक्ति-पद्धति पर रामानुज का स्पष्ट प्रभाव भण्डारकर को मान्य है।[16] यदि राधा नाम को उन्होंने सबसे पहले प्रमुखता दी है तो उससे यह सूचित होता है कि निम्बार्क बहुत पहले के नहीं थे।[17] इस अर्थ में वे सर्वप्रथम आचार्य अवश्य हो जाते हैं कि राधा-कृष्ण की भक्ति उत्तर भारत में उनके द्वारा ही प्रचारित हुई। उन्हीं की शिष्य-परम्परा में आगें चलकर हरिव्यास देव (सं. 1600 के आसपास) ने निम्बार्क सम्प्रदाय को अत्यधिक उन्नत किया। विद्वानों ने उन्हें बेलारी जिले के निम्बपुर ग्राम में उत्पन्न तैलंग ब्राह्मण माना है। उनके पिता का नाम जगन्नाथ था तथा माता का सरस्वती। जन्मतिथि वैशाख शुक्ल तृतीया बताई जाती है।

मध्ययुग चमत्कारों का युग था। हर साधु-महात्मा एवं महापुरुष के साथ अनेक चमत्कारी कथाएँ जुड़ जाया करती थीं। निम्बार्क के साथ भी एक कथा जुड़ी हुई है कि नीम के वृक्ष पर इन्होंने सुदर्शन चक्र का आह्वान कर लिया था जिससे कुछ उपासक सूर्यास्त के बाद भी भोजन कर सकें। तभी से इनका नाम निम्बार्क या

निम्बादित्य पड़ गया था। गोवर्धन के निकट इस स्थान का नाम आज भी निम्ब ग्राम है। निम्बार्क के दो ग्रन्थ मुख्य कहे जाते हैं—वेदान्त-पारिजात-सौरभ तथा दशश्लोकी।[18] इस सम्प्रदाय को हंस, सनक या देवर्षि सम्प्रदाय भी कहते हैं। आगे निम्बार्क की परम्परा में तीसवें आचार्य केशव काश्मीरी ने गीता और ब्रह्मसूत्रों पर पुनः भाष्य लिखे। 31वें आचार्य श्री भट्ट ने हिन्दी में रचना की[19] तथा 32वें आचार्य श्री हरिव्यास देव ने अपनी संगठन-शक्ति के बल पर सम्प्रदाय का अभिनवीकरण भी किया। हरिव्यास देव के महत्त्वपूर्ण योगदान के कारण इसे हरिव्यासी सम्प्रदाय भी कहा जाने लगा।[20] निम्बार्कीय सम्प्रदाय की देन हिन्दी को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आगे चलकर घनानन्द, रूपरसिक देव, रसिक गोविन्द जैसे श्रेष्ठ कवि निम्बार्क मतानुयायी हुए हैं।

कृष्ण की 'अनुरूप सौभगा' राधा को निम्बार्क मत सामने लाया, यह इस सम्प्रदाय की बहुत बड़ी देन कही जाती है। (यद्यपि यह बात काफी विवादास्पद है।) पर माधुर्य-भावना का पूर्ण विकास सम्भवतः बाद में इस सम्प्रदाय में हुआ और वह भी कभी उस सीमा तक नहीं पहुँचा जिस तक सखी, राधावल्लभीय या गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदाय में वह पहुँच सका। माधुर्य के साथ ही अन्य भावों को भी निम्बार्क-सम्प्रदाय के आचार्यों ने मान दिया है।[21] परन्तु कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति का उपदेश स्वयं निम्बार्क ने पहले ही दिया था—

नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवंदितात्।
भक्तेच्छयोपात्त-सुचिन्त्यविग्रहा-
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्य साशयात्॥

(दशश्लोकी, श्लोक, 8)

परन्तु यहीं पर हम उस विवाद की ओर इंगित कर देना चाहते हैं जो दशश्लोकी को लेकर है। विद्वानों का एक वर्ग दशश्लोकी को निम्बार्ककृत नहीं मानता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी उसके 19वीं शती की रचना होने का सन्देह किया है।[22] दूसरी ओर सम्प्रदाय के विद्वान तथा पं. परशुराम चतुर्वेदी,[23] 'बलदेव उपाध्याय'[24] आदि उसे निम्बार्ककृत स्वीकार करते हैं। दोनों ही पक्षों में पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। परन्तु इतना निश्चित् है कि इनके वेदान्त-पारिजात-सौरभ और दशश्लोकी की भावना के मध्य कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। दशश्लोकी में राधा और कृष्ण की भक्ति का विह्वल आह्वान है, पर वेदान्त-पारिजात-सौरभ में रमाकान्त, पुरुषोत्तम, वासुदेव आदि नाम तो आते हैं पर कृष्ण का नाम नहीं आता।[25] राधा और कृष्ण की रसपरक लीलाओं की गन्ध भी इस भाष्य में नहीं है। परन्तु केवल इसी आधार पर दशश्लोकी को नितान्त परवर्ती रचना भी नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में और अधिक अनुसन्धान की आवश्यकता है। निम्बार्क के श्रीकृष्ण स्तव-राज, प्रयत्न

कल्पवल्ली मन्त्र-रहस्य षोडशी आदि जिन ग्रन्थों को निम्बार्ककृत बताया गया है, अब वे अधिकांश परवर्ती या अन्य ग्रन्थों के अंश सिद्ध किये जा चुके हैं।[26]

रामानन्द

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्तदीप नवखण्ड ॥

इस कथन से इतना तो पता चलता ही है कि बहुत पहले से ही भक्ति का सम्बन्ध दक्षिण भारत से मान लिया गया था।[27] इधर विविध वैष्णवाचार्य एवं भक्तों के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हुए हैं, उनसे यह पता चलता है कि उत्तर भारत में वैष्णव साधना का पहला केन्द्र काशी में श्री वैष्णवों का बना। दक्षिण से भक्ति रामानन्द के गुरु राघवानन्द लाये थे परन्तु सम्भवतः दक्षिण की परिस्थितियों में पले-पुसे राघवानन्द उत्तर भारत की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं बन पाये थे, फिर भी अपने विद्रोही शिष्य रामानन्द को अलग सम्प्रदाय चलाने की आज्ञा देकर उन्होंने एक समुचित कार्य किया था। स्वामी राघवानन्द के बारे में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है, परन्तु किंवदन्तियों आदि से यह पता चलता है कि वे वैष्णव आचार्य होने के साथ ही योग-विद्या में भी निष्णात थे। रामानन्द ने भी सम्भवतः अपने गुरु से योग-साधना सीखी होगी। काशी उन दिनों शैवमत का अखाड़ा भी था, अतः यह समझने में कुछ कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि वैष्णवों को भी उस चमत्कारिक युग में अपना स्थान सुरक्षित रखने के लिए योग-क्रियाओं से परिचित अवश्य होना पड़ा होगा। इस पृष्ठभूमि में रामानन्द एवं उनके शिष्यों की निर्गुण उपासना सहज समझ में आने वाली है। रामानन्द से ही यह योग-परम्परा समाप्त नहीं हो जाती। ऐसा लगता है कि राघवानन्द-रामानन्द सम्प्रदाय को प्रारम्भ से ही शैव नाथपन्थियों से लोहा लेना पड़ा और फिर धीरे-धीरे इन्होंने उनको अपने भीतर आत्मसात् भी किया। डॉ. जी. एस. घुर्ये ने श्री कृष्णदास पवहारी की दास, तारानाथ आदि कथाओं का विश्लेषण करते हुए कहा है कि इस प्रमुख साधु की जीवन-विधि इस बात का उदाहरण है कि कैसे वैष्णवों, विशेषकर रामानन्दी वैभवों द्वारा शैव सम्प्रदायों, विशेष रूप से नाथपन्थियों, के बीच एक धीमी किन्तु दृढ़ रोपण-प्रक्रिया (प्रॉसेस ऑफ़ ट्रान्सप्लाण्टेशन) चलाई जा रही थी।[28] यानी कि योगमार्ग के वृक्ष पर भक्ति की क़लम लग रही थी। राघवानन्द की साधना योग और भक्ति का समन्वित रूप है।[29] बहुत सम्भव है कि वैष्णव पन्थों ने मध्यकालीन योग-उपासकों को भी अपने में सम्मिलित कर अपने सम्प्रदाय को अधिक लोकप्रिय तथा व्यापक बनाया होगा।[30]

जन्म—स्वामी रामानन्द के जन्म को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। भण्डारकर उनका समय 1300 ई. के आसपास मानते हैं।[31] परशुराम चतुर्वेदी ने भी

उन्हें 1299 ई. में उत्पन्न माना है।[32] रामानन्द-सम्प्रदाय पर विशेष खोज करने वाले डॉ. बदरीनारायण श्रीवास्तव ने भी उन्हें संवत् 1356 से 1467 (1299 ई. से 1410 ई.) तक माना है।[33] गुरु-परम्परा के आधार पर पं. रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें स्थूल रूप में विक्रम की 15वीं शती के चतुर्थ तथा 16वीं शती के तृतीय चरण के भीतर स्वीकार किया है।[34] श्री बलदेव उपाध्याय ने भी सं 1567 के आसपास तिरोधान-समय मानकर शुक्ल जी का ही समर्थन किया है।[35] विल्सन ने भी भण्डारकर इत्यादि के मत को असंगत बताते हुए उन्हें 14वीं शताब्दी के अन्त या 15वीं शताब्दी के प्रारम्भ के पूर्व नहीं माना।[36] हमारा विचार है कि शुक्ल जी एवं उपाध्याय जी के निर्णय अधिक तर्कसंगत है। नाभादाम के जिस छप्पय के आधार पर भण्डारकर इत्यादि ने अपने निर्णय किये हैं, उसकी गुरु-परम्परा अधूरी है। इसके अतिरिक्त यदि रामानन्द को इतना पहले रखें तो फिर कबीर आदि उनके शिष्य नहीं सिद्ध होते और इस प्रकार उनका वह महत्त्व भी नष्ट हो जाता है जो लोक-परम्परा एवं शास्त्रज्ञ विद्वान दोनों के माध्यम से सुरक्षित चला आ रहा है। इसके अतिरिक्त रामार्चन-पद्धति को रामानन्द जी की प्रामाणिक कृति मान लेने के बाद कोई कारण शेष नहीं रहता कि स्वयं उनके द्वारा दी गयी गुरु-परम्परा को अस्वीकार किया जाये। इस परम्परा के अनुसार रामानुज की 14वीं पीढ़ी में रामानन्द जी का आविर्भाव हुआ। रामानुज का तिरोधानकाल वि. 1164 या 1196 माना जाता है। अतः इस प्रकार उन्हें विक्रम की 15वीं शती के उत्तरार्द्ध में मानना असंगत सिद्ध नहीं होता।

रामानन्द जी के जीवन का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं होता परन्तु अगस्त्य-संहिता एवं भक्तमाल के आधार पर इन्हें पुण्य सदन शर्मा एवं सुशीला देवी का पुत्र माना गया है। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा प्रयाग के निकट इनका जन्म हुआ था। जीवन में इन्होंने लम्बी यात्राएँ की थीं। इन यात्राओं ने भी सम्भवतः इनके मन पर समानता-सिद्धान्त का तर्क बिठाया होगा। डॉ. बदरीनारायण श्रीवास्तव का अनुमान है, "रामानन्द ने तीर्थों का भ्रमण करके ही अपने दृष्टिकोण को युगधर्म के अनुकूल बना लिया था।"[37] अनुमान है कि तीर्थाटन से लौटने पर गुरु-मठ में उनके गुरुभाइयों ने उनके साथ भोजन करने में आपत्ति की होगी। उनका अनुमान है कि अपनी तीर्थयात्रा में रामानन्द ने अवश्य ही खान-पान सम्बन्धी छुआछूत का कोई विचार न किया होगा। अपने शिष्यों का यह आग्रह देखकर गुरु राघवानन्द को एक नूतन सम्प्रदाय चलाने की आज्ञा दी। यह आज्ञा शिष्य के महत्त्व को तो सूचित करती ही है, उस गुरु के महत्त्व को भी सूचित करती है जो शिष्य की स्वाधीन चिन्ता का मूल्य समझता है। यह अनुमान असंगत न होना चाहिए कि रामानन्द में जो आकाशधर्मी गुरुत्व आया, जिसके नीचे सगुण-निर्गुण सभी मतवाद पनप सके, उसकी एक बड़ी प्रेरणा स्वयं उनके अपने गुरु का आकाशधर्मित्व है। कहते हैं कि मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे।[38]

दक्षिण भारत की विधि-निषेधपरक जटिल समाज-व्यवस्था के बीच रामानुजाचार्य ने कम उदारता नहीं दिखाई थी।[39] पर उत्तरी भारत के शैवों एवं सारी समाज-व्यवस्था तथा वैदिक मान्यताओं को लात मारने वाले अन्तिम बौद्धों को आत्मसात् करने के लिए अधिक उदार भक्ति की आवश्यकता थी। रामानन्द ने उसको और अधिक सर्वजन-सुलभ बनाया। रामानुज ने ब्राह्मण-श्रेष्ठता को सुरक्षित रखते हुए भी भक्ति का द्वार हजारों लोगों के लिए उन्मुक्त किया था। रामानन्द ने उस श्रेष्ठता को भी समाप्त कर दिया। हिन्दी साहित्य की भूमिका में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतीय मध्ययुगेरसाधना से रामानुज हरिवर दास की हरि भक्ति-प्रकाशिका (भक्तमाल की टीका) का लगभग 100 वर्ष पूर्व लिखा यह मत उद्धृत किया है—रामानन्द ने देखा कि भगवान के शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ गया, उसके लिए वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है, इसीलिए भगवद्भक्त को खान-पान के झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऋषियों के नाम पर गोत्र और परिवार बन सकते हैं तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता? इस प्रकार "सभी भाई-भाई हैं, सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं।"[40] रामानन्द ने इस आदर्श को लेकर जीवन में सभी वर्गों को दीक्षा दी।[41] उसका परिणाम भी सामने है, उत्तर भारत में रामानन्दी वैरागियों की संख्या सबसे अधिक है और उनके इष्ट देवता राम उत्तर भारत के सबसे अधिक प्रेरक देवता साक्षात् भगवान हैं। उनके महान और गत्वर व्यक्तित्व से अनुप्रेरित उत्तर भारत के दो श्रेष्ठतम साधक, भक्त, कवि एवं कल्याणकामी कबीर और तुलसी की विभूति से कौन परिचित नहीं है? एक उस निर्गुण-भक्तिभावधारा का प्रतीक और प्रतिनिधि है जिसे रामानन्द ने अपनी योग-साधना और भक्ति-साधना के समन्वय द्वारा नाथपन्थियों को आत्मसात् करने में प्रयुक्त किया था और दूसरा राम-सीता के उस सगुण आदर्श स्वरूप का पूजक है जिसे रामानुज के लक्ष्मीनारायण से हटकर राम-सीता के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया था। एक राम को दसरथ-सुत मानता है, दूसरा उनको 'आनमर्म' बताता है।

रामानन्द के जीवन का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध न होने पर भी ऐसा लगता है कि वे सदैव जिज्ञासु एवं प्रभाव-ग्रहण के प्रति अत्यधिक उदार रहे हैं। साथ ही हरि को भजने वाली बात मूल में सदैव विद्यमान रही। भक्ति को उन्होंने रामानुजाचार्य की भाँति मात्र उपासना तक ही नहीं प्रेम और भजन के वास्तविक अर्थों में प्रतिष्ठित करने में सहायता दी। योगमार्ग और ज्ञान का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया पर भक्ति का अंग मानकर ही उसे स्वीकारा और तभी वे शैवों-बौद्धों को भक्तिमार्ग के भीतर जीतकर ला सके थे। उनके सम्प्रदाय में प्रभाव-ग्रहणशीलता का जीवन्त तत्त्व सदैव विद्यमान रहा। आगे चलकर कृष्ण-भक्ति की मधुर उपासना भी राम-सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुई तथा आवश्यकता पड़ने पर एक प्रकार का सैनिक

रूप ग्रहण करने में भी उनके सम्प्रदाय को देर नहीं लगी। दुष्ट-दलन धनुर्धारी राम के भक्तों में इस स्वर का उभर आना बहुत आश्चर्यजनक नहीं है।

ऊपर हमने रामानन्द की दो प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है—निम्न वर्गों को भी दीक्षा देना तथा अपने सम्प्रदाय के अधिकृत देवता लक्ष्मी-नारायण के स्थान पर राम-सीता (जो स्थानीय रंगत के कारण अवध-काशी में अधिक शक्तिशाली रहे होंगे) की प्रतिष्ठा। डॉ. भण्डारकर ने उनकी एक तीसरी विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित किया है और वह है लोक-भाषाओं को बहुमान देना। यह उनकी और भक्तिमार्ग की जनवादिनी शक्ति और विशिष्टता की द्योतक है। रामानन्द ने वैकुण्ठ के स्थान पर साकेत को ही परमधाम माना है। यहाँ से यथार्थ का आदर्शीकरण एवं उदात्तीकरण प्राप्त होता है। यह प्रवृत्ति शायद मुस्लिम अत्याचारियों के प्रभाव के फलस्वरूप बलवती हो गयी थी। यह प्रतिक्रिया अत्यन्त स्वस्थ एवं आशावादिनी थी। यदि समाज केवल वैकुण्ठ की ओर प्रभावित होता, तब उसे हम सुविधा के साथ पलायन कह सकते थे, परन्तु अपने ही नगरों एवं तीर्थों को वैकुण्ठ ही नहीं परमधाम मानना गहरे आशावादी एवं मानसिक रूप से संघर्षरत मन की उपज है। रामानन्द की रचनाएँ अनेक कही जाती हैं पर उपलब्ध केवल दो—'वैष्णव-मताब्ज-भास्कर' तथा 'श्री रामार्चन पद्धति' हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी में कतिपय स्तुतिपरक पद भी मिले हैं।

वल्लभाचार्य

आचार्य वल्लभ के बारे में हमें अधिक प्रामाणिक विवरण प्राप्त होते हैं। एक स्वर से सभी विद्वानों ने इनका जन्म सं. 1535 वि. में और मृत्यु सं. 1587 वि. में मानी है।[42] इनके पिता का नाम लक्ष्मणा भट्ट तथा माता का नाम एल्लमागारु था। वे लोग तैलंग ब्राह्मण थे, जो उत्तर में बस गये थे। काशी में यथोचित शिक्षा-दीक्षा के पश्चात् तरुण वय में ही उन्होंने विजयनगर के राजा कृष्णदेव राय की सभा में मायावादियों तथा नास्तिकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और वैष्णवों को समर्थित किया। इसके पश्चात् ही मत-साम्य तथा प्रामाणिकता-प्राप्ति हेतु उन्होंने विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली। पर जैसे रामानन्द अपनी भक्ति-पद्धति आदि में अपने आचार्य रामानुज से ही नहीं बँधे, वैसे ही वल्लभ जैसे लोकनेता को किसी विशेष मतवाद के साथ बँधकर रहना पसन्द नहीं आया।[43] वल्लभ ने भी अपने जीवन में तीन यात्राओं में सारे भारत का भ्रमण किया। तीर्थयात्राओं का वास्तव में इन आचार्यों पर (उस युग की साधना और समाज पर भी) बड़ा प्रभाव पड़ा है। इनमें उन्हें अपने युग और देश का वास्तविक परिचय मिला होगा। ये यात्राएँ जहाँ एक ओर व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध होती हैं, वहीं दूसरी ओर मत-प्रचार एवं पारस्परिक सम्बोधि भी देती हैं। ऐसी ही एक तीर्थयात्रा में वल्लभ ने विजयनगर के

शास्त्रार्थ में वैष्णव-मतवाद का झण्डा ऊँचा किया था। इन्हीं यात्राओं में 84 स्थानों पर उन्होंने श्रीमद्भागवत का पारायण किया था, जहाँ पर महाप्रभु जी की बैठकें बनवा दी गयी हैं, इनमें 22 केवल ब्रज में हैं। इससे पता चलता है कि श्रीमद्भागवत पुराण को अधिकारी ग्रन्थ मानकर ये वैष्णवाचार्य भक्ति का प्रसार कर रहे थे तथा ब्रज-भूमि के लिए भी प्रयत्नशील थे।

संवत् 1556 में उन्होंने श्री नाथ जी के मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ कराया, जो 1556 वि. में ही समाप्त हुआ। यह मन्दिर आगे चलकर न केवल वल्लभ सम्प्रदाय का ही केन्द्र-पीठ बना, बल्कि अष्टछाप के गायक कवियों की सृजन-भूमि बनने का गौरव भी इसी ने प्राप्त किया। हिन्दी के भक्ति-साहित्य के निर्माण में इस मन्दिर का स्थान अक्षुण्ण रहेगा। ब्रजभूमि की पुनःप्रतिष्ठा में भी इस मन्दिर का प्रमुख हाथ है। वल्लभ ने कृष्ण-भक्ति एवं ब्रजभूमि को आदर दिया, उनका प्रभाव भी इस क्षेत्र में बहुत था। उनके इष्ट देवता श्रीनाथ जी का मन्दिर भी इसी क्षेत्र में था, परन्तु यह आश्चर्यजनक बात है कि वे स्वयं प्रयाग के पास अड़ैल ग्राम में जीवन भर रहे तथा मृत्यु के निकट काशी में संन्यास धारण कर रहने लगे।

वल्लभाचार्य जी ने विवाह किया था और उनके दो पुत्र भी थे। यह बात रामानन्दी सम्प्रदाय से नितान्त भिन्न है। रामानन्द का सम्प्रदाय वैरागियों का था तथा पुष्टिमार्ग गृहस्थों का। सम्भवतः इसके पीछे भी (रामानन्दी वैराग्यी प्रधानता) शैवसाधना को आत्मसात् करने का प्रयास था।

वल्लभ के चौरासी प्रसिद्ध शिष्य हुए जिनके ऊपर 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' लिखी गयी है। इन्हीं में सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास तथा कृष्णदास अष्टछाप के चार प्रमुख कवि भी हैं। पुष्टि सम्प्रदाय शिष्य-मण्डली में श्री वल्लभाचार्य, 'आचार्य जी महाप्रभु' तथा उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी 'गोसाईं जी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यहीं एक आश्चर्यजनक नाम-साम्य गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय से प्राप्त होता है। गौड़ीय वैष्णवों में भी चैतन्य को महाप्रभु कहा गया है और उनके षट्गोस्वामी शिष्यों के रूप में प्रसिद्ध ही हैं। यहाँ पर सम्भवतः वल्लभ के अनुयायी चैतन्य से प्रभावित हुए थे। यह भी हो सकता है कि गुरु-पूजा पर जोर देने वाली उस साधना के भीतर ही गुरु को इतना प्रमुख स्थान मिल गया था। उनके पुत्र गो. विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय के व्यवस्थित प्रचार एवं संगठन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसके अतिरिक्त मधुर-उपासना की भी आधिकारिक स्वीकृति उन्होंने दी थी। पुष्टि-सम्प्रदाय की नींव वल्लभ ने रखी पर भवन-निर्माण विट्ठलनाथ ने किया था।

उपासना के क्षेत्र में वल्लभाचार्य की मुख्य देन बालकृष्ण-पूजा का प्रचार है। रामानुज की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए वल्लभाचार्य ने भी अपनी भक्ति में प्रपत्ति को विशेष स्थान दिया। कृष्ण के साथ राधा की उपासना को भी उन्होंने स्वीकार किया। लीला को वल्लभाचार्य ने बहुत ऊँचा स्थान दिया।

दर्शन के क्षेत्र में वे शुद्धाद्वैत के प्रतिष्ठाता थे पर दर्शन-विवेचन तो उपरले स्तर पर ही लोगों को प्रभावित करता था, वल्लभाचार्य ने जिस पुष्टिमार्ग या सेवा-मार्ग का विचार आचार के क्षेत्र में किया, वह उनके दर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। भक्ति और उपासना के जिस विधि-विधान को उन्होंने तथा गो. विट्ठलनाथ ने उपस्थित किया, वह बड़े-बड़े नरपतियों के लिए भी आकांक्षा की वस्तु था मानो सारे मुस्लिम शासन के वैभव को इस परब्रह्म की पूजा-पद्धति द्वारा चुनौती दी गयी थी। इस सूक्ष्म एवं जटिल विधि-विधान के पीछे एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी लगी थी कि इसके माध्यम से भक्त के अहंकार को दूर रखा जाये क्योंकि विशद पूजन-विधान निभाना लगभग असम्भव है और साधक को अपनी सारी शक्ति इसी में लगानी पड़ती होगी। यों तो प्रभु के अनुग्रह को भक्ति के सभी सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है, पर पुष्टिमार्ग में इसे सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। पुष्टिमार्ग शब्द ही जिस 'पोषण' शब्द पर आधारित है, उसका तात्पर्य अनुग्रह है।[44] वल्लभ ने स्पष्ट कहा है—"पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः"।[45] उनके अनुसार कालादि के प्रभाव को रोकने वाली श्रीकृष्ण की कृपा ही पुष्टि है।[46]

सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि वल्लभ की लिखी हुई 84 पुस्तकें हैं। उनमें से ऑफ्रेख्ट के 'कैटेलॉग्स कैटेलेगोरम' में निम्नलिखित नाम दिये गये हैं—अन्तःकरण प्रबोध और टीका, आचार्य कारिका, आनन्दाधिकरण, आर्या, एकान्त रहस्य, कृष्णश्रय स्तोत्र, चतुश्लोक भागवत टीका, जलभेद, जैमिनी-सूत्र भाष्य-मीमांसा, तत्त्वदीप निबन्ध (तत्त्वार्थदीप और टीका) त्रिविध लीला नामावली, नवरत्न और टीका, निरोध लक्षण और विवृत्ति, पत्रावलम्बन, पद्य-परित्याग परिवृढ़ाष्टक, पुरुषोत्तम सहस्रनाम, पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा भेद और टीका, पूर्व मीमांसा कारिका, प्रेमामृत और टीका, प्रौढ़चरितनाम, बाल-चरितनाम, बाल-बोध, ब्रह्मसूत्राणु भाष्य, भक्तिवर्धिनी और टीका, भक्ति-सिद्धान्त, भगवद्गीता-भाष्य, भागवत तत्त्वदीप और टीका, सुबोधिनी टीका, भागवत पुराण एकादश स्कन्ध, अर्थ-निरूपण कारिका, भागवत-सार समुच्चय, मंगलवाद, मथुरा माहात्म्य, मधुराष्टक, यमुनाष्टक, राजलीलानाम, विवेक धैर्याश्रय, वेद-स्तुति कारिका, श्रद्धा प्रकरण, श्रुतिसार संन्यास निर्णय और टीका, सर्वोत्तम स्तोत्र टिप्पण और टीका, साक्षात् पुरुषोत्तम-वाक्य, सिद्धान्त-मुक्तावली, सिद्धान्त-रहस्य, सेवा-फल स्तोत्र और टीका, स्वामिन्याष्टक, भागवत-पुराण दशम स्कन्ध-अनुक्रमणिका भागवत-पुराण पंचम स्कन्ध-टीका।[47]

इनमें से मधुराष्टक और स्वामिन्याष्टक तो निश्चित रूप से वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ की रचनाएँ हैं। वल्लभ के ग्रन्थों की इस राशि में भागवत की सुबोधिनी टीका, ब्रह्म-सूत्रों का अणुभाष्य, पूर्व-मीमांसा कारिका तत्त्वदीप निबन्ध और उसकी टीका अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके सिद्धान्त-विवेचक 16 प्रकीर्ण ग्रन्थों ने भी सम्प्रदाय के सिद्धान्त और व्यवहार पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। सुबोधिनी टीका एवं

अणुभाष्य की अनेक टीकाएँ और भाष्य सम्प्रदाय के परवर्ती विद्वानों ने लिखे हैं। तत्त्वार्थदीप में तीन विभाग हैं जिनमें से प्रथम शास्त्रार्थ-प्रकरण में दार्शनिक प्रकृति की 105 कारिकाएँ हैं। द्वितीय विभाग सर्वनिर्णय-प्रकरण में कर्तव्य एवं जीवन के लक्ष्यों पर विचार हुआ है। भागवतार्थ-प्रकरण नामक तीसरे अध्याय में भागवत के 12 स्कन्धों का संक्षेप दिया हुआ है, इस तीसरे खण्ड पर आगे चलकर पुरुषोत्तम जी महाराजा और कल्याणराज ने टीकाएँ लिखी हैं। छोटे ग्रन्थों में 'संन्यास-निर्णय' में कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के तीन प्रकार के संन्यासों का विवेचन 22 श्लोकों में किया गया है। वल्लभाचार्य का सेवाफल 8 श्लोकों की एक छोटी-सी रचना है जिसमें ईश्वर की पूजा के अवरोधों एवं प्राप्तव्यों की चर्चा की गयी है। भक्ति-वर्धिनी 11 श्लोकों की रचना है। यमुनाष्टक यमुना की स्तुति में 9 श्लोकों का संग्रह है। बाल-बोध के 19 श्लोकों में वल्लभ ने बताया है कि संसार में काम्य वस्तुएँ दो हैं—दुख का अभाव और आनन्द। इन्हीं को मोक्ष और काम कहते हैं। उनके अनुसार विष्णु की कृपा से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। सिद्धान्त-मुक्तावली नामक ग्रन्थ के 21 छन्दों में भक्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने बताया है कि व्यक्ति को अपना सब कुछ भगवान को समर्पित कर देना चाहिए। 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेद' भी छोटा-सा ग्रन्थ है, जिसमें 25 श्लोक हैं। इसमें पुष्टि-प्रवाह और मर्यादा-मार्गों का संकेत करने के अतिरिक्त उन्होंने बताया है कि अहंकार, बुरे कर्म, कुसंगति, विशेष स्थान अथवा काल में जन्म लेना—यह पाँच स्वाभाविक बुराइयाँ होती हैं। जब सब कुछ भगवान को अर्पित कर दिया जाता है, तब ये बुराइयाँ दूर होती हैं। नवरत्न के 9 श्लोकों में वैराग्य एवं सर्वस्व-समर्पण की भावना पर बल दिया गया है। अन्तःकरण-प्रबोध 10 छन्दों की पुस्तिका है। इसमें स्वपरीक्षण के साथ-साथ क्षमा प्राप्त करने के लिए भगवान की प्रार्थना पर जोर दिया गया है और यह भी बताया है कि व्यक्ति को अपने मन में यह धारणा पुष्ट करनी चाहिए कि प्रत्येक वस्तु भगवान की है।

'विवेक धैर्याश्रय' में ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखने की बात कही गयी है। इस ग्रन्थ के अनुसार वह प्रत्येक वस्तु जानता है तथा सदैव हमारे कल्याण की चिन्ता करता है, इसलिए प्रत्येक वस्तु को भगवान के आसरे पर छोड़ देना चाहिए। इस ग्रन्थ में 17 श्लोक हैं। 'कृष्णाश्रय' 11 छन्दों की रचना है। इसमें भी प्रत्येक बात में कृष्ण पर ही आश्रित रहने की बात कही गयी है। इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक एवं सामाजिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि इसमें तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक वातावरण का सजीव चित्रण हुआ है। चतुश्लोकी में भी भगवान पर आश्वस्त भाव रखने की बात दुहराई गयी है। 'भक्तिवर्धिनी' के 11 श्लोकों में वल्लभ ने बतलाया है कि ईश्वर के प्रेम का बीज हम सबके मन के भीतर होता है परन्तु अनेक कारणों से वह अवरुद्ध रहता है। जब इसका अंकुरण होता है, तब साधक प्रत्येक से प्रेम करने लगता है। इस ईश्वरीय प्रेम की सान्द्र अवस्थाओं में सांसारिक

वस्तुओं के प्रति लगाव असम्भव हो जाता है तथा फिर इसे नष्ट भी नहीं किया जा सकता है। पंच-पाद्य में केवल 5 श्लोक हैं तथा जलभेद में 20। जलभेद में साधकों के विभिन्न वर्गों एवं भक्ति के विभिन्न मार्गों की चर्चा की गयी है। वल्लभ के ये 16 ग्रन्थ ही संग्रहित होकर षोडश ग्रन्थ कहलाते हैं। इनमें से प्रथम तीन संन्यास निर्णय, जलभेद एवं भक्तिवर्धिनी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनके ऊपर लिखी गयी टीकाओं, वृत्तियों आदि की संख्या काफी बड़ी है।

चैतन्य

भक्ति के कर्मकाण्ड को वल्लभाचार्य ने सुदृढ़ किया एवं उसके संवेग (इमोशन) पक्ष को चैतन्य ने। उनमें अद्‌भुत पाण्डित्य था और उसी आधार पर जो भक्ति विकसित हुई है, उसमें दार्शनिक चेतना तो थी ही साथ ही और सहजिया वैष्णवों की प्रेम-साधना भी ग्रहण कर ली गयी। श्री कृष्ण चैतन्य उत्तर-मध्ययुग के सबसे प्रभावशाली व्यक्तियों में प्रतीत होते हैं। लगता है कि उत्तर भारत में बुद्धदेव के बाद चैतन्य से अधिक मोहक और प्रभावशाली व्यक्तित्व दूसरा नहीं हुआ। तुलसीदास की ख्याति दूसरे ढंग की है और वह उनके साहित्य के माध्यम से बढ़ी है, जबकि चैतन्य की सारी महिमा उनके प्रत्यक्ष व्यक्तित्व में निहित है। जीवन में उन्होंने कुल 8 श्लोक लिखे हैं परन्तु उनके व्यक्तित्व की गत्वरता इतनी मोहक थी कि जो भी उसके सम्पर्क में आया, उनका होकर रह गया। उनकी भक्ति-पद्धति का कितना गहरा असर अन्य भक्ति-सम्प्रदायों पर पड़ा है, इसकी मीमांसा हम आगे करेंगे। यहाँ पर इस मोहक व्यक्तित्व के बारे में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि भक्तिमार्ग में दीक्षित हो जाने के बाद शास्त्रार्थ में उनकी रुचि समाप्त हो गयी, उपदेशक बनने की उन्हें याद नहीं रही तथा जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास की कृतियों, ब्रह्म-संहिता तथा लीलाशुक बिल्वमंगल के 'कृष्ण कर्णामृत' को छोड़कर अपने भावावेश में कुछ पढ़ने का फिर कभी अवसर नहीं मिला। राधाकृष्ण की लीलाओं का स्मरण और भावन, कृष्ण-संकीर्तन एवं हरि-बोल का निरन्तर उच्चारण बस यही उनके नैमित्तक कर्म, धर्म, प्रचार या शास्त्रार्थ थे। पर इनके पीछे संवेग की सान्द्रता, आत्मा की गहनता एवं गूढ़तम पुकार थी जिसने उन्हें इतना मोहक और प्रभावशाली बना दिया। उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम तक उनका नाम और प्रभाव विद्युत-वेग से प्रसरित हो गया, उनके जीवनकाल में ही। यह सामान्य उपलब्धि न थी। प्रसिद्धि रामानन्द एवं वल्लभ को भी प्राप्त हुई थी पर वह अपने शिष्यों-भक्तों तक सीमित थी। उसमें पावसनद का वह प्रवाह न था जो अपने साथ बहा ले जाये। चैतन्य के चरित्र में पर्वत-प्रवाहिनी का वेग था और पावसनद की गहराई एवं सर्वातिशामी प्रसार भी था।

कृष्ण चैतन्य का बाल नाम विश्वम्भर था। नवद्वीप के विद्वान पण्डित जगन्नाथ मिश्र के घर उनका जन्म सं. 1542 (1485 ई.) में हुआ था। बालपन के उद्दण्ड विश्वम्भर शीघ्र ही तर्क-विचक्षण पण्डित बन गये और फिर गया करते समय वे उन्हीं ईश्वरपुरी के सम्पर्क में आये, जिनका एक बार वे मजाक उड़ा चुके थे। ईश्वरपुरी वृन्दावन के विरक्त विद्वान भक्त माधवेन्द्र पुरी के शिष्य थे। बहुधा चैतन्य के वट-कल्प व्यक्तित्व के सम्मुख लोग माधवेन्द्रपुरी को उसी प्रकार अनदेखा छोड़ जाते हैं, जैसे रामानन्द के समक्ष राघवानन्द को उपेक्षित कर दिया जाता है। वृन्दावन के पुनः उद्धार[48] का वास्तविक श्रेय माधवेन्द्रपुरी को ही है। माधवेन्द्रपुरी बंगाली थे तथा बलदेव उपाध्याय ने इनका जन्म 1457 वि. (1400 ई.) में माना है। 'चैतन्य चरितामृत' में एक घटना का उल्लेख है कि उन्होंने गोपाल की मूर्ति का पूजन करने के लिए बंगाल से दो ब्राह्मण बुलवाए थे। कहा जाता है कि गोवर्धन के आन्यौर ग्राम में श्रीनाथ जी की मूर्ति की सेवा-पूजा बंगाली वैष्णव माधवानन्द करते थे। जब वल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी का विशाल मन्दिर बनवाकर उसमें कीर्तन-पूजन आदि की व्यवस्था की, तब भी सेवा का भार बंगाली वैष्णवों पर ही रहा। इनमें से एक माधवेन्द्रपुरी थे। बाद को कृष्णदास अधिकारी ने काफी कूटनीतिक ढंग पर इन बंगालियों को निकाल बाहर किया। ('चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार इन बंगालियों की पूजा-पद्धति पुष्टि-सम्प्रदाय के अनुकूल नहीं थी) ये लोग साथ में एक देवी की भी उपासना करते थे।[49] अतः वल्लभ या अन्य किसी वैष्णव आचार्य के आगमन के पूर्व बंगाल का वैष्णव मत (जिसमें सहजिया साधना के अवशेष भी विद्यमान थे) ब्रज-प्रदेश में पहुँच चुका था और इसने आगे के वैष्णव मतों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रीति से प्रभावित अवश्य किया होगा। बंगाल और ब्रज का सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने वाले ज्ञात महापुरुष माधवेन्द्रपुरी ही प्रतीत होते हैं जो ब्रज में रहकर वहाँ के तीर्थों का उद्धार करने में लगे थे। इन्हीं माधवेन्द्रपुरी के शिष्य ईश्वरपुरी से चैतन्य को वैष्णव भक्ति की दीक्षा मिली। सम्भवतः कृष्ण चैतन्य में वृन्दावन के तीर्थों के उद्धार के प्रति जो मिशनरी उत्साह प्राप्त होता है—जिसके वशीभूत हो उन्होंने लोकनाथ गोस्वामी और भूगर्भ आचार्य को उनकी वृन्दावन इच्छा के विरुद्ध भेजा था—उसकी अप्रत्यक्ष प्रेरणा स्वयं माधवेन्द्रपुरी द्वारा ही प्राप्त हुई थी।

वैष्णव दीक्षा (सं. 1564) मिलने के उपरान्त उनका समस्त समय वैष्णव भजन-कीर्तन में व्यतीत होने लगा। भजनों-कीर्तनों की परम्परा पहले भी थी, पर चैतन्य ने जिस आवेग को उसमें भर दिया, उसकी समता भागवत में वर्णित मात्र कृष्ण के वेणु-गायन से ही की जा सकती है—

निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं ब्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसा।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥ 10 /29 /4

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥ 10 ।29 ।8

इसी प्रकार चैतन्य के इस संकीर्तन की सम्पृक्ति जिसे प्राप्त हो गयी, वही इसकी माधुरी में आकण्ठ मग्न हो गया। नवद्वीप में श्रीवास के आँगन में होने वाले इस कीर्तन की ख्याति धीरे-धीरे बढ़ चली। फिर तो इसमें शान्तिपुर के प्रख्यात पण्डित अद्वैताचार्य तथा संन्यासी नित्यानन्द ही सम्मिलित नहीं हुए, मुसलमान भक्त हरिदास भी आ जुड़े। चैतन्य-सम्प्रदाय के विकास में आगे अद्वैत एवं नित्यानन्द (निताई) ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। नित्यानन्द की अधीक्षता में सहस्रों पथभ्रष्ट बौद्ध, नाथपन्थी एवं शाक्त इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत आ गये।

चैतन्य का कीर्तन धीरे-धीरे नगर-कीर्तन का स्वरूप धारण कर लेता है। चैतन्य के बढ़ते हुए अनुयायियों का यह सूचक है कि सहस्रों की संख्या में निमाई (चैतन्य) के नेतृत्व में लोग सड़कों पर नृत्य-गान एवं कीर्तन करते-करते विह्वल होने लगे। चैतन्य का भी आवेश बढ़ता जा रहा था और सं. 1566 में काटवा ग्राम में ईश्वरपुरी के गुरुभाई केशव भारती से संन्यास-दीक्षा लेकर वे घर, माँ एवं तरुणी पत्नी का रहा-सहा मोह तोड़कर निकल पड़े। यहाँ फिर सिद्धार्थ की याद हो आती है। अन्तर इतना है कि सिद्धार्थ जग के दुख से पीड़ित होकर घर से निकले थे एवं चैतन्य ब्रह्मानन्द में डूबकर घर त्यागते हैं।

संन्यास लेने के पश्चात् चैतन्य जगन्नाथपुरी के लिए प्रस्थान करते हैं। वहाँ पर वेदान्ती पण्डित, तर्कशास्त्री तथा न्याय के प्रतिष्ठाता वासुदेव सार्वभौम इनसे प्रभावित होते हैं। अद्वैताचार्य के बाद सार्वभौम की वैष्णव परिणति चैतन्य और उनकी भक्ति को विद्वानों में भी गहरी प्रतिष्ठा देती है। 'चैतन्य चन्द्रोदय' नाटक में कवि कर्णपूर ने सार्वभौम वासुदेव के कुछ अंश उस समय के उद्धृत किये हैं जबकि वे चैतन्य की शरण में आते हैं। उससे प्रतीत होता है कि चैतन्य को उनके समय तक अवतार माना जाने लगा था। अपने जीवन में ही इतने जल्दी अवतार की प्रसिद्धि चैतन्य को छोड़कर शायद ही अन्य किसी को भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में मिली हो।

पुरी में कुछ दिन रहने के उपरान्त चैतन्य दक्षिण की तीर्थयात्रा पर निकलते हैं। लगभग दो वर्ष तक (सं. 1567-68) वे इन यात्राओं में रहे। इसी दक्षिण यात्रा में उनकी भेंट सुप्रसिद्ध रामानन्द राय से हुई थी जो स्वयं एक उच्च पदस्थ शासक थे। रामानन्द राय से वार्ता करने के बाद सम्भवतः चैतन्य की भक्ति-पद्धति का दार्शनिक-धार्मिक स्वरूप भी कुछ स्पष्ट हुआ। दक्षिण से ही चैतन्य ब्रह्म संहिता लाये थे जो आगे चलकर गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ बना। रूप गोस्वामी ने अपने भक्तिशास्त्र के ग्रन्थों में इसका उपयोग प्रमाण-ग्रन्थ के रूप में किया है। इसी यात्रा में चैतन्य दक्षिण भारत की भक्ति के निकट सम्पर्क में भी

आये होंगे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात इस यात्रा की यह है कि उन्होंने वैष्णवों के साथ ही शैव तीर्थ का भी भक्तिभावपूर्वक भ्रमण किया। यहाँ तक कि शंकराचार्य के श्रृंगेरी मठ में भी वे गये। लौटते-लौटते चैतन्य इतने जनप्रिय हो चुके थे कि उड़ीसा के राजा प्रताप रुद्र देव भी इनके प्रभाव में आ गये। इसने चैतन्य-सम्प्रदाय को आगे बढ़ने में और सहायता दी।

चैतन्य के मन में प्रारम्भ में वृन्दावन की यात्रा करने की इच्छा थी पर मार्ग में बराबर अड़चनें आती रहीं। पुरी-यात्रा के तीन वर्ष पश्चात् वे वृन्दावन के लिए निकले। इसी यात्रा के रास्ते बंगाल के मुसलमान शासक के दो उच्च पदाधिकारी (जो ब्राह्मण होते हुए भी अन्त्यजों के समान थे, केनेडी ने तो उन्हें मुसलमान ही लिखा है)[50] चैतन्य के शिष्य हुए जिनका नामकरण रूप और सनातन किया गया। आगे चलकर इन दोनों भाइयों ने सम्प्रदाय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया। वे लोग सम्प्रदाय के मस्तिष्क बन सके। चैतन्य मत को दार्शनिक, धार्मिक एवं रस-शास्त्रीय आधार उन्होंने ही प्रदान किया। वृन्दावन के प्रसिद्ध 6 गोस्वामियों में ये दोनों बन्धु अन्यतम सिद्ध हुए।

सं. 1671 में वृन्दावन होकर लौटने पर प्रयाग में उनकी भेंट वल्लभाचार्य से कुम्भ के अवसर पर हुई तथा बनारस पहुँचने पर शांकर वेदान्त के प्रख्यात विद्वान प्रकाशानन्द सरस्वती उनके मोहक व्यक्तित्व से अप्रभावित न रह सके और ज्ञान की सारी गरिमा को छोड़कर चैतन्य के हो गये। चैतन्य और उनके मत की यह उल्लेखनीय विजय थी, जिसने उन्हें बौद्धिकों के बीच प्रतिष्ठा दी। यद्यपि चैतन्य ने कोई भाष्य नहीं लिखा था, किसी दार्शनिक मतवाद का प्रसार नहीं किया था, सम्भवतः तब तक चतुःसम्प्रदायों से उनका सम्बन्ध भी नहीं जुड़ा था; परन्तु अद्वैताचार्य नित्यानन्द, वासुदेव सार्वभौम, रामानन्द राय एवं प्रकाशानन्द सरस्वती जैसे विद्वानों का आसपास उपलब्ध समर्थन चैतन्यमत को (बौद्धिकों के बीच) प्रतिष्ठा देने में अत्यन्त सफल रहा।

बनारस से चैतन्य पुनः पुरी पहुँचे तथा जीवन के शेष 17 या 18 वर्ष उन्होंने अपने प्रेमोन्माद में वहीं बिताये। उनका आवेश और उन्माद बढ़ता ही गया। वे भौतिक जीवन को नितान्त भुलाकर दिन-रात विक्षिप्तों की भाँति केवल राधा-कृष्ण-लीलाओं में ही व्यस्त रहने लगे। अनुमान है कि ऐसी ही विक्षिप्तावस्था में समुद्र के नील जल पर शुभ्र चन्द्र की ज्योत्स्ना को उन्होंने यमुनाजल पर कृष्ण की क्रीड़ा समझकर उसी में डूबकर सं. 1591 (जुलाई 1534) में अपने प्राण दे दिये।

चैतन्य ने जीवन में महान कार्य किया। प्रेमाभक्ति के आवेश को उन्होंने जन-साधारण तक पहुँचा दिया। उनके मुख्य सहायक नित्यानन्द ने इस परिपाटी को और बढ़ा दिया। रामानन्द और वल्लभ के समान ही उनके भी महान शिष्य हुए। रूप, सनातन, जीव, गोपाल भट्ट, कृष्णदास एवं रघुनाथ भट्ट—ये षट्गोस्वामी किसी

भी गुरु या सम्प्रदाय के लिए ईर्ष्या के विषय हो सकते हैं। बिना इनकी मान्यता के बंगाल तक का कोई वैष्णव ग्रन्थ चैतन्य मत में प्रामाणिक नहीं माना जाता था।

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि चैतन्य को शीघ्र ही अवतार माना जाने लगा था। आगे उनकी प्रतिमा के पूजन की भी व्यवस्था हुई।

रामानन्द, वल्लभ और चैतन्य की इस वैष्णवाचार्य बृहत्त्रयी के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्ति भी साधना एवं साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हुए हैं। गोस्वामी हित हरिवंश, स्वामी हरिदास, दो ऐसे ही व्यक्तित्व थे। बृहत्त्रयी के आचार्य स्वयं कवि न थे—उनमें से एक ने केवल शिष्यों को दृष्टि दी (रामानन्द) और दूसरे ने सम्प्रदाय का विधिवत निरूपण और स्थापन किया (वल्लभ) और तीसरे ने अपने व्यक्तित्व के पारस-संस्पर्श से जिस लोहे (जनता) को सोना बना दिया, उसने स्वयं सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कर दी (चैतन्य)। साहित्य एवं कला की दृष्टि से इनकी अपेक्षा इनके शिष्यों का महत्त्व अधिक है (कबीर एवं रैदास, अष्टछाप के कवि तथा वृन्दावन के षट्गोस्वामी ऐसे ही महत्त्वपूर्ण शिष्य हैं) परन्तु हित हरिवंश एवं हरिदास, ऐसा लगता है, आचार्य एवं शिष्य के समन्वित रूप थे। वे सम्प्रदाय-प्रतिष्ठापक भी हैं और स्वयं उच्चकोटि के कवि भी; बल्कि यह कहना अधिक समीचीन लगता है कि वे चैतन्य एवं अष्टछाप, दोनों के मिले-जुले रूप हैं। वे चैतन्य की भाँति अपने व्यक्तित्व से भी प्रभावित करते हैं तथा अपने साहित्य एवं कला से भी। उनमें चैतन्य जैसी तन्मयता है एवं सूरदास जैसा काव्य-संवेग भी। कहते हैं कि हरिराम व्यास ओरछे में एक वैष्णव साधु के मुख से हित हरिवंश का एक पद सुनकर वृन्दावन की ओर उन्मुख हो गये थे।[51] स्वामी हरिदास तो अपने युग के श्रेष्ठतम संगीतज्ञ भी थे। प्रसिद्ध है कि अकबर भी छिपकर उनका गान सुनने आया था। इन लोगों ने चैतन्य की ही भाँति अपना कोई साम्प्रदायिक भाष्य भी नहीं लिखा। नीचे हम उनके जीवन और कार्यों की संक्षिप्त रूपरेखा उपस्थित कर रहे हैं।

स्वामी हरिदास

आपसी साम्प्रदायिक विद्वेष के फलस्वरूप वृन्दावन के भक्तों, आचार्यों आदि का ऐतिहासिक स्वरूप निश्चित करना बहुत कठिन हो गया है। जन्म संवत्, जन्मस्थान, गुरु-निर्णय, सम्प्रदाय सम्बन्ध आदि को लेकर स्वामी हरिदास के सम्बन्ध में काफी वितण्डावाद खड़ा किया गया है, परन्तु इधर जो अनुसन्धान हुए हैं, उनके आधार पर स्वामी हरिदास का जन्म संवत् 1537 माना जा सकता है।[52] आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने उनका कविता-काल संवत् 1600 से 1617 तक माना है।[53] यह समय-निर्धारण उपर्युक्त जन्मतिथि मानने पर अनुचित नहीं प्रतीत होता। स्वामी हरिदास जी के पिता का नाम आसधीर था। अलीगढ़ जिले के हरिदासपुर ग्राम में उनका जन्म हुआ

था। शैशव से ही उनके साथ भी चमत्कारपूर्ण घटनाएँ श्रद्धालु भक्तों ने जोड़ दी हैं, उनकी चर्चा यहाँ पर प्रासंगिक न होगी।

यह बात काफी विवादास्पद है कि उनका विवाह हुआ था या नहीं, परन्तु यदि हुआ भी था तो रमणी की रूपराशि उन्हें लुभा न सकी और कहते हैं कि राधाष्टमी के दिन अपने पिता आसधीर जी से युगल-मन्त्र की दीक्षा लेकर विरक्त होकर ये घर से चले आये। सम्भवतः कुछ दिन इधर-उधर घूमते-घामते एवं तीर्थाटन करते रहे और संवत् 1562 में वे वृन्दावन आ गये थे। इस प्रकार हरिदास जी वृन्दावन को अपना केन्द्र बनाने वाले महात्माओं में प्रथम हैं। चैतन्य महाप्रभु वृन्दावन संवत् 1571 में पहुँचे थे (अपने दो शिष्यों को वे कुछ पहले ही भेज चुके थे) तथा हित हरिवंश जी सं. 1591 में वृन्दावन आये थे। स्वामी हरिदास जी के उपास्य बाँके बिहारी जी का प्राकट्य सं. 1567 में हुआ था। हित हरिवंश जी के वृन्दावन आ जाने पर इन दोनों अपूर्व साधकों का घनिष्ठ परिचय हो गया था। उस समय के भक्तों (यथा हरिराम व्यास आदि ने इन दोनों रसिकों का नाम बड़े आदर से और कभी-कभी साथ-साथ लिया है।)[54] हित हरिवंश जी को अपनी उपासना-पद्धति के निर्माण में स्वामी हरिदास जी से प्रेरणा अवश्य प्राप्त हुई होगी।

स्वामी हरिदास जी अपने युग के श्रेष्ठतम संगीतकार थे। तानसेन एवं बैजू बावरा उनके शिष्य कहे जाते हैं। यह भी प्रवाद है कि स्वयं अकबर उनका संगीत सुनने के लिए उपस्थित हुआ था। संगीत एक ऐसी कला है जो अपनी नितान्त सूक्ष्मता एवं अशरीरीपन के कारण मनुष्य को रहस्यवादी एवं आध्यात्मिक बना देती है। स्वामी हरिदास की रसिकता को अध्यात्म के ऊँचे स्तर तक उड़ाने में उनकी संगीतकला का कितना बड़ा हाथ रहा होगा, यह सहज अनुमान का विषय है, बल्कि कहना चाहिए कि समस्त कृष्ण-भक्ति के सम्प्रदायों में संगीत की साधना ने लौकिक को अलौकिक के स्तर तक उठाने में सहायता दी होगी। यही स्थिति सूफ़ी सम्प्रदायों के बारे में भी कही जा सकती है।

सबसे बड़ा विवाद स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय को लेकर है। यद्यपि ग्राउज ने अपने 'मथुरा मेमॉयर्स' में उन्हें बहुत पहले ही एक पृथक् सम्प्रदाय वाला माना था।[55] सन् 1942 में होने वाले निधुवन के झगड़े के फलस्वरूप स्वामी हरिदास की टट्टी-संस्थान वाली परम्परा ने अपना सम्बन्ध निम्बार्क सम्प्रदाय से जोड़ लिया। उसी काल के किशोरदास के 'निज मत सिद्धान्त' तथा सहचरिशरण द्वारा दी गयी गुरु-परम्परा के द्वारा इस मत का समर्थन किया गया है। परिणामस्वरूप श्री बलदेव उपाध्याय,[56] डॉ. हरवंशलाल शर्मा,[57] परशुराम चतुर्वेदी,[58] डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित,[59] प्रभृति लोगों ने उन्हें निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत मान लिया। परन्तु वास्तव में दोनों सम्प्रदायों में इष्ट, मन्त्र, आचार का इतना बड़ा अन्तर है कि उन्हें एक मानना उचित न होगा। इसके अतिरिक्त हरिदासी सम्प्रदाय के एक कवि भगवत् रसिक ने

तो निम्बार्कियों के द्वैताद्वैत दर्शन का भी प्रत्याख्यान कर दिया है—

नाहीं द्वैताद्वैत हरि, नाहिं विशिष्टाद्वैत।
बँधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छाद्वैत।[60]

इस प्रकार उनका एक स्वतन्त्र मत प्रतीत होता है। अपनी उपासना में उन्होंने एकदम निराला ढंग अपनाया था। लोक-वेद की सभी रीतियों का परित्याग कर स्वामी हरिदास ने अपनी साधना-पद्धति आरम्भ की थी। राधावल्लभीय भक्त ध्रुवदास ने उनकी इस विशेषता की ओर इंगित किया है।

रसिक अनन्य हरिदास जू, गायौ नित्य बिहार।
सेवा हू में दूर किय विधि-निषेध जंजार।[61]

इधर चतुःसम्प्रदायों में किसी से अपना सम्बन्ध जोड़ने के चक्कर में मगन बिहारी लाल गोस्वामी ने 'हरिदास-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में अपने निबन्ध 'श्री हरिदास जी का विष्णुस्वामी सम्प्रदाय' (पृ. 109-18) में उन्हें विष्णुस्वामी सम्प्रदायान्तर्गत सिद्ध करना चाहा है, परन्तु यह तो और भी भ्रमात्मक है। इस सम्बन्ध में डॉ. दीनदयालु गुप्त का मत सर्वथा उचित प्रतीत होता है। उनके अनुसार यह सम्प्रदाय भी भक्ति का एक साधन-मार्ग है और अपने आरम्भिक काल में वेदान्त के किसी बाद अथवा किसी अन्य दार्शनिक सिद्धान्त का प्रचारक मत नहीं था।[62] डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने भी इसे पृथक् सम्प्रदाय ही माना है।[63]

स्वामी हरिदास की रचनाएँ अधिक नहीं हैं। वे कवि से बड़े संगीतज्ञ थे। पं. रामचन्द्र शुक्ल जी ने कहा है, "उनके पद कठिन राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं, पढ़ने में कुछ ऊबड़-खाबड़ लगते हैं।"[64] इनका 'संग्रह' केलिमाल नाम से प्रकाशित है। सम्प्रदाय के भीतर इसकी अत्यधिक प्रतिष्ठा है।

हरिदास जी की मृत्यु के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं है। अनुमान है कि संवत् 1635 के आसपास इनकी मृत्यु हुई होगी।[65] इधर वृन्दावन से प्रकाशित होने वाले 'श्री सर्वेश्वर' नामक पत्र में श्री विश्वेश्वर शरण जी ने स्वामी हरिदास पर एक लेखमाला लिखी है, जिसमें जन्म-संवत्, मृत्यु-संवत्, पिता, गुरु, सम्प्रदाय, कुल आदि के बारे में विचार किया गया है। उनके अनुसार 'सिद्धान्त पक्ष' में श्री स्वामी जी महाराज श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के थे। वे आजन्म ब्रह्मचारी थे; उनका जन्म वि.सं. 1537 भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को और निकुंज-प्रवेश 1632 में हुआ था; वे सनाढ्य कुल के थे; उनका जन्म वृन्दावन के समीप ही राजपुर में हुआ था; उनके गुरुदेव श्री स्वामी आसधीर देव जी थे; वस्तुतः वे उनके पिता नहीं थे—पिता तो सनाढ्य कुल-भूषण श्री गंगाधर जी थे।[66] इनमें से जन्म-मृत्यु-संवतों से हमारा कोई विरोध नहीं है तथा हम उन्हें निम्बार्क का अनुयायी नहीं मानते। शेष प्रश्न हमारे लिए अप्रासंगिक हैं।

परिचय-सम्बन्धी इन प्रसंगों के विवाद में हम यहाँ नहीं पड़ना चाहते और इससे

हमारे मन्तव्यों में भी कोई अन्तर नहीं आता। वे विक्रम की 16वीं शती के अन्तिम हिस्से एवं 17वीं शती के पूर्वार्द्ध में उपस्थित थे। वृन्दावन के रसिक भक्तों में वे अन्यतम थे। उनके समकालीन एवं श्रद्धालु हरिराम व्यास के शब्दों में–

ऐसो रसिक भयौ ना है है भुवमण्डल आकाश।[67]

भक्तमालकार नाभादास के अतिरिक्त उनके गुरु स्वामी अग्रदास (रामानन्दी सम्प्रदाय) ने आपको साक्षात् प्रेमावतारी ही माना है–

नमो नमो श्री हरिदास वृन्दा विपिन वास
वर प्राण सर्वस बाँके बिहारी।
श्याम श्यामा जुगल रूप माधुर्य के
रसिक रिझवार प्रेमावतारी।
परम वैराग्य निधि बसत निधिवन सदा
भावना लीन सुप्रवीन भारी
कामना कल्पतर सकल सन्ताप हर,
अग्रदास अलि कल्याणकारी।[68]

नाभादास ने अपने भक्तमाल में उनकी निराली उपासना-प्रणाली की प्रशंसा की है।[69]

जहाँ तक सम्प्रदाय एवं सिद्धान्त का प्रश्न है, हम समझते हैं कि न तो वे किसी व्यवस्थित सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं और न किसी दार्शनिक मतवाद के प्रचारक। वे तो अपने श्यामा-श्याम को लाड़ लड़ाने में, अपनी संगीत-माधुरी से रिझाने एवं लीला-भावन में ही मगन रहने वाले रसिक भक्त थे।

स्वामी हरिदास जी स्वयं विरक्त साधु थे। आगे चलकर उनके अनुयायियों के दो दल हो गये। एक विरक्तों का–जिसका टट्टी-स्थान अलग बना तथा दूसरा गृहस्थ गोस्वामियों का–जिनके ऊपर बिहारी जी की सेवा-पूजा का भार है। उनके विरक्त शिष्यों में अष्टाचार्य अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और उनकी वाणियों का एक संकलन 'अष्टाचार्यों की बानी' नाम से उपलब्ध होता है। इस वाणी को सम्प्रदाय में अत्यधिक श्रद्धा प्राप्त है।

स्वामी हरिदास जी का व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावशाली था। अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उन्होंने प्रभावित किया था। सखी भाव की उपासना स्वामी जी की मुख्य देन है। दूर से ही लीलादर्शन एवं लीलागान के जो लक्षण गीतगोविन्द आदि से मिलने लगे थे।[70] उनका श्रेष्ठतम परिपाक साधना के स्तर पर हरिदास जी में हुआ। उनकी यह साधना नितान्त एकान्तिक एवं सम्पूर्ण अनन्यता की है। वास्तव में यह साधना की अत्यधिक ऊँची स्थिति का नाम है। हमें लगता है कि उनकी साधना को सगुणोपासना कहना बहुत उचित नहीं है, क्योंकि कृष्ण के ब्रज-लीला वाले सगुण रूप को वे स्वीकार नहीं करते। उन्होंने कृष्ण नाम तक को स्वीकार नहीं किया। लीला का एक नितान्त गोपनीय रहस्यात्मक प्रकार उनको

स्वीकार था। दार्शनिक चिन्तन एवं तार्किक निरूपण से एकदम असम्पृक्त रहकर वे जिस भावदशा में विभोर रहते थे, उसे रहस्यानुभूति की साधना कहना अधिक उचित होगा। वास्तव में प्रेमाभक्ति अपनी सर्वोत्तम परिणतियों को, स्वामी हरिदास जी की साधना में, पहुँच गयी थी।

उनके सम्प्रदाय में अलग से निरूपित कोई दार्शनिक पद्धति न होकर उपासना का मार्ग एवं तत्सम्बन्धी व्यावहारिक क़ल्पनाएँ ही हैं। अतः यहाँ हम उनके दर्शन आदि पर विचार नहीं करेंगे। उनकी लीला, उपास्य आदि की धारणाओं की विवेचना चतुर्थ अध्याय में की जायेगी। यहाँ हम भगवत्‌रसिक सम्प्रदाय की उपासना आदि का परिचय देने वाला पद उद्धृत करके इस प्रसंग को समाप्त करते हैं—

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, जुगुल यन्त्र को जाप।
जुगुल मन्त्र को जाप, वेद रसिकन की वाणी
श्री वृन्दावन धाम इष्ट स्यामा महरानी
प्रेम देवता मिले बिना सिधि होई न कारज
भगवत सब सुखदानि, प्रकट में रसिकाचारज
नाहीं द्वैत अद्वैत हरि, नाहिं विशिष्टाद्वैत।
बँधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छा द्वैत।
ईश्वर इच्छा द्वैत करै सबही को पोषन।
आप रहे निरलेप, भगत सौ माने तोषन।
भगवत रसिक अनन्य संग डोले गलबाहीं
करे मनोरथ सिद्ध, उचित अनुचित कछु नाहीं।'[71]

गोस्वामी हित हरिवंश

हित हरिवंश जी के जन्म, स्थान, जन्म संवत्, पिता के नाम आदि[72] के बारे में विद्वानों में कुछ मतभेद रहा, पर इधर राधावल्लभीय विद्वान श्री ललित चरण गोस्वामी[73] एवं दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ. विजयेन्द्र स्नातक[74] के जो शोधपूर्ण ग्रन्थ आये हैं, उन्हीं के आधार पर हम यहाँ उनका जीवन-चरित्र दे रहे हैं। इन ग्रन्थों में विविध प्रश्नों पर गहरी छानबीन की गयी है।

गोस्वामी हित हरिवंश का जन्म सं. 1559 में मथुरा के निकट 'बाद' नामक ग्राम में वैशाख शुक्ल एकादशी, सोमवार को हुआ था। इनके पिता का नाम व्यास मिश्र था, जो देवबन्द (सहारनपुर) के रहने वाले विद्वान—राज ज्योतिषी (सम्भवतः इब्राहीम लोदी से सम्मानित) थे। संस्कृत की शिक्षा स्वभावतः पिता से ही इन्हें प्राप्त हुई होगी। हरिवंश जी का संस्कृत ज्ञान बहुत अच्छा था, यह इस बात से ही प्रकट है

कि उन्होंने संस्कृत में 'राधा-सुधानिधि काव्य की रचना की थी। उनके बाल्य-जीवन से सम्बन्धित, मध्ययुगीन अन्य महापुरुषों की भाँति, अनेक अलौकिक चमत्कार प्रचलित हैं। कहा जाता है कि जब ये 6 मास के थे, तभी 'राधा-सुधानिधि' इनके कण्ठ से निस्सृत हो पड़ी थी जिसका लेखन-कार्य इनके पितृव्य श्री नृसिंहाश्रम जी ने सम्पादित किया था। बाल्यकाल से ही राधा-कृष्ण की क्रीड़ाओं के अनुकरण में उनका मन लगता था।

गोस्वामी हित हरिवंश को दीक्षा स्वयं श्री राधिका जी से प्राप्त हुई थी। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में राधा जी का गुरु के रूप में बार-बार उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध में कथा है कि एक दिन राधा जी ने उन्हें स्वप्न दिया कि घर के बाहर के पीपल के वृक्ष की ऊँची डाल पर एक लाल पत्ते पर एक मन्त्र अंकित है, उसे प्राप्त करो और उसे अपना दीक्षा-मन्त्र मानो। उसी मन्त्र से हित हरिवंश जी दीक्षित हुए। इस प्रकार की धारणा आज के वैज्ञानिक युग में बहुत प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, परन्तु राधा-कृष्ण की क्रीड़ाओं (भागवत इस समय तक अत्यन्त जनप्रिय ग्रन्थ हो चुका था, स्वयं आचार्य वल्लभ ने ब्रज प्रदेश में विभिन्न स्थानों पर उसके 22 पाठ किये थे) का शैशवकाल से ही ध्यान और अनुसरण करने वाला बालक स्वप्न में यदि कुछ प्रेरणा प्राप्त करे तो वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित न होगा।

अस्तु, इस मन्त्र की प्राप्ति के बाद उनकी प्रेमाभक्ति का रस निरन्तर सान्द्र होता गया। इस सम्बन्ध में यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है कि गृहस्थ बने रहते हुए भी उन्होंने अपनी निष्ठा एवं भक्ति में अन्तर नहीं आने दिया। "तत्कालीन महात्माओं में वैराग्य की लहर जिस रूप में फैल रही थी और दाम्पत्य जीवन के प्रति जो तिरस्कार की भावना पैदा की जा रही थी, श्री हित हरिवंश जी ने स्वयं सद्गृहस्थ का जीवन व्यतीत कर तथाकथित वैराग्य भाव को चुनौती दी।[75] माता-पिता की मृत्यु के बाद इनका मन स्वयं आराध्या की लीला-स्थली में जाकर वहाँ की रसमयी भक्ति-पद्धति में लीन होने के लिए व्याकुल हो उठा और संवत् 1590 में वे वृन्दावन के लिए चल पड़े। रास्ते में चिथरावल ग्राम में राधा जी के स्वप्नानुसार उन्होंने आत्मदेव नामक ब्राह्मण की दो तरुणी कन्याओं से विवाह किया तथा श्री राधावल्लभ जी का विग्रह प्राप्त किया, जिसे उन्होंने वृन्दावन में प्रतिष्ठापित किया था। आधुनिक मूल्यों एवं मान्यताओं की दृष्टि से हित हरिवंश जी का यह विवाह बहुत उचित नहीं ठहराया जा सकता एवं इस कथा की व्याख्या दूसरे आधार पर भी की जा सकती है।[76] परन्तु मध्यकालीन आदर्शों एवं परिस्थितियों को सदैव आधुनिक जीवन के नैतिक मानदण्ड पर परखना उचित नहीं होता। 1590 वि. की फाल्गुन एकादशी को वे वृन्दावन पहुँचे। तत्कालीन जमींदार नरवाहन ने आपको अपनी साधना के लिए पर्याप्त भूमि प्रदान की।

उस समय तक वृन्दावन में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के प्रख्यात षट् गोस्वामी

पहुँच चुके थे, गोवर्धन में श्री नाथ जी के मन्दिर की स्थापना हुए समय बीत चुका था, वल्लभ की तो अब तक मृत्यु हो चुकी थी एवं इसके अगले वर्ष चैतन्य की भी मृत्यु हो गयी। अष्टछाप की स्थापना तो नहीं हुई थी पर सूरदास आदि क्रियाशील थे। राधा को इष्टदेवी और गुरु गोस्वामी हरिवंश ने पहले ही स्वीकार कर लिया था। वृन्दावन आकर वे इन वैष्णवों के सम्पर्क में आये होंगे। स्थायी रूप से वृन्दावन-वास करने का निश्चय करने के बाद श्री हरिवंश जी ने कदाचित् वैष्णव धर्म में प्रचलित समस्त साधना पद्धतियों का अनुशीलन किया होगा और इस मनन-अध्ययन के बाद अपनी नूतन साधना-पद्धति प्रवर्तित की होगी। परम्परा से जो साधना-पद्धतियाँ वैष्णव-सम्प्रदायों में प्रचलित थीं, उनमें विधि-निषेध के साथ कर्मकाण्ड का प्रभाव बढ़ गया था और बाह्याचार की अनेक परिपाटियाँ प्रचलित हो गयी थीं, उन्हें स्वीकार न करके श्री हरिवंश जी ने स्वकीय नूतन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया और अनेक बातों में सर्वथा अभिनव शैली स्वीकार की।[77] धीरे-धीरे उनके रुचिर एवं प्रेममय व्यक्तित्व, सरल कवित्व एवं सरस प्रेममयी साधना-पद्धति से प्रभावित होकर लोग उनके पास इकट्ठे होने लगे। नरवाहन, नवलदास, पूरनदास, हरिराम व्यास आदि उनके मुख्य शिष्य हैं। इनमें विद्वत्ता एवं साहित्य की दृष्टि से हरिराम व्यास ही महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु आगे चलकर 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' में प्रभूत परिमाण में साहित्य का सृजन हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय को छोड़कर ब्रजभाषा में अन्य किसी वैष्णव सम्प्रदाय की साहित्य राशि इस परिमाण में उपलब्ध नहीं होती। सम्प्रदाय की जनप्रियता एवं प्रेरक शक्ति का यह स्पष्ट प्रमाण है।

वृन्दावन में रहते हुए उन्होंने आराध्य के सिद्ध-केलि स्थानों (मानसरोवर, सेवाकुंज, राम मण्डल और वंशीवट) का प्राकट्य किया! सेवाकुंज में राधावल्लभ जी के विग्रह की स्थापना की एवं संवत् 1591 में प्रथम पाटोत्सव इसी सेवाकुंज में सम्पन्न हुआ। रास मण्डल की स्थापना करके उन्होंने कृष्ण-भक्ति के प्रसार में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। राधावल्लभ जी के विग्रह-स्थापन के पश्चात् उन्होंने अपनी उस अष्टयामसेवा-पद्धति एवं रसभक्ति का प्रचार प्रारम्भ किया जिससे अन्य सम्प्रदाय भी प्रभावित हुए। यहाँ तक कि गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान भक्त प्रबोधानन्द सरस्वती स. 1592 में वृन्दावन पधारे तो हित हरिवंश जी एवं उनकी भक्ति-पद्धति के प्रति अत्यन्त आकर्षित हुए। उन्होंने हित हरिवंश की स्तुति भी अपने अष्टक में लिखी है।[78]

वृन्दावन आगमन के पश्चात् ही सम्भवतः उन्होंने ग्रन्थ की रचना की होगी[79] उनके चार ग्रन्थ कहे गये हैं—'राधा सुधानिधि', राधा की स्तुति में लिखा गया संस्कृत-स्तोत्र-ग्रन्थ है। 'हित चौरासी' में उनकी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति श्रेष्ठ काव्य के माध्यम से ब्रज भाषा के चौरासी पदों में हुई है। सत्ताईस स्फुट पद और दोहे भी ब्रजभाषा में ही प्राप्त हैं जिनमें साम्प्रदायिक सिद्धान्त एवं भावनाएँ हैं तथा

'यमुनाष्टक' नामक संस्कृत स्तोत्र-ग्रन्थ भी उनका कहा जाता है। इनमें, 'हित चौरासी' निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है, काव्य की दृष्टि से भी एवं साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की दृष्टि से भी। यह उनकी परिपक्वावस्था का लिखा प्रतीत होता है। इसे सम्प्रदाय का मुख्य उपजीव्य ग्रन्थ होने का गौरव भी प्राप्त है।

वंशी के अवतार कहे जाने वाले इस श्रेष्ठ भक्तकवि एवं आचार्य का निधन संवत् 1609 में हुआ। राधा-कृष्ण युगल की सखी-भाव से आराधना करने का सन्देश देकर उन्होंने एक नये प्रकार का वैष्णव रहस्यवाद प्रवर्तित किया। प्रेम या हित तत्त्व को उन्होंने परात्पर तत्त्व की स्थिति तक पहुँचाकर प्रेम को भाव से दर्शन बना दिया। हित हरिवंश जी के योग्य शिष्य हरिराम व्यास ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के उपास्य एवं उपासना-विधि आदि का संक्षिप्त परिचय एक ही पद में दिया है। पद इस प्रकार है—

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुल देवी राधा, बरसानौ खेरौ, ब्रजबासिन सो पाँति।
गोत गोपाल, जनेऊ माला, सिखा सिखण्डि हरि मन्दिर भाल।
हरि गुन नाम वेद धुनि सुनियत, मूँज पखावज, कुस करताल।
साखा जमुना, हरि-लीला षट्कर्म, प्रसाद प्रान-धन रास।
सेवा विधि-निषेध, जड़ संगति, वृत्ति सदा बृन्दाबन बास।
अमृत भागवत, कृष्ण नाम सन्ध्या, तर्पन गायत्री जाप।
बंसी रिषि, जजमान कल्पतरु, व्यास न देत असीस-सराप।

(भक्तकवि व्यास जी—पद संख्या 93, पृ. 215।)

हित हरिवंश जी एवं हरिदास के प्रभाव का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि परवर्ती समस्त कृष्णोपासक किसी-न-किसी स्तर पर युगल-विहार-लीलाओं के सखी भावापन्न गान को अपनाते हैं।

सूफ़ी सम्प्रदाय : संक्षिप्त इतिहास तथा तत्त्व दर्शन

संक्षिप्त इतिहास—सूफ़ी शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थों की चर्चा में न पड़, हम उसके उस सामान्य अर्थ को ही इस विवेचन में अपने मन में रखेंगे जिसके अनुसार यह शब्द इस्लामी रहस्यवाद के लिए प्रयुक्त होता है। सन् 800 के लगभग यह शब्द प्रयोग में आया था[80] तथा शीघ्र ही 50 वर्षों के भीतर यह इराक़ तक फैल गया एवं 11वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते यह शब्द सम्पूर्ण मुस्लिम रहस्यवादियों के लिए प्रचलित हो गया था।[81]

सूफ़ीमत के मूल में तरह-तरह के सामाजिक-आर्थिक कारण विद्वानों ने खोजने चाहे हैं जिनकी चर्चा यहाँ पर अप्रासंगिक होगी, परन्तु इतना संकेत कर देना अनुचित

न होगा कि सूफ़ीमत के मूल में परम शक्ति के प्रति जो भक्ति भाव, एकतत्त्व की भावना आदि बातें हैं, वे सम्पूर्ण मानव जाति के अन्तरतम के निकट की धारणाएँ हैं। निकल्सन ने अबुल हसन अलमूरी का एक कथन उद्धृत किया है कि सूफ़ीमत संसार के प्रति घृणा एवं प्रभु के प्रति प्रेम का प्रकाशन है।[82] जुनेद के अनुसार तसव्वुफ़ ईश्वर द्वारा पुरुष में व्यक्तित्व की समाप्ति और ईश्वरत्व की उद्बुद्धि का नाम है।[83] अलग़ज़ाली ने जगत् में शान्तिपूर्वक रहते हुए सदा ईश्वर में लीन रहना ही सूफ़ी का लक्षण माना है।[84] स्पष्ट है कि ये समस्त विशिष्टताएँ समस्त उन्नत धर्मों में स्वीकृत हैं।

विद्वानों ने सूफ़ीमतवाद पर अनेक प्रभाव देखे हैं।[85] इनमें से एक वर्ग सूफ़ीमतवाद को भारतीय साधना से बहुत अधिक प्रभावित देखता है।[86] इन लोगों का कहना है कि ईरान की आर्य विचारधारा ने विजेता इस्लाम धर्म के प्रति जो विद्रोह किया, वही सूफ़ीमत के रूप में प्रकट हुआ, परन्तु निकल्सन ने अत्यन्त जोरदार शब्दों में इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि यह सत्य है कि सूफ़ी सिद्धान्तों पर इस्लामेतर साधनाओं का भी प्रभाव पड़ा है पर इस्लाम से ही उसका उद्भव हुआ है। उसके अनुसार इस बात का क्या उत्तर है कि कुछ प्रारम्भिक प्रमुख सूफ़ी प्रयोक्ता ईरान के आर्य न होकर सीरिया और मिस्र के थे तथा जाति से अरब थे।[87] उसने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में कहा है, सत्य यह है कि सूफ़ीमत एक संकुल वस्तु है और इसलिए इस प्रश्न का कोई सरल उत्तर नहीं दिया जा सकता कि वह कैसे उत्पन्न हुआ है।[88] यों निकल्सन ने ईसाई, नव अफलातूनी, ज्ञानवाद, बौद्ध धर्म एवं वेदान्त के प्रभाव स्वीकार किये हैं। उसने सूफ़ियों के 'फ़ना' और 'बक़ा' सम्बन्धी विचारों पर बौद्ध विचारधारा का स्पष्ट ऋण स्वीकार किया है।[89] इन प्रभावों के होते हुए भी यह सहज ही कहा जा सकता है कि सूफ़ियों को अपने रहस्य-दर्शन में स्वयं क़ुरान से भी प्रेरणा मिली है। ईश्वर एक है तथा कल्याण और दया करने वाला है।[90] वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है।[91] इस पृथ्वी और स्वर्ग में जो कुछ है, उसी का है और अन्त में सभी पदार्थ उसी में विलय हो जाते हैं।[92] ईश्वर असीम सौन्दर्यमय है,[93] ईश्वर उन्हें प्यार करता है जो सज्जन हैं। क़ुरान के ऐसे कथनों में रहस्यवाद के बीज विद्यमान हैं। मुहम्मद साहब को क़ुरान जिस प्रकार उद्भासित हुआ था, वह सूफ़ी के लिए अत्यन्त रुचिकर है क्योंकि यह इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य से ईश्वर बोलता है।[94] 'इसी कारण मुस्लिम रहस्यवादी यह आशा कर सकता है कि वह अपने इस नश्वर जीवन में ही उस अविनश्वर अमृत तत्त्व की झाँकी उपलब्ध कर ले। इस प्रकार सूफ़ी साधना का बीज-वपन मुहम्मद साहब के समय ही हो गया था।

प्रारम्भिक 200 वर्षों तक सूफ़ी मतवाद वैराग्य प्रधान रहा है परन्तु इस समय के अन्त होते-होते प्रेम की भावना घर करने लगी थी। इसी समय राबिया (800 ई. के लगभग) अपनी भक्ति-भावना में प्रिया की प्रेम-अनन्यता भरकर उपासना करती है।

वह ईश्वर के प्रति एक अत्यन्त नैकट्य का अनुभव करती थी। सूफ़ीमत में दिव्य प्रेम का सिद्धान्त सबसे पहले उसी की रचनाओं में प्रकट हुआ था।[95] एक स्थल पर वह कहती है : ओ मेरे प्रिय, तारे चमक रहे हैं, मनुष्यों की आँखें बन्द हैं, सम्राटों ने अपने द्वार बन्द कर लिये हैं। प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रियतमा के पास है और यहाँ मैं एकमात्र तुम्हारे पास हूँ।[96] एक अन्य स्थान पर उसने अत्यन्त भाव-विभोर कण्ठ से कहा है : ओ ईश्वर! यदि मैं नरक के भय से तुम्हारी पूजा करती हूँ तो मुझे नरकाग्नि में जला दो, और यदि मैं स्वर्ग की आशा में तुम्हारी उपासना करती हूँ तो तुम मुझे स्वर्ग से निकाल दो, परन्तु यदि मैं तुम्हारी उपासना केवल तुम्हारे लिए करती हूँ तो अपने शाश्वत सौन्दर्य को मुझसे न छिपाओ।[97]

इस प्रकार ईसवी सन् की नवीं शताब्दी में सूफ़ीमत प्रेम एवं अद्वैत-चिन्तन के नये क्षेत्र में प्रवेश करता है। बग़दाद में यह साधना अपनी पूर्णता को पहुँचती है। इस साधना में दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से 'बायजीद बिस्तामी' का नाम बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसने तसव्वुफ़ में ईश्वर की सर्वव्यापकता, अद्वैतवाद एवं आवेश क़ा तत्त्व समन्वित किया। उसने सबसे पहले फ़ना शब्द का प्रयोग किया था जिसके अनुसार साधक अपनी अहंता को मारकर ईश्वर के प्रति विशेष भाव से समर्पित हो जाता है। जुनून, अल हल्लाज आदि ने अद्वैतवादी तत्त्व को और अधिक विकसित किया। 11वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अल ग़ज़ाली ने शरीयत और तरीकत (शास्त्र एवं व्यवहार) का समन्वय किया।[98] यह इसलिए आवश्यक हो गया था कि धीरे-धीरे सूफ़ी सिद्धान्त इस्लाम की मूल विचारधारा से दूर हटते जा रहे थे। ग़ज़ाली ने उसे पुनः इस्लामी केन्द्र के निकट लाने का उद्योग किया।[99] यहीं पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सूफ़ी विचारधारा नवीं शताब्दी से केवल प्रेममार्ग पर ही नहीं चली, ज्ञानमार्गी धारा भी बराबर प्रवाहित रही है, पर प्रमुखता उसकी नहीं थी। सूफ़ी साधना प्रारम्भ से ही अपने स्वरूप में वैयक्तिक रही है परन्तु धीरे-धीरे यह सामान्य जन को अपनी ओर आकर्षित करने लगी थी। इस कारण यह आवश्यक हो गया था कि सूफ़ी सिद्धान्तों को एक व्यवस्थित रूपरेखा दी जाये एवं साधन-प्रणाली का स्पष्ट निरूपण किया जाये।

ग़ज़ाली जैसे लोगों ने सूफ़ीमत की इस दार्शनिकता को इस्लाम की धार्मिकता के साथ समन्वित करके साम्प्रदायिक ढाँचे के भीतर व्यवस्थित करना चाहा। सनाई, अत्तार एवं जलालुद्दीन रूमी इसी परम्परा पर आगे चले हैं। 13वीं शताब्दी तक सूफ़ियों के अनेक छोटे-मोटे सम्प्रदाय बन गये थे। 11वीं से 13वीं शताब्दी तक सूफ़ियों का स्वर्ण-युग कहा जाता है। जलालुद्दीन रूमी इस युग का अन्तिम श्रेष्ठतम कवि था। रूमी में ज्ञानमार्गी एवं प्रेममार्गी दोनों धाराओं का समन्वय भी था एवं इस्लाम की धार्मिकता भी सुरक्षित रही। ज्ञान और प्रेम को इस युग में अलग-अलग करके नहीं देखा गया। यहीं पर सूफ़ियों की एक अन्य विशेषता की ओर इंगित कर देना

उचित रहेगा। लगभग प्रत्येक सूफ़ी विचारक ने काव्य-रचना की है। यह बात वैष्णव चिन्तकों में भी सुरक्षित है। शायद ही कोई वैष्णव चिन्तक आचार्य या महन्त ऐसा मिले जिसने काव्य-रचना नहीं की है। प्रेम प्रधान ईश्वर को जब शास्त्र के विरुद्ध एवं उसके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध अनुचित समझा जाने लगा, तब इन कवियों ने लौकिक प्रेम पात्रों (सुन्दर, रमणी, किशोर) एवं वस्तुओं के प्रतीकों के माध्यम से अपनी सौन्दर्य एवं प्रेम की अनुभूति को व्यक्त करना शुरू किया। यह बात दूसरी है कि प्रेम के इन प्रतीकों का अवमूल्यन और ह्रास होकर ऐन्द्रियता भी बढ़ी। ठीक वैसे ही जैसे कि राधा और कृष्ण का ह्रास रीतिकाल की शृंगारिकता में हुआ है।

भारतवर्ष में प्रवेश

उत्तर-पश्चिमी भारत पर तुर्कों के आक्रमण के साथ ही सूफ़ियों का भारत में प्रवेश होता है। सम्भवतः पश्चिमोत्तर भारत में सबसे पहले सुहरावर्दी सम्प्रदाय का आगमन होता है, परन्तु उनका प्रभाव-क्षेत्र बहुत नहीं बढ़ा, वे सिन्ध एवं पश्चिमोत्तर प्रान्त तक ही सीमित रहे। प्रभावशाली रूप में चिश्ती सम्प्रदाय सबसे पहले भारतवर्ष में प्रतिष्ठापित हुआ था। भारत में इस सम्प्रदाय को अत्यधिक सफलता मिलने का कारण यह था कि ये लोग नयी परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बना सकने में समर्थ हुए थे।[100] ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (जन्म 1143 ई.) ने शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमण के कुछ पूर्व सन् 1191 में इस सम्प्रदाय का प्रवेश भारतवर्ष में कराया था। प्रसिद्ध सूफ़ी विचारक अली हुज्विरी (दाता शकरगंज) उसके पूर्व से ही लाहौर में रह रहे थे। चिश्ती उन्हीं के पास कुछ दिन रहे। तदुपरान्त वे दिल्ली और वहाँ से अजमेर चले गये। मुईनुद्दीन के व्यक्तित्व का तत्कालीन भारतीय जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा था—विशेषकर छोटे वर्गों के लोग उनकी ओर आकर्षित हुए थे। इस तथ्य के कारण अजमेर के राजा के द्वारा उनको निकलवाने की चेष्टा भी हुई थी जो उनके व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण सफल नहीं हो सकी थी।

चिश्ती-सन्तों को संगीत के आध्यात्मिक मूल्य पर बहुत अधिक विश्वास था एवं वे संगीतज्ञों का अत्यधिक आदर करते थे। संगीत की इन मजलिसों में वे आवेश में आकर मूर्च्छित तक हो जाते थे। मुईनुद्दीन के शिष्य ख़्वाजा क़ुतुबुद्दीन बख़्तियार काकी की ऐसे ही किसी आवेश की अवस्था में मृत्यु हो गयी थी। कुतुब साहब के बाद इस सम्प्रदाय के प्रधान बाबा फ़रीद गंजशकर हुए और उनके बाद निज़ामुद्दीन औलिया गद्दी के अधिकारी बने। दिल्ली के तुर्क सुल्तानों से लेकर साधारण जनता तक इनका सर्वत्र आदर था। ये सभी विरागी एवं ऊँची कोटि के साधक थे। कभी भी बादशाहों एवं सामन्तों के सम्पर्क को इन्होंने प्रोत्साहन नहीं दिया।

गयासुद्दीन तुग़लक़ जैसे बादशाह तथा धर्मान्ध मुल्लागण उनके बढ़ते हुए प्रभाव

तथा संगीत-गोष्ठियों को पसन्द नहीं करते थे, परन्तु कोई कठोर पग उठाने का उनका साहस नहीं हुआ। निज़ामुद्दीन औलिया का नाम वास्तव में भारतीय सूफ़ी इतिहास में प्रभाव की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके मधुर व्यक्तित्व तथा उदार दृष्टिकोण ने उन्हें अत्यधिक जनप्रिय बना दिया था। उनका जन्म संवत् 1393 वि. में बदायूँ में हुआ था। वे कहा करते थे, "ओ मुस्लिमों, मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि वह (प्रभु) उसी को प्यार करता है जो उसके लिए मानवों को एवं मानवों के लिए उसको प्यार करते हैं।" आगे चलकर अकबर के समय के प्रसिद्ध शेख़ सलीम भी इसी सम्प्रदाय के भक्त थे।

सुहरावर्दी सम्प्रदाय के शेख़ बहाउद्दीन ज़करिया भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे जो मुलतान को अपना केन्द्र बनाये हुए थे। उनके गुरुभाई हमीदुद्दीन नागौरी भी संगीत के बड़े प्रेमी थे। नागौरी ने 'तवलिउशमल' तथा 'लवाइह' दो पुस्तकें भी फ़ारसी में लिखी हैं। ज़करिया के एक शिष्य हुसैन अमीर हुसैनी ने भी तसव्वुफ़ पर अनेक पुस्तकें लिखीं। इसी सम्प्रदाय के सन्त जहाँगश्त को मुहम्मद तुग़लक़ ने 'शेख उल-इस्लाम' नियुक्त किया था, पर उनकी प्रकृति उसमें रमी नहीं और वे छोड़कर चले गये। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत मूसा सुहाग और उनका सदा सुहागिन सम्प्रदाय आता है।

फ़िरदौसिया सम्प्रदाय के सूफ़ी सन्त शेख़ शरफ़ुद्दीन याहिया मनेरी (मृ. 1437 वि.) का सम्मान फ़िरोज़ तुग़लक़ बहुत अधिक करता था। इस सम्प्रदाय ने अपना मुख्य कार्यक्षेत्र वर्तमान बिहार प्रदेश को बनाया था। मनेरी स्वयं एक बड़े दार्शनिक और विचारक थे। 'मक्तूबात' उनके विचारों की दिग्दर्शक श्रेष्ठ रचना है। यह वह काल था जब इब्नुल अरबी (1222 ई., सं. 1297 वि.) के 'वहदतुल वुजूद' के सिद्धान्त का प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ रहा था, परन्तु मनेरी ने अपनी स्वतन्त्र चिन्तना के बल पर उसे अस्वीकार किया था। वे इस्लाम की कट्टर विचारधारा के अधिक निकट थे।

क़ादिरी सम्प्रदाय की स्थापना बग़दाद में संवत् 1222 में हुई थी तथा मध्य एशिया एवं पश्चिमी अफ्रीका में इस्लाम को फैलाने में इसने बड़ा योग दिया था, परन्तु भारतवर्ष में यह मत शाह नियामतउल्लाह तथा मख़दूम मुहम्मद जीलानी द्वारा 15वीं शती के अन्तिम हिस्से (सन् 1482) में लाया गया था। उन्होंने भी गुजरात में सुहरावर्दी सम्प्रदाय केन्द्र उच्छ को ही अपना केन्द्र बनाया। इस सम्प्रदाय में और भी अनेक सन्त हुए हैं। इनमें से दाराशिकोह के गुरु मियाँ मीर प्रसिद्ध हैं।

नक़्शबन्दी सम्प्रदाय हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सम्प्रदाय विक्रम की 17वीं शती के मध्य भाग के आसपास भारतवर्ष में ख़्वाजा बाक़ी बिल्लाह (1620-1660 वि.) द्वारा लाया गया था। यह सम्प्रदाय 'शरीअत' की पुनःप्रतिष्ठा पर बल देता है। ऊपर कहे गये समस्त सम्प्रदाय मनेरी को छोड़कर प्रेममार्गी थे। मुग़लकाल की नीति के अन्तर्गत वे ख़ूब फले-फूले थे, परन्तु 17वीं शती का अन्त होते-होते धर्मान्धता, शास्त्रीयता, शुद्धता (और रीति) की प्रवृत्तियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों में बल पकड़ती

हैं। नक़्शबन्दी सम्प्रदाय इस प्रवृत्ति की देन है। बाक़ी बिल्लाह के शिष्य शेख़ अहमद सिरहिन्दी 'मुजाहिद' ने भी इब्नुल अरबी के सिद्धान्तों का ज़ोरदार खण्डन करते हुए इस्लामी शास्त्रीयता को पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया। इस प्रयास में ही औरंगज़ेब और नक़्शबन्दी सम्प्रदाय एक-दूसरे का सहयोग और महत्त्व प्राप्त कर सके। ईश्वर और जीव के भेद पर बल देते हुए उसने वेदान्तिक अद्वैतवाद के प्रभाव से अपने को अलग कर लेना चाहा।[101]

इन प्रमुख सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य कई सूफ़ी सम्प्रदाय भी भारतवर्ष में प्रचार-कार्य कर रहे थे। आईने-अकबरी में अबुल फ़ज़ल ने चौदह सूफ़ी सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं—चिश्ती, सुहरावर्दी, ज़ैदी, इयादी, अधमी, दुबेरी, हवीजी, तफ़ूजा करर्वी, सकती, जुनैदी, काजरूनी, तूसी और फ़िरदौसी।[102]

निष्कर्ष—इस प्रकार 16वीं शती में हमें प्रेमाभक्ति का अप्रतिहत प्रवाह दिखाई देता है। निम्बार्क की राधा इस युग में रसोपासना की इष्ट बन गयी। चैतन्य का राधा-भाव ही गोस्वामियों द्वारा श्रेष्ठतम रस प्रतिपादित होता है। हित हरिवंश और हरिदास की माधुर्य उपासना छोटे-बड़े सभी के आकर्षण का केन्द्र बनी। पुष्टिमार्ग में बालकृष्ण के साथ किशोर कृष्ण की लीलाएँ भी शत-शत, सहस्र-सहस्र पदों की रचना करवाती हैं। इनमें से प्रत्येक की अपनी विशेषता है, परन्तु मूल में मधुर-उपासना है और उनके सम्मिलित रूप में परिणाम भी माधुर्यभाव का प्रचार-प्रसार ही है। इन विविध साधनाओं के साधकों में आज का जैसा विद्वेष भी न था। वे लोग साधक थे—महन्त नहीं। आपस में अत्यन्त सौहार्द था, इसलिए वे एक-दूसरे से प्रभावित भी होते थे। ऊपर हम चर्चा कर चुके हैं कि वल्लभाचार्य जी ने श्री नाथ जी की सेवा-पूजा का भार बंगाली वैष्णवों के पास ही रहने दिया था। वे प्रयाग में चैतन्य देव से मिले भी थे।[103] प्रबोधानन्द (प्रकाशानन्द सरस्वती जिन्हें काशी में चैतन्य ने शिक्षा दी थी) हित हरिवंश के अन्यतम प्रशंसकों में थे तथा हरिराम व्यास ने राधावल्लभीय होते हुए भी अपने पुत्र किशोरदास को स्वामी हरिदास से दीक्षा दिलवायी थी। गौड़ीय षट्गोस्वमियों को वृन्दावन में अत्यन्त आदर के साथ देखा जाता था एवं उनके भक्ति रस-सम्बन्धी विवेचनों का प्रभाव निश्चित रूप से अन्य आचार्यों पर भी पड़ा। स्वयं चैतन्य दक्षिण से जो दो ग्रन्थ लाये थे, उनमें लीला शुक बिल्वमंगल का 'कृष्ण-कर्णामृत' ग्रन्थ किसी अन्य मतावलम्बी का था।

गौड़ीय वैष्णव मधुर रस के उपासक थे ही, निम्बार्क की दशश्लोकी में भी राधा की स्तुति है। निम्बार्क़ियों में मधुर-उपासना का प्रवाह श्री भट्ट से प्राप्त होने लगता है। यह बात दूसरी है कि बंगाल में राधा परकीया बनी रहीं पर वृन्दावन में वे स्वकीया बन गयीं तथा हित हरिवंश एवं हरिदास की नित्य लीला में वे स्वकीया-परकीया निर्विशेष। यह प्रेम-साधना राधा एवं गोपियों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। पीछे हम माधवेन्द्र-पुरी का जिक्र कर चुके हैं। श्रीनाथजी के विग्रह की प्रतिष्ठा वल्लभ

ने की, उसके पूर्व पुजारी का नाम माधवानन्द (बंगाली) वार्तासाहित्य में आता है तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के बाल-गुरु माधवेन्द्र पुरी बतलाये गये हैं। ये दोनों यदि एक ही न भी हों, तब भी पुष्टिमार्गीय आचार्यों एवं गौड़ीय वैष्णव भक्तों का निकट सम्पर्क एवं सान्निध्य तो सिद्ध होता ही है। विभिन्न सम्प्रदायों के कवियों ने सम्प्रदाय का ध्यान रखे बिना ही भक्तों के नामों का सादर उल्लेख किया है। हरिराम व्यास का एक पद देखिए—

बिहारिहिं स्वामी बिनु को गावै।
बिनु हरिबंसहि, राधा बल्लभ, को रस रीति सुनावै।
रूप सनातन बिनु को वृन्दाविपिन-माधुरी पावै।
कृष्णदास बिनु, गिरिधर जू कों, को अब लाड़ लड़ावै।
मीराबाई बिनु को भक्तनि पिता जान उर लावै।
स्वारथ परमारथ जैमल बिनु, को सब बन्धु कहावै।
परमानन्द दास बिनु, को अब लीला गाइ सुनावै।
सूरदास बिनु, पद रचना को, कौन कविहिं कहि आवै।
और सकल साधन बिनु, को कलिकाल कटावै।
व्यास दास इन बिन को अब तन की तपन बुझावै।[104]

भक्तों का गुणगान करते समय इन लोगों ने निर्गुण-सगुण जैसे अन्तर भी नहीं किये हैं।

राधाकृष्ण की भक्ति के इस स्वरूप ने सगुण मत के दूसरे मुख्य आराध्य राम के उपासकों-भक्तों को भी बहुत प्रभावित किया। 17वीं शती से यह प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था तथा 18वीं-19वीं शती तक यह प्रभाव बढ़ता ही गया। सगुणोपासक न होने के कारण सन्त-मत में इन दम्पति-लीलाओं की सीधी अभिव्यक्ति तो नहीं हुई, परन्तु मधुर-भाव की जो मूल धारणा थी, उसका प्रकाशन साधक एवं आराध्य के मध्य प्रतीक रूप से अवश्य हुआ। इस प्रतीक पद्धति के लिए तत्कालीन साधनाओं में सूफ़ी प्रेम-भावना सीधी प्रेरक शक्ति के रूप में विद्यमान थी। सूफ़ी प्रेम-भावना स्वयं इन प्रेमाभक्ति की विविध साधनाओं को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रही थी और स्वयं भी प्रभावित हो रही थी। वास्तव में ये सभी साधनाएँ परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करती रहीं हैं, परन्तु इन प्रभावों का आन्तरिक स्वरूप-निर्धारण एवं प्रभावित प्रक्रिया की गति का वस्तुपरक निर्णय कठिन है। जीवन्त साधनाओं की ग्रहण-प्रक्रिया इतनी जटिल एवं सूक्ष्म होती है कि उसकी समस्त शिराओं का विश्लेषण नितान्त दुरूह हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे अध्ययन के लिए व्यापक सामाजिक जीवन के सभी पक्षों के आँकड़े भी इस समय तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। जब तक समाज के विभिन्न पक्षों एवं विचारों के प्रामाणिक इतिहास नहीं प्रस्तुत हो जाते, तब तक प्रभावों की व्याख्या के लिए स्पष्ट और दृढ़ आधार नहीं

मिल सकता है तथा सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में इन सब की निर्भ्रान्त व्याख्या भी सम्भव नहीं हो सकती।

सन्दर्भ

1. देखिए—
   (क) आर.जी. भण्डारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स ऑफ इण्डिया
   (ख) बी.के. गोस्वामी : भक्ति-कल्ट इन एन्शंट इण्डिया
   (ग) हेमचन्द्र राय चौधरी : मैटीरियल्स फॉर द स्टडी ऑफ दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ द वैष्णव सेक्ट
   (घ) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : सूर-साहित्य
   (ङ) डॉ. मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास
   (च) बलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय
   (छ) परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव-धर्म
   (ज) डॉ. दीनदयालु गुप्त, डॉ. विजयेंद्र स्नातक आदि विद्वानों के भक्तिकाल से सम्बन्धित विभिन्न शोध-प्रबन्धों के एतत्सम्बन्धी अध्याय।
2. भक्ति के तत्त्वान्वेषण की प्रारम्भिक स्थिति में विद्वानों ने भारतीय भक्ति-भावना के मूल स्रोत खोजने की ओर अपनी रुचि दिखाई थी। विभिन्न विद्वानों ने इस सम्वन्ध में अलग-अलग मत निश्चित करने चाहे। ईसाई, सामी-पैग़म्बरी, द्रविड़ आदि विचारों को बहुधा भक्ति के मूल में देखा गया। भारतीय विद्वानों का एक वर्ग उसे आर्य-चिन्ता की उपज मानकर वेदों में उसके मूलतत्त्व खोजता रहा। इस समस्त विवेचन से एक ही सिद्धान्त पर पहुँचने की अपेक्षा यह अनुभव किया जाने लगा कि भक्ति एवं श्रद्धा जैसे भाव प्रत्येक धर्ममत एवं सुसंस्कृत समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी होते हैं तथा जीवन्त धर्म-साधनाओं में पारस्परिक प्रभाव-ग्रहण की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है। इसी कारण साम्प्रतिक तत्त्वान्वेषण में इन पारस्परिक प्रभावों के अध्ययन की ओर रुचि बढ़ी है। आवश्यकता इस बात की है कि विशिष्ट सामाजिक सन्दर्भो को परिपार्श्व में रखकर इन प्रभावों का अध्ययन किया जाये।
3. उस समय राजनीतिक शक्ति भी विकेन्द्रित थी। हमारा अनुमान है कि इस विकेन्द्रित रूप के कारण ही हिन्दुत्व मुसलमानों के भीषण आक्रमण को बरदाश्त करके भी जीवित रह सका तथा आगे चलकर वैष्णवधर्म के प्रसार में भी इस स्थिति ने सहायता पहुँचाई होगी।
4. विस्तार से देखिए : हिन्दी साहित्य (भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग) में डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना द्वारा लिखित सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अध्याय, पृ. 54-56
5. हिन्दी साहित्य की भूमिका : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं सिद्ध-साहित्य : डॉ. धर्मवीर भारती में विस्तार से इसकी चर्चा की गयी है।
6. हिन्दी साहित्य (भारतीय हिन्दी परिषद्), पृ. 462 पर उद्धृत।
7. भक्ति-आन्दोलन का तृतीय उत्थान उत्तर भारत में 15वीं शती के आरम्भ में होता है। पण्डित बलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय, पृ. 233
8. ब्रज प्रान्त में कुषाण वंशी राजाओं के राजत्व-काल (ईसा की प्रथतम शताब्दी) में जो बहुधा बौद्धमतावलम्बी थे, भागवत धर्म बहुत शिथिल था। कुषाण वंशी राजा कनिष्क ने बौद्ध धर्म को ही प्रोत्साहन दिया, इसके अनन्तर गुप्त-वंश के राजत्व-काल मे वैष्णव धर्म फिर प्रबल हुआ। हर्षवर्द्धन ने बौद्ध धर्म को अपना कर उसी का प्रचार किया। उस समय एक प्रकार से ब्रज में

भागवत धर्म का लोप हो गया। दक्षिण-भारत से आने वाले आचार्यों द्वारा वैष्णव धर्म के प्रचार ने व्रज-प्रांत में फिर से बौद्ध और शैव धर्मों को हटाकर भागवत धर्म का उत्थान कर दिया। चार आचार्यों में से आचार्य मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी तथा निम्बार्काचार्य विष्णु के कृष्ण-रूप के उपासक थे। इसलिए चारों आचार्यों के मतों में से ब्रजभूमि में कृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बार्क-सम्प्रदायों की भक्ति-पद्धति का ही 15वीं शती तक विशेष प्रचलन रहा। –डॉ. दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, प्र. सं., पृ. 39-40

9. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृ. 93
10. वैष्णव धर्म, पृ. 85
11. भागवत सम्प्रदाय, पृ. 314
12. वही, पृ. 314
13. आर.जी. भण्डारकर : वै. शै., पृ. 93
14. डॉ. विजयेंद्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. 52
15. भागवत सम्प्रदाय, पृ. 316
16. भण्डारकर : वै.शै., पृ. 92-93
17. 11-12वीं शती के पूर्व राधा का उल्लेख देवी के रूप में कहीं नहीं मिलता। यहाँ तक कि जयदेव के गीतगोविन्द में वे अत्यन्त मनोहर, मानवीय, अनन्य प्रेमिका हैं, देवी नहीं। गीतगोविन्द के दशांवतार में कृष्ण के प्रसंग में राधा का उल्लेख नहीं किया गया है।
18. अंगे तु वामे वृषभानुजा मुदा, विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
    सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा, स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्। –दशश्लोकी, 5
19. युगल शतक।
20. हरिव्यास देव को माधुर्य-उपासना का प्रवर्त्तक तथा महावाणी का रचनाकार कहा जाता है। पर जैसा कि हम आगे निम्बार्क सम्प्रदाय की पद्धति एवं निम्बार्कीय कवियों के विवेचन के प्रसंग में बताएँगे कि हरिव्यास देव की अपेक्षा रूपरसिक जी को महावाणीकार मानना उचित होगा।
21. भागवत सम्प्रदाय, पृ. 347-48
22. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ. 198-199
23. वैष्णव धर्म, पृ. 84
24. भागवत सम्प्रदाय, पृ. 318
25. डॉ. शरण विहारी गोस्वामी ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य में सखी भावना' में निम्बार्क के ग्रन्थों पर विस्तार से विचार किया है। देखिए पृ. 80-84 (अप्रकाशित प्रबन्ध)।
26. वही, पृ. 80-84
27. श्रीमद्भागवत् माहात्म्य, प्रथम अध्याय, श्लोक 48
    उत्पन्ना द्राविडे साहं, वृद्धिं कर्णाटके गता
    क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे, गुर्जरे जीर्णतां गता।
28. जी.एस. घुर्ये : इण्डियन साधूज, पृ. 184-190
29. बलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय, पृ. 245
30. वही, पृ. 247
31. भण्डाकर : वै. एण्ड शै., पृ. 95
32. वैष्णव धर्म, पृ. 108
33. हिन्दी साहित्य कोश में रामानन्द सम्प्रदाय पर टिप्पणी, पृ. 648
34. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 108

35. भागवत सम्प्रदाय, पृ. 253
36. एच.एम. विल्सन : एसेज ऑन दि रिलिजिस सेक्ट्स ऑफ हिन्दूज, पृ. 24
37. बदरीनारायण श्रीवास्तव : रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ. 85
38. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 47
39. श्री एस.डी. शर्मा : हिन्दुइज्म थ्रु दि एजेज (भारतीय विद्याभवन, बम्बई), के.सी. वरदाचारी : आसपेक्ट्स ऑफ भक्ति (मैसूर यूनिवर्सिटी), 1956
40. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 47
41. रामानन्द के 12 प्रमुख शिष्य कहे जाते हैं। उनमें विभिन्न ऊँची-नीची जातियों के व्यक्ति सम्मिलित हैं।
42. हिन्दी साहित्य, पृ. 107-108
43. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक का यह मत भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है : "वल्लभाचार्य की भक्तिपद्धति का नूतन रूप और उसमें कृष्ण के माधुर्य-भाव की उपासना की स्वीकृति अपनी विशिष्ट देन है जो विष्णुस्वामी के युग में किसी भी रूप में प्रचलित नहीं थी।" —राधवल्लभ सम्प्रदाय : साहित्य और सिद्धान्त, पृ. 50
44. पोषण तदनुग्रह : श्रीमद्भागवत 2।10।4
45. अणुभाष्य, चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद, सूत्र 9 की टीका।
46. तत्त्व-दीप-निबन्ध : भागवतार्थ प्रकरण (डॉ. हरवंशलाल शर्मा द्वारा सूर और उनका साहित्य, पृ. 255 पर उद्धृत)।
47. एस.एन. दासगुप्ता : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, चतुर्थ भाग, पृ. 373 पर उद्धृत (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1955)।
48. महमूद गज़नवी ने अपने आक्रमणों में मथुरा-बृन्दावन को उनके मन्दिरों की मुग्ध भाव से प्रशंसा कर-करके तुड़वा दिया था। उसके पश्चात् जो तुर्क आते रहे, वे इसे नष्ट ही करते रहे। 15वीं शती में बृन्दावन विजन का स्वरूप धारण कर चुका था।
49. इस प्रसंग से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि ये बंगाली सहजिया वैष्णव-मत के ही उत्तराधिकारी थे और चैतन्य स्वयं सहजियों के ही उत्तराधिकारी बने।
50. एम.टी. केनेडी : चैतन्य मूवमेण्ट, पृ. 45-46 (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1925)।
51. वासुदेव गोस्वामी : भक्तकवि व्यास जी, जीवनी खण्ड, पृ. 54
52. (क) डॉ. नारायणदत्त शर्मा, स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, (अप्र. प्रवं.), पृ. 170
(ख) डॉ. शरण बिहारी गोस्वामी : हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य में सखी भाव. (अप्र, प्रवं.), पृ. 419
53. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 172
54. हरिवंशी हरिदासी जहाँ, मोहि करुना करि राखो तहाँ : भक्तकवि व्यास, पृ. 407
55. श्री स्वामी हरिदास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 83 पर उद्धृत।
56. भागवत सम्प्रदाय, पृ. 351
57. सूरदास और उनका साहित्य, पृ. 101
58. वैष्णव धर्म, पृ. 86
59. हिन्दी साहित्य कोश में सखी-सम्प्रदाय पर टिप्पणी, पृ. 804
60. भगवत रसिक : अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ, पृ. 83
61. भक्तनामावली (बयालीस लीला), पृ. 28
62. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ. 68

63. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. 51-52
64. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 172
65. डॉ. शरण बिहारी गोस्वामी : हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य में सखी भाव (अप्र, प्रबं), पृ. 419
66. श्री सर्वेश्वर, वर्ष 4, अंक 2, पृ. 29
67. व्यास वाणी।
68. श्री सर्वेश्वर, वर्ष 3, संख्या 2, पृ. 14 पर विश्वेश्वर शरण जी द्वारा उद्धृत।
69. 'भक्तमाल', छ्प्पय सं. 91
70. राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः। —गीतगोविन्द
71. भगवत् रसिक : अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ, पृ. 43
72. वासुदेव गोस्वामी : भक्तकवि व्यास जी : हित हरिवंश जी के निम्न पद को उन्होंने सुना था :
आजु अति राजत दम्पति भोर।
सुरति रंग के रस में भीने, नागर नवल किशोर। —जीवनी खण्ड, पृ. 54
73. गोस्वामी हित हरिवंश सम्प्रदाय और साहित्य।
74. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य।
75. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, पृ. 106
76. कहते हैं कि वृन्दावन चलते समय उनकी प्रथम पत्नी रुक्मिणी देवी बच्चों के छोटा होने के कारण आ नहीं पायी थीं। क्या यह सम्भव नहीं कि किसी कारणवश कष्ट होने के कारण साथ न दे सकी हो, एवं तरुण भक्त हित हरिवंश की भक्ति-पद्धति की ओर वह ब्राह्मण और उसकी कन्याएँ भी आकर्षित हुई हों एवं परिणाम इस विवाह के रूप में हुआ हो। (इस स्वप्न में कहा गया है कि राधा ने कहा था कि यह विवाह उनके भक्ति-भाव का विरोध न होगा। इससे भी यह ध्वनि निकलती है कि सम्भवतः प्रथम पत्नी उनकी भक्ति-पद्धति से सहमत न थी। गृहस्थी के साथ भक्त के आदर्श का पालन करने वाले हित हरिवंश जी एवं उस युग की बहुविवाह-प्रथा को देखते हुए चारित्रिक दृष्टि से यह बात अनुचित नहीं प्रतीत होती।
77. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. 108
78. त्वमसि श्रीहरिवंश श्यामचन्द्रस्य वंशे, परमरसदनादैर्मोहितः सर्वविश्वः।
अनुपमगुणदामैर्निमितोऽसि द्विजेंद्र, मम हृदि तव गाथाश्चित्रलेखेव लग्नाः॥ —प्रबोधानन्द
79. 'राधासुधानिधि' के बारे में यह ख्याति है कि वह उन्होंने शैशव में ही लिखी थी।
80. आर.ए. निकल्सन : लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ दि अरब्स, पृ. 229
81. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम, पृ. 681-682
82. ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ दि अरब्स, पृ. 392
83. वही, पृ. 392
84. मागरिट स्मिथ : अल ग़ज़ाली : दि मिस्टिक, पृ. 104
85. "इसमें सन्देह नहीं कि सूफ़ियों को अद्वैतवाद पर लाने वाले प्रभाव अधिकतर बाहर वाले थे।"
पं. रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पृ. 131-132
86. (क) वही, पृ. 132
(ख) डॉ. मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास, पृ. 151
87. द मिस्टिक्स ऑफ इस्लाम, भूमिका पृ. 9
88. वही, पृ. 9
89. वही, पृ. 18

90. योर गॉड इज वन गॉड, देयर इज नो गॉड सेव हिम, द बेनीफिशन्ट दि मर्सीफुल—ग्लोरियस क़ुरान, 2।163
91. अल्लाह इज ऑल एम्ब्रेसिंग, ऑल नोंइग, वही, 50।4
92. वही, पृ. 514
93. वही, पृ. 3।148
94. ए.जे. आरबेरी : सूफ़िज्म, पृ. 13
95. आरबेरी : सूफ़िज्म, पृ. 43
96. मार्गरेट स्मिथ : राबिया द मिस्टिक, पृ. 27
97. आरबेरी द्वारा पृ. 42 पर उद्धृत
98. युसूफ़ हुसैन : ग्लिम्पसेज ऑफ मेडीवल इण्डियन कल्चर, पृ. 35
99. रामपूजन तिवारी : सूफ़ीमत : साधना और साहित्य, पृ. 205
100. युसुफ़ हुसैन : ग्लिम्पसेज ऑफ मेडीवल इण्डियन कल्चर, पृ. 36
101. सियाकल औलिया (यूसुफ़ हुसैन द्वारा पृष्ठ 43 पर उद्धृत)।
102. डॉ. विमल कुमार जैन : सूफ़ीमत और हिन्दी साहित्य, पृ. 83 पर उद्धृत।
103. "भक्ति के साधन-पक्ष में श्री वल्लभाचार्य जी के सम्प्रदाय पर श्री रूपगोस्वामी द्वारा विवेचित भक्ति-पद्धति का किसी हद में प्रभाव, श्री विट्ठलनाथ जी के समय में अवश्य हुआ। सम्भव है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने अथवा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने गान और वाद्य की महत्ता चैतन्य महाप्रभु की प्रेरणा से ली हो।" —डॉ. दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ. 58 द्रष्टव्य है कि गान और वाद्य की यह महिमा अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों में भी स्वीकार की गयी एवं उसका चरम रूप स्वामी हरिदास में उपलब्ध होता है।
104. भक्त कवि व्यास जी, पृ. 197, पद संख्या 26

द्वितीय अध्याय

भक्ति-विवेचन

भक्ति के तत्त्व

पिछले अध्याय में हम कह चुके हैं कि भक्ति की प्राचीन परम्परा 15वीं-16वीं शताब्दी में आकर एक नये आवेश और शक्ति से समृद्ध हो उठती है। इसी काल में देश के विभिन्न भागों में विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों का उद्‌भव होता है। यद्यपि बाद को भी कुछ सम्प्रदाय अस्तित्व में आये, पर वे सभी मूलतः इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। इस अध्याय में हम भक्ति के स्वरूप-विश्लेषण का प्रयास करेंगे। भक्ति की विविध परिभाषाओं के अनुशीलन से हमें ऐसा लगा कि भक्ति के कतिपय सामान्य तत्त्व निर्धारित किये जा सकते हैं। आचार्यों ने अपनी पूजा, भाव या दर्शन-विशेष के अनुसार इनमें से कभी किसी एक पर बल दिया है और कभी किसी दूसरे पर। नीचे हम भक्ति की कतिपय परिभाषाएँ दे रहे हैं :

1. *महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।*
   भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।
   सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
   नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।

(गीता, 9। 13-14)

2. *या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।*
   त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।।

(विष्णु पुराण, 1-20।20)

(अविवेकी पुरुषों की विषयों में जैसी अविचल आसक्ति रहती है, तुम्हारा अनुस्मरण करते हुए तुम्हारे प्रति मेरी भी वैसी ही अविचल प्रीति रहे, वह मेरे हृदय से कभी दूर न हो।)

3. *सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।*
हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते।।

(नारद पाञ्चरात्र, कल्याण, भक्ति अंक, पृ. 261 पर उद्धृत)

(तत्परतापूर्वक सम्पूर्ण उपाधियों से रहित होकर इन्द्रियों से विशुद्ध भगवत्सेवा ही भक्ति कही जाती है।)

4. (क) *मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।*
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।।

(श्रीमद्भागवत, 3।29।11-12)

(सागर में स्वतः प्रवाहित गंगा के जल की धारा के समान जो मनोगति मेरे गुण-श्रवण मात्र से फलानुसन्धानरहित तथा भेददर्शनविहीन (अनन्य भाव) होकर सर्वान्तर्यामी मुझ पुरुषोत्तम में अविच्छिन्न भाव से निहित होती है, वह मनोगति रूपा भक्ति ही निर्गुण भक्तियोग का स्वरूप है।)

तथा

(ख) *देवानां गुणलिंगानामानुश्रविककर्मणाम्।*
सत्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।।
अनिमित्ता भागवती भक्ति..................

(श्रीमद्भागवत, 3।25।32-33)

(तात्पर्य यह कि सांसारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप से जब भगवान में लगती है तो उसे भक्ति कहते हैं।)

5. *मोक्षकारणसामग्र्या भक्तिरेव गरीयसी।*
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।।
स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः।

(शंकराचार्य, विवेक चूडामणि, 32-33)

(मुक्ति की कारणरूप सामग्री से भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसन्धान करना ही 'भक्ति' कहलाता है। कोई-कोई स्वात्मतत्व का अनुसन्धान ही भक्ति है—ऐसा कहते हैं।)

6. *भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तिता।*
तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिसाधनभूयसी।।

(गरुड पुराण, अ. 231)

(भज् धातु का सेवन के अर्थ में प्रयोग होता है, इसलिए बुद्धिमानों ने सेवा को ही भक्ति में प्रधान कहा है।)

7. *पूज्येष्वनुरागो भक्तिः* (पूज्य जनों में अनुराग ही भक्ति है।)

(देवी भागवत, 7।31)

8. (क) *सा परानुरक्तिरीश्वरे* (वह ईश्वर में परानुरक्ति है।)

(शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, 2)

(ख) *द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः।* (वही, 6)

9. (क) *सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा* (वह ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा है।)

(नारद भक्तिसूत्र, 2)

(ख) (नारद भक्तिसूत्र में बताया गया है कि भगवान की पूजादि में 'अनुराग' पाराशर के अनुसार भक्ति है तथा कथाओं आदि में 'प्रेम' गर्ग मुनि के अनुसार भक्ति की परिभाषा है। सूत्र 16 एवं 17)

10. (क) *"स्नेहपूर्वकमनुध्यानम्"*—रामानुज, विशिष्टाद्वैत कोश,

(सम्पादक, डी.टी. ताताचार्य, पृ. 184)

(ख) *महनीयविषये प्रीतिरेव प्रीतिरूपापसन्ध्यानम्, सा एव भक्तियोगः; परमाभक्तिरतिशयिता प्रीतिः* (परमाभक्ति अतिशय प्रेम है।)

(वेदान्त देशिक, वही पृ. 184)

11. श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार, "भक्ति का सार है प्रपत्ति...प्रपत्ति की उपासना से भगवत्कृपा सम्पादित होती है और इसी भगवत्कृपा से ही भक्ति की प्राप्ति होती है।" (वही पृ. 217-18)

12. *कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते*
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा।।

(निम्बार्काचार्य, दशश्लोका, 9)

(दैन्यादि गुणों से युक्त पुरुष के ऊपर भगवान श्रीकृष्ण की कृपा प्रकट होती हे। उस कृपा के द्वारा उन सर्वेश्वर परमात्मा में प्रेम विशेष रूपा भक्ति उत्पन्न होती है। यह भक्ति दो प्रकार की है—एक साधन रूपा अपराभक्ति और दूसरी उत्तमा-पराभक्ति)

13. माध्व सम्प्रदाय में मलरहित निर्दोष (निःस्वार्थ) अमलाभक्ति को सायुज्य मुक्ति का उपाय माना है।

· (बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृ. 226)

14. *सा तैलधारासमा नित्य-संस्मृतिः सन्तानरूपेशपरानुरक्तिः।*
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाद्यष्टसुबोधकांगाः ॥

(रामानन्द, वै.म.भा., श्लोक 65)

(तेलधारा के समान अविच्छिन्न रूप से नित्य स्मरणपूर्वक परम अनुराग ही भक्ति है।वह सात विवेकादि उपायों से उत्पन्न होती है तथा यमादि के आठ अंग उसके बोधक हैं।)

15. *माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।*
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥

(वल्लभाचार्य : त.दी.नि. शास्त्रार्थ प्रकरण, 46)

(भगवान के माहात्म्य ज्ञानपूर्वक उनमें सर्वाधिक और दृढ़ स्नेह का होना ही भक्ति है और उसी से मुक्ति होती है। मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

16. *अन्याभिलषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।*
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

(रूप गोस्वामीः हरिभक्ति-रसामृत सिन्धु, पूर्वक विभाग, 1।11)

(सम्पूर्ण अभिलाषाओं से रहित तथा ज्ञान और कर्म से अनाच्छादित श्रीकृष्ण के अनुकूल अनुशीलन उत्तमा भक्ति है।)

17. *द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकताङ्गता।*
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

(मधुसूदन सरस्वती : भक्ति-रसायन, 1।3)

(भागवत धर्मों को सेवन करने से द्रवित हुए चित्त की भगवान सर्वेश्वर के प्रति जो धारावाहिक (अविच्छिन्न) वृत्ति है, उसी को भक्ति क़हते हैं।)

18. *भक्तिर्मनस उल्लासविशेषः।*
(भक्ति मन का विशेष उल्लास है।)

(भक्ति-मीमांसा-सूत्र, 1)

19. *सर्वात्मना निमित्तैव स्नेहधारानुकारिणी।*
वृत्तिः प्रेमपरिष्वक्ता भक्तिर्माहात्म्यबोधजा ॥

(शाण्डिल्य संहिता, कल्याण, भक्ति-अंक, पृ. 247 पर उद्धृत)

20. *निसिदिन हरि सों चित्तासक्ति, सदा ठगृयो सो रहिये।*
कोऊ न जानि सके, यह भक्ति प्रेम लक्षणा कहिये ॥

(सुन्दरदास, ज्ञानसमुद्र, भक्ति निरूपण, 40)

इन परिभाषाओं तथा सम्बन्धित साहित्य के अध्ययन के पश्चात् हम भक्ति के निम्नलिखित तत्त्व निर्धारित कर सकते हैं–

(1) **प्रेम**–भक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रेम है, यह कहना तनिक भी अनुचित न होगा।[1] वास्तव में यह तत्त्व ही वह आधार है जो भक्ति को अन्य साधनामार्गों से पृथक् ही नहीं करता, श्रेष्ठ भी बनाता है। यों तो भागवतकार ने कहा है "जो पुरुष भगवान में निरन्तर काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहार्द का भाव रखते हैं वे भी तन्मयता को प्राप्त हो जाते हैं।"[2] तथा वल्लभाचार्य ने भी लिखा है 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः...।[3] परन्तु जैसा कि पूर्व-कथित परिभाषाओं से ज्ञात होगा कि रागतत्त्व का भक्ति के क्षेत्र में, जैसा श्रेष्ठ प्रकाशन प्रेमभावना (अनुरक्ति, स्नेह, लगाव) में होता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। यह प्रेमभावना अनेक रूप ले सकती है, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

यहीं पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि इस प्रेम से तात्पर्य क्या है? चैतन्य सम्प्रदाय में प्रेम को काम से अलग करते हुए उसे कृष्णसुख-तात्पर्य कहा।[4] पुष्टिमार्गीय गोपेश्वर महाराज ने अपने 'भक्तिमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ में प्रेमसम्बन्धी कतिपय विचारों का संकलन किया है। इस संकलन के अनुसार 'भक्ति-चिन्तामणि' में योग-वियोग-वृत्ति को प्रेम कहा गया है यानी योग में वियोग की शंका और वियोग में योग की उत्कण्ठा ही प्रेम है। इसी से मिलता-जुलता गुणाकार का मत उद्धृत है–यथा 'योगे वियोगवृत्तिः प्रेम तथा वियोगे योगवृत्तिरपि प्रेम।[6] गोविन्द चक्रवर्ती का मत है कि जो तमाम आपत्तियों के एवं कठिनाइयों बीच भी नहीं छीजता, ऐसा गाढ़ व्यसन ही प्रेम है।[7] परमार्थ ठक्कुन के अनुसार वस्तु के प्रति एक (गहन) अवर्णनीय पुकार (या खिंचाव) को प्रेम कहते हैं।[8]

इन मन्तव्यों में एक विशेष आकर्षण या आकांक्षा-तत्त्व को प्रेम के मूल में स्वीकार किया गया है एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अनुचित भी नहीं है। विष्णुपुराण, रामचरितमानस[9] सुन्दर दास के ज्ञानसमुद्र[10] आदि में इसी आकर्षण को स्वीकार किया गया है।

आकर्षण जो जड़ के प्रति है, वह चिद् के प्रति हो जाये–शर्त केवल इतनी है। जीव गोस्वामी ने अपने 'भक्ति-सन्दर्भ'[11] में स्पष्ट कहा है, "तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गेच्छामयः प्रेम रागः यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्याय, तादृश एवात्र भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते।[12] अर्थात् जैसे विषयी पुरुषों का स्वभावतः ही विषयों के प्रति विषय-संसर्ग की इच्छा से युक्त आकर्षण होता है, जैसे आँखों आदि का सौन्दर्य के प्रति झुकाव होता है, उसी प्रकार भक्त का जब भगवान के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है, तब उसे राग कहते हैं।

परन्तु गोपेश्वर महाराज राग के इस आकांक्षा-तत्त्व को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार आकांक्षा एक अन्य आकांक्षा (पुरुषार्थ) का विषय नहीं बन सकती। उनके अनुसार भक्ति में 'भज्' धातु है एवं 'क्तिन्' प्रत्यय है। धातु का अर्थ सेवा है और प्रत्यय का प्रेम। इन दोनों से मिलकर यह शब्द बनता है और दोनों ही अर्थों को लक्षित कराता है। बिना प्रेम के सेवा कष्टकर होती है एवं सेवा के बिना प्रेम पूर्ण नहीं होता है।[13]

इस विवेचन से हम भक्ति के दूसरे तत्त्व पर पहुँचते हैं और वह है सेवा।

(2) **सेवा**–'गरुड पुराण' की परिभाषा में व्युत्पत्ति की ओर संकेत करते हुए ही सेवा को भक्ति का साधन कहा गया है। 'नारद पाञ्चरात्र' की परिभाषा में भी इन्द्रियों द्वारा सभी उपाधियों से मुक्त होकर तत्परतापूर्वक सेवा करने का ही निर्देश किया गया है।[14] निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वयं निम्बार्क ने कहा है कि कृष्ण के चरण कमलों की सेवा छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं हैं–

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्त-सुचिन्त्य-विग्रहा
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्य साशयात्।[15]

वास्तव में जहाँ भी सखी-भाव या मंजरी-भाव की उपासना स्वीकृत है, वहाँ पर सेवा-भावना अनिवार्य है। निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभीय, हरिदासी एवं रामभक्ति के मधुरोपासक, इन सभी सम्प्रदायों में सखी द्वारा युगल रूप की सेवा सर्वात्मना स्वीकृत है। पुष्टिमार्ग को तो सेवामार्ग भी कहते हैं। वहाँ पर तनूजा, वितजा और मानसी तीन प्रकार की सेवाएँ मानी जाती हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार 'कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।'[16] वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ सेवा-फल में सेवा का स्वरूप एवं परिणाम सभी विवेचित किये हैं। उनके अनुसार सेवा के तीन फल प्राप्त होते हैं–अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य एवं सेवोपयोगी देह। इनमें प्रथम सबसे श्रेष्ठ है जो कि मानसी सेवा का परिणाम है। पुष्टिमार्ग के प्रसिद्ध आचार्य हरिराय जी ने भी सेवा का विशेष विवेचन किया है। उनके अनुसार भी तीन प्रकार की प्रभु-सेवा में मानसी सेवा ही फल-रूपिणी एवं निरोधरूपा है तथा वह ब्रजभक्तों में यहीं दिखाई देती है। हरिराय जी ने तो सेवा और पूजा का भी अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि सेवा में स्नेह के साथ लौकिक युक्ति से परिचर्या होती है तथा पूजा में शास्त्रानुकूल अर्चना की जाती है।[17] गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने सेवा-विधि की सांगोपांग व्यवस्था की थी। इस तत्त्व के अन्तर्गत ही विविध सम्प्रदायों की अष्टयाम सेवा भी आती है। दास-भाव की भक्ति का तो मुख्य आधार ही सेवा-तत्त्व है। वात्सल्य में पुत्र की सेवा होती है और साख्य भाव में भी सेवा का अभाव नहीं है।

सेवा या तो प्रिय की होती है (और प्रेम-तत्त्व को हम ऊपर स्वीकार कर चुके हैं) या फिर महत् की। इस स्थापना के साथ ही हम भक्ति के तीसरे तत्त्व पर आते हैं।

(3) **माहात्म्य-ज्ञान**—नारद ने अपने भक्तिसूत्र में भक्तिभावना के लिए 'यथाव्रजगोपिकानाम्'[18] कहा है। तत्पश्चात् अगले सूत्र में ही कह दिया है कि इस अवस्था में भी (गोपियों में) माहात्म्य-ज्ञान की विस्मृति का अपवाद नहीं, क्योंकि उसके बिना वह प्रेम जारों के प्रेम के समान है।[19] बोपदेव ने इसी बात को अपने 'मुक्ताफल ग्रन्थ' में दुहराया है कि स्नेह निषिद्ध तत्त्व तब बन जाता है, जबकि देवता को देवता की तरह न देखकर मित्र के समान देखा जाता है।[20] वास्तव में बिना माहात्म्य-ज्ञान के जो प्रेम होगा वह स्वसुख की ओर अधिक ध्यान देगा एवं जब तक अहंता विद्यमान है तब तक प्रभु-प्राप्ति होती नहीं। माहात्म्य-ज्ञान होने पर ही प्रेम 'तत्सुखी' बनता है। इसीलिये वल्लभाचार्य ने 'सुदृढ़' एवं 'सर्वतोऽधिक प्रेम' को माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक होने पर ही भक्ति कहा है।[21] यद्यपि प्रेम की श्रेष्ठतम स्थितियों में 'माहात्म्य-ज्ञान' का महत्त्व कम हो जाता है, ऐसा विद्वानों का कथन है। स्वयं गोस्वामी हरिराय के अनुसार, "श्री आचार्य जी के मारग को स्वरूप कहा गया है जो माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक दृढ़ स्नेह सो सर्वोपरि है, से ठाकुर जी को बहुत प्रिय है, परन्तु जीव माहात्म्य राखे। सो काहे ते। जो माहात्म्य बिना अपराध को भय मिट जाये तासों प्रथम दशा में माहात्म्य-युक्त स्नेह आवश्यक कहिए...सो ठाकुर जी भक्तन के स्नेहवश होय भक्तन के पाछे-पाछे डोलते हैं; सो जहाँ ताईं ऐसो स्नेह नाहीं होय, तहाँ ताईं माहात्म्य राखनो...तासों माहात्मय विचारे और अपराध सो डरपे तो कृपा होय। जब सर्वोपरि स्नेह होयनों तब आप ही ते स्नेह ऐसो पदार्थ जो माहात्म्य कूं छुड़ाय देयगो।"[22] पर हमारा विचार है कि इस स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते माहात्म्य-ज्ञान अवचेतन में इतना गहरे पैठ चुका होता है कि बिना ऊपर से ध्यान रखे वह साधक के कार्यों का नियामक बन जाता है।

(4) **अविच्छिन्नता या नैरन्तर्य**—यदि प्रेम-भावना, सेवा या माहात्म्य-ज्ञान आदि कभी-कभी ही मन में आये तो मन में वह तीव्रता आ ही नहीं सकती जो भक्त और भगवान को निजी सम्बन्धों में बाँध देती है। इसी कारण भक्ति के परिभाषाकारों एवं व्याख्याताओं आदि ने बार-बार भक्ति की अविच्छिन्नता, नैरन्तर्य, धारावाहिकता या अव्यभिचारित्व एवं सातत्य की ओर संकेत किया है। पीछे दी गयी परिभाषाओं में गीता, भागवत, रामानन्द, मधुसूदन सरस्वती, शाण्डिल्य संहिता, सुन्दरदास आदि ने इसी तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है।[23] पुष्टिमार्ग, चैतन्य, राधावल्लभ आदि सभी सम्प्रदायों में भक्ति के इस नैरन्तर्य वाले तत्त्व की ओर इंगित किया गया है। देवी भागवत भी तैलधारा के समान अविच्छिन्नता को स्वीकार करती है।[24]

(5) **अनन्यता**—अविच्छिन्नता का ही अलग चरण अनन्यता है। भागवतकार ने इस क्रम को अत्यधिक काव्यात्मक रूपक में कहा है। उनके अनुसार सागर में स्वतः

प्रवाहित गंगाजल की धारा के समान जब मनोगति अनन्य भाव से भगवान में निहित होती है, तो उसे निर्गुण-भक्ति कहते हैं।[25] गंगा की धारा जहाँ नैरन्तर्य की द्योतक है, वहीं सागर में ही गिरना उसकी अनन्यता है। इसी प्रकार मात्र इष्ट देव में ही प्रेम, सेवा आदि निरन्तर लगे रहें, तभी भक्ति की स्थिति सम्भव है। जब तक मन में द्विविधा, संशय या व्यभिचारित्व विद्यमान है, तब तक वह एकाग्रता आ ही नहीं सकती जो भक्त और भगवान को एक कर देती है। तुलसीदास ने अपने चातक के आदर्श[26] के माध्यम से इसी अनन्यता की ओर संकेत किया है। निम्बार्क की तथाकथित दशश्लोकी का "नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्" (श्लोक 8) इसी अनन्यता की ओर संकेत करता है। गीता इसी अनन्यता की चाह करती है–

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।[27]

अर्थात् जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुक्त परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन नित्य निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाले पुरुषों के योगक्षेम का मैं स्वयं वहन करता हूँ। नारद भक्तिसूत्र के अनुसार भक्ति निरोधरूपा होती है।[28] भगवान में अनन्यता एवं प्रतिकूल विषय में उदासीनता को निरोध कहते हैं।[29] फिर अनन्यता की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं, दूसरे आश्रयों के त्याग का नाम अनन्यता है।[30] वास्तव में प्रेमी भक्त के मन में अपने प्रियतम को छोड़कर और किसी की कल्पना ही नहीं होती है। रहीम ने ठीक कहा है है–

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरि जाय।।

इसी प्रकार सुन्दरदास ने भी अपने ज्ञान-समुद्र में भक्ति-निरूपण वाले अध्याय में कहा है–

सुनै न कान और की, द्रसै न और अच्छना।
कहै न बात और की, सुभक्ति प्रेम लच्छना।।[31]

प्रह्लाद जब भगवान से अविचल भक्ति माँगते हैं, तब इसी अनन्यता की ओर ही इंगित करते हैं।[32] श्री रूप गोस्वामी ने अपनी भक्ति की परिभाषा[33] में यद्यपि अनन्यता का उल्लेख नहीं किया है, पर परिभाषा का विश्लेषण करने पर हम अनन्यता वाले तत्त्व को निश्चित रूप से उपलब्ध करते हैं। जब कोई अन्य अभिलाषा नहीं है, ज्ञान-कर्मादि से अनावृत है और मात्र अनुकूलभाव से कृष्णानुशीलन है तो अनन्यता स्पष्ट प्रतीत होती है। इसी प्रकार 'नारद पाञ्चरात्र' की परिभाषा[34] में भी अनन्यता का अभिप्राय निहित है। वास्तव में प्रेम-भावना के पश्चात् दूसरा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व अनन्यता ही है। श्री सम्प्रदाय में प्रपत्ति के तीन विशेषण–अनन्य शेषत्व, अनन्य साधनत्व एवं अनन्य भोगत्व भी इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं। अन्य भक्तिमार्गों की साधना-पद्धतियाँ भी अनन्यता को बराबर स्वीकार करती हैं।

(6) **शरणागति या प्रपत्ति**—अनन्य या अविच्छिन्न भाव से किये जाने वाले प्रेम और सेवा की वह स्वाभाविक परिणति है कि भक्त अपने को सम्पूर्णतया भगवान के चरणों में अर्पित[35] कर दे। इस अर्पण का सर्वश्रेष्ठ रूप शरणागति[36] है, जहाँ पर भगवान पर ही अपने सारे योग-क्षेम का भार सौंपकर वह निश्चिन्त हो जाता है। श्रीमद्‌भगवतद्‌गीता में इस शरणागति एवं आत्मसमर्पण के भाव की अत्यधिक विवृति हुई है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।
मन्मनाभव मद्‌भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।[37]

अपनी सुरक्षा अधिक शक्तिशाली के हाथ सौंप देना स्वाभाविक ही नहीं विवेकपूर्ण भी है। पीछे हम परिभाषा संख्या 11 में श्री सम्प्रदाय का मत उद्धृत कर चुके हैं कि भक्ति का सार प्रपत्ति है। वल्लभाचार्य ने भी शरणागति को बहुमान दिया है।[38] जीव गोस्वामी ने अपने भक्ति-सन्दर्भ में वैधी भक्ति के जिन 11 तत्त्वों की चर्चा की है, उनमें प्रथम शरणागति है एवं अन्तिम आत्मनिवेदन मानो एक ही भाव की दो स्थितियों से उसे सम्पुटित किया गया हो। नवधा-भक्ति का अन्तिम तत्त्व आत्म-निवेदन तो सर्वविदित ही है। रामानन्द ने भी भक्ति के क्षेत्र में आत्मसमर्पण को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है।[39]

आगम ग्रन्थों में प्रपत्ति का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।[40] 'अहिर्बुध्न्य संहिता' एवं 'नारद पाञ्चरात्र' में उसे 6 प्रकार का बताया गया है।[41] प्रथम है भगवान की अनुकूलता का संकल्प अर्थात् जो भगवद्‌भाव के अनुकूल कर्तव्य हो उनके पालने का नियम। द्वितीय है प्रतिकूलता का त्याग। तृतीय प्रकार यह विश्वास है कि प्रभु निश्चय ही हमारी रक्षा करेंगे। एकान्त में भगवान से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करना (लक्ष्य-निर्धारण) शरणागति का चौथा प्रकार है। पंचम है आत्म-निवेदन, अपने को सम्पूर्णतया भगवान को समर्पित कर देना तथा कार्पण्य या कातरता का प्राकट्य (अन्य दिशाओं में) प्रपत्ति का छठा रूप है। पर लौकिक व्यवहार एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक अनुकूल क्रम यों होगा—

(1) कार्पण्य, (2) आत्म-निवेदन, (3) विश्वास, (4) गोप्तृत्व का वरण, (5) प्रतिकूलता का वर्जन, (6) अनुकूलता का संकल्प।

शरणागति और आत्म-समर्पण की महत्ता को भागवतकार ने अत्यधिक दृढ़ शब्दों में व्यक्त किया है—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा,
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
ममाऽऽत्मभूत्याय च कल्पते वै ॥[42]

यानी मनुष्य जब सारे कर्मों का त्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, तब वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है तथा जीवन्मुक्त होकर मत्सदृश ऐश्वर्य की प्राप्ति के योग्य हो जाता है।

जब साधक अपने को पूर्णतया भगवान के भरोसे छोड़ देता है, तब उस परम ऐश्वर्य, परम मधुर एवं परम प्रिय से यह आशा करना अनुचित नहीं है कि वह भक्त पर कृपा करेगा। शरणागति के 6 रूपों में हम यह देख आये हैं कि उनमें से एक है—रक्षा का विश्वास। इस प्रकार जैसा कि श्री-सम्प्रदाय में कहा गया है, शरणागति या प्रपत्ति से प्रभु-कृपा प्राप्त होती है और वही कल्याण करने वाली होती है।

(7) **प्रभु-अनुग्रह**—इस प्रकार भक्ति का सातवाँ तत्त्व प्रभु-अनुग्रह सिद्ध होता है। मध्यकाल के लगभग सभी भक्ति-सम्प्रदायों में प्रभु की कृपा स्वीकार की गयी है। ऊपर हम अभी 'श्री' सम्प्रदायानुसार प्रभु-कृपा प्राप्त होने की बात कह चुके हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय का पुष्टिमार्ग नाम ही प्रभु-कृपा पर आधृत है।[43] रामानुज प्रपत्ति के द्वारा प्रभु-कृपा सम्पादित करने को कहते हैं, जबकि वल्लभ ने क्रम बदल दिया। यहाँ पर प्रभु-कृपा प्रधान हो गयी। भगवान के अनुग्रह से ही भक्त के हृदय में भक्ति का उदय होता है, इसलिए भक्त को अपना सब कुछ भगवान को हो समर्पित करना होता है। वल्लभ ने स्पष्ट कहा है, पुष्टिमार्गीय भक्ति केवल प्रभु-अनुग्रह द्वारा ही साध्य है;[44] तथा भगवान का अनुग्रह ही पुष्टिमार्गीय भक्त के सम्पूर्ण कार्यों का नियामक है।[45] हरिराय जी ने भी पुष्टिमार्ग-लक्षणानि में कहा है, "अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।"[46]

निम्बार्क की भक्ति-परिभाषा[47] में भी कृष्ण-रूपा का स्पष्ट उल्लेख है। इस परिभाषा की आत्मा और वल्लभ के विचारों में पर्याप्त साम्य जान पड़ता है। यहाँ पर भी परमात्मा की कृपा से दैन्यादि गुणों वाले व्यक्ति पर प्रभु की कृपा का उत्पन्न होना माना गया है और इस प्रभु-कृपा से ही उन सर्वेश्वर परमात्मा में प्रेम-विशेषरूपा भक्ति की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। निम्बार्क-सम्प्रदायानुसार सत्ता का अनुभव या साक्षात्कार श्रीकृष्ण की कृपा से उनके अनन्य भक्त को ही होता है[48] तथा प्रभु की कृपा का फल प्रभु की शरण की प्राप्ति करना है।

गौड़ीय वैष्णव-मत में तीन प्रकार की भक्ति मानी गयी है—साधन-भक्ति, भाव-भक्ति तथा प्रेम-भक्ति। ये उत्तरोत्तर एक-दूसरे से श्रेष्ठ हैं एवं एक स्थिति से दूसरी में प्रयाण होता है, परन्तु यह अनिवार्य क्रम नहीं है। कृष्ण-कृपा से किसी भी स्थिति में कोई भी प्रेम उत्पन्न हो सकता है। भक्ति का तीन प्रकार से उद्भव रूप गोस्वामी ने माना है—

साधनअभिनिवेशजा, कृष्णप्रसादजा, कृष्णभक्तप्रसादजा।[49] गोस्वामी ने भी प्रेमभक्ति के दो प्रकार के रूप माने हैं—भावोत्थ तथा हरिप्रसादोत्थ[50]। इस प्रकार हरिकृपा को पर्याप्त महत्त्व यहाँ भी प्राप्त है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के बारे में डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है, "सहचरी या सखी शब्द राधावल्लभ-सम्प्रदाय में जीव के निज रूप की पारमार्थिक स्थिति का नाम है...। जब तक वह जीव-रूप में अपने को मानकर इस लोक में लीन रहता है, भ्रम के जाल में भटकता रहता है, किन्तु जब उसके ऊपर श्री राधा की कृपा होती है, तब वह सहचरी-रूप को प्राप्त होकर लौकिक सुख-दुख की अनुभूतियों से ऊपर उठकर उस आनन्द को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है जो नित्य-विहार के दर्शन से उपलब्ध माना गया है।[51] स्वामी हरिदास के सम्प्रदायानुयायी विहारिणि दास का भी कहना है कि साधन और उद्यम सब व्यर्थ हैं, प्रभु की कृपा ही मुख्य है।[52] वास्तव में भक्त-कवियों के दर्जनों उदाहरण ऐसे दिये जा सकते हैं, जिनमें प्रभु-कृपा की महिमा का गान किया गया है। वस्तुतः निर्विशेष-समर्पण की यह अनिवार्य परिणति है और यह तत्त्व भी उसे अन्य साधन-मार्गों से विशिष्ट बनाता है।

(8) **निष्काम एवं अहैतुकी वृत्ति**—यद्यपि श्रीमद्‌भागवत में सात्त्विक, राजस एवं तामस भक्तों को सकाम-भावना से युक्त बताया गया है, पर उसे श्रेष्ठ नहीं माना गया। वहाँ पर भी निर्गुण-भक्ति को अहैतुक्यव्यवहिता कहा गया है।[53] गीता आदि में भक्ति का उद्देश्य या भक्त का काम्य मुक्ति अथवा भगवान की प्राप्ति कहा गया है।[54] मध्य ने सायुज्य मुक्ति को लक्ष्य माना था।[55] नारद भक्तिसूत्र में भी कहा गया है कि मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिए।[56] वल्लभ की परिभाषा में भी मुक्ति को स्थान दिया गया है।[57] पर ध्यान में रखना होगा कि इन सबने भक्ति को निष्काम भावना भी माना था। नारद भक्तिसूत्र में ही तैंतीसवें सूत्र तक पहुँचने के पूर्व ही उसे 'सा न कामायमाना'[58] तथा स्वयं 'फलरूपत्वात्'[59] कहा गया है। ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे यह विचार उठने लगा होगा कि मुक्ति की कामना भी कामना ही है। अतः मुक्ति की बात को भी भगवत्प्रेम एवं सेवा के आगे छोटा करार दिया जाने लगा। भक्त जब प्रसन्न हो गया तथा भगवान ने उसके योगक्षेम को वहन करने का भार ले लिया, तब फिर मुक्ति की कामना क्यों? सम्भवतः इस बात को सबसे पहले भागवतकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, (भागवत का समय ई. की 6-7वीं शती माना जाता है।)....ऐसे भक्तजन मेरी सेवा के सिवा सालोक्य, सार्ष्टि सामीप्य, सारूप्य और कैवल्य मोक्ष को दिये जाने पर भी ग्रहण नहीं करते"[60] भागवत में ही वृत्रासुर ने भगवान की सेवा छोड़कर सब प्रकार के वैभवों एवं मुक्ति को ठुकराने की बात कही है।[61] यों गीता में यह भावना अपरिचित नहीं है। गीताकार ने उपलब्धि के रूप में केवल भक्ति की ही चर्चा की है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्‌भक्तिः लभते पराम् ॥ 18।54

इसी भाव की और अधिक विवृति आगे होती है जब काल के भक्तकवि एवं आचार्य मुक्ति को छोड़कर भक्ति को ही अपनाने की बात कहते हैं।[62] पुष्टिमार्ग में भाव-भक्ति द्वारा पराभक्ति (निष्काम प्रेम) को प्राप्त करना ध्येय माना गया है। पराभक्ति अहैतुकी है। उस समय भक्त को भगवान के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य काम्य पदार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—नहीं चाहिए।[63] गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में तो प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना गया है—"प्रेमा पुमर्थो महान।" कृष्णदास कविराज ने कहा है :

पंचम पुरुषार्थ सेई प्रेम महाधन कृष्णेर माधुर्य रस कराम आस्वादन।[64]

तथा 'भक्ति-फल प्रेम प्रयोजन।'[65] राधावल्लभीय भक्त ध्रुवदास का कहना है कि गोपियों के प्रेम में भी सकामता थी, इसी कारण निष्काम भाव-सम्पत्ति वाली सखियों की भावना उनसे भी श्रेष्ठ है :

गोपिन के सम भक्त न आहीं, उद्धव बिधि तिनकी रज चाहीं।
तिन मन कछू सकामता आयी, ताते बिच अन्तर परयो माई।
दुख को मूल सकामता, सुख को मूल निहकाम।
विरह वियोग न तहाँ कछु, रस में ध्रुव सुखधाम।[66]

परिभाषा सं. 3, 4, 13, 16, 19 इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस तत्त्व के दो विभाग हैं—प्रथम निष्काम भाव, दूसरे कामना के क्षेत्र में केवल भगवान की सेवा या प्रेम को प्राप्त करने की अभिलाषा अर्थात् भक्ति का प्रयोजन भक्ति ही इस युग में स्वीकार कर लिया गया था।[67]

(9) सर्वजन अधिकारित्व-भक्ति-भावना प्रारम्भ से ही लोकचेतना के साथ सम्पृक्त रही है। जो भी धर्ममत लोक के निकट आता है, निश्चय ही भक्तिभाव को स्वीकार करता है। गीता में भगवान कृष्ण ने भुजा उठाकर घोषणा की है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥[68]

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि में कोई भी हो, वे भी मेरी शरण में आकर परम गति को प्राप्त होते हैं। भागवत में भी भगवान ने कहा है कि मेरी निर्मल सुयश-सुधा में गोता लगाने से चाण्डाल तक सम्पूर्ण जगत् पवित्र हो जाता है, इसीलिए मैं विकुण्ठ कहलाता हूँ।[69]

'शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र' में भी भक्ति की इस विशेषता की ओर इंगित करते हुए कहा गया है :

"आनिन्धयोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्।"

वल्लभाचार्य ने भी कहा, "किसी साधन-सम्पत्ति द्वारा भगवान भक्त से सन्तुष्ट

नहीं होते परन्तु उसके केवल एक दैन्य भाव से ही वे सन्तुष्ट होते हैं।"[70] तथा जब उन्होंने कहा कि "भगवान सर्वभाव से भजनीय हैं"[71] तब भी इसी सर्वजन-अधिकारित्व की ओर ही संकेत किया गया था। गौड़ीय वैष्णव मत में भी जीव-मात्र का साध्य भगवत्प्रेम ही बताया है।[72] राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी समान रूप से प्रत्येक को प्रेम करने का अधिकार है।

इसके अतिरिक्त विषय-विरक्ति एवं रसात्मकता भक्ति के दो अन्य लक्षण कहे जा सकते हैं। शंकराचार्य के आधार पर भक्ति का एक और लक्षण स्वस्वरूप का अनुसन्धान है (परिभाषा सं. 5)। भक्तिकाल के कवि को यह नितान्त अस्वीकृत नहीं है। सूरदास ने बड़ी सशक्त भाषा में इस तथ्य की ओर संकेत किया है। मनुष्य अपना "अपुनपो" भूल जाता है, इधर-उधर भटकता रहता है। अपने सहस्रशः पदों में इस भरमने वाले की ही वास्तविकता का अनुसन्धान भक्ति के माध्यम से उन्होंने कराना चाहा है।[73]

भक्ति के प्रकार

प्रारम्भ से ही भक्ति के विवेचकों का ध्यान भक्ति के प्रकारों की ओर रहा है। यहाँ पर हम विभिन्न विचारकों द्वारा उपस्थित किये गये प्रकरों के चार्ट प्रस्तुत कर रहे हैं। उनके सम्यक् अनुशीलन से प्रतीत होता है कि साधारणतः भक्ति के प्रकार-विभाजन के मूलाधार दो ग्रन्थ, श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवद-गीता ही रहे हैं। भागवत (दे. चार्ट सं. 2) में गुणों के आधार पर भक्ति का विभाजन किया गया है। आगे चलकर देवी भागवत (चा. 3) नारद भक्तिसूत्र (चा. 6) सूरदास (चा. 12) एवं बोपदेव (चा. 23) आदि के विभाजनों पर हम 'भागवत पुराण' के भक्ति-प्रकार-निर्णय का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं। बोपदेव ने तो विस्तृतियों तक में भागवत (3।29।8, 9-10) का अक्षरशः अनुसरण किया है। 'गीता' के विभाजन का आधार भक्त-भेद है (चा. 1)। 'शाण्डिल्य भक्तिसूत्र' (चा. 5), 'नारद-भक्तिसूत्र' (चा. 6) में उसे पूरी तरह स्वीकार किया ही गया है। उसके अतिरिक्त वल्लभाचार्य ने जब तीन प्रकार के 'जीव-भेद' स्वीकार करके तदनुकूल तीन प्रकार की पुष्टि भक्ति (चा. 10) मानी तो वे गीता की ही तर्क-पद्धति पर चले थे। कृष्णदास कविराज ने भी 'भक्त-भेद' के आधार पर भक्ति का विभाजन किया है (चा. 14)। साधनों के आधार पर 'नवधा' भक्ति का जो निरूपण भागवत में किया गया (7।5।23-24), उसे भी आगे बराबर स्वीकार ही नहीं किया गया, साधन-भक्ति के और भी प्रकार निश्चित हुए और उनमें नवधा भक्ति को अन्तर्भावित करने की बराबर चेष्टा की गयी। नवधा के आधार पर विकसित दशधा 'प्रेमाभक्ति' को विशेष मान्यता इस युग में मिली।

भक्ति के प्रकार-भेद के सम्बन्ध में एक अन्य द्रष्टव्य बात यह है कि भक्ति के दो स्पष्ट रूप प्रारम्भ से ही स्वीकार कर लिये गये थे। उन्हें सामान्यतः गौणी और परा कहते हैं। उन्हीं को अपरा और परा, नवधा और दशधा, साधन-भक्ति और भाव या प्रेम-भक्ति, मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति, मध्यमा और उत्तमा आदि अनेक नाम दिये गये हैं। भक्ति-क्षेत्र में वास्तव में दो न्याय प्रारम्भ से ही स्वीकार किये गये हैं। मर्कट-किशोर-न्याय' एवं 'मार्जार किशोर न्याय।[74] 'बन्दर का बच्चा अपनी माँ को स्वयं पकड़े रहता है पर बिल्ली स्वयं अपने बच्चे को मुख में दबाकर ले जाती है। इस प्रकार प्रथम में साधना की स्थिति आती है। साधना की स्थिति में प्रभु के ऐश्वर्य और शक्ति आदि का ध्यान रखते हुए पूज्य बुद्धि की आवश्यकता रहती है। दूसरी दशा में प्रभु-अनुग्रह मुख्य होने के कारण प्रभु के प्रति प्रेम-भावना मुख्य हो जाती है। हम भक्ति के अधिकांश प्रकारों में इन दोनों धारणाओं की छाया देख सकते हैं। गो. हरिराय जी एवं कृष्णदास कविराज के विभाजन (चा. 13 एवं चा. 18) इस तथ्य को भली-भाँति उजागर करते हैं। श्री रूप गोस्वामी (चा. 14) एवं सुन्दरदास (चा. 22) ने इन्हीं दो मुख्य प्रकारों को तीन भागों में बाँट दिया है। इन लोगों ने पराभक्ति को ही दो भागों में और बाँटा है। बोपदेव की (चा. 23) निषिद्धा, तो भक्ति में परिगणन योग्य है ही नहीं, विहिता के दो विभाजन वास्तव में परा और गौणी ही हैं। भागवत की सात्त्विकी भक्ति (चा. 2), निम्बार्क की अपरा भक्ति (चा. 8), वल्लभ की मर्यादा भक्ति (चा. 9), रूप गोस्वामी आदि की वैधी भक्ति (चा. 14) एवं बोपदेव की सात्त्विकी कर्म-मिश्रा (चा. 23), रसिकदेव की नवधा (चा. 21) एवं सुन्दरदास की कनिष्ठा (चा. 22) में कोई तात्त्विक अन्तर प्रतीत नहीं होता। ये सभी साधन भक्ति की ही विविध संज्ञाएँ हैं। इसी प्रकार पराभक्ति के लिए भी विभिन्न नामों का संकेत पीछे किया जा चुका है।

साधन या गौणी भक्ति वास्तविक भक्ति (परा, निर्गुण, पुष्टि, प्रेम, हित, उत्तमा आदि) को प्राप्त करने की प्रथम सीढ़ी है। प्रभु का प्रेम प्राप्त करना इसका लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेने के बाद और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता। यही पराभक्ति की अवस्था है। यहीं पहुँचकर नारद-भक्तिसूत्र के शब्दों में मनुष्य न किसी भी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न ही उसे (विषय-भोगों में) उत्साह होता है।[75] यह प्रेम-भाव की सर्वोत्तम अवस्था होती है, यही भक्त का चरम प्राप्य है, चरम सुख है, परम पुरुषार्थ है।[76]

चार्ट सं. 1
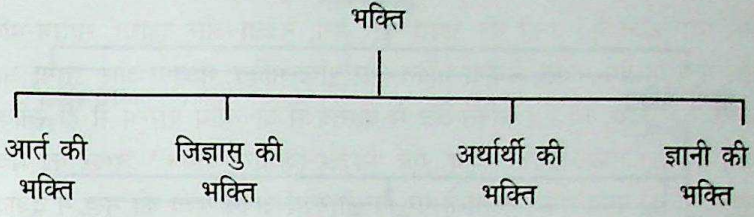
(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, 7 ।16)

चार्ट सं. 2
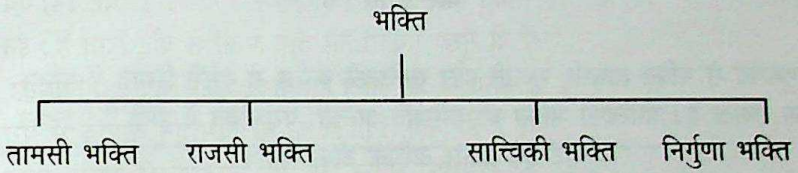
(यह भेद मनुष्यों के स्वभाव एवं गुणभेद के अनुसार है।
इनमें से प्रथम तीन के पुनः तीन-तीन भेद हैं)

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, 3 ।29 ।7)

चार्ट सं. 3
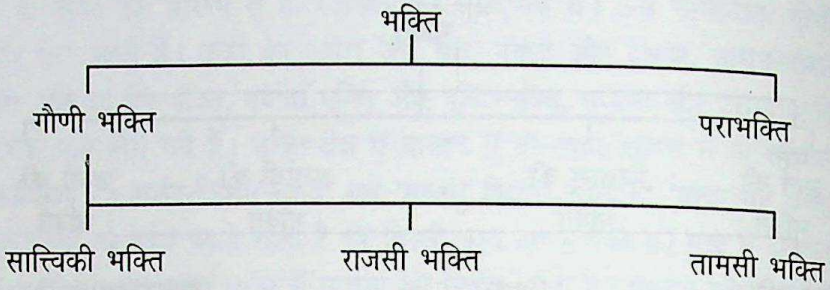
(देवी भागवत, 7-37
कल्याण, भक्ति अंक, पृ. 64 के आधार पर)

चार्ट सं. 4

गुणभेद से भक्ति तामसी, राजसी और सात्त्विकी प्रत्येक से दूसरी स्थिति में पहुँचा जा सकता है। सात्त्विकी भक्ति की परिणति अन्ततः पराभक्ति में होती है। इसका चार्ट इस प्रकार अधिक ठीक होगा।
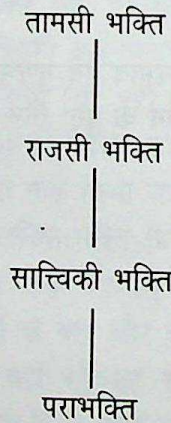
(देवी भागवत, 7।37।11-12)

चार्ट सं. 5
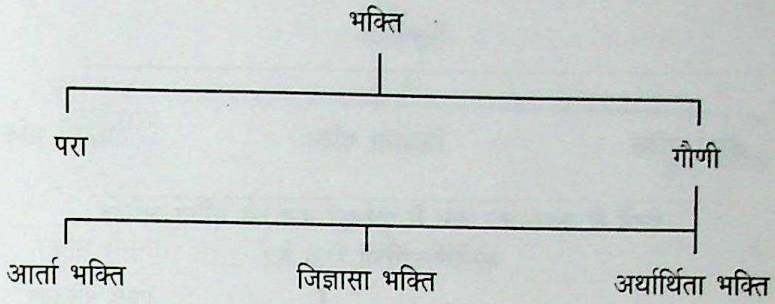
गौणी भक्ति को परा भक्ति के साधन रूप में स्वीकार किया है।

(शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र, 2 ।2 ।56 तथा 2 ।2 ।72)

चार्ट सं. 6
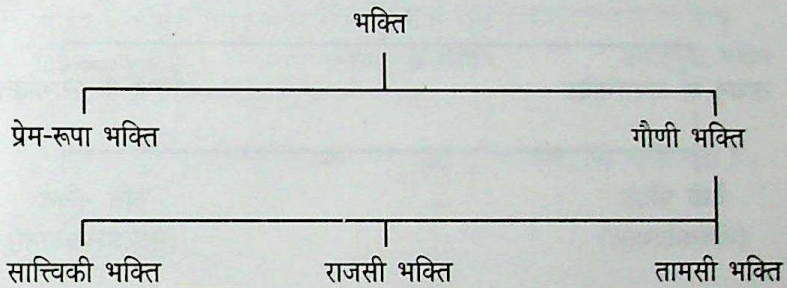
एक दूसरा विभाजन आर्तादि भेद के आधार पर भी होता है।

(नारद भक्तिसूत्र, 56)

चार्ट सं. 7
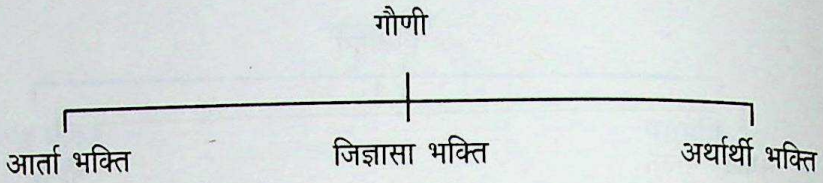
इनमें से उत्तर-उत्तर क्रम से पूर्व-पूर्व क्रम की भक्ति अधिक कल्याणकारिणी होती है।

(नारद भक्तिसूत्र, 57)

चार्ट सं. 8
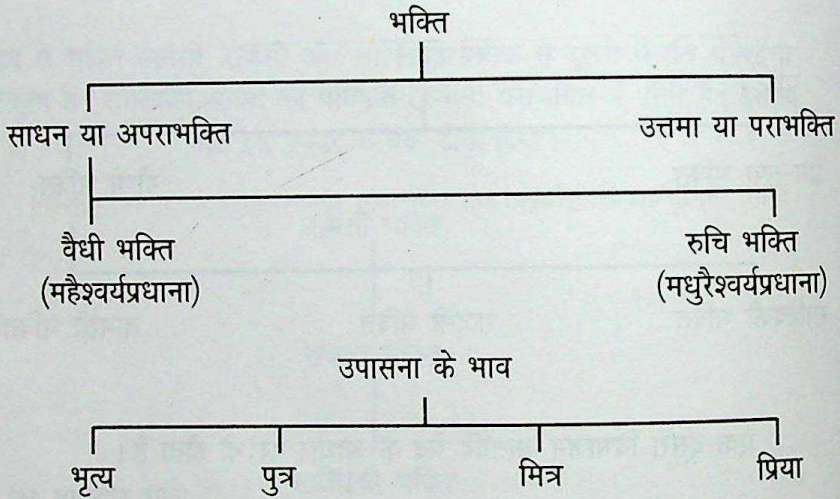
(मन्त्र रहस्यषोडशी, 16)

हरिव्यास देव ने नवधा भक्ति को साधन रूप में स्वीकार किया है तथा साध्य प्रेमलक्षणाभक्ति को माना है।

(सिद्धान्त-रत्नांजलि, पृ. 37 के आधार पर। निम्बार्क-सम्प्रदाय)

चार्ट सं. 9
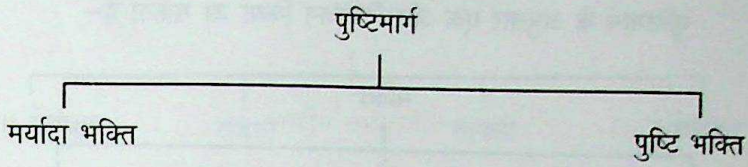
चार्ट सं. 10

जीव तीन प्रकार के होते हैं–पुष्टिमार्गी, मर्यादामार्गी एवं प्रवाही।

इस जीव-भेद से तीन प्रकार की भक्ति
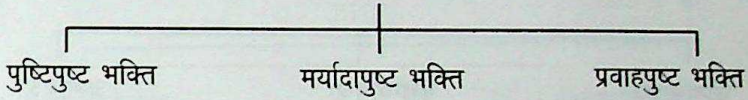
इनके अतिरिक्त सिद्धावस्था की एक शुद्ध पुष्टि भक्ति भी मानी गयी है।

चार्ट सं. 11

पुष्टिमार्ग के अनुसार एक और विभाजन किया जा सकता है—
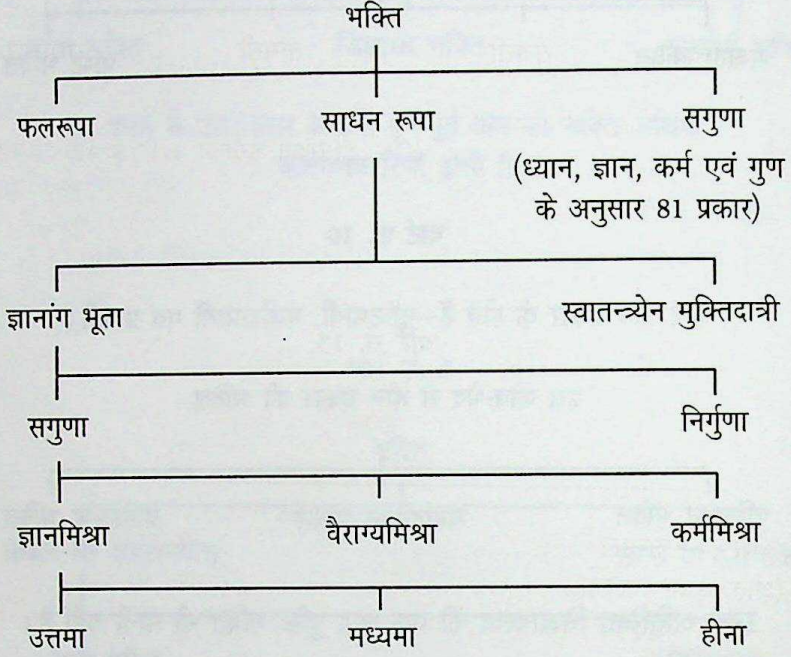
(एस.एन. दासगुप्ता : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भाग-4 में पृ. 353-354 के आधार पर।)
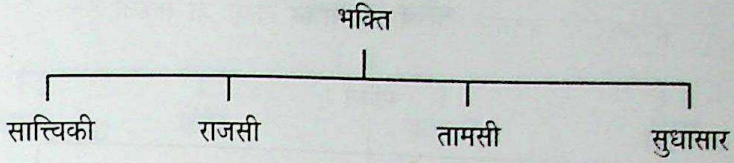
(सूरदास, सूरसागर, 3।13, पृ. 133 'ना.प्र.स.')
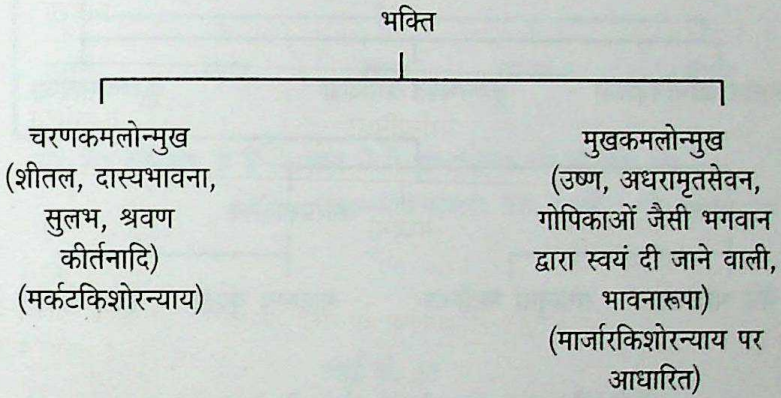
श्री हरिराय जी

(श्री हरिराय, भक्ति द्वैविध्य-निरूपणम्, श्लोक, 1-2-3)
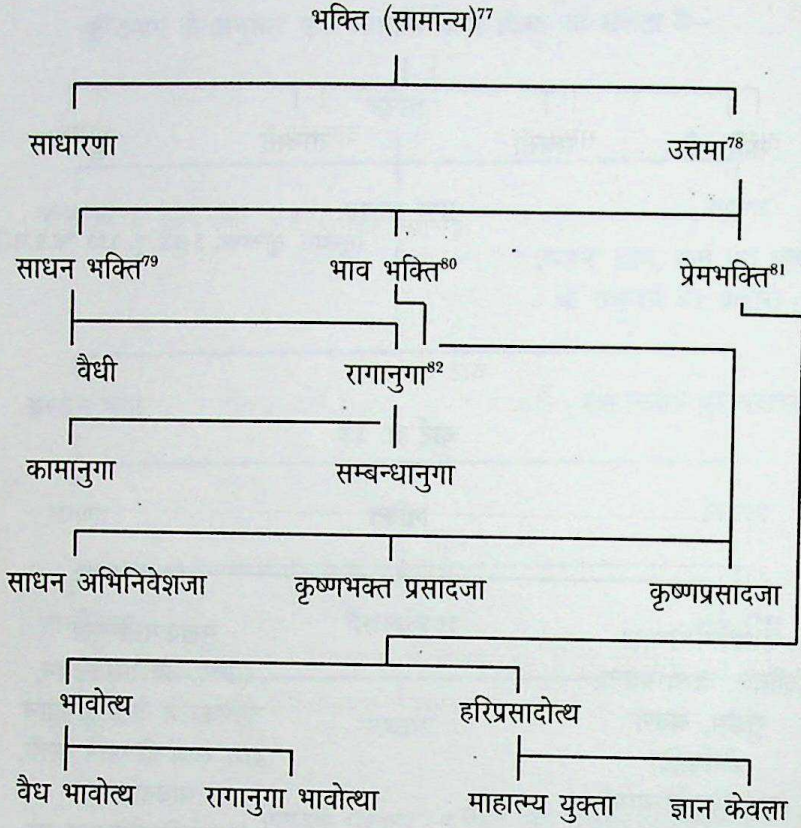
चार्ट सं. 14

गौड़ीय वैष्णव-मतानुयायी रूप गोस्वामी के अनुसार

चार्ट सं. 15
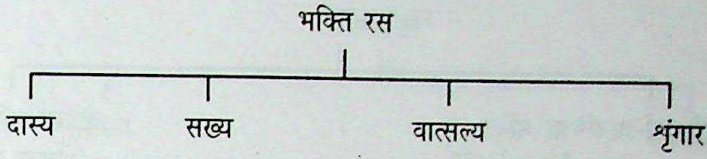
(कृष्णदास कविराज, चै.च. आदि लीला, परि. 3, पृ. 17)

चार्ट सं. 16
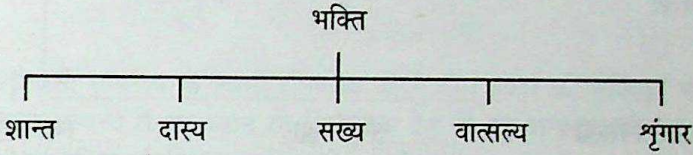
यह भेद रति-भेद से है—वास्तव में ये कृष्णभक्ति रस के पाँच भेद हैं।

(कृष्णदास कविराज, चै.च. मध्यलीला, परि. 19, पृ. 252)

चार्ट सं. 17
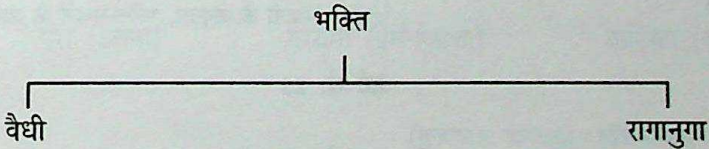
यह विभाजन साधन-भेद से है।

(कृष्णदास कविराज, मध्यलीला, परिच्छेद 22, पृ. 284)

चार्ट सं. 18
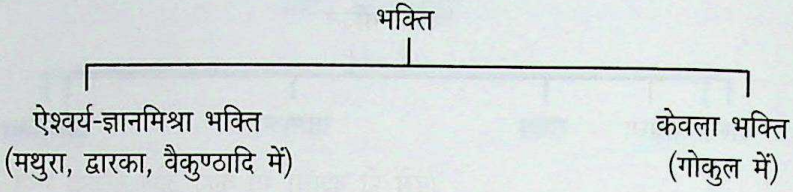
कृष्ण के स्वरूप-ज्ञान के भी प्रकार-भेद हैं।

(कृष्णदास कविराज, चै.च. मध्यलीला, परि. 19, पृ. 252)

चार्ट सं. 19
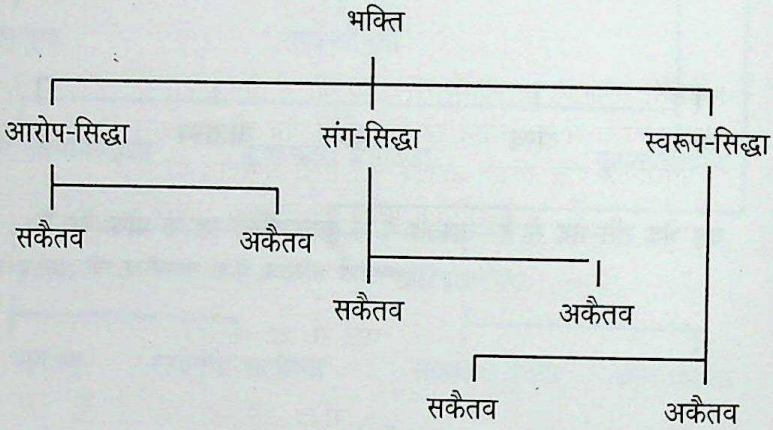
इसे अकिंचन भक्ति भी कहते हैं।

(जीव गोस्वामी के अनुसार, भक्ति-सन्दर्भ के आधार पर)

चार्ट सं. 20
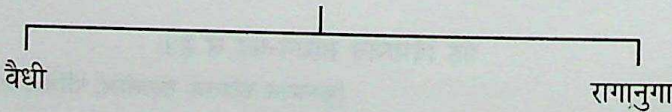
(जीव गोस्वामी के अनुसार, भक्ति-सन्दर्भ के आधार पर)
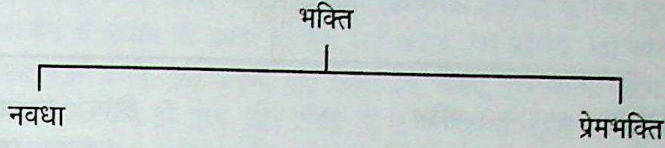
(इसे ही दशधा भी कहा और बताया गया है कि यह भक्ति गोपियों की है। इसी को शुद्ध भक्ति भी कहते हैं, जिसमें और किसी भाव का मेल नहीं होता। इसकी ही परिणति सखी-भावना में उन्होंने दिखाई है।)

(स्वामी रसिक देव जी, भक्ति-सिद्धान्त-चिन्तामणि, 72/73 तथा 89)

हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी रसिकदेव जी ने तीन प्रकार की भक्तियाँ मानी हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि रसिक देव जी इस सम्प्रदाय की आत्मा का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करते। सखी सम्प्रदाय में भक्ति का ऐसा कोई सैद्धान्तिक वर्गीकरण उपलब्ध नहीं है।

चार्ट सं. 22

(सुन्दरदास, ज्ञानसमुद्र : भक्ति-निरूपण, छन्द 4)

चार्ट सं. 23
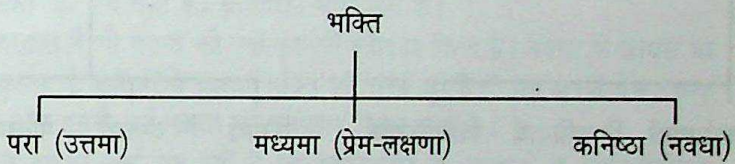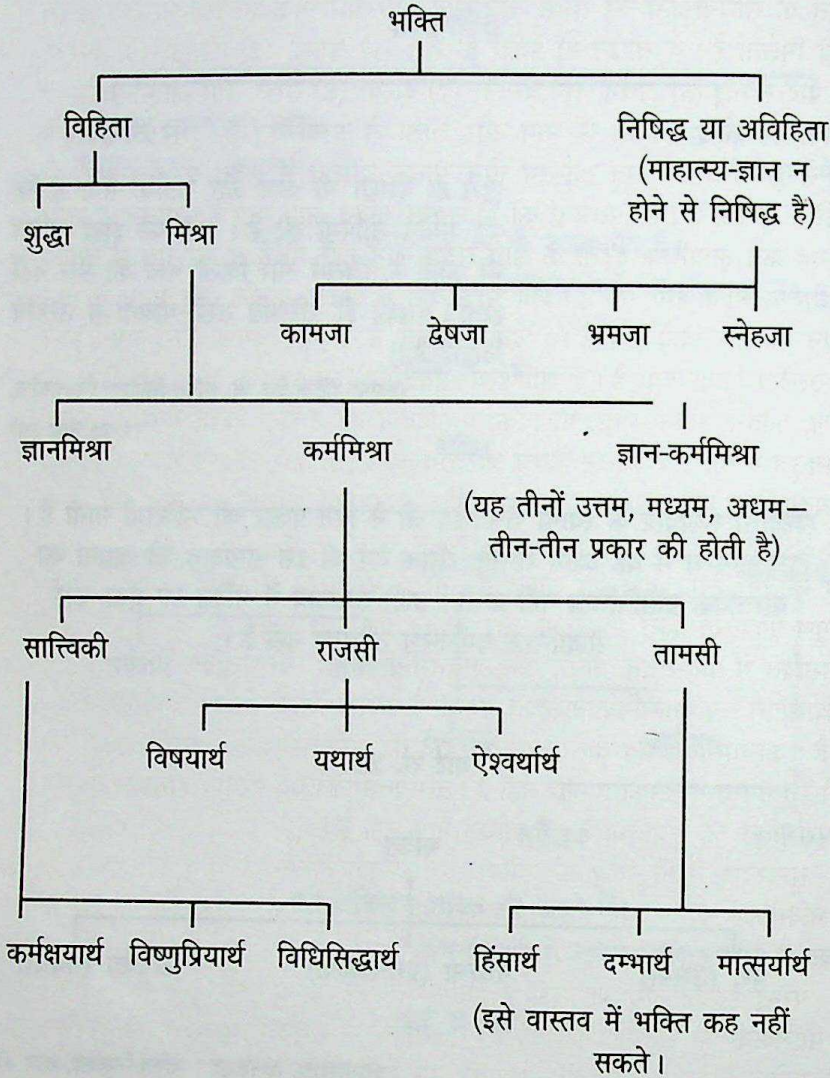
(इस वर्गीकरण की इन विस्तृतियों में भागवत 3/29 व 8-10 को ही स्पष्ट किया गया है)

(बोपदेव, मुक्ताफल के आधार पर।)

भक्ति साधना-क्रम

भक्ति के साधना-क्रम का सबसे व्यवस्थित और प्रारम्भिक उल्लेख भागवत पुराण में ही मिलता है। ये साधन नौ प्रकार के हैं : (1) श्रवण, (2) कीर्तन, (3) स्मरण, (4) पाद-सेवन, (5) अर्चन, (6) वन्दन, (7) दास्य, (8) सख्य, (9) आत्मनिवेदन।[83] इनमें प्रथम तीन भगवान के नाम और लीला से सम्बन्धित हैं, दूसरे तीन उनके रूप से सम्बन्धित हैं एवं अन्तिम तीन साधन वास्तव में भक्त के मनोजगत् से सबधित वृत्तियाँ हैं। इन साधनों को ही नवधा भक्ति कहा गया है। साधना-प्रणाली का यह क्रम अत्यधिक दृढ़ता के साथ सर्वत्र लागू नहीं भी हुआ, पर मूल में इसकी अवधारणा सदैव बनी रही है। शैव भक्तियोग में श्रवण, कीर्तन और मनन में तीन साधन स्वीकार किये गये हैं।[84] 'देवी भागवत में सद्गुण श्रवण और नाम-कीर्तन का उल्लेख किया गया है।'[85] शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र (56-57, 65, 66, 74) आदि में श्रवण, कीर्तन, ध्यान, पूजा, पादोदक, पत्रादिदान का उल्लेख किया गया है। नारद भक्तिसूत्र में भक्ति के साधन विषय और संग त्याग (सू. 35), अखण्ड भजन (सू. 36) भगवद्गुण श्रवण, कीर्तन (सू. 37) और महापुरुषों अथवा भगवान की कृपा (सू. 38) कहे गये हैं। इन सभी उदाहरणों में नवधा के कुछ अंग (विशेषतः श्रवण और कीर्तन) स्पष्ट देखे जा सकते हैं। नारद भक्तिसूत्र की ग्यारह आसक्तियों[86] में गुण-माहात्म्यासक्ति में श्रवण और कीर्तन का तत्त्व प्राप्य है। रूपासक्ति और पूजासक्ति में पाद-सेवन, अर्चन और वन्दन निहित है। स्मरणासक्ति, दास्या-सक्ति, संख्यासक्ति एवं आत्मनिवेदनासक्ति नवधा के स्मरण, दास्य सख्य एवं आत्मनिवेदन ही है। कान्तासक्ति एवं वात्सल्यासक्ति बाद को भक्ति-विवेचकों द्वारा स्वीकार की गयी हैं। नवधा में उनका उल्लेख नहीं है। तन्मयतासक्ति एवं परमविरहासक्ति वास्तव में पराभक्ति की स्थितियाँ हैं। ये साधन-मार्ग नहीं हैं।

सुन्दरदास ने भी नवधा को ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया है। नवधा के आधार पर ही भक्तिकाल के कवियों ने दशधा भक्ति की चर्चा की है।[87] यह दसवीं प्रेम-लक्षणा भक्ति है और इसके पूर्व नवधा को स्वीकार किया गया है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भक्तिकाल के आचार्यों ने इसमें नवीनता या मौलिकता की स्थापना नहीं की है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में जिस नवधा का उल्लेख किया है, वह ठीक भागवत का ही अनुवाद नहीं है। उसका क्रम यों है (1) सन्तों का संग, (2) रामकथा में अनुराग, (3) गुरु-सेवा, (4) भगवान का गुणगान, (5) मन्त्र-जाप और भजन, (6) दमशील, कर्म-विरति एवं सद्धर्म में रति, (7) संसार को भगवानमय देखना एवं राम से भी अधिक सन्त का सम्मान करना, (8) यथालाभसन्तोष तथा परदोष देखने की वृत्ति का नितान्त अभाव, (9) छलहीनता, सबसे सरलता, भगवान में भरोसा तथा दीनता (दुख) का अभाव और हर्ष।[88] तुलसी

ने अपनी नवधा में आचारपरायणता का भी समन्वय कर लिया है। स्वामी चरणदास ने भी अपनी नवधा में जहाँ भागवत के सारे तत्त्वों को स्वीकार किया है,[89] वहीं तुलसी के समान आचार के भी तत्त्वों-साधु-संगति, भक्तों की सेवा, धैर्य, दृढ़ता, क्षमा, शील, सन्तोष, दया को नवधा के अन्तर्गत ही माना है।[90]

गौड़ीय वैष्णवों में वैधी के जो 11 लक्षण बताये गये हैं, उनमें से अन्तिम 9 भागवत के ही हैं एवं प्रथम दो शरणागति तथा गुरु-सेवा और बढ़ा दिये गये हैं।[91] उन दोनों ही बातों को भक्तिकाल में अत्यधिक मूल्यवान समझा गया था। वैधी भक्ति के चौंसठ साधन गौड़ीय वैष्णव गोस्वामियों ने बनाये हैं। इनमें नवधा का समावेश हो जाता है। इन 64 अंगों में पाँच को चैतन्यदेव ने सर्वश्रेष्ठ माना था। ये पाँच साधन हैं : साधु-संग, नाम-संकीर्तन, भागवत-श्रवण, मथुरावास एवं श्रद्धा समेत मूर्ति-पूजन।[92] हरिव्यास देव (निम्बार्क सम्प्रदाय) ने दशधाभक्ति के समान भक्ति की दश-पैड़ियों का उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं—(1) रसिक जनों की सेवा, (2) हृदय में दयाभाव, (3) धर्मनिष्ठा, (4) कथा-श्रवण, (5) भगवच्चरणों में अनुराग, (6) भगवान के रूप में मन को लगाना, (7) हृदय में प्रेम-वृद्धि, (8) रूप, ध्यान, गुण-गान, (9) निश्चय और दृढ़ता का ग्रहण, (10) रस की सरिता का हृदय में प्रवाह।[93] हरिव्यास देव की इन दश पैड़ियों में भागवत की नवधा के कुछ तत्त्व तो मिल ही जायेंगे, पर अपनी मौलिकता भी द्रष्टव्य है। तुलसी के समान ही उन्होंने भी आचार के गुणों का उल्लेख किया है। यों साधक के आचार और रहन-सहन की ओर पहले भी ध्यान दिया गया था, पर भक्तिकाल में आकर भक्ति की लोकवादिता तथा वाममार्गी साधनाओं की आचारहीनता की प्रतिक्रिया के कारण भक्ति के साधनों के अन्तर्गत ही अनेक मानवीय गुणों एवं सदाचार को स्पष्ट स्थान दिया गया।[94]

गुरु-सेवा एवं साधु-संग को और अधिक महत्त्व मिला। हरिदासी, राधावल्लभीय आदि रसोपासक सम्प्रदायों में यद्यपि साधन-भक्ति या नवधा भक्ति को स्वीकार नहीं किया गया, परन्तु गुरु-सेवा, रसिक-संग, आत्मसमर्पण, नाम-स्मरण, वाणी-अनुशीलन, अहंकार और विषयहीनता तथा उपास्य-परिचर्या को वास्तव में साधन ही कहना चाहिए।

गौड़ीय वैष्णवों का साधनाक्रम अत्यधिक मौलिक एवं मनोवैज्ञानिक है। चैतन्यमतानुयायी गोस्वामियों ने साधक देह और सिद्ध देह, भक्त की दो अवस्थाओं को स्वीकार किया है। प्रथम अवस्था की चरम परिणति प्रेम में है, और प्रेम की श्रेष्ठतम परिणति महाभाव में होती है जिसकी श्रेष्ठतम प्रतीक राधा हैं। यह क्रम इस प्रकार है : (1) श्रद्धा (यह भक्ति का बीज है—श्रद्धा विशेष बीज...(भक्ति सन्दर्भ), (2) साधु-संग, (3) भजन-क्रिया, (4) अनर्थ-निवृत्ति, (5) निष्ठा, (6) रुचि, (7) आसक्ति, (8) भाव (रति)। जब आसक्ति रुचि के द्वारा चित्त को मसृण बना देती है, तब उसमें शुद्ध सत्व विशेषात्माभाव का जन्म होता है। यह प्रेम-रूप सूर्य के उदय होने के पूर्व की अरुणोदय जैसी स्थिति है (9) प्रेम।[95] प्रेम उदय हो जाने

पर साधक सिद्ध देह में आ जाता है। 'धार्मिक चेतना' (द रिलिजस कान्शसनेस) नामक अपने ग्रन्थ में जे.बी. प्रैट ने रहस्यवादी साधना की तीन स्थितियाँ मानी हैं—(1) निषेधात्मक साधना—इसके अन्तर्गत विषय-त्याग, नैतिक पवित्रता वैराग्य, व्रत-उपवास, प्राणायाम, अनिद्रा आदि का उल्लेख किया है। (2) विधेयात्मक—इस स्थिति को ध्यानपरक (मेडिटेटिव) या आलोकपरक (इल्यूमिनेटिव) कहा है। ध्यान, समाधि, चिन्तन, मूर्ति या लीला-कल्पना आदि इस अवस्था के भीतर हैं। (3) तीसरी अवस्था को एकात्म (यूनिटिव) स्थिति कहा गया है। इस अवस्था में ईश्वर-मिलन का परमानन्द प्राप्त होता है। यह स्थिति बहुधा तीव्र आवेश या मूर्च्छा के क्षणों में स्वीकार की गयी है।[96]

उपास्य एवं उपासक के मध्य भाव सम्बन्ध

भक्त और भगवान के मध्य एक वैयक्तिक सम्बन्ध की कल्पना भक्तिमार्ग की सबसे बड़ी विशेषता है। भक्ति का मनोभाव कुछ ऐसा संकुल होता है कि उसमें सम्भ्रम, भय, पवित्रता, निर्भरता, प्रेम, विश्वास आदि अनेक वृत्तियाँ और गुण गुणित रहते हैं। ईश्वर की रहस्यानुभूति अनेक रूपों में हो सकती है और उसके स्वरूप की अवधारणा ही यह निश्चित करती है कि ईश्वर और भक्त के मध्य सम्बन्धभाव (रिलेशनशिप) क्या रहे? हम जीवन में अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के सम्पर्क में आते हैं। इन सम्बन्धों के साँचे व्यवहार में ढले-ढलाये उपस्थित रहते हैं और उन्हीं में रहस्यानुभूति का द्रव ढल जाता है। उसी रूपान्तर के माध्यम से ही उस परम रूप को अभिव्यक्त किया जाता है। इस बात की निश्चिन्तता तब और बढ़ जाती है, जब ईश्वर धर्म 'संस्थापनार्थाय' एवं 'विनाशाय दुष्कृताम्' इस पृथ्वी पर अवतार लेता है। इस अवतार-कल्पना के साथ जब रक्षक का रूप मिल जाता है, तब उसकी प्रभविष्णुता सहस्र गुणित हो उठती है। उसको हम पिता, माता, शिशु, गुरु, स्वामी, प्रिय, प्रेमिका या मित्रादि सामाजिक सम्बन्धों के रूप में भावित करने लगते हैं। यह एक प्रकार का प्रतीकवाद है। ऐसे प्रतीकों के माध्यम से दिव्य प्रेम एवं अलौकिक प्रेम के मध्य साहचर्य की स्थापना संसार के सभी आस्तिक धर्मों की विशेषता है। ऐसे स्थलों पर मूलतः अलौकिक सम्बन्ध प्रस्तुत हैं एवं लौकिक सम्बन्ध अप्रस्तुत। प्रारम्भ में तो ये साहचर्यमूलक ही होते हैं और उपमेय के एकाध तत्त्वों की ही समानता उपमान में मिलती है पर प्रगाढ़ सम्बन्ध एवं सतत ध्यान से धीरे-धीरे यथार्थमूलकता का भी इनमें प्रवेश हो जाता है। हमारे समीक्ष्य युग में ये सम्बन्ध साहचर्य से हटकर यथार्थमूलक ही हो गये थे। वैदिक साहित्य[97] बृहदारण्यक उपनिषद् (4, 3, 21) आदि में केवल साहचर्य तत्त्व पर ही बल दिया गया है। गीता में थोड़ा आगे बढ़कर साहचर्य से यथार्थ भूमि में लाया गया है।[98]

पर यहाँ भी बल साहचर्य-भावना या उपासना पर ही है। नारद भक्तिसूत्र में परम प्रेम-रूपा में रूप शब्द साहचर्य पर बल देता है एवं परम शब्द से ज्ञात होता है कि इससे भिन्न भी कोई प्रेम था। वास्तव में जब यह धारण बल पकड़ती है कि भगवान भजनीय ही नहीं सर्वभाव से भजनीय है[99] तभी सम्बन्धों पर अधिक बल दिया जाने लगता है, क्योंकि हमारा भाव-जगत् हमारे प्रत्यक्ष व्यावहारिक सम्बन्धों से ही अनुशासित होता है। यों तो भगवान सर्वभाव से भजनीय हैं पर प्रेमभाव ही वास्तविक है। क्योंकि जीवन का सबसे गहरा और स्थायी भाव रति है। यह मनोवैज्ञानिकों को भी अमान्य नहीं है। इसलिए रतिभाव की विभिन्न छायाओं को ही वैष्णव-विचारकों ने मुख्य रूप से उपस्थित किया। उनके अनुसार भाव या रति पाँच प्रकार की होती है, जिनके अनुकूल ही पाँच रस-भक्तियाँ हो जाती हैं। शम, प्रीति, प्रेय, वात्सल्य और मधुरा—ये पाँच रतियाँ हैं जिनसे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव की पाँच भक्तियाँ भक्ति रस उद्रिक्त होती हैं।

इष्ट देवता और उसके परिकर के प्रतीक विशिष्ट निजी सम्बन्ध की विविध स्थितियाँ गौड़ीय वैष्णव मत की अपनी मौलिक देन है[100] क्योंकि उसके बिना यह सम्बन्ध एकदम अरूप साहचर्य का हो जाता है और अचिन्त्यभेदाभेदवादी दर्शन के मध्य इस सम्बन्ध को पहचानना कठिन हो जाता है। इसीलिए इन वैष्णव आलंकारिकों ने भक्ति-भाव (कृष्णा-प्रीति) की प्रारम्भिक स्थिति शान्त मानी है। इस दशा में भक्त और भगवान का सम्बन्ध स्पष्ट आकार नहीं ले पाता। संसार से विरक्ति ईश्वर के प्रति चित्तवृत्तियों का लगाव तो हो जाता है परन्तु ईश्वर को निजी सम्बन्धों की परिधि के भीतर नहीं देखा जा सकता।

वास्तव में शान्त का स्थायी भाव शम एक ऐसी मानसिक अवस्था का द्योतक है, जहाँ पर परमात्मा के साथ एकत्व की चेतना तो आ जाती है पर राग का आवेश नहीं होता। मध्ययुगीन वैष्णव रहस्यानुभव की आवेगमयी स्थिति के भीतर न समा सकने के कारण इसे वैष्णव आलंकारिकों ने कृष्णरति में सबसे नीचे की अवस्था में रखा है। वास्तव में प्रेम-प्रतीकवाद का यह यथार्थ भूमि की ओर संचरण है।

शान्त भक्ति

संकल्प-विकल्प से रहित मन की वृत्ति शान्त रति है। इसे शाम भी कहा जाता है। यह ममता-गन्ध-शून्य होता है। भागवत में उसे निष्ठा बुद्धि[101] कहा गया है। इस मानसिक स्थिति को ही गीता में ब्रह्मभूत और प्रसन्नात्मा कहा गया है।[102] विष्णु धर्मोत्तरपुराण में कहा गया है, 'जहाँ न सुख, न दुख, न चिन्ता, न द्वेष, न राग, न कोई इच्छा है, मुनीन्द्रगण उस शम-प्रधान को शान्त कहते हैं।'[103] यह भक्ति वास्तव में मूलतः मन में वैराग्य-भावना को उत्पन्न करती है। वास्तव में सारे संसार

के रहस्यवादियों ने ईश्वर के मिलन के पूर्व वैराग्य द्वारा शरीर-कामनाओं को नष्ट करने की पद्धति को स्वीकार किया है। शान्त भक्ति भी वैराग्यमूलक है, पर यह निषेधात्मक न होकर विधेयात्मक है तथा प्रेम भावना की प्रारम्भिक स्थिति को पल्लवित करती है। प्रैट द्वारा गिनायी गयी प्रथम अवस्था (परगेटिव स्टेज) शान्त भक्ति के निकट की ही वस्तु है।[104]

शान्त भक्ति एक प्रकार की ज्ञानमिश्रा भक्ति है और इसका लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना होता है। पर जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि परा या प्रेमा भक्ति का साधक मुक्ति न चाहकर भगवान का प्रेम चाहता है। प्रेम सदैव व्यक्तिगत सम्पर्क पर ही आधृत होता है। इसलिए भक्ति या श्रद्धा का तत्त्व होते हुए भी शान्त भक्ति श्रेष्ठ स्थान की अधिकारिणी नहीं हो पाती। यद्यपि इसका अस्वीकरण नहीं किया गया। इस भक्ति के आदर्श सनत्कुमार आदि माने गये हैं। पर प्रेमा भक्ति की आदर्श तो ब्रजगोपिकाएँ हैं।[105] हमारे आलोच्य काल से सम्बन्धित सम्प्रदायों में शान्त भक्ति का अधिक रूप देखने को नहीं मिलता। निर्गुण साधकों में ही मुख्य रूप से हम इस भक्ति को देख सकते हैं। इनमें भी सूफ़ी कृष्णोपासक प्रेम-भक्तों के प्रभाव एवं प्रेम-प्रतीकवाद के आग्रह से यत्र-तत्र दास्य भाव या कान्ता भाव का स्वरूप मित्रता है। निर्गुण कवियों में "पतिव्रता कौ अंग" तथा 'विरहिणी कौ अंग' में कान्ता भाव की मधुर अभिव्यक्ति भी हुई है।[106] पर सब मिलाकर निर्गुणोपासक सभी सम्प्रदायों की भक्ति मुख्यतया शान्त भाव की ही है। इन लोगों ने संसार की असारता, क्षण-भंगुरता आदि को दिखाते हुए वैराग्य के अंग की बड़ी चर्चा की है और इसी प्रसंग में बार-बार राम का नाम रटने, राम से भक्ति करने का निर्देश भी करते जाते हैं। डॉ. वर्मा के निबन्ध में बताया गया है कि चेतावनी और उपदेश के अंग मुख्यतः शान्त रस से सम्बन्धित हैं।[107] क्रम और संख्या तालिका में इनका स्थान तीसरा है। उपदेश और चेतावनी से सम्बन्धित साखी और शब्दों की संख्या क्रमशः 268 और 235 है। यह इनके महत्त्व का द्योतक है।

सगुणोपासक सम्प्रदायों में संसार की विरक्ति सम्बन्धी शान्त रस की अभिव्यक्ति अवश्य हुई है, पर वह वास्तव में दास्य, सख्य, वात्सल्य या मधुरभाव की अंगभूत अभिव्यक्ति है। इनके अनुसार ये पाँचों भाव एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। उत्तरोत्तर एक का दूसरे में अन्तर्भाव होता चलता है तथा सर्वश्रेष्ठ कान्ता (प्रियता) भाव में पाँचों भावों का समन्वय रहता है।[108] इस प्रकार सगुणोपासक (चैतन्य, वल्लभीय, हरिदासी, राधावल्लभीय, रामोपासक) सम्प्रदायों में शान्त भक्ति मुख्य नहीं है। वह भक्ति के अन्य भावों की पोषक मात्र है। शान्त भक्ति के विभावों की चर्चा करते हुए भक्ति-रसामृत-सिन्धु में भगवान चतुर्भुज तथा आत्माराम एवं तापस भक्तों को शान्त भक्ति का आलम्बन माना है।[109] सगुणोपासक सभी सम्प्रदायों के अनुयायी कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों, भक्तों एवं गुरुओं की प्रशंसा में बहुत अधिक

स्तुतियाँ की हैं। उन्हें हम शान्त रस के अन्तर्गत ही परिगणित कर सकते हैं। निम्बार्क-सम्प्रदाय के कवियों द्वारा गुरु-वन्दन एवं सिद्धान्त-निरूपण के प्रसंग में ईश्वर के स्वरूप-दर्शन, गुणगान आदि की चर्चा से युक्त तत्सम्बन्धी प्रभूत साहित्य की रचना हुई है। 17वीं शती के अन्तिम भाग के निम्बार्कीय आचार्य और कवि परशुराम देव का परशुराम-सागर तो मुख्यतः शान्त रस का ही ग्रन्थ है। हमारे आलोच्य युग में घनानन्द, नागरीदास में शान्त रस के यथेष्ट उद्धरण मिल जाते हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय के अष्टादश सिद्धान्त के पद, रसिक दास की रचनाएँ आदि सैद्धान्तिक निरूपण इसी के अन्तर्गत आयेंगे। इसी प्रकार सेवक, हरिराम व्यास, ध्रुवदास, रूपलाल, चाचा हित बृन्दाबन दास आदि में शान्त भक्ति की रचनाओं का विशाल भण्डार प्राप्त है। कृष्णदास कविराज की गौरगणोद्देश-दीपिका प्रियादास की भक्त-सुमिरनी, भक्तमाल की टीका आदि शान्त रस के ही ग्रन्थ कहे जायेंगे। सिद्धान्त-निरूपण एवं गुरु-महिमा-गान वाली शान्त भक्ति का अभाव पुष्टिमार्ग में भी नहीं है। रामोपासना की मधुर साधना के अन्तर्गत भी शान्त रस का निषेध नहीं है।[110] शान्त भक्ति के जिन अनुभावों, उद्दीपनों एवं संचारी भावों की गणना वैष्णवाचार्यों ने की है, उनका भी अभाव उन सम्प्रदायों में नहीं है। पर ये सभी अन्ततः मधुर भाव की ओर मोड़ दिये गये हैं।

दास्य-भक्ति

भक्ति के क्षेत्र में निजी वैयक्तिक सम्बन्धों का प्रथम स्फुरण दास्य भाव में होता है। निजी सम्बन्धों के कारण भक्ति-भावना यहाँ पर अधिक प्रगाढ़ हो जाती है। शान्त भक्ति की विशेषताओं के अतिरिक्त उसमें एक विशेषता और जुड़ जाती है कि भक्त भगवान को अपना स्वामी मानकर उसकी सेवा के भाव को जगा लेता है। इस प्रकार रूपवर्णहीन शान्त की अपेक्षा यह श्रेष्ठतर है। इसमें भगवान शाश्वत स्वामी एवं उनका परिकर शाश्वत सेवक माना जाता है।

इसमें भक्त के मन में सदैव यह धारणा रहती है कि भगवान मेरे ऊपर अनुग्रह करने वाले हैं और मैं अनुग्राह्य हूँ। वे मेरे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ। भगवान मेरी रक्षा और लालन-पालन करने वाले हैं और मैं उनका लाल्य या पाल्य हूँ। प्रीत या दास्य भक्ति में इस प्रकार रूप गोस्वामी ने सम्भ्रम और गौरव के दो भाव माने हैं।[111] सम्भ्रम में भगवान से भक्त अपने को अत्यन्त दीन एवं हीन समझता है।[112] भगवान के एक-एक रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड निवास करते हैं, वे कृपा के समुद्र हैं, क्षमाशील एवं शरणागत पालक हैं तथा वरीयान, बलवान एवं प्रेमवश्य हैं।[113] ऐसे प्रभु के प्रति उसका जो आश्रित, आज्ञाकारी एवं विश्वास का भाव तथा प्रभुता-ज्ञान से नम्र हुई बुद्धि है, वही उसका सम्भ्रम प्रीत वाला दास भाव है।[114] दास चार प्रकार

के होते हैं, अधिकृत, आश्रित, पारिषद एवं अनुग।[115] उनके भी अनेक भेदोपभेद हैं। विस्तार-भय से हम उन सबकी चर्चा यहाँ नहीं करेंगे। सम्भ्रम-प्रीति उत्तरोत्तर बढ़कर प्रेमा, स्नेह एवं राग अवस्था को प्राप्त होती है।[116]

गौरव-प्रीति-सम्पन्न भक्त में सदा भगवान के द्वारा रक्षित और पालित होने की इच्छा रहती है अथवा कृष्ण के द्वारा ही वह लालित और पालित होता है। यह अभिमान (लाल्याभिमान) रहता है।[117] इस प्रकार सेवकों में ऐश्वर्य-ज्ञान की ही प्रमुखता रहती है। गौरव-प्रीति भी प्रेमा, स्नेह एवं राग इन तीन अवस्थाओं में उत्तरोत्तर विकसित होती जाती हैं।

जब प्रीति इतनी गाढ़ एवं बद्धमूल हो जाये कि उसको ह्रास की तनिक भी आशंका न रहे, तब उसे प्रेमा कहते हैं।[118] इसी प्रेमा भाव की सान्द्रता में तरलायित हुए चित्त को स्नेह कहते हैं। इस अवस्था में प्रभु का क्षणिक विश्लेषण भी सह्य नहीं होता। स्नेह का उत्कर्ष राग में परिवर्तित होता है तथा भक्त प्रभु के साक्षात्कार या तत्तुल्य स्फुरण अथवा कृपालाभ से कृष्ण का अन्तरंग बन जाता है। इस अवस्था में दुख भी सुख हो जाता है। राग की अवस्था में उसे अपने प्राणनाश का भी भय नहीं रह जाता।[119]

स्पष्ट है कि दास्य भक्ति में प्रभु के माहात्म्य-ज्ञान के साथ ही शरणागति या प्रपत्ति का भाव मिला रहता है। शरणागति या आत्मा-समर्पण प्रेम के राज्य में एक ऊँची चीज है। इसके अतिरिक्त दास्य भक्ति में सेवा का जो अंश है, वह भक्ति का एक अनिवार्य तत्त्व है। उसे सभी प्रकार की भक्तियों एवं भक्ति-सम्प्रदायों में स्वीकार किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास ने तो यहाँ तक कह दिया है कि–

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि"[120]

वल्लभाचार्य ने भी दास्य भाव का तिरस्कार नहीं किया। अन्तःकरण प्रबोध नामक ग्रन्थ में उन्होंने कहा है, "यदि भक्त को फल नहीं मिलता तो उसे पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए। वह यही समझे कि मैं तो भगवान का सेवक मात्र हूँ। श्रीकृष्ण को लौकिक स्वामी की तरह कभी न देखना चाहिए। सेवक का तो धर्म है कि वह स्वामी की आज्ञा का पालन करे"।[121] 'कृष्णाश्रय' ग्रन्थ में भी दैन्य-भावना (जो दास-भाव का ही अंग है) को उन्होंने स्थान दिया है। वल्लभ-सम्प्रदाय के भक्तों में दास्य भाव के प्रचुर उद्धरण मिलते हैं।[122] डॉ. दीनदयालु गुप्त के अनुसार इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि सूर ने विनय एवं दैन्य के पद वल्लभाचार्य से मिलने के बाद नहीं लिखे और वह भी उस स्थिति में जबकि स्वयं वल्लभ ने 'दास्य भक्ति तथा दास्य-भाव की सेवा का भी विधान अपनी भक्ति-पद्धति में रखा है।'[123]

रामानुज एवं रामानन्दी सम्प्रदायों में दैन्य दास भाव को सदैव बहुमान मिला है। तुलसीदास की भक्ति दैन्य भाव की थी, यह बात प्रसिद्ध ही है। आगे चलकर जब रामोपासना मधुर-भावापन्न हो उठती है, उस समय भी अष्टयाम सेवा, अपनी हीनता आदि की भावनाएँ बराबर बनी रहती हैं।[124]

निम्बार्क द्वारा भक्ति की परिभाषा में उद्धृत श्लोक (दशश्लोकी) में दैन्यादि गुणों की उत्पत्ति प्रभु-कृपा से मानी गयी है। इस प्रकार दास्य-भावना इस सम्प्रदाय में पूर्णतया मान्य है। यद्यपि निम्बार्क-सम्प्रदाय एवं हरिदासी तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायों में जिस समय रसोपासना का विकास होता है, उसी समय रामोपासना के समान ही सेवक-भाव या कैंकर्य अंगीभाव न रहकर युगल-किशोर के माधुर्य का अंग और साधन मात्र हो जाता है। जीव का परतत्त्व से सम्बन्ध सेवक-सेव्य भाव का इन सम्प्रदायों में मान्य है। स्वा. हरिदास जब कहते हैं, "श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी प्रानन के आधारिनि"।[125] तब स्वामी शब्द से यह सेवक, सेव्य-भाव प्रकट हो जाता है। वास्तव में सखी सहचरी, मंजरी या किंकरी भाव मूलतः दास्य भावना की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। स्त्रीपदवाची होने से अन्तरंग विलास में इनका प्रवेश हो जाता है, जबकि पुरुष, दास या सेवक का अधिकार नहीं होता। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दास या दासी में कोई अन्तर नहीं है।

गौड़ीय वैष्णवों में भी दास्य भाव अमान्य नहीं है। ऊपर हमने हरिभक्ति रसामृत सिन्धु के आधार पर ही इसका विवेचन किया है। इस भक्ति रस को रूप गोस्वामी, कृष्णदास कविराज एवं जीव गोस्वामी आदि ने पाँच मुख्य भक्ति रसों में ही माना है। पर उनके अनुसार उत्तरोत्तर विकास-क्रम में दास्य का भी अन्तभाव मधुर भाव में हो जाता है। मधुर भाव ही श्रेष्ठ है, इस धारणा के कारण गौड़ीय भक्तकवियों ने भी मधुर भावान्तर्गत ही इसका चित्रण किया है।

निर्गुणी कवियों ने अवश्य इसकी शुद्ध प्रचुर अभिव्यक्ति की है। डॉ. राम कुमार वर्मा द्वारा विवेचित (पीछे उद्धृत) तालिका में शब्दों एवं सखियों की सबसे अधिक संख्या विनय या विनती के अंगों की 280 है।[126] इस प्रकार सर्वाधिक महत्त्व दास्य या प्रीति भक्ति को ही निर्गुण कवियों ने दिया, ऐसा प्रतीत होता है। दास्य के दैन्य, विनय, आत्मदोषकथन शरणागति आदि के अतिरिक्त राजा[127] स्वामी,[128] पिता,[129] जननी[130] आदि रूपों में जहाँ कल्पना की गयी है, वे स्थल भी दास भाव के ही हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से दास्य भाव की ही अभिव्यक्ति हुई है।

सख्य-भक्ति (प्रेयस् रति)

दास भावना में प्रभु के गौरव एवं महत्ता की अनुभूति के कारण साधक का बहुत समीपी सम्पर्क नहीं हो पाता। स्वामी और सेवक के मध्य एक प्रकार का दुराव अवश्य रहता है। इसके अतिरिक्त स्वामी को सेवक के कार्यों में उतनी गाढ़ी रुचि भी नहीं होती।

अतः भक्ति की और विकसित स्थिति में जिस सामाजिक भाव-सम्बन्ध की कल्पना की गयी, वह सरूप भाव है। सखाओं में परस्पर सामीप्य-बोध अधिक होता

है, उनमें पारस्परिक अन्तरंगता हो जाती है। वे एक-दूसरे के गुप्त रहस्यों से परिचित ही नहीं होते, एक-दूसरे के कार्यों में गहरी रुचि भी लेते हैं।

दास्य भक्ति के सम्बन्ध में हमने सम्भ्रम शब्द का नाम लिया था। रूप गोस्वामी के अनुसार सम्भ्रम की समाप्ति अथवा विश्रम्भ यानी बिना किसी प्रकार के अन्तराय के गाढ़ विश्वास को ही सख्य का स्थायी कहना चाहिए।[131] गाढ़ विश्वास वाली यह सख्य रति बढ़कर प्रणय, प्रेमा, स्नेह तथा राग में परिणत होती है।[132] इनकी फिर अनेक स्थितियों का निरूपण रूप गोस्वामी ने किया है।

सखा भी पुर तथा ब्रज-सम्बन्ध से दो प्रकार के माने गये हैं।[133] ब्रज-सखाओं के पुनः चार भेद है—सुहृत, सखा, प्रियसखा, प्रिय नर्म सखा।[134] इनमें अन्तिम सर्वश्रेष्ठ होते हैं। सुहृत सखा कृष्ण से आयु में बड़े और कृष्णा के प्रति किंचित् वात्सल्य से युक्त माने गये हैं। सखा भगवान से आयु में कुछ कम, प्रिय सखा समान आयु के। प्रिय नर्म सखा उनसे भी अधिक मान वाले तथा अन्तरंग गोपनीय लीलाओं के सहचर होते हैं।[135]

इन सभी सखाओं के आलम्बन कृष्ण सुन्दर वेश धारण करने वाले, सुपण्डित, अत्यन्त प्रतिभाशाली, दक्ष, वीर शेषर, विदग्ध-बुद्धिमान, समृद्ध एवं सुखी हैं। ऐसे भगवान के साथ उपर्युक्त सम्बन्धों का अनुकरण करते हुए जो भाव-प्रतिभा मन में स्थापित होती है, वह सखा-भक्ति की ही होती है। इसमें शान्त भक्ति के निरभिमान, विरक्ति आदि भी हैं, दास का सा सेवा-भाव है (सखा सेवा भी करता है) और साथ ही मित्रता का खुलापन और आत्मीयता भी हैं—इसी कारण इसे पूर्वोक्त दोनों से श्रेष्ठ माना गया है।

पुष्टि-सम्प्रदाय में सख्य-भावना को सबसे अधिक स्वीकृति और पूर्णता मिली है। अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण की गोप-लीलाओं की ही चर्चा नहीं की है—पारस्परिक प्रेम, सौहार्द और मित्रता की समस्त छायाओं को उन्होंने अत्यधिक यथार्थ एवं मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। इस निरूपण में ऊपर गिनाये गये ब्रज-सखाओं के समस्त भेद और उपभेद भी हमें सूरदास में मिल जाते हैं, पर केवल लीला-गान में ही नहीं अपने वास्तविक जीवन में भी अष्टछाप के कवि सखा-भाव की मानसिक अवस्था का अनुभव करते थे। वार्ता-साहित्य में गोविन्द स्वामी एवं चतुर्भुजदास के जीवन के सख्य भाव को प्रकट करने वाले अनेक प्रसंग आते हैं। वे श्रीनाथ जी के साथ सखा जैसा ही व्यवहार करते थे। वल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों को अष्ट सखा भी कहा जाता है और कृष्णा के आठ सखाओं का ही प्रतिरूप उन्हें मानते हैं।

रामोपासक सम्प्रदाय में भी सख्य भाव की स्वीकृति है। सख्य रसावेशी भक्तों ने अन्य रसों को सख्य के अन्तर्गत ही माना है।[136] उनके अनुसार हितैषणा, स्नेह तथा एकात्म भावना सख्य के, विशिष्ट रूप से, अपने गुण हैं और वे वात्सल्य में

कृपा-रूप से, दास्य में सेवा-रूप से एवं शृंगार में काम रूप से व्याप्त रहते हैं। उनकी धारणा है कि शृंगार में जो प्रिया के प्रति आसक्ति है, वह वास्तव में नारी-विशिष्ट में केन्द्रित सख्यासक्ति ही है। इसी आधार पर उन्होंने सखी भाव और सखा भाव को एक माना है। रूप गोस्वामी से मिलते-जुलते सखाओं के विभाजन यहाँ भी किये गये हैं। मधुर सखा राम से आयु में छोटे होते हैं, ये अवध की गलियों में खेलते हुए महलों में समाचार पहुँचाते हैं, नर्म सखा श्रीरामचन्द्र का शृंगार करते हैं,[137] लीला के समय ये कैंकर्य[138] सीता जी की सेवा करते हैं।[139] प्रिय सखा अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की सेवाएँ करते हैं। रसमयी बातों में योग देते हैं तथा हास्य-विनोद एवं भोजन में भी साथ देते हैं।[140]

सुहृत सखा आयु में राम से बड़े माने गये हैं। ये लोग रास में भाग नहीं लेते तथा राम-सीता के विवाह, द्विरागमन लीलाओं के आयोजन और ध्यान में व्यस्त रहते हैं। उनके राज्य, कोष, प्रासाद आदि की रक्षा में तत्पर रहते हैं, जिससे युगल अपनी लीलाओं में निर्विघ्न रत रहें।[141] रामभक्ति शाखा में सख्य भाव की रसोपासना के मुख्य प्रवर्तक रामसखा हुए हैं। ये अपने को राम का प्रिय सखा मानते थे।

स्पष्ट है कि इस सख्य भाव की परिणिति भी अन्ततः रस-भावना या मधुर उपासना की ओर है। साधक दम्पति-लीलाओं में सख्य भाव के आवेश में सम्मिलित हो सकता है। इस सम्प्रदाय में, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सखा भाव और सखी भाव में उतना भेद नहीं किया गया।

पर कृष्णोपासकों में सखा भाव और सखी भाव में स्पष्ट अन्तर माना जाता है। स्त्री-रूप में ही सर्वस्व अर्पण है—स्वसुख और तत्सुख दोनों ही रूपों में। ब्रज-भूमि के रसोपासकों ने इसी कारण सखा भाव को महत्त्व नहीं दिया है। पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त गौड़ीय वैष्णवों में ही इस भाव को छोड़ दिया है। हरिदासी, राधावल्लभीय आदि सम्प्रदायों में सखियों की भावना ही मान्य है। निर्गुण-सम्प्रदायों में मित्र के प्रतीक[142] रूप में सख्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है पर सब मिलाकर भक्ति के इस रूप का वहाँ नितान्त अभाव है। वास्तव में सख्य भक्ति क्रीड़ापरक एवं लीलागान पर ही आधृत होती है। निर्गुण-मतावलम्बी चूँकि सगुण-लीला पर विश्वास नहीं करते अतः भगवान के साथ सख्य सम्बन्ध भी बनाना उनके लिए कठिन होता है। इसके अतिरिक्त सख्य की समानता का भाव भी शून्य महल में रहने वाले अविनाशी, अनीह, अखण्ड, निर्गुण ब्रह्म के साथ स्थापित करना उनके लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सम्भव नहीं था। इसी कारण प्रतीक रूप में भी मित्र भाव का प्रकाशन इन सन्त कवियों द्वारा कम ही हुआ है।

वात्सल्य-भक्ति

मित्रता में समानता का व्यवहार होता है। यदि एक मित्र (चाहे वह प्रभु ही क्यों न हो) भाव का प्रतिदान देने में समर्थ नहीं है तो वह मित्रता ठहर नहीं सकती। इस तरह प्रदान के साथ आदान सख्य भाव में अनिवार्य हो जाता है, परन्तु पुत्र के स्नेह न करने पर भी माता-पिता उससे प्रेम करते रहते हैं। अतएव निष्कामता की अभिव्यक्ति पुत्र-स्नेह में सबसे अधिक होती है। इसके अतिरिक्त माता-पिता पुत्र की सेवा दास से भी अधिक करते हैं, सखा के समान उसका मनोरंजन करते हैं, उसके साथ खेलते-खिलाते हैं। इस रूप में पूर्व कथित भाव-दशायें भी वात्सल्य में अन्तर्भुक्त हो जाती हैं। जीवन की तीन मूल वृत्तियों—जिजीविषा, कामेच्छा एवं सृजन-कामना में से एक सृजन-कामना का साकार विग्रह सन्तान होती है। इस रूप में भी वात्सल्य जीवन का अत्यधिक व्यापक और सार्वभौम भाव है। लौकिक जीवन के इस अनुभव को भी पारमार्थिक जीवन के क्षेत्र में घटाया गया है।

जिस समय भक्त परमात्मा को पुत्रवत् मानकर (नन्द, यशोदा, दशरथ, कौशल्या आदि की भाँति) उन्हें लाड़ लड़ाता है, उनकी सुरक्षा और सुविधा का ध्यान रखता है एवं बिना प्रतिदान में कुछ चाहे निष्काम भाव से उनके प्रति स्नेह रखता है, तब ऐसी भाव-भक्ति को वात्सल्य भक्ति कहा जाता है। यहाँ पर न तो सम्भ्रम है और न विश्रम्भ, बल्कि अनुकम्पनीय पर अनुकम्पा का भाव ही स्थायी है।[143] यह वात्सल्य रति पूर्वकथित अन्य रतियों की भाँति ही प्रौढ़ होने पर प्रेमा, स्नेह एवं राग अवस्थाओं को प्राप्त होती है। श्यामल गात, रुचिर, समस्त श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त, प्रियवाक्, सरल, बुद्धिमान, विनयी, माननीयों का मान करने वाले भगवान कृष्ण (या राम) इस रति के आलम्बन हैं।

माता, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, गुरुजन आदि इस भाव के आश्रय होते हैं। कुमारादि वय, रूप, वेष, शैशव की चपलता, जल्पना, स्मिति आदि लीलाएँ ही उद्दीपन हैं।[144] मस्तक का सूँघना, आशीर्वाद, आज्ञा, हितोपदेशदान, चुम्बन, आश्लेष तथा स्तन्यस्राव आदि अनुभाव हैं।[145]

रामोपासकों में वृद्ध वात्सल्य एवं लघु वात्सल्य, ये दो भाग किये गये हैं। वृद्ध वात्सल्य से तात्पर्य ऊपर विवेचित वात्सल्य से है, पर लघु वात्सल्य है, जब राम-सीता को पिता-माता मानकर साधक स्वयं को शिशु रूप में कल्पित करता है।[146]

जहाँ तक शिशु की क्रीड़ाओं, बाल-लीलाओं आदि के वर्णन का प्रश्न है, वात्सल्य भाव की निवृत्ति संसार के समस्त साहित्य में प्राप्त होती है। सूरदास तो इस चित्रण के अधीश्वर ही हैं। बाल-लीला एवं माता-पिता की अनुभूतियों का उनसे बड़ा चितेरा संसार में दूसरा उत्पन्न नहीं हुआ है पर मानसिक धरातल पर इस भाव की साधना अत्यधिक कठिन है। जो भगवान है, ईश्वर है, परमात्मा है, समस्त चराचर ब्रह्माण्ड

की उद्‌भव स्थिति एवं निलय का हेतु है, उसे एक नगण्य साधक शिशु मानकर व्यवहार करे—यह स्थिति तनिक कठिन है।[147] स्वयं को शिशु एवं ईश्वर को पिता मानकर एक प्रकार की प्रतीकोपासना सम्भव है, लेकिन यहाँ भी एक सुविकसित-प्रौढ़ व्यक्तित्व बालचेष्टाएँ, कठिनता से ही धारण कर सकेगा। इसलिए इस भाव की अभिव्यंजना हमें मध्यकालीन वैष्णव-साहित्य में कम मिलती है।

वल्लभ-सम्प्रदाय में कृष्ण के बाल-रूप की प्रतिष्ठा अवश्य है एवं सूर और परमानन्ददास ने वात्सल्य भाव-सम्बन्धी प्रचुर एवं उत्तम साहित्य की रचना भी की।' परन्तु फिर वल्लभ-सम्प्रदाय में भी मधुर भाव की साधना ही बढ़ती गयी। स्वयं सूरदास ने अपने अन्तिम पद में 'युगल रूप' में ही अपनी चित्तवृत्ति के रमे रहने का उल्लेख किया है।'[148]

गौड़ीय वैष्णव-कवियों ने इस भाव के प्रकाशन की ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया। उनका मन कृष्ण और राधा की किशोर-लीलाओं में ही रमा रहा।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में भट्ट, हरिव्यास देव, वृन्दावृन देव[149] घनानन्द आदि ने बाल-क्रीड़ाओं के वर्णनों के अतिरिक्त बधाई के पदों में वात्सल्य की अभिव्यक्ति की है। यों सब मिलाकर इस सम्प्रदाय का मुख्य काम्य मधुर रस ही है। वात्सल्य के वर्णनों में भी बहाने से राधा-कृष्ण मिलन के प्रसंग इन्होंने ढूँढ़ लिये हैं। गोपाल वन से गोचारण के उपरान्त लौट रहे हैं तो दूल्हे के समान हैं[150] और सखियों के यूथ के आगे-आगे आ रही राधा दुलहिन के समान हैं। "इस सम्प्रदाय के कवियों के वात्सल्य रस के वर्णन में इस रस का वर्णन कवियों का मुख्य उद्देश्य नहीं है वरन् उससे सम्बन्धित रति बालक कृष्ण और राधा के पोषण में सहचरी भाव की नित्य-विहार-दर्शन की सुख-लालसा छिपी है।"[151]

हरिदासी एवं राधावल्लभीय सम्प्रदाय में ब्रजलीलाओं का महत्त्व ही नहीं है। वहाँ तो युगल की नित्य-विहार-लीलाओं का ही गान है, अतः वात्सल्य भाव की अभिव्यंजना का प्रश्न ही नहीं उठता। यों सखी-सम्प्रदाय (हरीदासी) के अष्टाचार्यों में से एक रसिकदास इसके अपवाद हैं। उन्होंने वात्सल्य भाव का पर्याप्त अंकन किया है। यद्यपि यहाँ भी प्रवृत्ति वात्सल्य के मध्य मधुर भाव के प्रसंगों की योजना की ही रही है। बाललीला नामक एक छोटी-सी 49 छन्दों की इनकी पुस्तक है, उसमें कृष्ण के जन्म, बालापन आदि का वर्णन है तथा अन्त में एक गोपी राधा को कृष्ण से गोचारण के बहाने लाकर वन में मिला देती है। युगल-मिलन में परिसमाप्ति होते हुए भी सम्प्रदाय की दृष्टि से यह ग्रन्थ कुछ अनोखा है। यों रसिकदास जी ने स्वयं अपनी भावना स्पष्ट करते हुए लिखा है कि युगल किशोर एक ओर सदा नित्य विहार में लगे रहते हैं एवं दूसरी ओर नन्द तथा वृषभानु के घर जन्म भी लेते हैं।

रसोपासक सम्प्रदायों में वात्सल्य-भावना को रामोपासना के भीतर पर्याप्त स्थान मिला है, यद्यपि प्रवृत्ति 'युगल किशोर' के नित्य विहार में सहायक होने की है।

राम-सीता का विवाह, गौना करा दिया जाये, उनके विहार में कोई कष्ट-असुविधा न रहे, यह भाव इन भक्तों में मुख्य है इसके अतिरिक्त राम-सीता की बालचेष्टाओं आदि का भी चित्रण शुद्ध वात्सल्य की दृष्टि से भी मिल जाता है। 'रामप्रियाशरण' प्रेमकली ने अपने 'सीतायन' नामक विशाल प्रबन्धकाव्य में 'सीता' की बाल-लीलाओं का अच्छा वर्णन दिया है—

छबीली जनक ललिन की जोरी
करि सिंगार निरखति नयनन भरि, जननि सकल तृण तोरी।
छम-छम चलति अरति पुनि दौरति, मणि प्रतिबिम्ब गहोरी।

इसी प्रकार सूरकिशोर जी की जानकी जी में वात्सल्यनिष्ठा थी। कहते हैं कि ये अयोध्या का पानी भी नहीं पीते थे, दामाद के नाते राम से परमपद तक की उन्होंने याचना नहीं की। पं. उमापति वसिष्ठ भाव से भगवान की आराधना करते थे। वे इसी कारण राम को प्रणाम नहीं करते थे।

निर्गुणोपासकों में न तो बाल-लीलाओं का स्थान है और न ही प्रभु को पुत्र मानने का ही प्रश्न है। इसी कारण वात्सल्यभाव की विवृत्ति वहाँ पर नहीं के बराबर है। स्वयं ईश्वर की पिता-रूप में चर्चा अवश्य आयी है—पर वह मात्र प्रतीक है। इससे अधिक उसका महत्त्व नहीं है। पिता या माता रूप में अनेक सन्त-कवियों ने ईश्वर को माना है, इसकी चर्चा हम पीछे दास्य भक्ति के प्रसंग में कर चुके हैं।

मधुरा या कान्ता भक्ति

वात्सल्य में भी एक प्रकार की दूरी माता, पिता और पुत्र के मध्य अवश्य रहती है। जैसा सर्वस्व समर्पण, जितना सान्द्र प्रेम एवं जितनी एकात्मानुभूति स्त्री-पुरुष के प्रेम में होती है, उतनी अन्यत्र नहीं। स्त्री-पुरुष के मध्य की काम-भावना जीवन की गहनतम, व्यापकतम एवं सार्वभौम वृत्ति है। इस भावना में पूर्ववर्ती सभी भावों का अन्तर्भाव हो जाता है। पत्नी सेवा भी करती है, सखा-सखी की भाँति मनोरंजन भी करती है, माँ के समान हित-चिन्ता भी करती है एवं पत्नी के रूप में अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व पति को अर्पित कर देती है। प्रेमभाव की यह सर्वोच्च अवस्था है एवं संसार के सभी आस्तिक धर्मों में इस प्रतीक का व्यवहार किया गया है। पर वैष्णवों में यह प्रतीक के स्तर पर न रहकर वास्तविकता के स्तर पर ले आया गया है। गोपियाँ इस प्रेम की आदर्श आश्रय हैं एवं गोपियों में राधा साक्षात् महाभावरूपा हैं। सौन्दर्य एवं माधुर्य के धनविग्रह श्याम सुन्दर ही इसके आलम्बन हैं। भगवद्रति का श्रेष्ठतम रूप यह मधुर भाव ही है। हमारे आलोच्य युग में इसी मधुर प्रेम के सूर्य की किरणों से सारे सम्प्रदाय आलोकित हो उठे थे। इस साधना की पृष्ठभूमि, विकास, स्वरूप एवं विभिन्न सम्प्रदायों में उसके रूप की विस्तृत चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

ऊपर हम जिन पाँचों भक्तियों का उल्लेख कर आये हैं उनके अनुरूप भाव-सत्ता वाले प्राणी पहले हो चुके हैं। चाहे सनक-सनन्दन जैसे सन्त हों, या हनुमान, शुकदेव, संजय, विदुर जैसे दास हों, अर्जुन, श्रीदामा, सुबल जैसे सखा हों, दशरथ, कौशल्या, नन्द, यशोदा, वसिष्ठ जैसे गुरुजन हों या ब्रज-गोपिकाएँ (राधा आदि) सीतादि हों—ये सभी अखिल भुवन-मोहन श्यामसुन्दर के प्रति तत्तत् भावों की प्रतिमाएँ थीं। इनकी रति रागात्मिका थी। (इष्ट में गाढ़ तृष्णा राग का स्वरूप-लक्षण एवं इष्ट की आविष्टता उसका तटस्थ लक्षण है।[152]) इस रागभाव की भक्ति ही रागात्मिका होती है। ब्रजवासी-जनों की प्रीति ऐसी ही थी।[153]

जीव स्वभावतः कृष्ण-दास है, वह ब्रजवासी जनों के समान तो नहीं है, पर उसे चाहिए कि अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार ब्रजवासियों के उस-उस भाव का अनुकरण करे। इसे ही रागानुगा भक्ति कहते हैं यानी रागात्मिका का अनुकरण करने वाली। साधक अपने भावानुसार स्वयं को दास, सखा, माता-पिता या प्रिया अनुभव करे। अपने ही ऊपर उनका आरोप करे। धीरे-धीरे अभ्यास से वह वैसे ही भाव एवं प्रेम को मन में जगा सकेगा। सारे संसार के साधकों में संवेग, कल्पना आदि रोमान्स तत्त्वों की प्रबलता मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार की है।[154]

उपर्युक्त परिगणित भाव-भूमियाँ वास्तव में उस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर आधारित हैं, जिसमें अनुभूति और कल्पनाएँ तथा इन पर उसका विश्वास एक-दूसरे के सहारे बढ़ते जाते हैं तथा इन्हीं के साथ उसकी संवेगात्मक जिन्दगी और उसकी श्रद्धा भी समय के साथ बढ़ती जाती है।.... (हिज इमोशनल लाइफ एण्ड हिज फेथ इन इट इन्क्रीजिंग विद द इयर्स)।[155]

सन्दर्भ

1. (क) तत्त्ववस्तु कृष्ण, कृष्णभक्ति प्रेमरूप। —चै.च.आ.ली., परि. 2, पृ. 10
   (ख) प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। —रा.च.मा., उ. का 89
2. श्रीमद्भागवत 3129।15।
3. चतुःश्लोकीः 1।
4. द्रष्टव्य परिभाषा संख्या : 2, 7, 8, 9, 10, 12, 14, 15, 18, 19 एवं 20
5. आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा, तार नाम काम
   कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा घरे प्रेम नाम
   कामरे तात्पर्य निज सम्भोग केवल
   कृष्ण-सुख-तात्पर्य प्रेम तो प्रबल
   आत्म-सुख-दुख गोपी ना करे विचार
   कृष्ण-सुख-हेतु करे सद्व्यवहार।
   कृष्णदास कविराज : चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, परिछेद 4, पृ. 28

6. अब हम आगे चलकर देखेंगे कि राधावल्लभ-सम्प्रदाय जैसे रसिक मतों की प्रेम-भावना पर ऐसे मतों का गहरा प्रभाव है।
7. गाढ-व्यसन-साहस्त्रसम्पातेऽपि निरन्तरम्।
न हीयते यदिहेति स्वादु तत् प्रेमलक्षणम्॥ —भक्ति-मार्तण्ड, पृ. 75
8. वस्तुमात्रविषयिणी...प्रेम। —वही
9. 1।20।20
10. अन्तिम दोहा।
11. भक्ति निरूपण, 43
12. जीव गोस्वामी : भक्ति सन्दर्भ (षट् सन्दर्भ) पृ. 648 (प्र. श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता)।
13. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी : (चतुर्थ खण्ड) एस. एन. दासगुप्ता, पृ. 351
14. देखिए परिभाषा सं. 6
15. निम्बार्क : दशश्लोकी : श्लोक 8
16. वल्लभाचार्य, सिद्धान्त-मुक्तावली, 1
17. गोस्वामी हरिराय : स्वमार्गीय सेवाफल-निरूपण, रूप-निर्णय, श्लोक 48
18. ना. भ. सूत्र, 21
19. वही, सूत्र 22-23
20. के.सी. वरदाचारी : 'आस्पेक्ट्स ऑफ भक्ति' (मैसूर यूनिवर्सिटी, 1956) में उद्धृत, पृ. 15
21. (क) परिभाषा सं. 15 एवं 19
(ख) वेदान्त देशिक (परि. सं. 10 (ख) ने महनीय विषय में प्रीति कहकर माहात्म्य-ज्ञान की ही ओर संकेत किया है।
22. अष्टछाप-वार्ता-कांकरौली, पृ. 18
23. दे. परिभाषा सं. 1, 2, 14, 17, 19 एवं 20
24. देवी हिमालय से पराभक्ति के विषय में कहती है कि उसका साधक सदा-सर्वदा मेरा गुण-श्रवण तथा नाम-कीर्तन किया करता है एवं "कल्याणगुण-रत्नानामाकराणां मयि स्थिरम्। चेतसो वर्त्तनं चैव तैलधारासमं सदा।। 7। 37। 11-12
25. श्रीमद्भागवत 3। 29। 11-12
26. चातक चौंतीसी, दोहावली-277 से 312
27. गीता 9। 22 अथवा 11। 15
28. ना. भ. सू. 7
29. वही, 9
30. वही, 10
31. ज्ञानसमुद्र : भक्ति निरूपण, छन्द 39
32. नाथ योनिसहस्त्रेषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि। विष्णु पुराण 1। 20। 19
33. दे. परिभाषा सं. 16
34. दे. परिभाषा सं. 3
35. गीता, 18। 62
36. वही, 18। 65
37. वही, 18। 66

38. तस्मात् सर्वात्मा नित्यं श्रीकृष्णशरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ —वल्लभाचार्य, नवरत्न श्लोक, 9।
(कल्याण, सन्त-वाणी अंक में संकलित)

39. बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृ. 265

40. के. सी. वरदाचारी : आस्पेक्ट्स ऑफ भक्ति, पृ. 41

41. आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो, गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः (अ. शं. 37। 18)।

तथा

प्रपत्तिरानुकूलस्य संकल्पो प्रतिकूलता।
विश्वासो वर्णनन्यासः कार्पण्यम् इति षड्विधः ॥ —नारद पाञ्चरात्र, वरदाचारी द्वारा उद्धृत पृ. 41

42. श्रीमद्भागवत 11। 29। 34

43. पोषणं तदनुग्रहः—भागवत 2। 10। 4

44. पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः, अणु भा. 4। 4। 9 की टीका।

45. अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः। —वल्लभ : सिद्धान्त-मुक्तावली, श्लोक 18

46. पुष्टिमार्गलक्षणानि। —श्लोक 2

47. परि. सं. 12

48. डॉ. नारायणदत्त शर्मा : निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्ण भक्ति हिन्दी कवि (अप्रकाशित प्रबन्ध, पृ. 128)

49. कृपाफलं चेतस्प्रपत्तिलाभलक्षणमित्येतत्। —निम्बादित्य-दशश्लोकी, हरिव्यास देव, पृ. 38
—हरिभक्ति रसामृत सिन्धु, पू. वि., तृतीय लहरी, श्लोक 4

50. वही, पू.वि., चतुर्थ लहरी, श्लोक 3।

51. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. 219

52. साधन श्रम कछु ना कियो ना कछु करिबे योग
कृपा बिहारिणिदास की सहज संयोगी भोग।
ऐसी स्वामिनि साहि बिन रसिक अनन्य उदार
बिहारिणि दासि प्रसन्न व्है दियो अहार विहार। —विहारिणिदास, रस के दोहा, 150 और 151

53. श्रीभद्भागवत 3। 29। 12

54. गीता 7। 14 एवं 8। 5, 15 अथवा 10। 10

55. भागवत सम्प्रदाय, पृ. 226, बलदेव उपाध्याय।

56. ना.भ.सू., 33

57. परिभाषा सं. 15

58. ना.भ.सू. 7

59. वही सू. 26

60. श्री भा. 3। 29। 13

61. वही 6-11। 24-25

62. जब लगि भगति सकामताँ तब लगि निर्फल सेव।
कहैं कबीर वे क्यूँ मिलैं निहकामी निज देव। —कबीर ग्रन्थावली, पृ. 29-20

63. डॉ. दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ. 538 (दि. भा.)।

64. चैतन्यचरितामृत, 1-7-137

65. वही, 2-23-2
66. ध्रुवदास : अनुराग लता लीला। —बयालीस लीला, पृ. 273
67. (1) प्रेम-प्रेम ही पाइये तौ करै प्रेम को अंग।
प्रेमहि प्रेभ पिछान लै झूठौ साँचो संग।
(स्वामी बिहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा, ह. लि. प्रति)
(2) भक्ति को साधन भक्ति जु आई।
रसिक दे, भक्ति-सिद्धान्त-मणि, 60
68. गीता 9। 32
69. भागवत, 3। 16। 6
70. सुबोधिनी, फल प्रकरण, अध्याय 4
71. चतुःश्लोकी, श्लोक 1
72. श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्त-रत्न-सग्रह, हकीम श्यामलाल, पृ. 165
73. अपुनपौ आपुन ही बिसरयौ
जैसे स्वान काँच मन्दिर मे भ्रमिभ्रमि भूँ कि मरयौ। —सूरसागर, ना. प्र. सं., 369
तथा
अपुनपो आपुन ही मैं पायौ।
सब्दहिं सब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो। —सूरसागर, ना. प्र. स., 369
74. इन्हें आत्यन्तिक मानकर न चलना चाहिए। प्रथम से दूसरी स्थिति में भी प्रयाण होता है और अनायास भी प्रभु-भक्ति का आविर्भाव हो सकता है।
75. ना.भा.सू., 5
76. भक्ति समानी भाई में भक्तन में भगवान।
श्री विहारीदास साँची कहैं श्री भागवत प्रमान। —श्री बिहारिणिदास, रस की दोहा, 569
77. हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु प.वि. प्रथम लहरी
78. वही, द्वितीय लहरी 1
79. वही 2।3
80. वही 2।75
81. वही 3।4
82. वही 4।3
83. श्रीमद्भागवत 7, 5, 23-24
84. शिव पुराण, विश्वेश्वर संहिता । 21
85. देवी भागवत 7। 37। 11
86. ना.भ.सू. 82
87. सूरदास, सूर सारावली-सूरसागर पृ. 5 तथा 69 'परमानन्द दास, ताते दशधा भक्ति भली' (परमानन्द सागर) स्वामी रसिकदेवः भक्ति सिद्धान्त मणि : दोहा 72
'दशधा भक्ति सुनौ मन लाय। ताको साधन नवधा आय।'
88. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 35-36
89. भक्ति-सागर, पृ. 181
90. वही, पृष्ठ 180
91. एस.के. देव : वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट, पृ. 280-282
92. चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, परि. 22, पृ. 284-285

93. महावाणी, पृ. 181
94. पुष्टि भक्ति के 16 आन्तरिक और वाह्य साधनों में भी साधनों और आचार-धर्मों, दोनों का ही समन्वय है।
95. हरिभक्ति रसामृत सिधु, पूर्व विभाग, 4 लहरी, श्लोक 6-7
96. जे.बी. प्रेट : द रिलिजस कान्शसनेस, अध्याय 27 एवं 28 के आधार पर
97. डॉ. मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास, पृ. 128-132
98. पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुमू। —गीता, 11 । 44 ।
99. भागवत, 10 ।29 ।15
100. एस.के.दे : वै.फे.मू., पृ. 286
101. भागवत, 11 । 19 । 36
102. गीता, 18 ।54
103. हरिभक्ति रसामृत सिन्धु, पश्चिम विभाग, प्रथम लहरी श्लोक 29-30 तथा नारायण भट्ट : भक्ति-रस-तरंगिणी, पृ. 113 पर उद्धृत।
104. जे.बी. प्रेट : द रिलिजस कान्शसनेस पृ. 374
प्रैट ने इसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हुए बताया है कि चरित्र और आध्यात्मिकता की भावना को दृढ़ करने में वैराग्य भाव बहुत सहायक होता है। बल्कि एक मत तो यह भी है कि मनुष्य के मन के जितना निकट अहंकार है, उतना ही निकट वैराग्य और त्याग भी। आधुनिक काल में उसका जितना अवमूल्यन हुआ है, वह ठीक नहीं है (385-386)। वास्तव में इन साधनाओं के द्वारा अनाकांक्षित-अवांछित एवं विभ्रम उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को दूर रखने का मूल्यवान कार्य सम्पन्न होता है।
105. नारद भक्तिसूत्र, 21 तथा शाण्डिल्य भ. सू., 14
106. डॉ. रामकुमार वर्मा ने भारतीय हिन्दी परिषद प्रयाग द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य में पृ. 241 पर अट्ठाइस सन्त कवियों की वानियों के आधार पर विभिन्न अंगों की जो तालिका दी है, उससे प्रतीत होता है कि सन्त-सम्प्रदायों में प्रेम का स्थान काफी ऊँचा रहा है। इस तालिका में प्रेम के अंगों की शब्द और साखी संख्या 298 है तथा उसका क्रमानुसार पाँचवाँ स्थान है। प्रेम-प्रतीकों पर आधारित अंगों में 'पतिव्रता' का स्थान 15वां है तथा उसकी शब्द-साखी संख्या 38 है तथा विरह या विरह का उराहना का स्थान प्रेम के बाद है। उसके अंगों की संख्या 142 है। 'व्यभिचारिन कौ अंग' का स्थान 17वां है और साखी संख्या 8 हैं।
107. वही, पृ. 234
108. नारायण भट्ट ने भक्ति रस-तरंगिणी में कहा है कि अंगी रसों में परस्पर अंगांगीभाव रहता है। वत्सलादौ शान्तस्य यथा। —भक्ति रस-तरंगिणी, पृ. 110 (बाबा कृष्णदास द्वारा प्रणीत)।
109. रूप गोस्वमी : हरिभक्ति रसामृत सिन्धु, पश्चिम विभाग, 1 । 13-15 ।
110. रामोपासक : कामदेन्द्रमणि जी ने शान्त रस के उपासकों को भी प्रभु के परिकरों में माना है। उनको रुक्ष और रस-रूप दो भागों में बाँटते हुए उन्होंने कहा है कि रस-रूप के उपासक महली सेवा और रस-भोग का मर्म जानते हैं। युगल-लीला में उनकी आस्था होती है। (भगवतीप्रसाद सिंह, रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय, पृ. 222-223 पर उद्धृत।)
111. हरिभक्ति रसामृत सिन्धु, पं. वि., द्वि. लहरी, 4
112. वही, 40
113. वही, 7, 11
114. वही, 12

115. वही, 13
116. वही, 43
117. वही, 64
118. वही, 44
119. हरिभक्ति रसामृत सिन्धु प. वि. द्वि. 46 और उसकी दुर्गम, संगमनी टीका, पृ. 343
120. रा.च.मा., उ.कां. 119 (क)।
121. अन्तःकरण प्रबोध, षोडश ग्रन्थ, रमानाथ शर्मा, पृ. 56-57
122. डॉ. दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ. 602। 609
123. वही, पृ. 602-203
124. रामोपासक महात्मा रसरंगमणि (19वीं शती) ने वात्सल्य और दास्य को ही सब रसों का हेतु और आधार माना है :

वात्सल्य माता पिता, सब रस को है रेतु।
तिहि बिन जग लीला जुगल, बनत नहीं रस केतु।
बिना दासता भक्ति नहिं, भक्ति बिना रस नाहि।
रसिक जीव रस रंग मणि, रामदास सब आहिं।। —राम रस रंग, दोहा, पृ. 10-11

पर वास्तव में वात्सल्य और दास्य को उन्होंने अन्ततः 'युगल लीला' की ओर प्रयोजित कर दिया है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से ये अंगी न होकर अंग ही हुए।
125. अष्टादास सिद्धान्त के पद, 2
126. हिन्दी साहित्य (द्वितीय भाग), भा. हि. परिषद्, पृ. 241
127. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 143
128. वही, ग्रन्थावली, पृ. 6
129. वही, ग्रन्थावली, पृ. 184
130. वही, ग्रन्थावली, पृ. 123
131. ह.भ.र.सि.प.वि. 3 ।54-55
132. वही, 3 ।56
133. वही, 3 ।6
134. वही, 3 ।10
135. वही, 3 ।20
136. अवधशरण : सख्य-सिन्धु-चन्द्रोदय, पृ. 32
137. हनुमत्संहिता, पृ. 31
138. नृत्य-राघव-मिलन, दोहा, पृ. 45-46
139. महाराज रघुराज सिंह : भक्ति-विलास, पृ. 47
140. वही, पृ. 47
141. महाराज रघुराज सिंह : भक्ति-विलास पृ. 47
142. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 7
143. हरिभक्ति रसामृत सिन्धु, प. वि., 4। 24
144. वही, 4 ।273
145. वही, 4 ।8
146. वही, 4 ।20-22
147. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : डॉ. भगवती प्रसाद सिंह, पृ. 250

148. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, भवप्रकाश, पृ. 786

149. बृन्दाबन देव की रचना 'गीतामृत-गंगा' का प्रथम घाट जन्मोत्सव एवं द्वितीय घाट पौगण्ड-लीलाओं का है।

150. गोपाल लाल, दूलह बराती।
गोधन आगे सखिन यूथ में राधा दुलहिन लाल गवाती।
दुन्दुभि दूध दोहन की बाजी राजी सब गोपाल सजाती।
आरति पलक गहि जल मोती, श्रीभट रूप पिवाती। –श्री युगल शतक, पद 20

151. निम्बार्क-सम्प्रदाय के कृष्णभक्त हिन्दी कवि : डॉ. नारायण दत्त शर्मा, पृ. 517 (अ. प्र.)।

152. इष्टे गाढ़तृष्णा राग एइ स्वरूप लक्षण।
इष्ट आविष्टता एइ तटस्थ लक्षण।। –चैतन्य चरितामृत, मध्य ली., परि. 22। 86:

153. ह.भ.र.सि., पू. वि. 2। 60-62

154. द मिस्टिक इज इसेन्शियली ए रोमैण्टिसिस्ट। बाइ सेइंग दिस आई मीन दैट ही एक्जिबिट्स इन अ लार्ज डिग्री दैट कॉन्फिडेन्स इन इमोशन एण्ड इमेजिनेशन विच आर एट द बाटम ऑफ रोमैण्टिसिज्म'। (रहस्यवादी अनिवार्यतः स्वच्छन्दतावादी होता है। यह कहने से मेरा तात्पर्य है कि वह उन कल्पनाओं और संवेगों पर अधिकांशतः वैसा विश्वास प्रदर्शित करता है जो कि स्वच्छन्दतावाद के मूल में होते हैं।) –जे.बी. प्रैट : द रिलिजस कान्शसनेस, पृ. 366

155. वही, पृ. 367
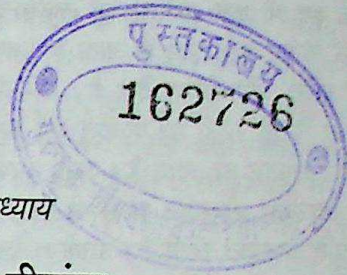
तृतीय अध्याय

उज्ज्वल रस-मीमांसा

मधुर-भाव का विकास : पृष्ठभूमि-स्थित विविध तत्त्व

मधुरा भक्ति के मूल में स्त्री-पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध की धारणा विद्यमान है। अपने इष्टदेव कृष्ण के प्रति जो राग (स्वारसिकी आविष्टता) ब्रजगोपिकाओं के हृदयों में था, उसी का अनुगमन करके मन में जो भावचिन्तन किया जाता है, वही मधुरा भक्ति में परिणत हो जाता है। समस्त साधना इसी उज्ज्वल भाव तक पहुँचने के लिए होती है। साधना के इस स्वरूप को हम आगे स्पष्ट करेंगे। यहाँ पर हम संक्षेप में इस साधना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विकास की रेखा स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

इस साधना का प्रारम्भिक और एतत् सम्बन्धी रूप काफी पुराना एवं उपमानपरक है। लौकिक सम्बन्ध उपमान एवं पारलौकिक सम्बन्ध उपमेय होता है। वैदिक संहिताओं के ऐसे अंशों की ओर संकेत किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् का एक मन्त्र भी इस सम्बन्ध में बहुधा उद्धृत किया जाता है—

तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तरम्।
एवमेवायम् पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तरम् ॥[1]

यहाँ पर वास्तव में सम्बन्धों के भी सादृश्य की ओर संकेत न करके स्थिति-सादृश्य को व्यंजित किया गया है। इस उपनिषद वाक्य में यौन-सम्मिलन से उत्पन्न विलय को समाधि के आनन्द के समतुल्य बताया है। ब्रह्म और जीव के मध्य का स्त्री-पुरुष वाला सम्बन्ध दिखाना उद्दिष्ट प्रतीत नहीं होता।

'काम' जीवन की एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण वृत्ति है। वैदिक ऋषि ने अनुभव किया था कि जगत्-जीवन के मूल में काम है—'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' ।[2] भारतीय समाज-चिन्तकों ने इस शक्तिशाली वृत्ति को पालतू बनाने के लिए विवाह की जिस संस्था का निर्माण किया, उसने काम को उन्नीत अवस्था में लाकर उसके माध्यम से पितृ-ऋण जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित कराने चाहे। पतिव्रत एवं पत्नीव्रत के रूप में जो आदर्श सामने आते हैं, वे इस अमर्यादित

वृत्ति को सीमाबद्ध करते हैं। पति-पत्नी विवाह के पश्चात् लौकिक वासना की तृप्ति करते हुए भी एक अभिन्न एवं अपरिवर्तनीय सूत्र में बँधकर जो सुखलाभ करते हैं, उसमें 'काम' महत्त्वहीन हो जाता है अथवा यों कहें कि अधिक उदात्त बनकर मनुष्य को शक्ति और प्रेरणा देता है। धीरे-धीरे स्त्री की सामाजिक हैसियत पुरुष की अपेक्षा गिरती जाती है। पतिव्रत धर्म का महत्त्व बढ़ जाता है एवं एक पत्नीव्रत का आदर्श समाप्त हो जाता है। पत्नी समर्पणशीला बन जाती है, पति की दुर्बलताओं एवं तिरस्कार को सहन करके भी वह अपनी असीम गम्भीर प्रेमवृत्ति के साथ पुरुष के प्रति अनुरक्त रहती है। उसके चरित्र में एक कोमल मानवीय गहनता के साथ ही दिव्य एवं अलौकिक गुणों का अपूर्व समन्वय दिखाई देता है। इस निष्ठावान अधिबल प्रेम की प्रतिमूर्ति ही भारतीय काव्य-पुराण की नायिकाएँ हमें मिलती हैं। हमें लगता है कि बहुपत्नीवाद के बीच से फूटकर आये हुए इस निष्ठावान अखण्ड प्रेम के नारी-आदर्श ने मधुर भाव को विकसित होने में यथेष्ट सहायता दी है। एक परमपुरुष की जीवात्मा रूपी अनेक स्त्रियाँ हैं एवं ये स्त्रीरूपी जीवात्माएँ अपने प्रियतम से ऐसा ही दृढ़ प्रेम करें, जैसा कि स्त्री अपने पति से करती है—यह आदर्श महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों एवं प्रेम-वृत्ति के सामन्तीकरण (फ्यूडलाइजेशन ऑफ लव) का एक और प्रभाव भी हमें मधुर साधना में विकसित होता मिलता है। जैसे एक सामन्त के ऊपर दूसरा सामन्त होता है और उसकी सीढ़ी-दर-सीढ़ी सेवा होती है। प्रेम की लगभग वैसी ही सेवा हमें उत्तर-मध्ययुग में प्राप्त होने लगती है। राधा हैं, कृष्ण हैं, उनकी प्रधान-प्रधान सखियाँ हैं, यूथेश्वरियाँ हैं फिर उनकी भी सेविकाएँ, दासियाँ या मंजरियाँ हैं। यह सारा ढाँचा पूरी तौर से सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। मध्ययुग में व्यक्ति का व्यक्ति से प्रेम या घृणा अधिक सशक्त थे। देश भक्ति की भावना की अपेक्षा शरण में आये हुए को रक्षा देने की या मित्र के लिए प्राण देने की या प्रेमिका के लिए सब कुछ बलिदान कर देने की भावनाएँ बड़ी प्रबल थीं। इस वैयक्तिक आवेश के कारण ही प्रेम और विश्वासघात, दोनों का ही रूप महान था। मध्ययुग में प्रेम का आवेग एक नये रूप में शक्तिशाली हो उठा, यह बात दूसरी है कि उसकी वेशभूषा कुछ पुरानी ही रही। नम्रता, शिष्टता एवं एक प्रकार का व्यभिचार भी इस प्रेम के अंग बन गये। सामन्त और प्रजाजन का सम्बन्ध प्रेम के क्षेत्र में नम्रता के रूप में प्रकट हुआ। दरबारी शिष्टता के मानदण्ड प्रेम के क्षेत्र में प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक व्यवहार में प्रतिबिम्बित होते हैं। तीसरे तत्त्व व्यभिचार के कारण और गहरे हैं। सामन्ती विधान के भीतर पत्नी सम्पत्ति के एक टुकड़े की भाँति स्वीकृत थी, अतः उसके साथ प्रेम के अति आदर्शीकरण या रूमानी भावना को जोड़ने का प्रश्न नहीं उठता था। वह तो 'प्राप्त' ही थी। जमींदार के लिए जैसे भूमि वैसे पति के लिए स्त्री—यह सामान्य धारणा थी। इस प्रकार विवाह 'प्रेम' के

लिए बहुत उपयोगी नहीं था। यों विवाह की उपयोगिता और पत्नी की आवश्यकता स्वीकृत थी–'ऐन्द्रिक प्रसन्नता तथा घरेलू सुख-भावना के लिए। पर इसमें मध्ययुग का वह रोमान्स कहाँ उभर पाता है? परिणाम परकीया प्रेम हुआ। वही स्त्री अपने पति के लिए महत्त्वहीन, पर वही स्त्री प्रेमी के लिए प्राणाधिक प्रियतमा हो जाती है। सी.एस. लेविस का यह कथन इस प्रसंग में नितान्त सार्थक है–एनी आइडियलाइजेशन ऑफ सेक्सुअल लव, इन ए सोसाइटी ह्वेयर मैरिज इज प्योरली यूटिलिटेरियन, मस्ट बिगिन बाई बीइंग ऐन आइडियलाइजेशन ऑफ ऐडल्टरी"।[3] (अर्थात् विवाह को मात्र उपयोगी मानने वाले समाज में, यौनप्रेम का आदर्शीकरण निश्चित ही व्यभिचार के आदर्शीकरण से प्रारम्भ होगा।) उत्तर-मध्ययुग में परकीया प्रेम के इस आदर्शीकरण के उदाहरण भारतीय भाषाओं के वैष्णव-भक्ति साहित्य में विरल नहीं हैं।[4]

इस परकीया प्रेम के पीछे एक और मनोवैज्ञानिक कुण्ठा भी स्वीकार की जा सकती है। पीछे हम कह चुके हैं कि दाम्पत्य जीवन में जिन हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई थी, उनमें 'काम' का स्थान महत्त्वहीन हो गया था। धीरे-धीरे उद्दाम आवेगमय वासनात्मक प्रेम को धर्म के वैराग्यशील पक्ष ने अनुचित ठहराना शुरू किया। स्त्रियों की भाँति-भाँति की निन्दा के स्वर हमें गौतम बुद्ध से लेकर उत्तर मध्ययुग के कवियों-साधकों तक में मिलते हैं। परन्तु साहित्य में, चित्रों में जब-जब परकीया प्रेम का चित्रण हुआ, वह मानो एक प्रकार से धार्मिक वर्जनशीलता के प्रति विद्रोह था। विद्रोह की आत्यन्तिक विजय तब होती है, जबकि साहित्य की प्रेमदेवी राधा अनन्यशक्तिरूपा बनकर धर्म के सिंहासन पर भी आसीन हो जाती है एवं राधा-कृष्ण का उद्दाम प्रेम, आवेगमयी लीलाएँ शत-शत कण्ठों से धर्म की पवित्रता के साथ फूट पड़ती हैं। परकीयावाद इन्हीं के साथ एक बौद्धिक-दार्शनिक व्याख्या की मान्यता भी प्राप्त कर लेता है तथा इस विद्रोह का सबसे ऊबड़-खाबड़ रूप हमें वज्रयानियों के वेद-विरोधी धक्कामार स्वर में मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पत्नी के समान आत्मसमर्पण, दृढ़निष्ठा एवं परकीया जैसा उद्दाम प्रेम एवं लीला एक ही समाज व्यवस्था की मनः स्थितियों की देन हैं।[5]

इस सामाजिक प्रेरणा के अतिरिक्त पूर्व वैदिक युग के मातृसत्ताक कुटुम्बों ने भी धर्मसाधनाओं के भीतर से इस माधुर्य भाव को विकसित होने में सहायता दी है। स्त्री की प्रजनन-सामर्थ्य के कारण धर्म साधनाओं एवं सृष्टि-सम्बन्धी विश्वासों में मूलतः एक शक्ति की कल्पना मातृसत्ताक कुटुम्बों की देन मानी जा सकती है। इस शक्तिवाद के साथ ही एक प्रकार की गुह्य-यौगिक साधना भी इस देश में प्रारम्भ से ही पल्लवित होती रही है। इन दोनों ने समस्त भारतीय साधनाओं, धर्ममतों, उपासना-प्रणालियों एवं दार्शनिक मान्यताओं को भीतर-भीतर प्रभावित किया है। इस शक्तिवाद के प्रभाव की विस्तृत विवेचना डॉ. शशिभूषणदास गुप्त ने अपने ग्रन्थ 'श्री राधा का क्रम-विकास' में की है।[6] शक्तिमत के प्रभाव में ही प्रत्येक देवता के

साथ उसकी शक्ति की कल्पना की गयी है। दार्शनिक रूप में शक्ति का चाहे जो स्वरूप हो, अपने लोक-बोध के अनुरूप धर्म-बोध को ग्रहण करने वाला समाज देवता और शक्ति को पति-पत्नी के रूप में देखता है तथा सामाजिक जीवन के पति-पत्नी के आदर्श ही उनके ऊपर आरोपित करता है। यह शक्तिवाद ही वैष्णवों में श्री या लक्ष्मी का रूप धारण करता है। अर्हिन्य संहिता में परमात्म-धर्म-धर्मी लक्ष्मीरूपा शक्ति को जगत् की योनि कहा गया है—या च सा योनिर्लक्ष्मीस्तद्धर्मधर्मिणी।[7] यह शक्तिवाद जब आर्य-दार्शनिक मेधा के सम्पर्क में आया तो एक निरपेक्ष सत्ता के प्रवृत्त्यात्मक और निवृत्त्यात्मक दो रूप माने गये। निरपेक्ष रूप में अद्वय स्थिति मानी गयी पर 'होने' की प्रक्रिया में तथा सृष्टि-निर्माण में यह इन दो रूपों में बँट जाती है। इस द्वित्व की भावना से गुजरना ही बन्धन और दुख है और उससे छुटकारा ही मोक्ष है। तमाम गुह्य साधनाएँ इस द्वैत के नाश और अद्वैत की प्राप्ति का ही प्रयास करती हैं। अद्वैत की इस अवस्था को ही अद्वय, मिथुन, युगनद्ध, यामल, समरस, युगल, सहजसमाधि अथवा शून्यसमाधि कहा गया है।

यह सृष्टि क्यों होती है, इसकी व्याख्या के दौरान में लीलावाद की उत्पत्ति हुई। वैष्णव पंचरात्रों में लीलावाद का स्पष्ट स्वर हमें मिलता है। समस्त सृष्टि को ही लीलास्पन्दन कहा गया तथा भगवान को लीलाररः समुत्सुक बताया गया है।[8] अहि. सं. में ही शरणागति के छह प्रकारों की गिनती हुई है, शरणागति के इस रूप के साथ पहले विवेचित पत्नी-प्रेम के आदर्श को मिलाकर देखा जाये तो आश्चर्यजनक समानता प्राप्त होती है। इस समानता ने भी माधुर्य भाव के विकास में सहायता पहुँचायी होगी। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने इस समानता पर ध्यान तो नहीं दिया पर शरणागति-तत्त्व को मधुर-उपासना में सहायक अवश्य माना है।[9]

पुराणों आदि के माध्यम से शक्तितत्त्व पत्नी प्रतीक को स्वीकार करता प्रतीत होता है। पुराणों में तत्त्व दर्शन एवं लोक-प्रचलित उपाख्यान एक में मिल जाते हैं। (आगे चलकर सूफ़ियों में भी यही प्रतीकवाद किंचित् बदले रूप में प्राप्त होता है) परन्तु उनमें युगल तत्त्व की स्वीकृति नहीं है। इस मिलन में लोक-प्रचलित किंवदन्तियाँ ही नहीं, साधनाएँ, विश्वास और रूढ़ियाँ भी सम्बन्धित हो गयी हैं। परिणामस्वरूप तत्त्वदर्शन के क्षेत्र में पुराणकारों ने बड़ी आसानी के साथ सांख्य के पुरुष और प्रकृति को तन्त्र के शिव-शक्ति से और वैष्णवों के विष्णु-लक्ष्मी से बिल्कुल अभिन्न कर डाला है। इसके फलस्वरूप पुराणों में वर्णित लक्ष्मी स्तव में विष्णु और लक्ष्मी, वेदान्त के ब्रह्म और माया सांख्य के पुरुष और प्रकृति, तन्त्र के शिव और शक्ति सभी अपनी-अपनी स्वतन्त्रता छोड़कर मिल-जुलकर एक युगल मूर्ति धारण किये हुए हैं। बाद वाले काल के राधाकृष्ण ने भी बड़ी आसानी से आकर इस युगल के सामने ही आत्मसमर्पण किया है।[10] इस प्रकार भारतीय हृदय के पुरामान्य आदि युगल को हम प्रतिष्ठित देखते हैं। यह सब इतने लौकिक स्तर पर सम्पन्न होता है

कि तत्त्वदर्शन का प्रतीक न रहकर वास्तविक सामाजिकता का भ्रम (इल्यूजन ऑफ रियलिटी) पैदा कर देता है।

यह शक्तिवाद वैष्णव मतवाद को ही नहीं, शैव, शाक्त और बौद्ध-साधनाओं को भी प्रभावित कर रहा था। वैष्णव, शैव और शाक्त शास्त्रों में प्राप्त शक्तिवाद भाव भाषा या विचार किसी भी दृष्टि से परस्पर बहुत भिन्न नहीं हैं।

बौद्ध साधना का मार्ग जब महायान के अन्तर्गत जनसाधारण के लिए उन्मुक्त हो गया, तब सहज ही लोग अपने परम्परागत विचारों 'मान्यताओं, देवी-देवताओं 'भूत प्रेत' जादू-टोने के विश्वासों समेत उसके भीतर आ गये। उनके साथ ही हठयोग, लययोग, राजयोग, मन्त्रयोग भी घुसे और इन सबने एक व्यवस्थित बौद्ध तान्त्रिक साधना-विधि खड़ी कर दी जिसका नैतिक-धार्मिक दृष्टिकोण ही मूलरूप से भिन्न हो गया।[11] इसी में मिथुनयोग भी आ मिला। यहीं पर धार्मिक निषेध की पूर्वचर्चित प्रतिक्रिया को हम याद कर लें। इस प्रतिक्रिया के कारण ही इन लोगों ने जिन पंचमकार आदि प्रतीकों का प्रयोग किया, वे मनुष्य की उद्दाम यौन वृत्तियों से भी सम्बन्धित थे।

अस्तु, शिव-शक्ति, विष्णु-लक्ष्मी, शून्यता और करुणा, प्रज्ञा और उपाय, चन्द्र और सूर्य ही राधा-कृष्ण तथा राम-सीता का रूप उत्तर मध्ययुग में धारण कर लेते हैं। भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में शक्तिवाद तीन रूपों में दिखाई पड़ता है :

1. एक अद्वय समरस तत्त्व निरपेक्ष सत्ता है। शिव और शक्ति दोनों उसके अंशमात्र हैं।

2. शिव ही परमतत्त्व तथा शक्ति के मूल आश्रय हैं। अतः वे ही उपास्य हैं और शक्ति उन्हीं में निहित है।

3. शक्ति ही परमतत्त्व है और जिसके भीतर वे आधारीभूता हैं, वे ही शिव हैं। अतः उपास्य शक्ति है, न कि शिव।

बौद्ध साधनाओं एवं सहजिया वैष्णव में प्रथम स्थिति अधिक मान्य रही है, शैवों तथा प्रारम्भिक वैष्णव सम्प्रदायों (श्री निम्बार्क एवं वल्लभ) में दूसरी स्थिति के निकट पहुँचती हुई मान्यताएँ स्वीकृत हैं। गौड़ीय वैष्णवों में तीसरी विचारधारा शाक्तमत की ओर झुकाव होता है जो कि हरिदासी, राधावल्लभीय और हरिव्यासी (परवर्ती निम्बार्कीय मत) सम्प्रदायों में अधिक विकसित हुआ है तथा जिसकी चरण पराकाष्ठा वृन्दावन के 'ललित-सम्प्रदाय' में दिखाई पड़ती है।

साधना के क्षेत्र में बौद्ध सिद्धों, रसेश्वर दर्शनों एवं कौल, कापालिक सम्प्रदायों में पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की कल्पना करके अद्वय या युगनद्ध स्थिति की उपलब्धि का प्रयास किया जाता था। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष अंश... (शिव और शक्ति) मनुष्य-शरीर के भीतर ही हैं। उनकी अद्वय उपलब्धि के लिए विभिन्न प्रकार की यौगिक प्रणालियों का आश्रय लिया जाता था तथा स्त्री का प्रयोग साधन के रूप

में भी स्वीकार्य था। सब मिलाकर इनमें यौन-यौगिक साधनाएँ प्रचलित थीं। इन्होंने मधुरभाव के प्रसार में पर्याप्त सहायता दी।

सहजिया वैष्णवों में आकर इस विश्वास का रूप थोड़ा बदल गया। यहाँ पर प्रत्येक पुरुष में कृष्ण और प्रत्येक स्त्री में राधा का तत्त्व स्वीकार किया गया। इसके लिए 'आरोप' साधना की कल्पना की गयी। पुरुष किसी स्त्री में राधा का आरोप कर वैसा ही चिन्तन करे, उसके लिए व्याकुल हो एवं स्त्री पुरुष को कृष्ण-रूप में देखे। इस प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों के ही शरीर साधन बन गये। इस आरोप-साधना के लिए परकीया भाव स्वीकार किया गया क्योंकि मिलन की चेष्टा वहीं अधिक तीव्र एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गहन होती है।

गौड़ीय वैष्णवों को यह सहजिया साधना उत्तराधिकार में मिली। उन्हीं के प्रभाव में उन्होंने परकीया भाव को स्वीकृति भी दी जो कि मध्य देश में आकर या तो स्वकीया हो जाती है—(पुष्टिमार्ग) या परकीया-स्वकीया-विवर्जित (राधावल्लभीय)। पर सहजिया वैष्णव-आरोप-साधना वैष्णव मतवादों में आकर कुछ भिन्न रूप धारण कर लेती है। यहाँ पर किसी दूसरे की स्त्री पर राधा या दूसरे पुरुष पर कृष्ण का आरोप करने के स्थान पर अपने मन पर किसी पूर्व रागात्मिका भक्ति के साधक का आरोप करना होता है। इसे ही रागानुगा भक्ति कहा गया है। आरोप की यह साधना मनोवैज्ञाननिक शब्दावली में आत्म-सुझाव (ऑटो-सजेशन) कहलायेगी तथा रहस्यानुभूति के क्षेत्र में इसको सर्वत्र मान्यता मिली है। पर दोनों प्रकार के आरोपों में आरोप का केन्द्र बदल जाता है। सहजिया वैष्णवों में किसी दूसरे को राधा या कृष्ण मानकर चलना होता है एवं वैष्णव मतवादों में अपने को ही नन्द-यशोदा, हनुमान, सुबल, उद्धव या गोपी आदि अनुभव करने का अभ्यास करना पड़ता है।

आरोप के इस अभ्यास के सफल हो जाने के बाद ही वैष्णवों ने भाव और प्रेम-भक्ति की अवस्थाएँ मानी हैं। उस समय के आनन्द की कोटियों में समानता है। साधना की दृष्टि से बौद्धों, नाथ-तन्त्रों और वैष्णवों आदि में एक समानता और भी है। तन्त्रों के सात आचारों में सर्वश्रेष्ठ कौलाचार माना गया है जिममें कोई भी नियम नहीं है। वैष्णवों के यहाँ भी प्रेम की श्रेष्ठ स्थितियों में किसी भी प्रकार के विधि-निषेध को स्वीकार नहीं किया गया है।

अस्तु, इस मधुर-साधना की पृष्ठभूमि को सामाजिक प्रेरणा एवं समसामयिक साधनाओं के अतिरिक्त, प्रभावित करने वाला तीसरा तत्त्व है—साहित्य की परम्परा। साहित्य का अवलम्बन करके ही राधा का आविर्भाव और प्रसार हुआ है। इसके अतिरिक्त राधा प्रेम का ढाँचा पूर्ववर्ती प्रेम-कविता से ही लिया गया है।[12] भारतीय साधारण काव्य-प्राणाली तथा प्रचलित कवि-प्रसिद्धियों को ही वैष्णव-भक्त कवियों ने पूरी तरह ग्रहण कर लिया है। इसमें उन्होंने अपनी-अपनी प्रतिभा और कल्पना से नये प्रसंगों, नयी लीलाओं, नये काव्यरूपों एवं कथन-भंगिमाओं का भी समावेश किया है।

चौथा अन्यतम तत्त्व है दक्षिण की भक्ति का प्रभाव। सी.एच. वादवील ने कहा है कि भागवतधर्म (महाभारत-गीताकाल) लौकिक प्रेम-सम्बन्ध तथा लोकोत्तर प्रेम अथवा भक्ति के बीच सादृश्य स्वीकार नहीं करता था।[13] भक्त की आत्मा कृष्ण के प्रति वैसी ही भावना रखे, जैसी एक निष्ठावती नारी अपने पति के प्रति रखती है, यह बात कहीं भी ध्वनित नहीं होती।[14] लेखिका के अनुसार तमिल शैव सन्त माणिक वाशकर का 'तिरुक्कोवह' ब्रलजीव के गूढ़ सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए लोकप्रिय रोमांस के प्रतीकात्मक प्रयोग का प्रथम प्रयास माना जा सकता है।[15] वादवील ने एक लोककथा के बहाने इस सम्बन्ध की अभिव्यंजना का सम्बन्ध सूफ़ी प्रभाव से जोड़ा है।[16] हम इस बात की विस्तृत परीक्षा न करके मात्र इतना संकेत करना चाहते हैं कि पुराणों में लोकाख्यानों और तत्त्ववाद, दोनों को समन्वित करके प्रेम-प्रतीकवाद के यथेष्ट उदाहरण मुस्लिम-पूर्व युग के मिल जाते हैं। जैनियों में भी प्रेमकथाओं के माध्यम से वैराग्य के उपदेश दिये गये हैं। यह बात दूसरी है कि जैनियों के उपसंहार कुछ भद्दे ढंग से आते हैं, पर यह तो कलात्मक विकास हो सकता है—तथा लक्ष्यों की भिन्नता के कारण भी सम्भव है।

अस्तु, शैवभक्तों के प्रेम प्रतीकवाद को वास्तविकता के स्तर पर आलवार भक्त ले आये। नाम्मालवार तथा आण्डाल ने अपने को गोपी तथा श्रीरंगम की पत्नी मानकर परमात्मा से प्रेम किया। यह भी एक प्रकार से सहजिया वैष्णवों की आरोप भावना के अनुकूल था। नारद भक्तिसूत्र में इसे ही 'यथा ब्रजगोपिकानां' कहा-गया है। शाण्डिल्य-सूत्र के स्वप्नेश्वर भाष्य में भी तीसरे सूत्र के संस्था शब्द के अर्थ की ओर एक संकेत दिया गया है। महाभारत के एक अवतरण के आधार पर संस्था का आशय पति के प्रति पत्नी की भक्ति से है। उत्तर भारत की वैष्णव मधुर भाव की साधना में इस भाव के उत्तराधिकारी अधिकांशतः निर्गुण साधक और मीराबाई हैं। अन्य साधकों ने अपनी कल्पना सखा या सखियों के रूप में की है, न कि प्रेमिका या पत्नी के रूप में। वास्तव में दक्षिण के भक्तों में प्रेम-प्रतीकवाद विकसित हुआ था, जबकि उत्तर भारत में युगल रूप का तत्त्वदर्शन। इसी कारण दक्षिण के उत्तराधिकारी अपने को 'राम की बहुरिया' कहते हैं, पर राधावल्लभा, हरिदासी, निम्बार्कीय आदि सम्प्रदायों में नित्य विहार लीला के दर्शन और उस विहार में परिचर्या का महत्त्व है। पुष्टिमार्ग, शुक सम्प्रदाय एवं स्वसुखा शाखा के रामोपासकों में प्रेम-प्रतीकवाद दक्षिण की परम्परा में ही विकसित हुआ है।

माधुर्योपासना को बढ़ावा देने वाला अन्तिम मुख्य तत्त्व है—सूफ़ी तत्त्व दर्शन। सूफ़ी भी अपने इष्ट को लौकिक प्रेम-प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। विरह भाव का इनमें अत्यधिक प्राधान्य है। इन्होंने भी निर्गुणोपासकों को मुख्य रूप से अपने इश्क के रंग में रंगा है।[17] यों सगुणोपासकों में वल्लभ एवं गौड़ीय वैष्णवों में जो विरह का भाव है, उस पर भी सूफ़ी मतवाद की छाप देखी जा

सकती है। रसोपासकों में नित्य विहार के अन्तर्गत विरह की स्थिति सूफ़ी भाव से भिन्न हो गयी है।

ऊपर कही हुई सारी बातों को यदि समेटकर देखा जाये तो प्रतीत होगा कि मधुर भाव के मूल में दो तत्त्व हैं : (1) लीलावाद तथा (2) मधुर रस (कान्ता भाव)। प्रथम तत्त्व का विकास शक्तिवाद के माध्यम से विभिन्न साधनाओं के बीच से हुआ है तथा द्वितीय तत्त्व का आरम्भ प्रेम-प्रतीकवाद के रूप में होता है जो धीरे-धीरे यथार्थता का बाना धारण कर लेता है। सम्भवतः इन दोनों का प्रथम कलात्मक समन्वय श्रीमद्भागवत में होता है एवं चरम परिणति 16वी-17वीं शती के वैष्णव काव्य में प्राप्त होती है।

मधुर रस का स्वरूप

काव्यशास्त्र में शृंगार को रसराज कहा गया है।

इसी प्रकार रागमूलक शृंगार का भक्ति के क्षेत्र में भी सर्वश्रेष्ठ स्थान है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लौकिक आलम्बन के प्रति जो रति होती है, उसी का जब उन्नयन हो जाता है और उसका विषय स्वयं भगवान हो जाता है, तब वह मधुर रस में परिणत होता है। भक्ति रसशास्त्र में जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है, कृष्ण विषया रति ही मूल स्थायी भाव होता है और उसी के पाँच मुख्य एवं सात गौण प्रकार होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर 12 रसों (9 काव्यशास्त्र के तथा दास्य, सख्य और वात्सल्य) को इस ढाँचे के भीतर स्थापित किया गया है। इनमें पाँच मुख्य (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर) में से चार का संक्षिप्त परिचय हम पिछले अध्याय में दे चुके हैं। श्री रूप गोस्वामी जी ने पंचम मधुर रस को भक्तिरसराट्[18] तथा निवृत्तों के लिए अनुपयोगी, दुरूह तथा विततांग बताया है।[19] निवृत्तों के लिए अनुपयोगी कहकर उन्होंने यह पहले ही संकेत कर दिया है कि लौकिक शृंगार रस के यह सदृश है, पर वास्तव में यह सादृश्य ऊपरी है। वैष्णव रसशास्त्रियों (रूप, जीव, विश्वनाथ चक्रवर्ती, कृष्णदास कविराज) ने बार-बार इस बात के लिए सावधान किया है कि इसे लोक के शृंगार के समान समझने का भ्रम न किया जाये। अस्तु इस भक्ति रसराज के निरूपण के लिए रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ का नाम जितना ही प्रतीकात्मक है,[20] उतना ही सूक्ष्म, जटिल विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण है।

अस्तु इस मधुर-रस की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि वक्ष्यमाण विभावादि के द्वारा पुष्ट मधुरा रति मनीषियों (भक्तों) के हृदय में, आस्वादित होकर मधुर भक्ति रस कहलाती है।[21] मधुरा या प्रियता रति का स्वरूप वे 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' में पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। उसके अनुसार श्रीकृष्ण

एवं गोपियों को दोनों को परस्पर संयोग[22] लिए प्रेरणा देने वाली मधुरा या प्रियता रति कही जाती है।

मधुर रस की यह सारी योजना पूरी तरह से संस्कृत काव्यशास्त्र (शिंग भूपाल के रसार्णव सुधाकर का आधार सबसे अधिक लिया गया है) पर आधारित है। इसके लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली और सामान्य धारणायें (जनरल कन्सेप्ट्स) सीधे-सीधे संस्कृत काव्यशास्त्र से उठा ली गयी है, परन्तु उन सबको 'कृष्ण रति' की ओर किस प्रकार मोड़ा गया है, जिस ढंग से तमाम विस्तृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है एवं फिर समस्त कथनों को नाना स्रोतों से समर्थित, अनुमोदित एवं उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया गया है, वह सब आश्चर्यजनक है।

नायक कृष्ण एवं उनकी नायिकाओं, परिकर आदि की विविध मनःस्थितियों पहलुओं, परिस्थितियों, क्रिया, चेष्टा, वचन आदि का जैसा मार्मिक विवेचन एवं उद्‌घाटन श्री रूप गोस्वामी (जीव गोस्वामी, कृष्णदास कविराज, विश्वनाथ चक्रवर्ती नारायण भट्‌ट आदि ने भी लगभग उन्हीं का अनुकरण-समर्थन किया है।) ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि अन्य समस्त समसामयिक वैष्णव सम्प्रदायों को इस भक्ति रसशास्त्र ने गहरे ढंग से प्रभावित किया है। सारे के सारे अलंकारशास्त्र को उन्होंने भक्ति की ओर जिस प्रकर मोड़ा, वह उनके व्यक्तित्व की प्रौढ़ता, पाण्डित्य एवं प्रतिभा का स्पष्ट परिचायक है। अलंकारशास्त्र एवं भक्ति-भावना का उनमें विचित्र मणि-कांचन-संयोग था।

अस्तु, इस प्रियता या मधुरा रति के सर्वतोभावेन आलम्बन हैं—नायक चूड़ामणि कृष्ण एवं उनकी वल्लभाएँ।[23] नायक के रूप में कृष्ण में विविध (25) गुण गिनाये गये हैं[24] और वे स्वभाव से धीरोदात्तादि चार प्रकार के बताये गये हैं।[25] नायिका की दृष्टि से पति और उपपति के भेद से पुनः कृष्ण के दो रूप हैं। उपपति के रूप में वे कन्याओं एवं प्रोढ़ाओं के प्रेमी हैं। यहीं पर यह याद दिला देना आवश्यक है कि सहजिया वैष्णव साधना तथा कामशास्त्र से प्रभावित अलंकारशास्त्र के प्रभाव में उपपति (परकीया भाव) की धारणा का समावेश तो उन्होंने किया है पर रूप और जीव दोनों ही गोस्वामियों ने यह बताने में अत्यधिक परिश्रम किया है कि वास्तव में उपपतित्व ऊपर से प्राकृत लीला में हैं, वस्तुतः वे नायक स्वाकीयाओं के ही हैं। गौड़ीय वैष्णवों में परकीया भाव 18वीं शती में विश्वनाथ चक्रवर्ती की मुहर पाकर ही पूर्णतया प्रामाणिक बन पाता है। इसके पूर्व दार्शनिक स्तर पर जीव गोस्वामी आदि ने इसे स्वीकार नहीं किया था। इस उपपति वाले रूप में ही शृंगार की सर्वश्रेष्ठ सत्ता है।[26]

नायक कृष्ण के अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट—ये चार रूप प्रेमी-चरित्र के अनुसार और भी बताये गये हैं।

परम्परागत अलंकारशास्त्र के अनुसार ही नायिकाओं का विभाजन किया गया है,[27] परन्तु एक मौलिक विभाजन उन्होंने भक्ति एवं धर्मशास्त्र की दृष्टि से किया

है। यह विभाजन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें कृष्णवल्लभाओं को सीधे-सीधे भक्त की यथार्थता दे दी गयी है। इस विभाजन को आगे दिये गये खाके से समझा जा सकता है।[28] इस विभाजन के अनुसार सर्वश्रेष्ठ नित्य प्रिया नायिकाओं में साक्षात् महाभावस्वरूपिणी राधा सर्वश्रेष्ठ है।[29] राधा की प्रामाणिकता तन्त्रों इत्यादि के माध्यम से प्रतिष्ठित करते हुए उन्हें ह्लादिनी या महाशक्ति कहा गया है।[30] हरि के समान ही संख्यातीत गुणों वाली वृन्दावनेश्वरी राधा की पाँच प्रकार की सहचरियाँ हैं—सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी, परम श्रेष्ठ सखी।[31] सखियों सम्बन्धी अवधारणा मधुरोपासना में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। हम आगे इस पर विस्तार से विचार करेंगे।

नायिका की सखियों के समान ही नायक के भी चेट, विट, पीठमर्द, विदूषक तथा प्रिय नर्मसखी आदि सहायक हैं। श्रृंगार-अभिसार में दूती का महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। 'उज्ज्वल नीलमणि' का एक पूरा अध्याय इस विवेचन में लगा है।

नायिका के भागवत प्रयोजन की दृष्टि से मधुरा रति साधारणी, समंजसा और समर्था तीन प्रकार की मानी गयी है। साधारण रति में नायिका में स्वसुख की भावना होती है, जैसे कि कुब्जा ने कृष्ण के अंगसंग से स्वयं आनन्द चाहा था। समंजसा में नायक के भी सुख का ध्यान अपने सुख के साथ ही होता है। इसमें पत्नीस्वाभिमान भी रहता है। समर्था रति में अपने सुख की तनिक भी चाह नहीं होती, मात्र कृष्ण-सुख की ही कामना रहती है। गोपियों की रति ऐसी ही थी। यह महाभाव की अवस्था तक संचरण करती है।[32]

कृष्ण एवं नायिकाओं की कायिक, मानसिक एवं वाचिक चेष्टाओं तथा प्रकृति आदि उद्दीपन विभावों की भी लम्बी सूची है। इसी प्रकार भाव, हाव, हेला, सात्त्विक आदि परम्परागत अनुभाव समेटे गये हैं। इसके अतिरिक्त नीवी विश्रृंसन, उत्तरीय स्खलन जैसे सात उद्भास्वरस अनुभावों का परिगणन लेखक की मौलिकता है। वाचिक अनुभावों को भी निपुणतापूर्वक उपस्थित किया गया है।[33] व्यभिचारी भावों के प्रकरण में भी प्रचलित काव्यशास्त्र के ही संचारियों को गिनाया गया है। उग्रता एवं आलस्य को अवश्य छोड़ दिया गया है। भावोत्पत्ति (भावोदय), भावसन्धि, भावशलता एवं भावशान्ति का भी संक्षिप्त निरूपण इसी प्रकरण में प्राप्त हो जाता है।[34]

स्थायी भाव प्रियतारति को प्रबुद्ध करने वाले कारण अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान, उपमा तथा स्वभाव होते हैं। उत्तरोत्तर एक-दूसरे से इनमें श्रेष्ठ होता है। अभियोग में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनी भावनाओं का आरोप होता है। शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय दूसरी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। इनके कारण भी रति उत्पन्न होती है। सौन्दर्य, कुल आदि के गौरव की भावना सम्बन्ध है तथा एक विशेष वस्तु को ही अपने पास रखने की इच्छा अभिमान के अन्तर्गत है—जो कि रति-प्रादुर्भाव का हेतु बन सकती है। किसी सुन्दर वस्तु को कृष्ण सदृश देखना उपमा के अन्तर्गत है तथा बहिर्हेतुओं का अनपेक्षी निसर्ग

या स्वरूप दो प्रकार वाला स्वभाव होता है। यह कृष्णनिष्ठ भी हो सकता है और ललनानिष्ठ भी।[35]

धीरे-धीरे मधुरा रति सान्द्र होती हुई विभिन्न स्थितियों को पार करके महाभाव की सर्वश्रेष्ठ अवस्था में पहुँचती है, जैसे–ईख का बीज ही इक्षु दण्ड, रस, गुड़, खण्ड, शर्करा, मिश्री, सितोपल (ओला) आदि अवस्था भेद से अनेक रूप धारण करता है, वैसे ही रति भी प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव (महाभाव) की अवस्था तक पहुँचती है।[36]

(1) **प्रेम**–नाश का कारण होते हुए भी जो कभी नाश नहीं होता है तथा जो दोनों (नायक-नायिका) को भावबन्धन में बाँधता है, वह प्रेम है। प्रौढ़, मध्य और मन्द भेद से यह तीन प्रकार का होता है। प्रौढ़ प्रेम में वियोग एकदम असह्य होता है। मध्य प्रेम में कष्टपूर्वक वियोग सह्य बन जाता है तथा मन्द प्रेम में भगवान सम्बन्धी स्मृति कभी-कभी मलिन भी पड़ जाती है।[37]

(2) **स्नेह**–प्रेम के परम उत्कर्ष की दशा में द्रवीभूत चित्त की वृत्ति ही स्नेह कहलाती है। यह भी श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ, उत्कृष्टता भेद से तीन प्रकार का होता है।[38] स्नेह भी घृत स्नेह और मधु स्नेह दो प्रकार का होता है। प्रथम में धारावाहिकता होती है तथा दूसरे में अत्यन्त ममतामय मधुरता।[39]

(3) **मान**–जो स्नेह उत्कर्ष को प्राप्त होकर एकदम अनुभूत आस्वाद का अनुभव कराते हुए वामता (बाह्य उपेक्षा) भाव को धारण करता है, वह मान कहलाता है।[40] स्नेह ऊपर दो प्रकार के कहे जा चुके हैं, ये ही क्रमशः उत्कृष्टता को प्राप्त कर उदात्त (घृत स्नेह द्वारा) एवं ललित (मधु स्नेह द्वारा) मान में परिवर्तित हो जाते हैं। चन्द्रावली प्रथम प्रकार के आदराश्रित मान की आश्रय है एवं श्री राधा अतिशय कुटिलता धारण करने वाले 'ललितमान' की आश्रय हैं। यहीं यह कह देना भी अनुचित न होगा कि भारतीय कामशास्त्र का 'मान' शब्द अपने आपमें अप्रतिम है। इसमें प्रेम, मिलनोत्कण्ठा, उपेक्षा, रूठना इत्यादि इतने मनोवेग मिले हैं कि इसे सहज ही दूसरी भाषा बोलने वाले के लिए समझना कठिन हो जाता है।

(4) **प्रणय**–जब प्रिय के गौरव का भाव एकदम मिट जाता है तथा विश्रम्भ और विश्वास का उदय होता है, तब गाढ़ हुआ मान ही 'प्रणय' कहलाता है।[41] इस अवस्था में कान्त और कान्ता के प्राण, मन, बुद्धि, देह आदि के मध्य भेद की भावना नहीं रहती। इसे यों भी समझना चाहिए कि मान में तो वामगन्धता होती है, पर मान खुलने पर प्रिया अपने प्रियतम से एकमेक होकर मिलती है, जैसे बाँध तोड़कर नदी समुद्र से मिलती है। यह उत्कृष्ट भावावेग की अवस्था होती हैं। प्रणय भी दो प्रकार का होता है–सुमैत्र प्रणय एवं सुसख्य प्रणय।[42] प्रथम में गौरव की भावना किंचित् अवशिष्ट रहती है पर दूसरे में बिल्कुल नहीं। वास्तव में ये उदात्त और ललित मान के क्रमशः विकसित रूप हैं। यों विकास-क्रम में यह भी स्वीकार

किया गया है कि कभी मान से प्रणय उदित होता है और कभी-कभी प्रणय से मान भी उद्भूत होता है।[43]

(5) **राग**—प्रणय और अधिक उत्कृष्ट हो जाने पर 'राग' कहलाता है। इस अवस्था में दुख भी सुख में परिणत हो जाता है।[44] यह राग भी रूप गोस्वामी के अनुसार नीलिमा और रक्तिमा दो भाँति का हो सकता है। नीलिमा राग के पुनः दो भेद हैं : (1) नीली राग, जो कि व्यय-सम्भावनाहीन, बाहर अधिक न प्रकाशित होने वाला तथा बहुत कुछ अव्यक्त रहता है। (2) श्यामा राग, नीली राग की अपेक्षा किंचित् प्रकाशमान, भीरुतामिश्रित तथा विलम्ब से सिद्ध होने वाला श्यामा राग होता है। रक्तिमा राग के भी दो भेद हैं—कुसुम्भ राग एवं मंजिष्ठा राग। (1) कुसुम्भ राग में चित्त शीघ्र ही रंजित हो जाता है तथा यह अन्य राग-छवि को भी व्यंजित करता है। (2) मंजिष्ठा राग कभी नष्ट नहीं होता, उसे अन्य रागों की अपेक्षा नहीं होती तथा उसकी कान्ति कभी नष्ट नहीं होती। राधा-माधव के मध्य यही राग प्रतिष्ठित रहता है।[45]

(6) **अनुराग**—सदा अनुभूत होने वाले प्रियतम को भी जो राग नित्य नव-नव रूप में दिखलाता रहता है, उसे अनुराग कहते हैं।[46] इसके अनेक पहलू होते हैं तथा परस्पर वशी भाव, प्रेमवैचित्य (मिलन में भी विरह की आशंका) अप्राणिजन्य जड़ वस्तुओं में जन्म धारण करने की लालसा तथा विप्रलम्भ में विशेष कृति आदि इस अवस्था में विरह में भी प्रिय की झलक प्राप्त होती रहती है।

(7) **भाव**—अनुराग 'स्वसंवेद्य' दशा को प्राप्त होकर यानी जब उसका अनुभव अनुराग को छोड़कर अन्य किसी भाव से न किया जा सके, प्रकाशित हो तब यह वृत्ति भाव कहलाती है।[47] स्वयं कृष्ण की पट्टमहिषियाँ (समंजसारति) भी इस दशा को नहीं पहुँच पाती, ब्रजदेवियों द्वारा संवेद्य यह भाव ही महाभाव भी कहलाता है। इसके पुनः दो भेद हैं :

(i) **रूढ़**—इस अवस्था में सात्त्विक अपने चरम उद्दीप्त रूप में पहुँच जाते हैं। रूढ़ भाव की अवस्था में एक क्षण का भी वियोग असह्य हो उठता है, इसमें समीपवर्ती जनों को भी आलोड़ित कर सकने की क्षमता होती है, कल्प को क्षण (सुख में) एवं क्षण को कल्पवत् (वियोग में) समझने की सामर्थ्य आ जाती है। प्रिय के सौख्य में भी आर्ति की आशंका रहती है, अमूर्च्छित अवस्था में भी अपने आप तथा अन्य अपने से सम्बन्धी वस्तुओं का विस्मरण प्रेमी कर देता है।[48]

(ii) **अधिरूढ़**—जिस अवस्था में रूढ़ के ऊपर कहे गये अनुभाव एक विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होते हैं, उसे अधिरूढ़ कहते हैं।[49] इसके भी मोदन और मादन दो प्रकार माने गये हैं।[50] (i) **मोदन**—सात्त्विकों का अत्यन्त उद्दीप्त सौष्ठव मोदन के अन्तर्गत होता है। यह राधा यूथ में ही प्राप्त होता है तथा विश्लेष की अवस्था में इसे ही मोहन कहते हैं।[51] इस अवस्था के भी अत्यन्त प्रभावशाली सात्त्विकों का

उल्लेख इसकी सान्द्रता को सूचित करता है। यह जब राधा में उदित होता है तो दूर अन्य कान्ताओं से आलिंगित होते हुए भी कृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं।[52] सारे ब्रह्माण्ड में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। राधा दिव्य उन्माद की अवस्था में आ जाती हैं। दिव्य उन्माद भी उद्घूर्ण एवं चित्र जल्पादि अनेक भेदों वाला कहा गया है। कोई एक विलक्षण विवशतामयी चेष्टा का नाम उद्घूर्ण है। प्रियतम के मित्र के साथ भेंट होने पर रोष से अनेक भावमय जल्पों का उदित होना एवं उसके अन्त में तीव्र उत्कण्ठा का उदय 'चित्रजल्प' कहलाता है। इस चित्रजल्प की भी दस अवस्थाएँ होती हैं।

(ii) **मादन**—जब ह्लादिनी शक्ति का सार स्वरूप प्रेम 'रति' से लेकर 'महाभाव' पर्यन्त सब भावों के उद्गम से उल्लसित होता है, मोदन, मोहन आदि से जो परात्पर है एवं श्री राधा में ही जिसकी प्रतिष्ठा है, ऐसे भाव को 'मादनाख्य' महाभाव कहते हैं।[53] इस अवस्था में विरह का अभाव होता है। हजारों नित्य लीलाएँ इस भाव की विलास हैं।[54] उ.नी.म. के स्थायी भाव-प्रकरण के श्लोक सं. 208 की टीका में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी विचित्रता की ओर संकेत करते हुए कहा है, "प्रकाश भेद से मिलन और विच्छेद पृथक् विद्यमान रहते हैं और प्रकाश भेद से इन दोनों में अभिमान का भी भेद रहता है अर्थात् जिस प्रकाश में सम्भोग विद्यमान रहता है, वहाँ प्रिया जी को यह अभिमान रहता है कि मैं संयोगिनी हूँ और जिस प्रकाश में विच्छेद होता है, उस जगह श्री राधारानी को यह अभिमान होता है कि मैं विरहिणी हूँ। जिस समय मादनाख्य "महाभाव का स्वयं उदय होता है, उस समय चुम्बन, आलिंगन आदि सुखों के अनुभवों के मध्य भी वे विविध प्रकार के वियोगों का अनुभव करती हैं। इस प्रकार एक ही प्रकाश के रहते हुए दो प्रकाश-धर्मों का अनुभव होना ही विलक्षणता है।[55] इस अवस्था में ईर्ष्या का कारण न होने पर भी ईर्ष्या होती है तथा सम्भोगकाल में भी नायक से सम्बन्धित विविध बातों का चिन्तन, स्मरण आदि होता है।"

हम रति के साधारणी, समंजसा और समर्था तीन भेद ऊपर कह आये हैं। इनमें साधारणी रति केवल प्रेम की अवस्था तक पहुँचती है, अनुराग तक समंजसा रति का संचरण होता है पर भावदशा तक एकमात्र समर्था रति ही पहुँच पाती है। भावदशा का ही श्रेष्ठ स्तर महाभाव है। राधा स्वयं महाभाव स्वरूपा हैं। उनके पूर्व की जो रति से लेकर भाव तक की आठ अवस्थाएँ हैं, वे मधुर भाव की साधना की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

अस्तु, इस भाव-दशा में पहुँचकर मधुरा या प्रियता रति उज्ज्वल शृंगार रस को प्राप्त होती है।

परम्परागत काव्यशास्त्र के अनुसार रूप गोस्वामी ने इस शृंगार के भी विप्रलम्भ और संयोग दो भेद किये हैं। विप्रलम्भ के बिना संयोग पुष्ट नहीं होता है तथा इसके पूर्वराग, मान, प्रेम-वैचित्य एवं प्रवास पुनः चार भेद हैं।[56] इनमें से 1, 2 और 4 तो काव्यशास्त्र के ही हैं पर प्रेम-वैचित्य एक नये प्रकार है जिसमें प्रिय की उपस्थिति में

भी विरह की आशंका बनी रहती है।[57] इन विविध विप्रलम्भ-प्रकारों के भी अनेक उप प्रकार इस ग्रन्थ में गिनाये गये हैं।

सम्भोग श्रृंगार भी मुख्य और गौण दो प्रकार का होता है—जाग्रत अवस्था में होने वाले प्रत्यक्ष सम्भोग के भी चार भेद (विप्रलम्भ की चारों दशाओं के समरूप) होते हैं—संक्षिप्त (पूर्वराग के पश्चात्), संकीर्ण (मान के पश्चात्), सम्पन्न (थोड़ी दूर के प्रवास के बाद), समृद्धिमन्त (सुदूर प्रवास के अनन्तर)।[58] स्वप्न आदि की अवस्था में होने वाला सम्भोग गौणसम्भोग श्रृंगार होता है। इसके भी संक्षिप्त, संकीर्ण सम्पन्न एवं समृद्धिमान चारों भेद रूप गोस्वामी ने गिनाये हैं।[59] दर्शन स्पर्श, वर्त्मरोधन (राह रोकना), रास, वृन्दावन क्रीड़ा, यमुना जलकेलि, नौकाविहार, वंशी चोरी, वस्त्रहरण, चुम्बन तथा साक्षात् यौन-सम्प्रयोग आदि श्रृंगार के विभिन्न तत्त्व या चेष्टाएँ हैं। श्री रूप गोस्वामी के अनुसार—

अयमुज्ज्वल-नीलमणिर्गहनमहाघोष-सागर-प्रभवः।
भजतु तव मकर-कुण्डल-परिसर-सेवौचितीं देव ॥[60]

काम और भगवत प्रेम में अन्तर

पीछे हम कह चुके हैं कि भक्ति रस के विवेचकों ने अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुए बार-बार भगवद्-रति को लौकिक काम से भिन्न कहा है। भक्ति रस के आकर ग्रन्थ श्रीमद्भागवत ने स्वयं इस शंका को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट कहा था :

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेष्यते ॥ 10।22।26

जिनकी बुद्धि मुझमें लीन रहती है, उनकी कामनाएँ संसार के भोगों के हेतु नहीं होती (उनसे सांसारिक विषय सुख नहीं उत्पन्न होते क्योंकि उनका विषय साक्षात् परमात्मा होता।), जैसे—भुने या उबले हुए धान अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकते।

श्री रूप गोस्वामी ने जब उसे निवृत्तों के लिए अनुपयोगी बताया था, तब भी वे यह संकेत कर रहे थे कि यह लौकिक काम से मिलता-जुलता है। गौतमीय तन्त्र में कहा भी गया है—"प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्" गोपरामाओं का प्रेम ही लोक में काम कहा गया था, परन्तु यह वास्तव में लौकिक काम से भिन्न है। इस तथ्य की ओर जीव गोस्वामी एवं कृष्णदास कविराज ने स्पष्ट ध्यान दिलाया है। जीव गोस्वामी ने 'भक्तिसन्दर्भ और प्रीति-सन्दर्भ' में कहा है कि गोपियों की कृष्ण के प्रति रति लौकिक काम नहीं है। यदि यह काम है भी तो गोपियों में यह प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाता है—तादृशीनां कामो हि प्रेमैकरूपः। क्योंकि समस्त 'कामसम्भोग-सी' लगने वाली लीलाओं में गोपियों ने कभी भी अपने सुख की चाह

नहीं की, उनकी सारी प्रकृत-सी लगने वाली चेष्टाएँ कृष्ण के आनन्द के लिए थीं। कृष्णदास कविराज ने भी इसी बात को कहा है—

आत्म सुख दुःख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण सुख हेतु करे सब व्यवहार।
कृष्ण बिना और सब करि परित्याग।
कृष्ण सुख हेतु करे शुद्ध अनुराग।[61]

इसी कारण उनका स्पष्ट मत है कि गोपीगणों का प्रेम शुद्ध और निर्मल है। वह काम कभी नहीं है।[62] कामक्रीड़ा से कुछ साम्य होने के कारण लोग उसे काम कह देते हैं अन्यथा वह तो सहज प्रेम है।[63] काम और प्रेम के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कविराज ने अत्यन्त सही परिभाषा दी है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम।[64]

इस कसौटी पर गोपियों के प्रेम को कसने पर उनका निर्णय है कि "गोपी-भाध का तात्पर्य कृष्ण-सुख है, गोपियों को निजेन्द्रिय सुख-वाँछा नहीं थी, वे कृष्ण को ही सुख देने के लिए संगम और विहार करती थीं।"[65]

इस कसौटी पर कुब्जा की प्रीति व्याघात उपस्थित करती है, इसे विचक्षण पण्डित एवं दार्शनिक जीव गोस्वामी ने अनुभव कर लिया था। अतः वे एक तर्क प्रयोजन नहीं बल्कि आलम्बन के स्तर पर देते हैं। उनके अनुसार कुब्जा ने यद्यपि स्वसुख के लिए कृष्ण-सम्भोग की चाह की, पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने कृष्ण से तुच्छ सांसारिक विषय-भोग न चाहकर साक्षात् भगवान की कामना की एवं उसकी चाह में मन का आवेग पूरी तीव्रता से उपस्थित था।[66] ऐसी स्थिति में उस प्रेम को गोपियों के प्रेम से तो हीन माना जा सकता है, पर लौकिक काम से वह नितान्त भिन्न ही है।[67]

जीव गोस्वामी ने दार्शनिक स्तर पर भी इस शंका का समाधान किया है। वेदान्त-सूत्रों के 'लोकवत् तु लीला कैवल्यम्' (2।1।33) के अनुसार उन्होंने बताया है कि परम तत्त्व अपने ही अनन्त रस में स्वतः स्फूर्त लीला किया करते हैं।[68] यह लीला यद्यपि अप्राकृत होती है पर लौकिक जीवों के सदृश ही उसका भी रूप होता है। इसके अतिरिक्त गोपियाँ ब्रह्म की ह्लादिनी शक्ति की ही अंशरूपा हैं और उनके साथ क्रीड़ा ब्रह्म की एक स्वाभाविक वृत्ति है।

जीव गोस्वामी ने व्यावहारिक जीवन के आधार पर एक चौथा तर्क भी दिया है। उनके अनुसार पद्मपुराणादि में वर्णन आता है कि ज्ञानियों, मुनियों एवं श्रुतियों तक ने इस लीला में भाग लेने की इच्छा प्रकट की थी और उन्होंने ही गोपियों के रूप में अवतार लिया था। पीछे हम दिखा चुके हैं कि रूप गोस्वामी ने अपने नायिका-भेद में इनको परिगणित किया है। उद्धव जैसे विरक्त ने भी गोपियों के समान ही प्रेम

की आकांक्षा प्रकट की थी। स्त्रियाँ ही नहीं पुरुष भी चूँकि इस प्रेम-चेष्टा को प्राप्त करने की कामना करते हैं। अतः जीव गोस्वामी का निष्कर्ष है कि यह ऐन्द्रिकता से सर्वथा रहित प्रेमभाव है—न प्राकृतकामदेवोद्‌भावितः प्राकृतः कामोऽसौ।"[69]

यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन तर्कों पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि वास्तव में यह प्रेम काम ही है पर उसका उदात्त-उन्नयित रूप है और इसीलिए श्रेष्ठ और वरेण्य है। प्रथम तर्क स्वसुख और परसुख सम्बन्धी दिया गया है। आधुनिक मनोविज्ञान मानता है कि परसुख में भी एक प्रकार का सुख मिलता है। द्वितीय तर्क में आलम्बन का देवत्व है तथा तीसरा दर्शन को आधार बनाता है। आलम्बन बदल जाने से सूत्र मनोवृत्ति का बदलना मनोविज्ञान को स्वीकार्य नहीं है तथा दर्शन का क्षेत्र उसके परीक्षण के क्षेत्र से बाहर का है। जहाँ तक चतुर्थ तर्क है तो फ्रायड इन सारे सम्बन्धों (समलिंगी, पूज्य) के प्रति रति या दूसरे की रति में आनन्द प्राप्त करना आदि को कामभावना के अन्दर ही रखता है बल्कि इन्हें तो वह काम की विकृति (परवर्जन) कहना पसन्द करेगा।[70]

यों प्रेम को काम का पर्याय मनोवैज्ञानिक भी नहीं मानते। प्रेम एक भाव (इमोशन) है तथा काम मनोवृत्ति (इन्सटिन्क्ट) है। शैंड के अनुसार प्रेम विचित्र परिस्थितियों में विभिन्न मनःस्थितियों को समुचित व्यवहार के भीतर संयोजित करता है।[71] अर्थात् प्रेम एक पद्धति है जिसमें अनेक प्रकार के संवेग सन्निहित होते हैं। शैंड की इस परिभाषा के आधार पर हम भक्ति के प्रेम को भी इसी भाँति समझ सकते हैं। भक्ति के क्षेत्र का प्रेम भी विभिन्न स्थितियों में उन अनेक संवेगों एवं व्यवहारों को जन्म दे सकता है, जो भक्ति रस विवेचकों द्वारा उपस्थित किये गये हैं। सरलीकृत रूप में हम कह सकते हैं कि भक्ति लौकिक प्रेम का ही उन्नयन है और यही इसकी सार्थकता भी है।

भक्ति रस का इतिहास : काव्यशास्त्र के आधार पर

भारतीय काव्यशास्त्र के चिन्तन में रसों की संख्या को लेकर एक विवाद चलता रहा है, परन्तु यह एक विचित्र बात है कि इस सारे विवाद के बावजूद प्रामाणिक रूप से रसों की संख्या बढ़ाई नहीं जा सकी। रस की संख्या सम्बन्धी परम्परागत धारणा ही कार्य करती रही है। भरत मुनि ने अपने नाट्‌यशास्त्र में आठ ही रस स्वीकार किये थे। शान्त को उन्होंने स्पष्ट मान्यता नहीं दी।[72] उनके द्वारा स्वीकृत रस हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्‌भुत। इन्हीं के क्रमशः स्थायी भाव हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय।[73] सम्भवतः वैराग्य प्रधान धर्मों (जैन, बौद्ध) के प्रसार के साथ-साथ शान्त को भी रसरूप में मान्यता देने की बात जोर पकड़ती गयी तथा अन्ततः अभिनव गुप्त द्वारा यह मान्यता पूर्णतया

प्रतिष्ठित हो गयी। अभिनव गुप्त का समय वि. 11वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जाता है। हम जानते हैं कि इस समय तक भक्तिमार्ग का यथेष्ट प्रचार हो चुका था। अधिकांश पुराण एवं उप-पुराण बन चुके थे। नयनारों, आलवारों के भावविह्वल गान जनमानस को आन्दोलित कर रहे थे। भक्तिपरक स्तुतियाँ एवं स्तोत्र उस काल तक प्रभूत मात्रा में लिखे जा चुके थे। सम्भवतः 'नारद भक्तिसूत्र' एवं 'शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र' भी इसी युग के आसपास निर्मित हुए होंगे। भागवत पुराण, नारद एवं शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र भक्ति के आनन्द को ब्रह्मानन्द व मोक्ष-सुख से भी ऊपर बता चुके थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि भक्ति को भी रसरूप में परिगणित कराने की बात और जोर पकड़े।

छठी और सातवीं शताब्दी में भामह और दण्डी ने कथन के एक प्रकार विशेष 'प्रियतराख्यानम्' को प्रेयम् कहा था।[74] रुद्रट ने नौवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में 'प्रेयस्' को दसवाँ रस मानने की बात उठायी। अलैंगिक प्रेम के लिए उन्होंने 'प्रेयम्' नाम प्रस्तुत किया था क्योंकि शृंगार केवल पुरुष के प्रेम के लिये ही प्रयुक्त होता था और यह रति कामगन्ध-मुक्त होती है। इस तरह 'प्रेयस्' के साथ भक्ति जैसे प्रेम-सम्बन्धों को भी काव्यशास्त्र में प्रविष्ट होने का रास्ता खुलता है। यद्यपि रुद्रट के काव्यालंकार में 'प्रेयान्' को मैत्रीभाव के रूप में ही लिया गया है, पर धीरे-धीरे चार प्रकार के अलैंगिक प्रेम अलंकारिकों के समक्ष आते हैं :

(1) मैत्री भाव, (2) वात्सल्य, (3) प्रीति—(नेता एवं अनुगतों, राजा एवं दरबारियों का पारस्परिक प्रेम) तथा (4) भक्ति—पूज्य व्यक्तियों या परमेश्वर के प्रति अनुराग। इन सभी का अन्तर्भाव 'प्रेयस्' के भीतर होता रहा, परन्तु धीरे-धीरे भक्तिकाव्य के निर्माण के साथ-साथ भक्ति (वात्सल्य का भी) का अधिकार बढ़ता गया। अभिनव गुप्त ने स्पष्ट कहा कि लोग ईश्वर प्रणिधान विषयक भक्ति, श्रद्धा आदि को भी रसरूप में स्वीकार करने को कहते हैं।[75] पर अभिनव गुप्त उन्हें शान्त रस का ही अंग मानने का निर्णय देते हैं। अभिनव गुप्त के समकालीन धनंजय ने दशरूपक में प्रीति और भक्ति का अलग-अलग उल्लेख करते हुए उन्हें हर्ष, उत्साह आदि ऐसे ही भावों के अन्तर्गत परिगणित करना चाहा है।[76] 'सम्भवतः ईश्वर विषयक एकता (आलम्बनगत एकता) के कारण अभिनव ने भक्ति को शान्त के अन्तर्गत करना चाहा था। इसके अतिरिक्त उस समय तक भक्ति को मुक्ति से नितान्त अलग भी नहीं किया गया था बल्कि अधिकांशतः उसे भी मुक्तिदात्री ही समझा जाता था। उधर शान्त रस में भी वैराग्य एवं मोक्ष कामना स्वीकार थी, अतः अभिनव अपने समय तक बहुत अनुचित नहीं थे; पर धनंजय का हर्ष, उत्साहादि में अन्तर्भावीकरण समझ में नहीं आता। सम्भवतः प्रयास के उत्साह तथा हर्ष के परिणाम (अनुभावादि) को सोचकर उन्होंने यह सम्मिलित किया होगा। मम्मट (12वीं शती) ने देवादि विषयक रति को भावदशा के अन्तर्गत रखकर उसे रस

मानने से इनकार कर दिया।[77] हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन (पृ. 68) में स्नेह, भक्ति और वात्सल्य रति के ही विशेष रूप माने।

शार्ङ्गदेव ने 'संगीत रत्नाकर'[78] में कहा कि कुछ लोग भक्ति, स्नेह एवं लौल्य को तीन रस मानते हैं तथा श्रद्धा, आर्द्रता और अभिलाषा इनके स्वामी स्थायी भाव बताते हैं, पर यह असत् है। ये रति के ही भेद हैं तथा स्थायी न होकर व्यभिचारी मात्र हैं। 14वीं शती उत्तरार्द्ध के प्रसिद्ध काव्यशास्त्री विश्वनाथ कविराज ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में वात्सल्य की तो प्रतिष्ठा कर दी पर भक्ति को रस उन्होंने भी नहीं माना। अन्तिम प्रसिद्ध संस्कृत काव्यशास्त्री पण्डितराज जगन्नाथ (विक्रमीय 18वीं शती) के समय तक गौड़ीय वैष्णवों का 'भक्ति रस' सम्बन्धी पाण्डित्यपूर्ण एवं गहन विश्लेषणयुक्त विवेचन सामने आ चुका था, अतः वे उसकी उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने भक्ति के विभाव, अनुभाव, संचारी भावों आदि का सम्यक् उल्लेख तो किया पर इससे 'मुनि वचन खण्डित होता है', यह कहकर परम्परा के संकीर्ण नाम पर उसे रस मानने से अस्वीकार कर भाव ही माना।[79] हिन्दी में देव ने भक्ति रस पर विचार किया है और उसके प्रेम, शुद्ध एवं प्रेम शुद्ध तीन भेद किये हैं। पर उसे निर्भ्रान्त एवं प्रामाणिक रूप से स्वतन्त्र रस की सत्ता दे सकने में वे भी असमर्थ रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग के पूर्व तक काव्यशास्त्र में भक्ति रस को प्रामाणिक मान्यता नहीं मिल सकी। जिस देश में इतने अधिक परिमाण में भक्तिकाव्य की रचना हुई हो, उसमें यह स्थिति वदतो व्याघात-सी प्रतीत होती है। इस सारी परम्परा में केवल कवि कर्णपूर का 'अलंकार कौस्तुभ' एक अपवाद है जो परम्परागत अलंकारशास्त्र का ग्रन्थ होकर भी 'प्रेमन् और भक्ति' को रस के रूप में स्वीकार करता है।[80] पर 'अलंकार कौस्तुभ' भारतीय काव्यशास्त्र का बहुत मान्य ग्रन्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त कर्णपूर स्वयं चैतन्य के जीवनीकार एवं मतानुयायी थे।

ऐसी स्थिति में भक्ति की रसात्मकता की स्थापना का भार स्वयं भक्ति-शास्त्रियों पर पड़ा। भागवत, नारद एवं शाण्डिल्य के 'भक्तिसूत्र', 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु', 'उज्ज्वल नीलमणि', 'भक्ति सन्दर्भ', 'प्रीति सन्दर्भ', कृष्णदास कविराज का 'चैतन्य चरितामृत', नारायण भट्ट की 'भक्ति रस-तरंगिणी', मधुसूदन सरस्वती का 'भक्तिरसायन' आदि ग्रन्थों के माध्यम से इस रस को प्रतिष्ठित करने का प्रयास हुआ है।

भागवत के प्रारम्भ में ही भगवान-सम्बन्धी अलौकिक रस तथा उसका अहरह पान करने वाले भावुक रसिकों का उल्लेख किया गया है।[81] नारद भक्तिसूत्र में उसे परम प्रेम रूपा और अमृत स्वरूपा[82] बताकर रसता की ओर भी संकेत किया गया है। कर्मज्ञान योग से अधिक बताकर[83] नारद ने मानो उसे शान्त रस से सन्निविष्ट करने के अभिनव गुप्त के प्रयास का प्रत्याख्यान किया है। शाण्डिल्य ने उसे रस शब्द से प्रतिपाद्य रागस्वरूपा बताया है।[84]

इन्हीं बातों को अधिक व्यवस्थित काव्यशास्त्रीय ढंग पर मधुसूदन सरस्वती ने

अपने भक्तिरसायन में उपस्थित किया है। उन्होंने भक्ति को परम पुरुषार्थ[85] माना (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अतिरिक्त) तथा ज्ञान को उसका संचारी बना दिया। इस प्रकार मोक्ष और ज्ञान, दोनों से अलग करके उन्होंने अभिनव गुप्त के आधार पर ही प्रहार किया। उन्होंने यह भी कहा कि ज्ञान और भक्ति पृथक्-पृथक् अधिकारियों के लिए हैं। इस प्रकार आश्रय-भिन्नता के द्वारा भी भक्ति को शान्त के अन्तर्गत मानने का निरसन कर दिया।

अपने विवेचन में उन्होंने भक्ति को एक नया मनोविज्ञान ही दिया। इसके अनुसार अन्तःकरण की भगवदाकारता ही भक्ति है। भक्ति की पीछे दी गयी परिभाषा में भी इसी तथ्य की ओर संकेत है। चित्त तरल होकर भगवान की ओर प्रवाहित होता है एवं उस साँचे में वही आकार धारण कर लेता है। इस बात को उन्होंने टीका में और अधिक स्पष्ट कर दिया है।

उनके मतानुसार भगवान आलम्बन हैं, तुलसी चन्दनादि उद्दीपन विभाव है, नेत्र विक्रियादि अनुभाव हैं, निर्वेदादि व्यभिचारी हैं तथा भगवदाकार चित्त-वृत्ति ही स्थायी भाव है।[86] स्थायी भाव के नाम से कुछ नवीनता अवश्य है पर आगे पृ. 16 पर उन्होंने इस चित्तद्रुति को प्रणय, अनुराग, स्नेह आदि रति के विभिन्न पर्यायों से भी अभिहित किया है। इस संयोग से परमानन्दरूप जिस रस को निष्पत्ति होती है, वह स्वयं भगवान है। (भगवान को रस के साथ पर्याय के रूप में देखने की यह प्रवृत्ति आगे रसोपासकों को बल देती है।) भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, ह्रास, विस्मय, उत्साह, शोक, जुगुप्सा और काम उन 11 स्थायी भावों को रस के रूप में परिणत होने वाला माना है। इनमें से उत्साह के धर्मवीर, दयावीर, वीभत्स, शम, ईर्ष्या से उत्पन्न द्वेष, भय, रौद्र और भयानक—ये भक्ति रस के अंग नहीं बन सकते। शेष में भक्ति रस के अंग बनने की क्षमता है। इस विभाजन में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मधुसूदन सरस्वती शान्त को भक्ति से पृथक् कर देते हैं। शान्त को वे अद्रुत चित्त के लिए मानते हैं पर भक्ति के लिए चित्तद्रुति अनिवार्य है। मम्मट आदि के देवादि-विषयारति का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि यह बात अन्य देवताओं इन्द्रादि के लिए लागू होती है, परमानन्द रूप परमात्मा के लिए नहीं। उनके अनुसार भक्ति ही वास्तविक रस है, वह सूर्य के समान है तथा शृंगारादि अन्य रस खद्योतों के तुल्य हैं।[87]

अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती के पश्चात् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं पूर्णतम कार्य भक्ति रसशास्त्र के क्षेत्र में गौड़ीय वैष्णव रूप गोस्वामी का है। रूप गोस्वामी का रचनाकाल विक्रम की 16वीं शती का अन्त एवं 17वीं शती का प्रारम्भ है। 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' का रचनाकाल सं. 1598 है। उज्ज्वल नीलमणि इससे कुछ बाद का होगा। इस समय तक उत्तर भारत भक्ति के मेघजल से आप्लावित हो चुका था। वैष्णव प्रेमकाव्य की प्रभूत रचना हो चुकी थी। काव्य-गुणों की दृष्टि से ये रचनाएँ

सर्वश्रेष्ठ काव्य में परिगणन योग्य हैं, पर परम्परागत काव्यशास्त्र या तो इन्हें भाव मात्र मानता है या फिर लौकिक शृंगार रस के अन्तर्गत इनका विवेचन करता है—जो कि इन भक्तत-कवियों का किसी भी प्रकार अभिप्रेत नहीं है। रीतिकाल की शृंगारी कविता भक्तिकाव्य को सही परिप्रेक्ष्य में न लेकर उसे सामान्य शृंगार की प्रेरणाभूमि के रूप में ही स्वीकार करती रही, इसका मुख्य दोष समीक्षकों (काव्यशास्त्रियों) पर है।

अस्तु, रूप गोस्वामी ने अपने दो ग्रन्थों 'हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु' एवं 'उज्ज्वल नीलमणि' में इस वैष्णव प्रेम-भक्तिकाव्य का पूरा व्याकरण और शास्त्र उपस्थित कर दिया। भक्ति को रंग कहकर उसकी भावात्मकता को प्रतिष्ठा देने के बाद उन्होंने उसके मनोविज्ञान को पूरी तौर पर विवेचित किया। इस विवेचना की सारी शब्दावली और धारणाएँ परम्परागत काव्यशास्त्र या कामशास्त्र की ही हैं। सहृदय का स्थान भक्त ले लेता है। इस भक्त के हृदय में कृष्ण रति-रूप स्थायी भाव समुचित विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से पुष्ट होकर भक्ति रस का रूप ग्रहण करता है। इस सम्बन्ध में 'हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु' का यह अंश द्रष्टव्य है। 'विभाव' अनुभावादि की परिपुष्टि से भक्ति परम रस रूपा हो जाती है। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों से भक्तों के हृदय में आस्वाद्यत्व को प्राप्त कराया गया जो कृष्ण-रति रूप स्थायी भाव है, वह भक्ति में परिणत होता है। जिनके हृदय में प्राक्तन अथवा आधुनिक जन्म की सद्भक्ति की वासना या संस्कार हैं, भक्ति रस का आस्वाद उन्हीं के हृदय में होता है।[88] इसे सहृदय भक्तों के और भी गुण गिनाये गये हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्र को अन्यत्र चतुरतापूर्वक भावनात्मक भक्ति के क्षेत्र में व्यवहृत किया गया है एवं इन समस्त स्थापनाओं को लगभग 600 उद्धरणों (स्वयं रूप द्वारा रचित तथा प्रचलित भावनात्मक एवं धार्मिक साहित्य से गृहीत) द्वारा समर्थित किया गया है। सारा-का-सारा दृष्टिकोण साहित्यिक, शृंगारिक एवं धार्मिक वृत्तियों का विचित्र समन्वय है एवं समस्त योजना अत्यधिक जटिल है।[89]

रूप गोस्वामी ने 'कृष्णा-रति' को ही मुख्य स्थायी भाव माना और फिर उसी के पाँच प्रमुख तथा सात गौण भेद किये। उसी के अनुसार 5 मुख्य भक्ति रस—शान्त, क्षम्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर माने तथा 7 गौण रस हैं—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स। इस सारी योजना को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने काव्यशास्त्र के नवों रसों को भी इसी कृष्णभक्ति रस के अन्तर्गत ले लिया है। उनके शान्त एवं शृंगार मुख्य रसों में परिगणित हैं तथा शेष गौण रस हैं। इसके अतिरिक्त भामह और दण्डी के युग से ही जो सख्य और वात्सल्य (और प्रीति, दास्य भी) के सम्बन्ध में मत चले आ रहे थे, उनको भी मुख्य भक्ति रसों में परिगणित कर लिया। इस तरह दोनों परम्पराओं का समन्वय उन्होंने अपने ग्रन्थ में किया। लौकिक काव्यशास्त्र का रसराज शृंगार यहाँ भक्ति के क्षेत्र में मधुर नाम से 'भक्ति रसराज' कहा गया है। इस सारी योजना के लिए श्री सुशील कुमार के

द्वारा दिये गये चार्ट हम आगे उपस्थित कर रहे हैं। यहाँ अलग से इनका विवेचन हम विस्तार-भय से नहीं कर रहे हैं।

कृष्णदास कविराज, जीव गोस्वामी एवं नारायण भट्टादि ने रूप गोस्वामी का ही मुख्यतः अनुकरण किया है। जीव ने कुछ काव्यशास्त्रीय प्रश्नों को उठाकर अवश्य अपनी मौलिकता का परिचय देते हुए इस विवेचन को और अधिक पूर्ण बनाया।

रूप गोस्वामी ने भक्ति को रसरूप में स्थापित तो कर दिया था पर उन्होंने काव्यशास्त्रियों के भक्ति को रस न मानने के आक्षेपों का उत्तर नहीं दिया था। भक्ति को रस कहा जाना चाहिए। इसके पक्ष में जीव ने शक्तिशाली ढंग से तर्क उपस्थित किये। वास्तव में जीव गोस्वामी की प्रवृत्ति कुछ तार्किक थी। यह सारा विवेचन अत्यधिक शास्त्रीय शैली पर है। उनके अनुसार भगवत्-प्रीति ठीक ही स्थायी भाव मानी जाती है। प्रीति के नाते इसमें भावत्व तो है ही तथा साथ ही लौकिक काव्यशास्त्रों द्वारा निरूपित स्थायी भाव के लक्षण भी इसमें विद्यमान हैं। भक्ति रसावस्था को नहीं पहुँच सकती, मम्मट आदि के इस तर्क का उत्तर उन्होंने भी मधुसूदन सरस्वती की ही भाँति देते हुए कहा है कि यह सामान्य देवताओं से सम्बन्धित रति (प्राकृत देवादि विषया) के बारे में तो कहा जा सकता है, परमतत्त्व कृष्ण के बारे में नहीं। कृष्णरति में सारे तत्त्व विद्यमान हैं। उनके अनुसार वास्तव में कृष्णरति से सम्बन्धित विभाव, अनुभावादि ही अलौकिक होते हैं। काव्यशास्त्र के विभावादि लौकिक एवं इसीलिए दोषपूर्ण एवं हीनतर होते हैं। उनका अलौकिकत्व कवि की प्रस्तुतीकरण की चतुराई के कारण दिखता है। लौकिक प्रीति माया-शक्ति द्वारा उत्पन्न प्राकृत सत्वगुण का ही संशोधित रूप है और इसलिए स्वरूप-शक्ति द्वारा उत्पन्न भगवत्-प्रीति के सुख और रसत्व की वह समता नहीं कर सकती। लौकिक रति क्षणिक एवं अन्ततः दुख लाने वाली होती है। पर अलौकिक रति स्थायी विशुद्ध आनन्द है। इसलिए यह कहना गलत है कि लौकिक विभावादि से ही रस उद्बुद्ध हो सकता है। वास्तविक रस तो अलौकिक कृष्ण आदि ही जगा सकते हैं, रस के तथाकथित सारे तत्त्व कृष्णरति के साथ विद्यमान हैं।

रस की निष्पत्ति किसके हृदय में होती है—इस प्रश्न को भी जीव गोस्वामी ने उठाया है। उन्होंने काव्यशास्त्र के चार मत उद्धृत किये हैं—(1) अनुकार्यों में, (2) अनुकर्ता में, (3) सहृदय सामाजिक में, (4) अनुकर्ता एवं सामाजिक में। जीव के अनुसार भगवत्-प्रीति रस के रूप में अनुकार्य, अनुकर्ता भक्तादि एवं सामाजिक, (भक्तिकाव्य आदि को पढ़ने वाला) तीनों में निष्पन्न होती हैं। पर अनुकार्यों (भगवान का परिकर) में रस की उत्पत्ति मुख्य है। वही रागात्मिका है और उसी का अनुकरण अनुकर्ता रागानुगा भक्ति के नाम से करते हैं। इस रस के लिये भक्ति होना आवश्यक है और इस प्रकार अनुकर्ता और सामाजिक दोनों भक्त ही होते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी

भाव, रसाभाव आदि का भी लगभग रूप गोस्वामी से मिलता-जुलता विस्तृत निरूपण किया है। विस्तार-भय से हम उसे यहाँ पर नहीं दे रहे हैं। इसी अंश में उन्होंने लीला के प्राकृत-अप्राकृत तत्त्वों को समझाते हुए उसकी 'काम' से अलौकिकता तथा 'परकीया' भाव का वास्तविक अर्थ भी विवेचित किया है।[90] आगे 18वीं शती में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस परकीया भाव को पूर्ण शास्त्रीय सिद्धता प्रदान की तथा उसे श्रेष्ठतम रति बनाया। परम्परागत काव्यशास्त्र परकीया प्रेम को शृंगार रस के अन्तर्गत नहीं रखना, पर विश्वनाथ चक्रवर्ती की वैष्णव रसशास्त्र को यह प्रमुख देन थी। यद्यपि परकीया की धारणा भागवत, वल्लभ, चैतन्य, रूप, सनातन, जीव आदि में भी प्राप्त होती है, पर उन लोगों ने उसके दार्शनिक एवं प्रतीकात्मक अर्थ करके नैतिक दृष्टि से सम्मान्य बनाने का प्रयास किया है, जबकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ने उसे प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करके प्रामाणिकता दी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि वल्लभ, हित हरिवंश एवं रसिकोपासक राम सम्प्रदाय में भी कोई-न-कोई 'आध्यात्मिक रस सिद्धान्त' अवश्य होगा।[91] अब तक की हुई खोजों के अनुसार फुटकर सिद्धान्त ग्रन्थ एवं संकेत तो प्राप्त होते हैं, किन्तु पूर्व-चर्चित ग्रन्थों की भाँति सांगोपांग विवेचन करने वाले ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुए। रामभक्तों के रसिक सम्प्रदाय में 18वीं शती में गलता गद्दी पर मथुराचार्य थे। उनका जीव गोस्वामी की टक्कर का लिखा गया छः सन्दर्भों का ग्रन्थ पूरा प्राप्त हो जाने पर शायद अभीष्ट की पूर्ति कर सके। अभी तक उसका केवल 'सुन्दरमणि' सन्दर्भ ही प्राप्त है। (वैदिक मणि सन्दर्भ का केवल एक भाग मिला है।) प्राप्त भाग में सीता जी का चरित्र ही मुख्यतः वर्णित है, रसशास्त्रीय संकेत यत्र-तत्र अवश्य मिल जाते हैं। हम आशा करते हैं कि शायद भविष्य में यह पूरा ग्रन्थ प्रकाश में आ सके। यों अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम अन्यत्र विभिन्न सम्प्रदायों की रसोपासनाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

अस्तु, ऊपर किये गये विवेचन से इतना स्पष्ट प्रकट होता है कि भक्ति रस और काव्य रस की दो शास्त्रीय परम्पराएँ मध्यकाल में अस्तित्व में आ गयी थीं। भक्तिशास्त्री भक्ति को ही एकमात्र रस मानता था तथा काव्यशास्त्री भक्ति को भाव से आगे स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे। शायद दोनों ही अनुभव करते थे कि सचमुच ही इनकी सत्ता अलग है। वस्तुतः विभावन व्यापार का बहुत बड़ा उत्तर इन दोनों के मध्य में है एवं दोनों के सामाजिकों के लिए जिस संस्कार या साधना की आवश्यकता होती है, वह परस्पर बहुत भिन्न जाति की होती है। काव्य का सामाजिक एक सामान्य सांस्कृतिक वातावरण एवं अभिरुचि से सम्बन्धित होता है, जबकि भक्त वैयक्तिक साधना के द्वारा भक्ति रस के रसास्वाद के लिए अपने को तैयार करता है। हमारा विचार है कि दोनों को अलग-अलग मानने का मध्यकालीन विवेचकों का आग्रह अनुचित नहीं था।

गौड़ीय वैष्णव, नित्य-विहारोपासक, रामोपासक, निर्गुणवादी एवं सूफ़ियों के प्रेम-दृष्टिकोण सम्बन्धी अन्तर

भक्ति-विवेचन के प्रसंग में पीछे हम देख चुके हैं कि प्रेम उसका एक अनिवार्य एवं सर्वप्रधान तत्त्व है। प्रेम ही वह मुख्य साधन है जो भगवान को खींच लाता है। श्रीमद्भागवत में भी भगवान की प्रेमवश्यता स्वीकार की जा चुकी थी। यह प्रेम मानव-सम्बन्धों के पाँच आकारों में मुख्य रूप से ढलता है जिनमें सर्वश्रेष्ठ माधुर्य भाव है। इन सबका विस्तृत विवेचन करते हुए हम यह भी देख चुके हैं कि रूप गोस्वामी एवं मधुसूदन प्रभृति विद्वानों ने इन्हें 'रस रूप' में प्रतिष्ठित कर दिया था। यह सब होने के बावजूद प्रेम की भावना थी साधन ही—साध्यवस्तु थी भगवान की कृपा या स्वयं भगवान। रस की प्रतिष्ठा प्राप्त करने के पूर्व लौकिक या मानवीय प्रेम सादृश्य-व्यंजक था पर चूँकि भक्ति में सम्बन्धमूलकता का आग्रह अनिवार्य है, इसलिए जो प्रेम-प्रतीकवाद था वह भक्ति रस तक आते-आते भाव-जगत् का सत्य बन गया। संवेदना एवं गहरी भावनामूलकता से यह क्षेत्र आप्यायित हो उठा, परन्तु यह अन्तिम परिणति न थी, धीरे-धीरे प्रेम साध्य हो गया, रस लक्ष्य बन गया, काव्यशास्त्रीय चिन्तन में ही न रुककर वह स्वयं शास्त्र अथवा दर्शन बन गया। इस क्षेत्र में भक्ति की वे समस्त विस्तृतियाँ, जिनका अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उद्घाटन रूप गोस्वामी ने किया था, बहुत अर्थवान नहीं रहीं। आगे के पृष्ठों में हम उज्ज्वल रस एवं रसोपासकों के विभिन्न सम्प्रदायों के साम्य, वैषम्य विकास या संकोच तथा पारस्परिक प्रभाव की रेखाओं का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

गौड़ीय वैष्णव-रसशास्त्रियों के सामने एक समस्या और भी थी जिसको उन्हें शास्त्रीय तर्कसिद्ध रूप देना था। भागवत, विष्णु ब्रह्मवैवर्त आदि पुराण एवं वैष्णव तन्त्रों आदि में श्रीकृष्ण की नाना प्रकार की लीलाएँ थीं। रूप, सनातन, जीव प्रवृत्ति गोस्वामियों ने इन लीलाओं को भक्ति-काव्यशास्त्र के रस-विवेचन के अन्तर्गत स्वीकार करने का उत्तरदायित्व भी निभाया एवं इन्हें दार्शनिक पीठिका पर प्रतिष्ठित भी रहने दिया। इसी कारण उसके रस-विवेचन में कतिपय असंगतियाँ भी प्राप्त होती हैं। सबसे विचित्र असंगति यह है कि वे काव्यशास्त्र की परिपाटी तो स्वीकार करते हैं पर काव्य-सृजन-प्रक्रिया को स्वीकार नहीं करना चाहते।[92] काव्य-प्रक्रिया में कवि-प्रतिभाजन्य विभावन-व्यापार को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह व्यापार ही काव्य के क्षेत्र में लोक की प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक अनुभूतियों को अलौकिक रसास्वादन बदल देता है—इसी कारण अनुकार्यों में रस की स्थिति मानने वाले लोल्लट एवं शंकुक के मन को रसनिष्पत्ति के क्षेत्र में अमान्य करार दिया गया, परन्तु जैसा कि हम पीछे मधुर रस के विवेचन के प्रसंग में कह चुके हैं, जीव गोस्वामी ने भक्ति रस की अलौकिकता, विभावादि (अनुकार्य आदि) निष्ठ कर दी, न कि विभावन-व्यापारनिष्ठ। काव्य रस की

सत्ता क्षणिक है, पर विषय (आलम्बन) की गरिमा एवं भक्त का समस्त रहती-करनी आदि को दृष्टिपथ पर रखने के कारण उन्होंने रस की सत्ता को भक्ति के क्षेत्र में नित्य स्वीकार किया। यों आधुनिक मनोविज्ञान प्रथम तर्क का उतर देते हुए कह सकता है कि अनुकार्य एवं सामाजिक के रस में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, एक का ही परिष्कृत एवं परिवर्तित रूप दूसरा है तथा गौड़ीय वैष्णव रस-शास्त्रियों ने रागात्मिका एवं रागानुगा का जो अन्तर पहले ही विवेचित कर दिया है, वह रस की मनोविज्ञान-सम्मत प्रत्यक्ष एवं परोक्ष अनुभूतियों के औचित्य की कसौटी पर खरा उतरता है। जहाँ तक रस की नित्यता का प्रश्न है, यह तो भक्ति रसशास्त्री भी नहीं कहते कि सदैव भक्त रसावेश में ही रहता है, परन्तु इस विवेचन के बाद भी यह तर्क अनुत्तरित ही रहता है कि काव्य-सृजन की प्रक्रिया वे स्वीकार नहीं करते।

यह बात काव्यशास्त्र का एक सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि कवि-प्रतिभाजन्य विभावन-व्यापार रस-सिद्धान्त में मूलतः अनिवार्य है। उसके स्थान पर जब आलम्बन की अलौकिकता, महत्ता, गुरुदया प्रभु-अनुग्रह अथवा भक्त (सामाजिक) की अपनी साधना पर बल दिया जाने लगता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह रस काव्यरस से कुछ भिन्न प्रकार का है। वास्तव में ऐसी विसंगतियाँ धर्मदर्शन एवं काव्यदर्शन को एक में ही मिला देने से उत्पन्न होती हैं। इस विसंगति के होते हुए भी गौड़ीय वैष्णवों का यह विवेचन काव्यशास्त्र की विकृतियों में इतना सूक्ष्म और प्रामाणिक है तथा कृष्ण की समस्त काव्य-पुराणादि में वर्णित लीलाओं को इतनी निपुणता के साथ अपने भीतर समेट लेता है कि साधारण बुद्धि को तर्क की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इसलिए इस रसशास्त्र का बड़ा गहरा प्रभाव हमें अन्य समकालीन एवं परवर्ती विचारों पर प्राप्त होता है। निम्बाकीर्य हरिव्यास देव[93] की 'सिद्धान्त रत्नांजलि' में रसों के प्रकार आदि में उनका अनुगमन किया गया है :

शान्तं दास्यं च वात्सल्यम् सख्यमुज्ज्वलमेव च।
अमी पञ्च रसा मुख्या ये प्रोक्ता रसवेदिभिः ॥

(सि.र., रस प्रकरण, पृ. 125)

रामोपासक सम्प्रदाय की रसिक-भाव की साधना का रसशास्त्र गौड़ीय वैष्णवों का ही है जिसे राम के प्रचलित स्वरूप के अनुसार ढाल लिया गया है। शुक सम्प्रदाय के भी ऊपर इस रसशास्त्र का प्रभाव है। पुष्टिमार्ग का अलग से कोई रसशास्त्र प्राप्त नहीं होता। पुष्टिमार्गीय भक्तों ने सम्भवतः इसी शास्त्र को स्वीकार किया था, हाँ प्रभु-अनुग्रह सेवाशैली आदि के क्षेत्र में उनकी अपनी देन है। रसोपासकों (सखी एवं राधावल्लभ प्रभृति सम्प्रदाय) ने यद्यपि रस-विवेचन के क्षेत्र में एकदम नया रास्ता अपनाया पर जाने-अनजाने गौड़ीय वैष्णव रस-विचारों से वे प्रभावित होते रहे (सम्भवतः प्रभावित करते भी रहे हैं)। इन सम्प्रदायों ने काव्यशास्त्र का पल्ला पकड़ा ही नहीं—प्रारम्भ से ही इन्होंने भक्ति रस की अपेक्षा रस-भक्ति की बात कही और

अन्त में वृन्दावन रस को प्रतिष्ठित किया। अपने इस रस को उन्होंने काव्य के रस या लोक के रस से भिन्न ही रखा—उन्हें समान स्तर पर रखने की आवश्यकता ही नहीं थी। यहाँ पर न आलम्बन है, न आश्रय।[94] भगवान स्वयं रस-स्वरूप हैं, आनन्द-स्वरूप हैं, प्रेम-स्वरूप हैं, यह प्रेम क्रीड़ा-परायण होता है और इसीलिए युगल के रूप में अवतरित होता है। यह युगल सहज ही प्रकट होता है, अजन्मा है, नित्य किशोर है, सम वयस् है। वे पहले भी थे, अब भी हैं, आगे भी रहेंगे।[95]

यह स्थापना उन तमाम भागवत एवं काव्यादि में वर्णित कथाओं को व्यर्थ कर देती है जिनको ऐतिहासिक रूप से सत्य मानने के कारण रूप गोस्वामी प्रभृति विद्वानों को नाना प्रकार के सम्बन्धों की कल्पना करनी पड़ी थी। कोई कृष्ण का दास है, कोई सखा है, कोई माता-पिता है तो कोई वल्लभा के रूप में हृदय दे बैठा है। इन्हें भक्त मानते हुए नाना प्रकार के सम्बन्धों के आधार पर भक्ति रसों की कल्पना करनी पड़ती है। स्वयं मधुर भाव वाले उज्ज्वल शृंगार रस के क्षेत्र में नाना प्रकार की हरिवल्लभाएँ, सखियाँ, सखा, दूती, विरह, मिलन आदि को स्थापित करके गौड़ीय वैष्णवों ने समस्त कृष्ण लीलाओं को औचित्य प्रदान कर दिया है। चूँकि इन लौकिक-सामाजिक सम्बन्धों का उदात्तीकरण विवेचना में हुआ था, इसीलिए लौकिक काव्यशास्त्र की परिपाटी को भी ग्रहण करना आवश्यक हो गया था। बिना उसकी राह को स्वीकार किये वे सफल नहीं हो सकते थे। वास्तव में गौड़ीय वैष्णवों ने इस अर्थ में भी अत्यन्त गुरुतम दायित्व को वहन किया कि समस्त लिखित या मौखिक परम्परा को क्रमशः स्वीकार कर लेने के बाद उसे अध्यात्म की राह मोड़ दिया। साधारण शक्ति का कार्य यह नहीं था। इस सारी परम्परा को उन्होंने एक अनोखी व्याख्या दे दी।

रसोपासक (हरिदासी, राधावल्लभीय, परवर्ती निम्बार्कीय आदि) चूँकि इस सारी परम्परा को अस्वीकार कर सके थे, इसीलिए उनका रस-सम्बन्धी चिन्तन भी परम्परागत काव्यचिन्तन से पृथक् रह सका। प्रेम या रस या हित ही वह परतत्त्व है जो सृष्टि में प्रवाहित हो रहा है। युगल किशोर उसी के साक्षात् विग्रह हैं। वे दिन-रात प्रेमकेलि में पड़े रहते हैं। अप्राकृत प्रेम और काम के दो सिन्धु उनके प्रहृदयों में प्रवाहित हैं।[96]

प्रेम के रूप का बड़ा मार्मिक चित्रण ध्रुवदास ने किया है, "प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, अधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एक रस रुचि तरंग बढ़त रहे। सहज सुछन्द मधुरता, मादिकता, जाको आदि अन्त नहीं, छिन-छिन नूतनता स्वाद।"[97] नेम, मदन, काम आदि को लगभग समानार्थक रूप में इस साहित्य में प्रयुक्त किया गया है, पर यह काम भी सामान्य नहीं है। इसे प्रेम का प्रकाशन अथवा प्रेम की अभिव्यंजना भी कह सकते हैं लेकिन इसकी अलौकिकता इस बात में है कि यह सब प्रेम द्वारा यन्त्रित होता है। लोक में काम स्वतन्त्र होता है, पर यहाँ प्रेम द्वारा यन्त्रित होने में ही उसकी सार्थकता होती है।[98] निज प्रेम

ही नेम है जिसे श्रृंगार रस के पोषण के लिए अलग से कहा गया है।[99] प्रेम तो अनादि, अनन्त है पर काम या मदन या नेम आदि और सांत है। काम क्रीड़ा है, प्रेम मूल वृत्ति है। क्रीड़ा में चैतन्यता आवश्यक है, भाव-वृत्ति अपने में विवश कर लेती है—इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्रुवदास प्रतिष्ठापित कर सके थे।[100] इस प्रकार प्रेम और काम दोनों ही नित्य विहार में बने रहते हैं।[101] ललित किशोरी देव के मत से प्रतीत होता है कि प्रेम का निवास नेत्रों में है और काम का अंगों में। प्रेम में प्रेमी एक-दूसरे को देखते रहना चाहते हैं, काम में एकमेक हो जाना चाहते हैं। जब एक-दूसरे को देख नहीं पाते तब भी छटपटा उठते हैं, जब एक-दूसरे से केलि नहीं कर पाते तब भी अधीर हो उठते हैं....

जब दरसें तब परसनचाह, जब परसें तब दरसन दाह।
तनु मन मिले मिलन की आस, अंग अंग सिथिल मंदधन वास।। 678
दरस जु कहिये प्रेम रस, परस केलि सुख काम।
गौर स्याम आसक्ति अति रोम रोम अभिराम।। 757

(स्वा. ललित किशोरी देव, साखी)

इस प्रेम और काम की लोक से एक स्पष्ट भिन्नता और है। लोक में काम दो भिन्न व्यक्तियों को परस्पर निकट लाता है। उनकी पारस्परिक दूरी को वह कम करता है परन्तु इस प्रेम में एक ही तत्त्व दो रूपों में विभक्त होकर भोक्ता और भोग्य के रूप में रस का आस्वादन करता है। फिर लौकिक प्रेम और काम निज स्वार्थ के लिए होने पर यह प्रिय-सुख के लिए है। एक-दूसरे के सुख की चिन्ता ही इन्हें रहती है। जो[102] जो प्यारे कहते हैं, वही प्यारी को अच्छा लगता है एवं जो-जो प्यार करे, वही तो प्रिया को पसन्द आता है। प्यारी प्रियतम के नेत्रों में ठौर बनाना चाहता है, प्रियतम भी प्यारी के नैनों की पुतलियाँ बनने में ही अपनी सार्थकता समझते हैं। राधा के लिए वल्लभ अपने तन, मन और प्राण से भी अधिक प्यारे हैं एवं वल्लभ वल्लभा के लिए अपने कोटिक प्राण हारने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। यहाँ न और वल्लभाएँ हैं और न गोपियाँ जो लोक कानि, आरज पथ छोड़कर गंगा के समान सागर की ओर उमड़ती चली आयें। यह तो अनन्यता का क्षेत्र है। प्रेम का यही एक स्वरूप है। रूप गोस्वामी ने भी समर्था रति का रूप यही दिया है पर अन्य लोक प्रचलित चरित्रों के कारण साधारणी एक समंजसा रतियों की भी कल्पना उन्हें करनी पड़ी है। पर यहाँ इन चरित्रों की अवधारणा न होने से ऐसी कोई रति-श्रेणी-भेद मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। फिर जब वे अनादि हैं, अजन्मा हैं। केवल नित्य विहार ही जिनके ध्येय हैं, जिन्हें ठकुरई सुहाती नहीं,[103] सारे अवतारों के स्वामी जो हैं[104] वह केवल ब्रजलीलाओं में बँधा नहीं है।

भक्ति के विविध प्रकारों (सम्भवतः गौड़ीय पद्धतियों को ध्यान में रखकर) के प्रसार के लिए[105] अथवा रस के विस्तार के लिए ही यह युगल स्वरूप ब्रजलीला करता

है।[106] ऐसे युगल तत्त्व के बीच स्वकीया, परकीया, विरह, मान, प्रवास आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। न तो उन्हें गुरुजन का भय या संकोच है, न सोते का डर और न प्रवास आदि का ही प्रश्न उनके सामने है। परिणामस्वरूप वहाँ विरह और मान भी प्रेम की नित नवता के लिए उठने वाली तरंगें मात्र हैं—स्थूल विरह या स्थूल मान का प्रश्न ही नहीं उठता। देह का न्यारा हो जाना या अंचल की ओट हो जाना ही विरह है।[107] बल्कि कभी-कभी तो मिलन ही में विरह की अनुभूति होने लगती है,[108] इसी कारण मिलन में भी मिलन की चाह बनी ही रहती है।[109] गौड़ीय वैभवों ने इसे प्रेम-वैचित्य की अवस्था कहा है, पर जैसा कि पूर्व विवेचन में कहा जा चुका है कि यह विरह के चार प्रकारों में से एक है एवं महाभाव की अवस्था में भी इस प्रकार की अनुभूति मानी गयी है। पर इन युगल विहार के रसोपासकों में अन्य दशाओं की चर्चा ही नहीं है। इसी प्रकार मान के भी यहाँ स्थूल कारण नहीं हैं पर मान में रस की जो प्रतिक्षण वर्द्धमान स्थिति होती है, उसके लिए प्रिया-प्रियतम इस छद्म मान को भी धारण करते हैं। इसे लाड़ भाव भी कहा गया है—

अति प्रवीन है लाड़िली रतिपति चाह बढ़ाय।
लाड़ मान रूखी भई, कपट प्रगट मुसकाय।।[110]

मान में मनाने का जो सुख है और रूठने में प्रिय के लगाव का जो अनुभव है उससे यह नित्य जोड़ी वंचित कैसे रह सकती है? इसीलिए उन्हें तूठने से रूठना अधिक पसंन्द है—

रुठनौ तूठनौ रस बूठनौ तूठनैं तै अति रूठनौं भावै।
प्रेम प्रवीण प्रिया पिया आतुर चातुर केलिकला गुरु गावै।
नाहिं करै तब पाईं परै, हंस आसल यों मन मोद बढ़ावै।
श्री बिहारीदास के प्रेम अभंग सुरंग मैं रंगअनंग लड़ावै।

(विहारिणिदेव, सवैया, 145)

ऐसे ये युगल केलि में रत रहते हैं। वास्तव में वे दोनों प्रेम के ही खिलौने हैं। प्रेम के खेल ही खेलते हैं, प्रेम के पुष्पों से ही उनकी प्रेमशय्या रचित है। उनकी चितवनि, मुसुकानि प्रेम की ही है। प्रेम से रंजित बातें करते हैं एवं दोनों के मध्य प्रेमकेलि मची है।[111] यों सूरदास ने भी कहा है कि प्रेम प्रेम से ही उत्पन्न होता है, प्रेम से व्यक्ति पार होता है, प्रेम से ही संसार बँधा है एवं प्रेम से ही परमार्थ की प्राप्ति होती है और प्रेम का जो निश्चय है, उससे गोपाल मिलते हैं। जबकि इन रसोपासकों को युगल नहीं युगल-केलि रस की वांछा रहती है और इसी में उन्हें रस मिलता है। उनके प्राणों का आधार यह निकुंज-माधुरी ही है।[112] नारद, शाण्डिल्य, भागवतकार आदि ब्रज देवियों के प्रेम को श्रेष्ठ बताते हैं। 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' में गौतमीय तन्त्र का उल्लेख हुआ है कि 'प्रेमैव ब्रज-गोपरामाणां कामं इत्यगमत् प्रथाम्।'[113] पर कहा यह जाता है कि उनके काम में कृष्ण-सुख की चाह ही अधिक थी। कृष्णदास

कविराज ने भी गोपी-प्रेम को 'कृष्ण-सुखैक-तात्पर्यप्राप्त' ही कहा है। पर वास्तव में अंग-संग द्वारा सुख तो वहाँ प्राप्त होता है और इस प्रकार शारीरिकता की गन्ध बनी ही रहती है। पर इन रसोपासकों ने सहचरियों को केवल इस निकुंज माधुरी रस से ही आप्यायित होना माना है और इसीलिए इसे गोपियों के प्रेम से भी ऊपर कहा है–

गोपिनु के सम भक्त आहीं, उद्धव विधि तिनकी रज चाहीं,
तिन मन कछू सकामताँ आई, तातें बिच अन्तर परयौ माई।
दुख कौ मूल सकामताँ, सुख को मूल निंहकाम।
विरह वियोग न तहाँ कछु रस में ध्रुव सुखधाम।[114]

इन गोपियों के मन में तनिक भी विकार नहीं है। इस बात को स्वयं राधा भी जानती हैं कि जो उनको अच्छा लगता है, वही सखियों को भी रुचता है–

मो मन मोहे साँवरो मेरे नहीं विकार।
हौं तोहिं पूछों लाड़िली ताकौ कहा विचार।
तब हंसि बोली राधिका सखि कत पूँछत मोहिं।
जो मेरे मन में बसैं सो मोहत है तोहिं।।

(स्वामी रसिकदेव, सि. के दोहा 5, 6)

सहचारियाँ इस रस-क्रीड़ा की अनिवार्य अंग है। 'सखी' सम्प्रदाय में तो हरिदास स्वामी को खिलाड़ी तथा लाड़िली लाल को खेल कह दिया गया है। इस प्रकार खेल खिलाड़ी के वश में रहता है।[115] प्रेम की उत्तुंग तरंगों वाली नदी में विहार के आवर्त में पड़े युगल को सखी ही अपने साहस से किनारे लाती हैं।[116] यह लीला रस सखियों के लिए ही है।[117] इन सखियों का प्रेम सर्वोपरि है, इसके ऊपर न और सुख है, और रस।[118] लाल लाड़िली के प्रेम से ही इन सखियों का प्रेम भी सरस है–

लाल लाड़िली प्रेम ते सरस सखिनु को प्रेम।
अटकी हैं निजु प्रेम रस, परसत तिनहिं न नेम।[119]

सखियाँ ही इस रस की इस प्रकार प्रेरक भी हैं। और वे इस प्रेम रस का आस्वादन भी करती हैं। युगल-रूप भी रस-रूप है–'रसो वै सः' तथा भोक्ता और भोग्य (लाल और लाड़िली) रूप में प्रकट होकर आस्वादक भी हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रस ही कार्य है, रस ही कारण है और रस ही प्रयोजन है।[120] प्रिया प्रियतम एक हैं, वे रस के लिए ही दो हैं और जीव स्थानीया सहचरियों का भी परम प्रयोजन इस रसकेलि का आनन्द लेना है। गौड़ीय वैष्णव 'प्रेमा पुमर्थो' महान तक पहुँचे थे, पर इन्होंने एक कोटि और आगे स्थापित की कि युगल प्रेम का रस ही परम पुरुषार्थ है। केवल प्रेम कह देने से तो स्वयं भगवान के प्रति किसी भी भाव से (प्रिया भाव से भी) भजन हो सकता है, पर इस रसचिन्तन में इसके लिए अवकाश नहीं छोड़ा गया। रसिक उपासक का प्रेम युगल-स्वरूप लाल-लाड़िली की प्रेम-मदन मयी केलि से रस-रूप बना रहता है। जो प्रेम श्यामा-श्याम के हृदयों में प्रवाहित है,

उसी का प्रकाश उपासक के चित्त में भी है। इस प्रकार यह रस अनुकार्यनिष्ठ होते हुए भी सामाजिकनिष्ठ भी हो जाता है। इसे विवेचकों ने 'वृन्दावन रस'[121] कहना चाहा है। वृन्दावन रस इसलिए कि इसमें ब्रजलीला की मर्यादाएँ नहीं हैं। यों इसे उज्ज्वल रस, मधुर रस आदि नामों से प्राचीन वाणीकारों ने अभिहित किया है। इस रस की प्रकृति को ठीक ही पहचानकर हरिराम व्यास ने कहा था—

यहि रस नवधा भक्ति उबीटी,
रति भागौति कथा की।
रहनि कहनि सब ही तें न्यारी,
'व्यास' अनन्य सभा की।

(व्यास वाणी, पद 76, भ. कवि. व्यास जी, पृ. 211)

रस सम्बन्धी इन अन्तरों के होते हुए भी यह भक्ति अपने चरित्र और स्वभाव में रागानुगा ही है। ब्रज के जनों की भक्ति रागात्मिका कही गयी है तथा उनका अनुकरण करने वाली भक्ति रागानुगा है जिसमें विधि-निषेध की मर्यादा नहीं होती। कूलों को उचारती नदी-सी इसकी गति होती है। ठीक वही स्थिति नित्यविहारोपासकों की भी है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ ब्रज़ के परिकर में अनेक भावनाओं वाले व्यक्ति हैं पर यहाँ पाँच सखियाँ हैं। अतः उन सखियों के ही गुणों का गान करते हुए उनकी सेवा को ही हृदय में विचारते रहना चाहिए। ध्रुवदास ने 'सिद्धान्त-विचार लीला' में स्पष्ट कहा है या रस की अधिकारनी सखी हैं कै जिन भक्तनि के सखियन को भाव है।[122] उनका निर्देश है कि "इनको भाव धरि याही रस की उपासना में कपट छांड़ि भ्रम छाँड़ि निशिदिन मन दे यह विचार में रहे।"[123] अन्यत्र उन्होंने सखियों के नाम, रूप एवं क्रिया आदि की चर्चा करते हुए कहा है कि 'गौतमी तन्त्र' में इन सबके नाम दिये हुए हैं, सबसे प्रथम इनके चरणों की वन्दना करके स्यामास्याम का सेवन करो। सखियों की इस सेवा को जो नित्त विचारता रहता है उसे यह प्रेम रस निश्चित ही मिलता है तथा उसी सुख से उसका चित्त रंगीन रहता है।[124] इस स्थिति पर पहुँचने के लिए आवश्यक है कि मन से पुरुष-भाव एकदम समाप्त हो जाये। रागानुगा की श्रेष्ठतम अवस्था यही तो है, जब भक्त अपनी भौतिक देह के स्थान पर भावदेह ग्रहण कर लेता है।[125] नित्य विहार की इस साधना का परिणाम और फल यही है कि जब तक यह हाड़-मांस का शरीर है, तब तक प्रिया का भजन एवं तन छूट जाने पर प्रिया के संग के नित्य परिकर में प्रवेश।[126] रागानुगा के समान ही विधिनिषेध के जंजाल को दूर करके ही स्वा. हरिदास की पद्धति प्रारम्भ हुई है।[127]

श्री बांके बिहारी जी की सेवा-पद्धति में स्वा. हरिदास जी ने विधिनिषेध को निकालकर रसोपासकों की माधुर्य की भावना के अनुकूल पूजा-पद्धति बताई।[128] राधावल्लभ सम्प्रदाय के मुख्य भक्त एवं सिद्धान्त प्रतिपादक सेवक जी का भी मत है 'या रस में विधि नहीं निषेध, तहाँ न लगन ग्रहन के वेध, तहाँ कुदिन दिन में

कछु नहीं। नहीं शुभ अशुभ मान अपमान, स्नान क्रिया जप तप नहीं।[129] भस्ति में न जनेऊ का प्रश्न है न जाति का।'[130] वास्तव में विधि-निषेध के बन्धन तो अन्य धर्मरूपी मृगों के लिए हैं, भागवत धर्म तो केहरि के समान निर्पन्ध है, उसके लिये इन नियमों की क्या आवश्यकता।[131] यहीं पर इतना ध्यान दिला देना हम आवश्यक समझते हैं कि विधि-निषेध की मर्यादा के उल्लंघन का तात्पर्य सामाजिक आचार एवं नैतिक मर्यादाओं का अस्वीकरण नहीं है। समस्त भक्ति सम्प्रदायों में नैतिकता, वैराग्य, परोपकार, निरभिमानता, अक्रोध, करुणा और सहानुभूति आदि नैतिक मानवीय मूल्यों को महत्त्वपूर्ण माना गया है। इन भक्तों का नैतिक प्रदेय वास्तव में अपने आपमें एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है, इसीलिए हम उसे यहाँ विस्तार से विवेचित नहीं कर रहे हैं। विस्तार में जाना हमारे लिए प्रसंगान्तर भी होगा। वस्तुतः विधिविषेध के अस्वीकरण का तात्पर्य मात्र इतना है कि बाह्य साधनों पर अधिक अवलम्बित रहने की अपेक्षा अपने वैयक्तिक परिष्कार, चिन्तन (कण्टेम्प्लेशन) एवं प्रभुकृपा पर अधिक विश्वास रखना चाहिए। इन सम्प्रदायों में साधन भक्ति (वैधी भक्ति, मर्यादा भक्ति, गौणी भक्ति, विहिता भक्ति, अपरा भक्ति, शास्त्र भक्ति आदि) का कोई स्थान न होकर मात्र फल-भक्ति (रागानुगा, प्रेमा, परा, अविहिता, साध्य, पुष्टि आदि) का ही विवेचन हुआ है।

रामोपासक सम्प्रदायों में भी रागानुगा भक्ति ही विकसित हुई है। जो छोटे-मोटे अन्तर प्राप्त होते हैं, वे राम की ऐतिहासिक-पौराणिक लीला के आग्रह के कारण हैं जबकि कृष्ण के प्रसंग में द्वारका-मथुरा की लीलाओं को उपेक्षित करके माधुर्य-भाव को ही सर्वोत्तम बताया जा सका था, वहीं पर राम का राजा रूप इतना अधिक प्रतिष्ठित था कि उसकी उपेक्षा सम्भवतः साधारणीकृत भावन के विपरीत बैठती। इसी कारण माधुर्य के साथ ऐश्वर्य-भाव भी उस साधना में प्रतिष्ठित बना रहा।[132] ऐश्वर्य भाव की इस स्वीकृति के कारण परिकर, धाम, सेवाविधि एवं भाव-सम्बन्धों में भी कुछ छूट देनी पड़ती है। जिस समय नित्यविहारोपासना में लोग स्वीकार करते हैं, उस समय भी ऐसे जनों की कल्पना अनिवार्य हो जाती है। जो राज्य की व्यवस्था करते हैं, परामर्श देते हैं या अन्य ऐसी व्यवस्थाएँ करते हैं जिससे युगल के विहार में व्याघात न उपस्थित होने पाये। परिकर का यह विस्तार हो जाने से शान्त, दास्य, सत्य या वात्सल्य के वे सम्बन्ध जीवित रूप से स्वीकृत हो जाते हैं जिनका कृष्ण-भक्ति माधुर्य के वेग में कृष्णोपासक सम्प्रदायों में अभाव हो गया था। राजा को राजभवन में अनिवार्य रूप से रहना ही चाहिए, बन-विपिन उनके लिये कुछ काल के लिए ही हो सकते हैं। इसी कारण वृन्दावन धाम जैसी कल्पना इस सम्प्रदाय में नहीं हुई।

कनक-भवन अवश्य कल्पित हुआ पर वृन्दावन का जैसा माहात्म्य प्रतिष्ठित नहीं हुआ। वास्तव में रामोपासकों में सखी-भावना एवं गोपी-भावना जैसा स्पष्ट अन्तर बहुत विकसित नहीं हुआ। सीता की भी श्रेष्ठतम परिणति इस सम्प्रदाय में वैसी नहीं

हुई, जैसी कि कृष्णोपासक, राधावल्लभीय या ललित-सम्प्रदाय में हुई है। इसे हम यों भी समझ सकते हैं कि रामोपासकों में विविध सम्प्रदायों का स्पष्ट विभाजन एवं धारणाओं का स्पष्ट अन्तर नहीं हुआ। गद्दियाँ एवं अखाड़े अलग हुए पर जैसे सम्प्रदाय वृन्दावन में अलग-अलग विकसित हुए हैं, उसका रामोपासकों में अभाव रहा है। इसी कारण रामोपासना अधिक समन्वय-प्रधान रह सकी है। सम्भवतः इसी कारण डॉ. भगवती प्रसाद सिंह ने उसे 'मध्यम मार्ग' की साधना कहा है[133] परन्तु इन कतिपय लीला-सम्बन्धी अन्तरों के होते हुए भी रस-दृष्टिकोण रामोपासकों का गौणीय वैष्णवों से अभिन्न है। जो कुछ वहाँ कृष्ण एवं राधा को ध्यान में रखकर कहा गया है, उसी को राम एवं सीता तथा परिकर के लिए अपने पक्ष में मोड़ लिया गया है। मूल रस-दृष्टि की इस एकता के कारण ही हम उसका अलग से विवेचन नहीं कर रहे हैं।

जहाँ तक निर्गुणवादियों के रस-दर्शन का प्रश्न है, उसे पंच भक्तिरसों के विभाजन के अन्तर्गत लाया तो जा सकता है परन्तु एक विशिष्टता को ध्यान में रखना होगा कि वे लोग किसी प्रकार की ऐतिहासिक-पौराणिक सगुण-लीला एवं अवतारतत्त्व को स्वीकार नहीं करते। इस कारण रागानुगा विधि उन पर लागू नहीं होती। अपने भीतर पूर्ववर्ती किसी व्यक्ति के भावों को जगाने के स्थान पर प्रत्यक्ष रूप से (बिना किसी माध्यम के) प्रभु से सम्बन्ध जोड़ते हैं। पर प्रभु की कोई सगुण-साकार कल्पना भी उन्हें स्वीकार नहीं है, दूसरी ओर भक्ति में प्रभु के साथ एक निजी सम्बन्ध की कल्पना अनिवार्य है। इस द्वैध स्थिति में एक ही रास्ता शेष रहता है कि भगवान के लिए प्रतीक-पद्धति में ही वे जनक, जननी, स्वामी व राजा, प्रियतम या भरतार हो जाने हैं एवं भक्ति के आवेश में जब ये प्रतीक वास्तविकता ग्रहण करने लगते हैं तो उसे हम रागात्मिका भक्ति कह सकते हैं, न कि रागागुगा।

सूफ़ियों में भी प्रेम-प्रतीक वाली भाव-पद्धति ही स्वीकार्य है, पर काव्य के क्षेत्र में उसका प्रकाशन कहानी के माध्यम से होता है। स्पष्ट है कि कहानी में पात्र, घटनाएँ, परिस्थितियाँ एवं स्थल विशेष होंगे। इस रूप में एक प्रकार की लीला-कल्पना अपने आप हो जानी है। सूफ़ी साधक इस प्रकार सगुण-लीला-गायकों के कुछ निकट आते प्रतीत होते हैं। पर एक दूसरा अन्तर यहाँ ध्यान में रखना होगा : सगुणोपासकों की लीला ऐतिहासिक एवं पौराणिक सन्दर्भों द्वारा अनुकूलित होकर जन-मानस में प्रतिष्ठिन रहती है एवं गौड़ीय वैष्णवों आदि को उस सीमा के भीतर ही सिद्धान्त-कथन नया कलात्मक अभिव्यंजनाएँ करनी पड़ी हैं, पर सूफ़ियों के सम्मुख ऐसा कोई बन्धन नहीं रहता। वे कथा का संघटन, प्रतीकों एवं अभिप्रायों का प्रयोग अपने मनोनुकूल करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। इतना ही नहीं, कथा के ये पात्र, घटनाएँ आदि भी प्रतीक ही होते हैं। अतः यदि कहानी का तत्त्व अलग कर दिया तो अपनी प्रतीक-पद्धति एवं भक्ति-योजना में ये निर्गुणोपासकों के निकट आ जायेंगे। इतना अवश्य है कि कहानी तत्त्व एवं सुन्दर वस्तु में परमात्मा का

परिशिष्ट-क (भक्ति रस-सम्बन्धी विविध चार्ट)

डॉ. सुशील कुमार दे के आधार पर

(वै.फे.मू., पृ. 138)

मुख्य भक्ति रस

(पृ. 145)

गौण भक्ति रस

(पृ. 145)

कृष्ण रति के मुख्य स्थायी भाव

(नृ. 144)

कृष्ण-रति के गौण स्थायी भाव
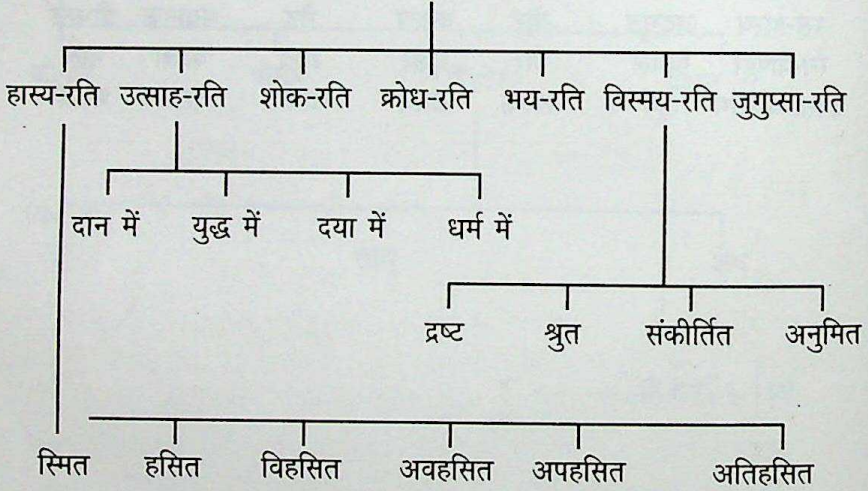
(पृ. 144)

(1)
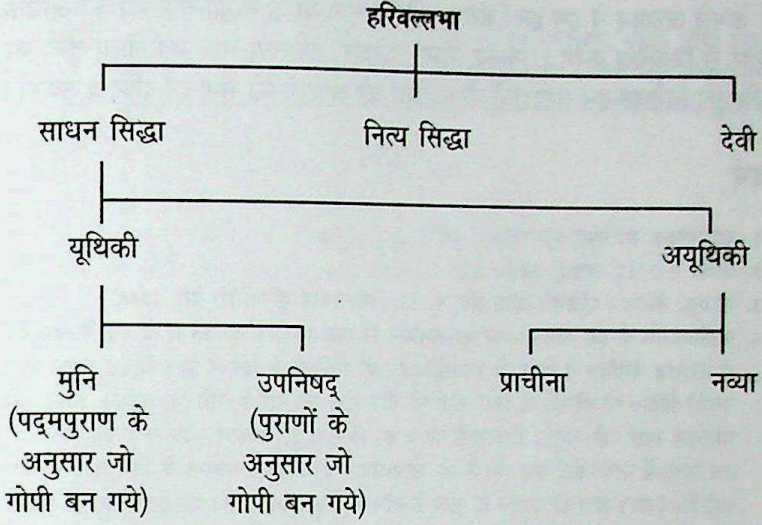
(पृ. 156)

(2)

कृष्णभक्ति के आलम्बन विभाव
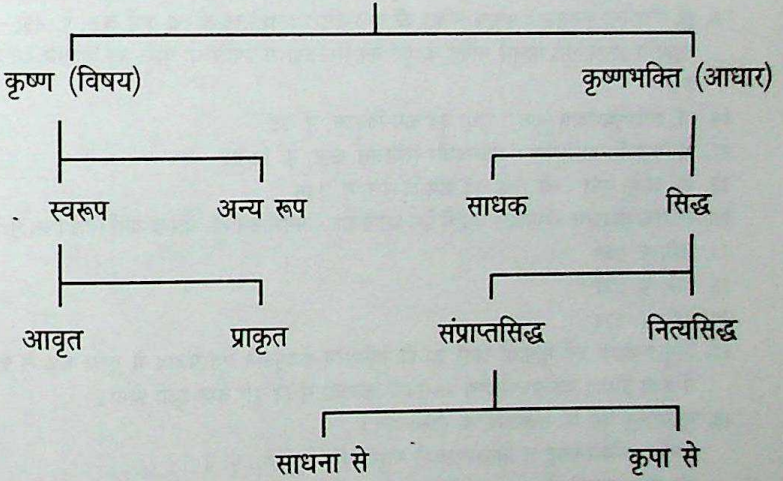
(पृ. 136)

स्वरूप देखने की प्रवृत्ति के कारण सूफ़ियों की अभिव्यक्तियाँ अधिक भाव-प्रवण एवं रसात्मक प्रतीत होने लगती हैं।

अगले अध्याय में हम इन विविध भक्ति-सम्प्रदायों के सैद्धान्तिक रूप को अधिक विस्तार से विवेचित करेंगे। उपास्य, धाम, परिकर, उपासना-भाव एवं लीला-तत्त्व का यह विस्तृत विवेचन इन सम्प्रदायों के साहित्य को समझने की समुचित दृष्टि दे सकेगा।

सन्दर्भ

1. वृहदारण्यक उपनिषद् 4।3।21
2. ऋग्वेद 8।7।17, अथर्व, 19।52।1
3. सी.एस. लेविस : एलिगरी ऑफ लव, पृ. 13 (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1948)।
4. परकीया प्रेम के इस सामन्ती रूप का अनजाने ही एक प्रकाशन भागवत में हो गया है। शुकदेव से महाराज परीक्षित ने कृष्ण के पदाराभिदर्शन के औचित्य के बारे में प्रश्न किया, उसका उत्तर उन्होंने दिया—"तेजस्वियों के लिए कोई भी चीज दोष की नहीं है, जैसे कि सर्वभुक् अग्नि (को मलिनता स्पर्श नहीं करती) ईश्वरगणों का वाक्य ही सत्य है, आचरण सदैव सत्य नहीं होता...।" इस उत्तर में मानो कोई कह रहा है कि सामर्थ्यवान शक्तिशाली सामन्त के लिए कुछ भी दोष नहीं है। उसका शब्द ही कानून है, सत्य है और सब कुछ मिथ्या है। यह उत्तर सामन्ती भावना की आत्मा के एकदम अनुकूल है।
5. इस विषय का विस्तृत अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं रोचक हो सकता है। विस्तार एवं प्रसंग से बाहर चले जाने के भय से हमने इस सम्बन्ध में केवल संक्षिप्त रूपरेखा ही दी है।
6. देखिए प्रथम से लेकर षष्ठ अध्याय तक।
7. अहि. सं. 59।7
8. अहि. सं. 41।4
9. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक : माधुर्य भक्ति की पृष्ठभूमि : अनुशीलन धीरेन्द्र वर्मा अंक, पृ. 495—'यह षड्विधि शरणागति माधुर्य भक्ति के पूर्व की स्थितियों में प्रपत्ति या पुष्टि का परिचय देने वाली है।
10. डॉ. शशिभूषणदास गुप्त : राधा का क्रम-विकास, पृ. 72
11. डॉ. एस.बी. दासगुप्ता : ऑब्सक्योर रिलिजस कल्ट, पृ. 21-22
12. डॉ. श.भू. गुप्त : श्री राधा का क्रम-विकास, पृ. 148
13. सी.एच. वादवील : भागवत धर्म में प्रेम प्रतीकवाद—अनुशीलन डॉ. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ. 271
14. वही, पृ. 269
15. वही, पृ. 272
16. वही, पृ. 274
17. निर्गुणोपासक एवं सूफ़ियों दोनों का ही सम्मिलन राजपूताने एवं पंजाब में मुख्य रूप से प्रारम्भ में हुआ होगा। यह प्रभावग्रहण 13-14वीं शताब्दी में ही पूरी तरह हुआ होगा।
18. मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः।। —उ.नी.म., पृ. 4
श्री जीवगोस्वमी ने अपने 'प्रीति सन्दर्भ' (पृ. 704-715 तक) में भगवान की दो प्रकार की लीलाएँ, ऐश्वर्य एवं माधुर्य बतायी है तथा इनमें उन्होंने माधुर्य को श्रेष्ठ बताया है। इस प्रकार

भी मधुर रस ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। (काव्यमाला संस्करण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1932)

19. निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुःरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगोऽपि लिख्यते ॥
—ह.भ.र.सिं., प.वि., 5। 2 (अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, संवत् 1988)
20. शृंगार के लिए उज्ज्वल शब्द का प्रयोग भरत ने भी किया है, शृंगार का वर्ण नील (श्याम) माना गया है तथा मणि समुद्र से निकलती है, इस प्रकार हरिभक्ति रसामृत सिन्धु से निकला हुआ वह उज्ज्वल नीलम है जो सदैव धारण करने योग्य है।
21. उ.नी.म. 1—3, पृ. 5 अथवा ह.भ.र.सि., प.वि., 5। 1
22. मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च सम्भोगस्यादिकारणम्।
मधुरापरपर्याया प्रियताऽऽख्योदिता रतिः ॥ —ह.भ.र.सिं., द.वि., 5।27-28
23. अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः। —उ. नी. म., पृ. 5
24. वही पृ. 8
25. उ.नी.म., पृ. 9
26. अत्रेव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः। वही, पृ. 14
27. कृपया संलग्न चार्ट देखिए।
28. उ.नी.म., पृ. 63-64, 67 के आधार पर।
29. उ.नी.म., पृ. 73
30. ह्लादिनी य महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता ॥ —उ.नी.म., पृ. 75-77
31. तास्तु वृन्दावनैश्चर्याः सख्यः पञ्चविधा मताः।
सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन।।
प्रियसख्यश्च परमश्रेष्ठसख्यश्च विश्रुताः। —वही, पृ. 97
32. वही, पृ. 407 से 415 तक।
33. वही, पृ. 265 से 340 उद्दीपन और अनुभाव प्रकरण।
34. वही, व्यभिचारी प्रकरण, पृ. 342 से 388
35. उ.नी.म., पृ. 390-406
36. वही, पृ. 416-417
37. वही, पृ. 418-424
38. वही, पृ. 424-426
39. (क) वही, पृ. 428-431
(ख) मधुसूदन सरस्वती ने भी अपने भक्ति रसायन में चित्त की द्रुति तथा धारावाहिकता को अत्यधिक महत्त्व दिया है।
40. वही, पृ. 432
41. उ.नी.म., पृ. 437
42. वही, पृ. 438
43. वही, पृ. 440
44. वही, पृ. 443
45. वही, पृ. 446-451
46. वही, पृ. 454
47. उ.नी.म., पृ. 459-460

48. वही, पृ. 462
49. वही, पृ. 472
50. वही, पृ. 473
51. वही, पृ. 477, एवं चै.चै., म.ली., परि. 23, पृ. 290
52. वही, पृ. 477
53. उ.नी.म., पृ. 499
54. वही, पृ. 502
55. वही, (आनन्द चन्द्रिका टीका), पृ. 503
56. वही, पृ. 506-508
57. वही, पृ. 548
58. उ.नी.म., पृ. 571-576
59. वही, पृ. 591-592
60. वही, अन्तिम छन्द, पृ. 607
61. चै.चै., आ.ली. परि. 4, पृ. 28 (पूर्णचन्द्र शील, कलकत्ता)।
62. वही, पृ. 28
63. वही, म.ली., परि. 8, पृ. 152
64. वही, आ.ली., परि. 4, पृ. 28
65. वही, म.ली., परि. 8, पृ. 152
66. सा तु भगवन्तमेव कामयते इति परमसुमनीषीत्येवेति भावः। —भक्ति सन्दर्भ, पृ. 657
67. सेरन्ध्र्यास्तु भावो रिरंसा-प्रायत्वेन श्री गोपीनामिव केवलं-तत्-तात्पर्य्याभावात्तदपेक्षयैव निन्द्यते, न तु स्वरूपतः। —वही, पृ. 656 (षट् सन्दर्भ)।
68. लीला त्वत्र स्वभावतैव सिद्धा। —भक्ति सन्दर्भ, पृ. 657
69. वही, पृ. 658
70. फ्रायड : ए जनरल इण्ट्रोडक्शन टु साइको-एनालिसिस का बीसवाँ व्याख्यान।
71. ए.एफ. शैण्ड : फाउण्डेशन्स ऑफ कैरेक्टर, पृ. 50। (द्वितीय संस्करण, 1920)
72. डॉ. वी. राघवन के अनुसार नाट्यशास्त्र के वे अंश प्रक्षिप्त हैं जिनमें शान्त सहित नौ रसों का उल्लेख हुआ है। —नम्बर ऑफ रसाज, पृ. 15-16।
73. नाट्यशास्त्र (काव्यमाला संस्करण) 6।15-17
74. दण्डी ने भक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया था तथा भक्ति और प्रीति को पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किया है। —काव्यादर्श, 2। 277
75. अभिनव भारती, 1।6।340 (गायकवाड़ सीरीज)।
76. दश रूपक, 4।83 (साहित्य निकेतन, कानपुर, संस्करण)।
77. काव्य प्रकाश, 4।35 (चौखम्भा प्रकाशन)।
78. संगीत रत्नाकर, पृ. 839
79. रस गंगाधर, पृ. 45-46
80. कवि कर्णपूर की अलंकार कौस्तुभ में प्रेमन् की धारणा कुछ विचित्र-सी है। वैष्णव आलंकारिकों के मधुर रस को उन्होंने यह संज्ञा दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला जब सखी भाव से सेव्य हो गयी, तब इस रस की कल्पना की आवश्यकता पड़ी। इसी कारण इसे अंगीरस भी उन्होंने स्वीकार किया है। कर्णपूर के अनुसार प्रेमन् अंगी है और शृंगार अंग बल्कि अन्य सारे रस इस रस समुद्र में उठने वाली तरंगों के समान हैं। —अलंकार कौस्तुभ, पृ. 148

81. श्रीमद्भागवत, 1 ।1 ।3

82. ना.भ.सू., संख्या 2, 3

83. वही, 25

84. शा.भ. सू., 6

85. भक्ति रसायन, 1 ।1

86. भ.र. पृ. 13 (टिप्पणी भाग)।

87. वही, प्रथम उल्लास, पृ. 74-78

88. ह.भ.र.सि., द.वि. 1 ।5-7

89. एस.के.दे : वै.फे.मू., पृ. 125 —जनरल प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, कलकत्ता, संस्करण 1942

90. एस.के.देः वै.फे.मू., पृ. 304-309 के आधार पर।

91. आलोचना अंक 9, पृ. 86-87

92. श्री ललिता चरण गोस्वामी : गोस्वामी हित हरिवंश : सम्प्रदाय और साहित्य।

93. हरिव्यास देव को लोग 16वीं शती के पूर्वार्द्ध तक खींचते हैं, पर श्री गोपालदास शर्मा के मत (हरिदासी सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य : अ. प्र.) से हम सहमत हैं कि उनका समय 17वीं शती का पूर्वार्द्ध है। सिद्धान्त रत्नांजलि का रस-विवेचन भी उन्हें परवर्ती ही सिद्ध करता है। यदि वे पूर्ववर्ती होते तो रूप गोस्वामी निश्चित रूप से उनको प्रमाणरूप में उद्धृत करते। सिद्धान्त रत्नांजलि के श्लोक के रस वेदिभिः भी हमें गौड़ीय वैष्णवगण मालूम पड़ते हैं।

94. तहाँ न नायक नायका रस करवावत केलि

—ध्रुवदास : रति मंजरी लीला, (बयालीस लीला, पृ. 194)।

95. माई री सहज जोरी प्रकट भई रम्भ की गौर श्याम घन दामिनि जैसे,
प्रथमहुँ हुती अबहू आगेहूँ रहिहें न टरिहें तैसे।
अंग अंग की उजराई सुघराई चतुराई सुन्दरता ऐसे।
श्री हरिदास के स्वामो स्यामी, कुंजविहारी समवैसे जैसे। —स्वा. हरिदासः केलिमाल, पद 1

तथा

मेरे नित्य किशोर अजन्मा, विहरत एक प्रान द्वै तन माँ। —विहारिणिदास : चौबोला 142

96. प्रेम मदन के सिन्धु द्वै वहत रहत दिन हीय।
कगहुँ बिबस चेतत कबहुं छिन-छिन प्यारी पीय।
छिन-छिन प्यारी पीय मधुर रस विलसत ऐसे।
सूक्ष्म प्रेम की बात कहो कोउ वरने कैसे।

—ध्रुवदास : सिद्धान्त विचारलीला, बयालीस लीला, पृ. 49

97. ध्रुवदास : सिद्धान्त विचार लीला (ब. ली., पृ. 43-44)।

98. वही, पृ. 45

99. वही, पृ. 47

100. जब प्रेम रूपी सिन्धु के तरंग छावै तब विजस होइ।
जब मदन रूपी सिन्धु के तरंग छावे तब चैतन्य होहि।
कबहूँ खिलारी खेल वस, कबहू खिलारी बस खेल। वही, पृ. 49

101. जहाँ काम तहं प्रेम है, जहाँ प्रेम तहं काम।
इन दोउन की सन्धि में विलसत श्यामाश्याम।

—वही, पृ. 49 ललित किशोरी देव, साखी सं. 869

102. जोई जोई प्यारो करै सोई सोई भावै।

भावै मोहि जोई सोई सोई करैं प्यारे।
मोकों तो भांवती ठौर प्यारे के नैनिन में।
प्यारो भयो चाहै मेरे नैननि के तारे।
मेरे तन मन प्राण हूँ ते प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसों हारे। —श्रीहित हरिवंश : हित चौरासी, पद 1

103. ताहि सुहाइ न ठकुरई बड़ो प्रताप विस्तार। —बिहारिणिदास : रस के दोहे, 142
104. अंसकला सब अवतारिन अवतारी भरतार। —बिहारिणिदास सिद्धान्त के पद, 141
105. श्रीकृष्ण चरित्र घात्र भूवन बहुभक्ति भेद विस्तार, वही
106. एक समैं विहरत बन मांही, कियो मतो विवि दुन की छांही।
यह निज रस कीजै विस्तारा, रसिक जननि को अति प्यारा।
रस निधि लीला ब्रज प्रगटाई, रसिक जननि कौ अति सुखदाई।
—ध्रुवदास : ब्रजलीला, ब. ली., पृ. 256
107. ध्रुवदास, सिद्धान्त विचारलीला, ब. ली., पृ. 50।
108. मिलैं तो जिय व्याकुल रहें, बिछुरे रह्यो न जाइ,
जहाँ अपुनपा भूलई, ता सुख सुखै समाई।। —स्वा. विहारिणिदास की साखी।
109. परम नेह की बात यह मो पै कही न जाय।
तनु मन सों प्यारी मिती तऊ लाल अकुलाय। —ललित किशोरी देव : साखी 140
110. ललित किशोरी देव : साखी, 914
111. प्रेम के खिलौना दोऊ, खेलत हैं प्रेम खेल।
प्रेम फूल फूलनि सों प्रेम सेज रची है।
प्रेम ही की चितवनि, मुसुकनि प्रेम ही की।
प्रेम रंगी बाते करें, प्रेम केहिल मची है।
—ध्रुवदास (ललिता चरण गोस्वामी द्वारा गो. हित हरिवंश : सिद्धान्त और साहित्य में, पृ. 182
112. ध्रुवदास : सिद्धान्त विचार लीला, ब. ली., पृ. 45
113. प्रस्तुत लेखक को गौतमीय तन्त्र की उपलब्ध प्रति में यह कथन प्राप्त नहीं हो सका है।
114. ध्रुवदास : अनुरागलता लीला, बयालीस लीला, पृ. 240-241
115. ललितकिशोरी देव : सिद्धान्त की साखी 773 एवं 841
116. तरुन तरंगिनि में परे उरझे वार सिवार।
पैरहिं साहस सषी के अति आवर्त विहार।। 129
श्रमहि निवारत कर धरत, कबहूँ लावत तीर।
श्रीबिहारिनिदास हुलास मन देत अधीरन पीर। 130 —बिहारिणिदास : सिद्धान्त दोहा।
117. दिव्य केलि कल जगल विराजैं।
लीलारस सखियन हित काजैं। —गो. हितरूपलाल : रस रत्नाकर, हस्तलिखित प्रति।
118. ध्रुवदास : सिद्धान्त विचार लीला, ब. ली., पृ. 45
119. वही, प्रेमलता लीला, वही 245
120. जब रसिकन पै रस सुनि पायो, रसै समुझि रसिकन में आयो।
रस स्वादी रस स्वाद बतायो, स्वाद पाइ रस गाइ बताओ।
—स्वा. बिहारिणिदास : रस के चौबोला, सं. 15
121. रसिक अनन्यनि कृपा मनाऊँ, वृन्दावन रस कछु इक गाऊं,
—ध्रुवदास : रस मुक्तावली, ब. ली., पृ. 147

122. ध्रुवदासः ब. ली., पृ. 49
123. वही, पृ. 45
124. वही, रस मुक्तावली लीला, पृ. 152
125. सखी भाव तब जानिये, पुरस भाव मिट जाई। –स्वा. रसिकदेव : सिद्धान्त के दोहा, 13
126. जौं तन रहे तो प्रिया भजै, तन छूटे प्रिया संग,
     दोउ विधि आनन्द अति निरखैं केलि अमंग। –ललित किशोरी देव : साखी 323
127. रसिक अनन्य हरिदास जू, गायो नित्य विहार,
     सेवा हू में दूरि किय विधि निषेध जंजार। –ध्रुवदास : भक्तनामावली लीला, पृ. 28
128. गोपालदत्त शर्मा : स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उनका वाणी साहित्य, पृ. 441 (अप्र. प्र.)।
129. सेवक वाणी, पृ. 82
130. "भक्ति में कहा जनेऊ जाति"। –हरिराम व्यास : पद 104 (भक्त कविव्यास जी, पृ. 217)।
131. विधि निषेध के बन्ध हैं और धर्म मृग मानि।
     केहरि पुनि निर्बन्ध है, भगवत धर्महि जान। –ध्रुवदास : भजन सन्त लीला, ब. ली., पृ. 72
132. गहि केवल ऐश्वर्य करि, माधुरि रीति में अंक।
     तेहिं न उपासक मानिये, महारुक्ष मति रंक।।
     गहि केवल माधुर्य पुनि, धरैं न चित्त ऐश्वर्य।
     रसिक ताहि नहि मानिये, राम उपासक वर्य।।
     –जनक राज किशोरी शरण : रसिक अली। अनन्यतरंगिनी, पृ. 3
133. रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय, पृ. 148

चतुर्थ अध्याय

प्रेमाभक्ति का साधना-दर्शन

लीला-तत्त्व का परिप्रेक्ष्य

पीछे हम ब्रज-लीला एवं वृन्दावन अथवा निकुंज-लीला का अनेक बार उल्लेख कर चुके हैं। ब्रज एवं निकुंज-लीलाओं के पीछे स्थित धारणाओं का मुख्य अन्तर लीलाओं के इन स्वरूपों को लेकर हुआ है। मध्ययुग के वैष्णव-साहित्य की दो मुख्य विशेषताएँ कही जाती हैं—लीलावाद तथा मधुर रस की प्रधानता। यों तो हरिलीला-तत्त्व की परम्परा विद्वानों ने वेदों से ढूँढ़ निकाली है[1] पर उसके ऐतिहासिक क्रम-विकास को दिखाना हमारा उद्दिष्ट कार्य नहीं है। इस ऐतिहासिक क्रम-विकास में हमारे लिए महत्त्वपूर्ण बात है कि लीला सृष्टि-क्रिया से आगे बढ़कर स्वरूप-शक्ति से सम्बन्धित हो जाती है। प्रारम्भ में सृष्टि-तत्त्व की व्याख्या के रूप में ही लीला तत्त्व सम्मुख आता है, मूल में इसके शक्ति-तत्त्व था। शक्ति-तत्त्व मातृसत्ताक प्रथा का प्रदेय है धर्म-साधना को। शाक्त ग्रन्थों में विश्वव्यापिनी आद्याशक्ति को योनिरूपा कहा गया है। पाञ्चरात्रों में भी परमात्म धर्मधर्मी लक्ष्मी-रूपा शक्ति को जगत् की योनि सम्बोधित किया गया है।[2] इसी पाञ्चरात्र संहिता में भगवान पुरुषोत्तम को 'लीलारस समुत्सुक' भी बताया गया है।[3] इस प्रकार स्त्री-पुरुष-मिथुन के प्रतीक-रूप में यह कल्पना आ जाती है। शैव दर्शनों में भी 'प्रसरच्छक्तिकल्लोलजगल्लहरिकेलये' कहकर धारामयी शक्ति के कल्लोल के अन्दर से ही संसाररूपी लहरी की सम्भूति मानी है। इस जगत्-लहरी को लेकर ही परमेश्वर केलि या लीला करते हैं। इस प्रकार लीला का क्षेत्र बहिः सृष्टि तक रहा, पर श्री वैष्णवों ने लीलावाद को ब्रह्म की स्वरूपभूता शक्ति के साथ सम्बद्ध कर दिया। पद्म पुराण में भी इस सम्बन्ध में एक अस्पष्ट संकेत प्राप्त होता है जिसमें परव्योम (विष्णु के स्वधाम) को भोगार्थ एवं निखिल जगत्-लीला के लिए कहा गया है। भोग में ही उनकी नित्य स्थिति भी स्वीकार की है। भोग और लीला दोनों ही उनकी शक्तिमत्ता पर आधृत है[4] पर अभी भोग शब्द लीला से अलग बना हुआ है। श्री वैष्णवों ने उसे पूरी तरह स्वरूप-शक्ति के

साथ सम्बन्धित कर दिया। यामुनाचार्य ने जिस भाव-विभोर कण्ठ से लीला-गान किया है, परवर्ती वैष्णव काव्य की रस-विदग्ध लीलाएँ दार्शनिक दृष्टि से भी ठीक उसकी परम्परा में ज्ञात होती हैं—

अपूर्वनानारसभावनिर्भर-प्रबुद्धया मुग्धविदग्धलीलया।
क्षणांबुवत् क्षिप्तपरादिकालया प्रहर्षयेत महिषीं महाभुजाम् ॥[5]

अर्थात् परादिकाल जहाँ क्षण के समान नगण्य हैं, ऐसी अपूर्व नाना रस-भाव निर्भर, प्रबुद्ध, मुग्ध और विदग्ध लीला द्वारा ही विशाल भुज (पुरुषोत्तम) अपनी वल्लभा को हर्षयुक्त कर रहे हैं।

इस उद्धरण में निर्भ्रान्त रूप से लीला स्वरूप-शक्ति के साथ सम्बन्धित ही नहीं होती, मधुरता की ओर भी प्रयाण करती है। इसी से मिलाकर 12वीं शती में रचित लीलाशुक बिल्वमंगल के कृष्णकर्णामृत का निम्न श्लोक पढ़ा जाये तो ज्ञात होगा कि यामुनाचार्य में जो लीला वर्णनमात्र है, वह भक्त का प्रयोजन बन जाती है। श्लोक यों हैं—

यानि त्वच्चरितामृतानि रसनालेह्यानि धन्यात्मनां
ये वा शैशवचापलव्यतिकरा राधावरोधोन्मुखाः।
ये वा भावितवेणुगीतगतयो लीलामुखाम्भोरुहे
धारावाहिकया वहन्तु हृदये तान्येव तान्येव मे ॥[6]

अर्थात् तुम्हारा जो चरितामृत धन्यात्माओं द्वारा आस्वादन योग्य है तथा शैशव एवं चपलता से उत्पन्न राधा के अन्तःपुर (में केलि करने के लिए) की ओर उन्मुख जो क्रीड़ाएँ हैं अथवा तुम्हारे मुखारविन्द पर जो भावयुक्त वेणुगीत गति लीलाएँ हैं, वे ही धारावाहिक रूप से निरन्तर मेरे हृदय में बहती रहें।

इस प्रकार स्वरूप-शक्ति के साथ की जाने वाली ये लीलाएँ प्रधान ही नहीं हो उठती हैं, उनका आस्वादन परमपुरुषार्थ भी बन जाता है। लीला-दर्शन, लीला-आस्वादन एवं लीला-गान ही भक्तों का ध्येय बन जाता है। सहस्रों कवियों, भक्तों ने लक्ष-लक्ष पदों में नाना भाव से इसी को उपलब्ध करना चाहा है। स्वयं जयदेव ने भी दूर से ही इस लीला को गाया है।[7] बहिर्लीला का एक प्रयोजन था—सृष्टि-रचना पर इस स्वरूप-लीला का कोई प्रयोजन नहीं रहा। वल्लभाचार्य ने स्पष्ट कर दिया—"नहि लीलायाः किंचित् प्रयोजनमस्ति, लीला एवं प्रयोजनत्वात्।"[8] इस दृष्टिकोण की ही तर्कसिद्ध परिणति है जब यह कहा गया कि लीला-आस्वादन ही अपने आपमें चरम ध्येय है, मुक्ति या भगवत्प्राप्ति भी नहीं। मध्ययुग का सारा वैष्णव साहित्य इस दृष्टिभंगी से पूरी तरह अनुरंजित है। यहीं पर यह याद कर लेना भी अनुचित न होगा कि साहित्य की प्रेमदेवी राधा जब वैष्णव तत्त्व-दर्शन से सम्पृक्त हुई तो वे साक्षात् भगवान की स्वरूप-शक्ति की श्रेष्ठतमवृत्ति ह्लादिनी शक्ति की सारभूत विग्रह मान ली गयीं। उन पर आधारित सारा प्रेम-काव्य इस नव-तत्त्वदर्शन के आलोक में एक

नये अर्थ से भर ही नहीं उठा, उससे आगे के साहित्य के लिए जो राजपथ उद्घाटित हुआ, वह 19वीं शताब्दी तक बराबर जनाकुल बना रहा।

पद्मपुराण के पीछे उद्धृत अंश में परव्योम को ही भोगार्थ कहकर उसके धामत्त्व का संकेत किया था। परन्तु ऐतिहासिक, पौराणिक, साहित्यिक एवं दार्शनिक अनेक उपादान आदि आ जुड़े तो ब्रज, मथुरा, द्वारका, वृन्दावन, गोलोक, श्वेतद्वीप, साकेत-अयोध्या आदि तत्स्थानीय बन गये। इसी क्रम में परिकर, उनके नाम-रूप-सेवा, उपास्य एवं परिकर के मध्य विविध सम्बन्ध आदि भी सम्मिलित एवं विवेचित होते गये। परवर्ती वैष्णवों के विविध सम्प्रदायों के अन्तर मुख्यतः इन विस्तृतियों को लेकर ही हैं। परात्पर-तत्त्व की लीला का दर्शन, ज्ञान एवं आस्वादन सबका काम्य है (निर्गुणियों एवं सूफ़ियों की चर्चा हम अलग से करेंगे)। इस सम्बन्ध में हमें तनिक भी मत-वैभिन्य प्राप्त नहीं होता। सभी इस लीला की मुख्य प्रवृत्ति प्रेम, रति या भक्ति का जयगान करते हैं, पर इसके बाद अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं—युगल का स्वरूप क्या है? उनमें से प्रत्येक का अलग-अलग स्वरूप एवं गुण तथा पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? इन दोनों में प्रधान कौन है? भक्त पर अनुग्रह किसका होता है? फिर इनकी लीलाएँ कौन सी हैं? शास्त्र-पुराण-वर्णित या और कोई? ये लीलाएँ कहाँ पर होती हैं तथा उस धाम का स्वरूप, गुण एवं प्रभाव क्या है? इस लीला में भाग लेने वाले परिकर में कौन-कौन हैं? उनके नाम, रूप, गुण, क्रिया एवं सम्बन्ध क्या हैं? साधक के लिए इस सारे विस्तार में क्या करणीय है? ये ही कुछ प्रश्न हैं जिन पर विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में हमें मत-वैभिन्य दिखाई पड़ता है और जिनके आधार पर प्रत्येक अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा करता है। आगे हम इन्हीं प्रश्नों की चर्चा करते हुए इन विभिन्नताओं, पृथक्तासूचक तत्त्वों अथवा समानताओं का रूप स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

चैतन्य-सम्प्रदाय में कृष्ण, राधा, वृन्दावन, गोपी एवं सखी-सम्बन्धी धारणाओं का सैद्धान्तिक विवेचन

उपास्य, धाम एवं परिकर का स्वरूप

उत्तर मध्ययुग की समस्त हिन्दी काव्य-धारा राम और कृष्ण इन दो नामों के चतुर्दिक ही प्रवाहित है। इन दोनों नामों में इतिहास एवं तत्त्वदर्शन का कुछ ऐसा विचित्र मेल हो गया है कि इनका व्यक्तित्व अभूतपूर्व आकर्षण से भर उठा है। यद्यपि हमारे आलोच्य काल तक आते-आते इन देवताओं का रूप बहुत कुछ स्थिर हो चुका था, परन्तु फिर भी नयी-नयी लीलाएँ कल्पित होती रहीं, नये सन्दर्भ में वे प्रतिष्ठित किये जाते रहे। सारांश यह कि संवत् 1500 से सं. 900 वि. तक के काल में उनका रूप

निरन्तर नवनवायमान हो रहा। उनकी रूप-माधुरी, उनकी लीला, उनका विलास, उनका अनुग्रह अप्रतिरोध्य गति से हिन्दी प्रदेश के जनमानस में संचरण करता रहा। वे कृष्ण बने, गोपीवल्लभ हुए, राधा-अधर-सुधा-लम्पट हुए, कुंज-बिहारी हुए, भक्त पर सहज अनुकम्पा, का वारि बरसाने वाले वारिद भी बने। मथुराधीश, द्वारकापति, रुक्मिणीकान्त, गोपसखा, नन्दपुत्र, यशोदा-सुवन आदि नाना प्रकार के स्वरूप भी उनके हुए। राम शार्ङ्गपाणि जो धरा का भार हटाने आये थे तथा गीता में जिनके लिए कहा गया था—रामः शस्त्रभृतामहं, वे भी तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम बने; पर वहीं तक न रुककर और विकास होता है। इस विकास में परिकर द्वारा नाना भाव से सेवित और उपास्य तो है ही, साथ ही—"जानक्या सह सम्प्रीतः क्रीडारसविलग्नः" तथा "महारासरसोल्लासी विलासी सर्वदेहिनाम्" भी हो गये। आगे विविध सम्प्रदायों की अवधारणाओं के अनुसार इन लीला-विग्रहों का रूप स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में कृष्ण, उनके धाम एवं परिकर-सम्बन्धी धारणा

गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय ने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म माना है। ब्रह्म को साधारणतया निर्विशेष माना जाता है, पर इस सम्प्रदाय में वे सविशेष एवं सशक्तिक हैं। भागवत के श्लोक—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शिष्यते ॥ 1।2।11

में कहे गये ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान इन तीनों शब्दों में भगवान शब्द को ही स्वीकार करके सर्वोच्च माना गया। दार्शनिक दृष्टि से शक्ति-प्रकाश के प्रकार-भेद और तारतम्य को लेकर एक ही अद्वय-अखण्ड परमतत्त्व की तीन अवस्थाएँ ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान हैं। पर भगवान में सभी शक्तियाँ अपने सर्वश्रेष्ट रूप में रहती हैं, इसलिए उनको इस मत में श्रेष्ठतम माना गया है।[9] इसके पश्चात् भागवत के आधार पर कृष्ण को स्वयं भगवान माना गया।[10] इस प्रकार कृष्ण ही अवतारी हैं, शेष अवतार हैं।[11] पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार सब उन्हीं के प्रकाश हैं। अद्वय-ज्ञान और तत्त्ववस्तु कृष्ण ही हैं[12] तथा कृष्णदास कविराज के अनुसार—

कृष्णा एक सर्वाश्रय कृष्ण सर्वधाम।
कृष्णेर शरीरे सर्व विश्वेर विश्राम ॥[13]

वे सर्वकारण कारण हैं।[14] वे विरुद्ध धर्माश्रय हैं[15] यों तो भगवत्-तत्त्व की अनन्त शक्तियाँ हैं पर इनमें तीन प्रधान हैं—स्वरूप-शक्ति, माया-शक्ति और जीव-शक्ति। इन्हें अन्तरंगा, बहिरंगा और तटस्था शक्ति भी कहते हैं।[16] अन्तरंगा या स्वरूप-शक्ति सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण का स्वरूप सत्, चित् और आनन्दमय है, अतः यह स्वरूप-शक्ति भी तीन प्रकार की है। आनन्द वंश से उद्‌भूत शक्ति ह्लादिनी और सत् यश से उद्‌भूत शक्ति सन्धिनी और चिर अंश से उद्‌भूत शक्ति संवित कहलाती है।[17] स्वरूप-शक्ति

के इन प्रकारों की चर्चा हम आगे श्री राधा के प्रसंग में करेंगे। वहीं पर हम देखेंगे कि गौड़ीय वैष्णव मतवाद में इनका स्थान कितना महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य है। बहिरंगा या माया-शक्ति है जो जगत् का कारण है तथा तटस्था-शक्ति जीव-शक्ति है जो अनन्त है।[18] इस शक्ति-कल्पना के पीछे विष्णु-पुराण की परा-क्षेत्रज्ञ-अविद्या शक्तियों का कथन विद्यमान है। स्वयं जीव गोस्वामी ने उन्हें प्रमाण के रूप में उद्धृत दिया है (भगवत सन्दर्भ, पृ. 66)। यहीं पर यह भी याद रखना होगा कि ये शक्तियाँ भगवान ही हैं। भगवत्-तत्त्व में स्वरूप-शक्ति एवं माया-शक्ति दोनों का ही योग है—केवल एक नहीं। बहिरंगा-शक्ति के रूप में भी भगवान का ही वैभव प्रकाशित एवं विकीर्ण होता है। इसे शंकर की माया के समान भ्रमात्मक न समझना चाहिए।

इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति भगवान की ही बहिरंगा-शक्ति से बनाकर जगत् को सापेक्ष रूप से सत्य ही नहीं, भगवान की शक्ति का परिणाम भी बना दिया है। वास्तव में सारे वैष्णव सम्प्रदाय परिणामवादी हैं, विवर्तवादी नहीं। जीव-सम्बन्धी इनकी धारणा भी महत्त्वपूर्ण है। जीव न नो अन्तरंगा-शक्ति है, न बहिरंगा। उसमें दोनों सीमा की ओर जाने की क्षमता या प्रवृत्ति होती है—वह दोनों से ही सम्बन्धित है और दोनों से अलग प्रकार से तटस्थ ही नहीं, मध्यस्थ जैसी उसकी स्थिति है।[19] इन शक्तियों के अतिरिक्त भी भगवान की अनन्त शक्तियों की कल्पना की गयी है तथा भगवत्-तत्त्व की नराकार कल्पना में इन शक्तियों को स्त्री रूप में देखा गया है।[20] इस नराकार वैयक्तिक भगवत्-तत्त्व के साथ ही लीला, धाम एवं परिकर की कल्पना न्यायोचित ही है। जीव गोस्वामी ने इनका विस्तृत विवेचन 'भगवत् परमात्म-तत्त्व एवं कृष्ण' सन्दर्भ में किया है, यहाँ हम उस सारी दार्शनिक धार्मिक चर्चा में नहीं पड़ेंगे।

पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि कृष्ण कुछ अजीब अद्भुत हैं। वैष्णव कवि की स्पष्ट घोषणा है कि कृष्ण के जितने भी खेल हैं, उनमें सर्वोत्तम नरलीला है। नरवपु ही उनका स्वरूप है, वे गोपवेशधारी हैं, वेणुकरधारी हैं, नवकिशोर हैं, नटवर हैं और अपने अनुरूप ही नवलीलाएँ करते हैं—

कृष्णेर जतेक खेला, सर्व्वोत्तम नरलीला, नरवपुताहार स्वरूप।
गोपवेशवेणकर, नवकिशोर नटवर, नव लीला हय अनुरूप ॥[21]

भगवत्-तत्त्व की चर्चा करते हुए गौड़ीय वैष्णव दार्शनिकों ने उसे विशिष्ट रूपाकार एवं गुणों वाला पूर्णतम व्यक्तित्व प्रदान किया है। इस व्यक्तित्व-प्रदान का यह स्वाभाविक विकास है कि देवता का एक अपने ही अनुरूप सबको अतिक्रान्त करता हुआ धाम हो, उसका अपना वर्ण एवं प्रसाधन-सज्जा हो तथा अपने सहयोगी (परिकर) हों। यद्यपि यह सत्य है कि वह जीव में भी रहता है एवं जगत् में भी उसकी व्याप्ति है क्योंकि ये सब उसकी शक्तियों के ही अंश हैं, परन्तु माया-शक्ति और जीव-शक्ति का आवास परमात्मा है, न कि साक्षात् भगवान। भगवत्-तत्त्व के

रूप में उसका अपना एक पृथक् धाम, रूप एवं परिकर है। रंग उसका श्याम है एवं आकार के रूप में मानवाकृति की कल्पना है। नाना प्रकार के प्रतीकार्थों वाले उसके आभरण भी गिनाये गये हैं, उन सबकी चर्चा में पड़ना हमारे लिए प्रसंगान्तर होगा।

धाम को परमात्मा की स्वरूपभूत प्रकाशशक्ति कहा गया है।[22] तात्पर्य यह कि भगवान और उनके परिकर का आवास और धाम स्वरूप-शक्ति की ही अभिव्यंजना है। स्वरूप-शक्ति के प्रकाश इस लोक को स्वरूप-शक्ति के ही एक अन्य प्रकाश भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।[23] इस प्रकार धाम भगवान का नित्य और सत्य अंश हो जाता है, भगवतविग्रह के समान ही सत्य होते हुए भी यह उस साधक के लिए ही प्रकट होता है जो द्वारका, मथुरा, वृन्दावन आदि भौमिक स्थानों में नित्य होने वाली लीला की धारणा करता है।[24]

यही बात भगवान के परिकर के लिए भी कही जा सकती है। परिकर भी ह्लादिनी शक्ति का विलास है।[25] परिकर उनके माधुर्य का उपभोग करता है, न कि ब्रह्मत्व का। यह धारणा महत्त्वपूर्ण है। इसी से सम्बन्धित गोपी भाव, सखी भाव आदि की साधनाएँ हैं। इस सम्बन्ध में हम आगे अधिक विस्तार से विवेचना करेंगे। जीव गोस्वामी ने 'भगवत् सन्दर्भ' के अन्त में अपने सारे भगवत्-तत्त्व विवेचन को संक्षेप में अत्यन्त सारगर्भित शब्दों में उपस्थित किया है। इसमें कहा गया है कि : "जो सच्चिदानन्दैकरूप, स्वरूपभूत-अचिन्त्यविचित्र अनन्त-शक्तियुक्त हैं, जो धर्म होकर भी धर्मी हैं, निर्भेद होकर भी भेदयुक्त हैं, अरूप होकर भी रूपी हैं, व्यापक होकर भी परिच्छिन्न है, जो परस्पर विरोधी अनन्त गुणों के निधि हैं, जो स्थूल-सूक्ष्म-विलक्षण स्वप्रकाशखण्ड स्वरूपभूत श्रीविग्रह हैं, स्वानुरूपा स्वशक्ति को आविर्भाविलक्षणा लक्ष्मी के द्वारा जिनका वामांश रंजित है, जो निजधाम में स्वप्रभाविशेषाकार-रूप-परिच्छद और परिकर-सहित विराजमान है, जो आत्माराम मुनिगणों के चित्त को भी स्वरूप शक्ति के विलासरूप अद्भुत गुणलीलादि द्वारा लीलारस से चमत्कृत करते रहते हैं जो स्वयं सामान्य प्रकाशाकार में ब्रह्मतत्त्व के रूप में अवस्थित है, जो जीवाख्य तटस्था-शक्ति के और जगत्-प्रपंच की मूलीभूता माया-शक्ति के आश्रय है, वही भगवान है।"[26]

भगवान सम्बन्धी इन दार्शनिक स्थापनाओं की रूपरेखा देने का तात्पर्य यहाँ पर मात्र इतना है कि आगे के विवेचन के लिए अपेक्षित परिप्रेक्ष्य बना रहे। जब कृष्ण को 'स्वयं भगवान' कहा गया तो उसका अर्थ स्पष्ट रूप से यह है कि कृष्ण में वे समस्त विभूतियाँ, नित्यत्व विशिष्टताएँ स्वीकार की जायें जो भगवत्-तत्त्व के बारे में कही जा चुकी हैं। इसी स्थल पर गौड़ीय वैष्णवों की महत्त्वपूर्ण देन प्रारम्भ होती है। उन्हें सारी कृष्णलीला की दार्शनिक व्याख्या करनी थी, उसे शास्त्र एवं धर्म की मान्यता देनी थी। ऐसा लगता है कि कृष्ण-लीला-वर्णन के क्षेत्र में भी दो स्पष्ट परम्पराएँ थीं जिनका समझौता एवं समन्वय उन्हें करना पड़ा है। एक परम्परा भागवत पुराण की थी जिसमें गोपियों को सर्वश्रेष्ठ भक्त मान लिया गया था, नारद

एवं शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र इसी परम्परा को दृढ़ करते हैं। दूसरी परम्परा लौकिक (सेकुलर) साहित्य की थी जो राधा को कृष्ण की प्रेमिका के रूप में उपस्थित कर रही थी। 12वीं शताब्दी तक आते-आते इस दूसरी परम्परा को धर्म एवं तत्त्व-दर्शन के भीतर स्थान मिलता प्रतीत होता है। इस प्रकार एक ओर गोपियाँ प्रेम की आदर्श थीं जिन्होंने अपना सब कुछ कृष्ण को अर्पण कर दिया था और दूसरी ओर राधा थीं जो प्रेम की सर्वश्रेष्ठ प्रतीक थीं। भक्ति के क्षेत्र में कान्ता भाव के ये दो आदर्श सामने थे। पर भागवत पुराण में गोपी भाव को ही स्वीकार किया गया। यहीं पर एक प्रश्न उठता है कि भागवतकार ने राधा नाम क्यों नहीं अपनाया। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि या तो भागवतकार को राधा नाम ज्ञात नहीं था या वह राधा-भाव का विरोधी था। पर इतना तो 'अनया राधितो नूनम्' (10।30।24) वाले श्लोक से लगता ही है कि एक कृष्णप्रिया गोपी से वह परिचित है, भले ही उसका उपयोग गर्वहरण के नैतिक उपदेश के लिए किया गया हो।

भागवत के पहले के विष्णुपुराण[27] और खिल हरिवंश में भी एक विशेषप्रिया गोपी का उल्लेख मिलता है, अतः इस गोपी से भागवतकार यदि परिचित था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त राधा-कृष्ण की प्रेमगीतियों की परम्परा हाल की 'गाहा सतसई' से लगातार प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध होती है। भागवतकार जैसा सिद्धवाक् साहित्यकार इस परम्परा से अपरिचित रहा हो, यह भी स्वीकार करने के मन नहीं करता। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत के तत्त्व-दर्शन के बहुत अनुरूप राधा नहीं पड़ती थीं। गोपियाँ तो जीव की प्रतीक हैं, जो सर्वस्व अर्पित कर देती है; भक्त स्थानीया हैं जो निस्संकोच निर्विशेष भाव से कृष्णशरणापन्न हो जाती हैं पर राधा का स्वरूप परम्परा से ऐसा न था। वे कुछ बराबर की हकदार थीं। 'गीत गोविन्द' में हम स्पष्ट देखते हैं (इस लौकिक काव्य-परम्परा की सर्वोत्तम परिरगति इसमें ही हुई है) कि राधा ही कृष्ण के विरह में व्याकुल नहीं होतीं, कृष्ण भी राधा के अभाव में विह्वल दिखाई पड़ते हैं। ऐसा पात्र भागवत पुराण की प्रतीक-योजना के बहुत अनुकूल नहीं प्रतीत होता। शरदरास एवं वसन्तराम की जिन पृथक् परम्पराओं का अनुमान आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लगाया है,[28] सम्भव है कि वे गोपी भाव एवं राधाभाव अथवा भागवत-प्रेम-प्रतीकवाद एवं लौकिक श्रृंगारिक-भावनामूलक प्रेम की परम्पराओं से सम्बन्धित रही हों। गौड़ीय वैष्णव दार्शनिकों ने इन दोनों परम्पराओं एवं आदर्शों का अत्यन्त निपुण भाव से धर्म-दर्शन के स्तर पर सामंजस्य किया। इस सामंजस्य से राधा-कृष्ण लीलागान की परम्परा को अत्यधिक बल मिला, यही नहीं एतत्सम्बन्धी तत्त्व-विवेचना ने पूरे प्रेमाभक्ति के साहित्य के मूल की दार्शनिक आधार-भूमि का कार्य किया। ऊपर के निर्माणशिल्प में कुछ कंगूरे या जालियाँ अथवा बाह्य सज्जा में भले ही कुछ अन्तर हो, पर मूलाधार वही रहा।

गौड़ीय वैष्णवों के सामने एक दूसरी समस्या और भी थी, "गौड़ीय गोस्वामियों

के आविर्भाव के बहुत पहले ही वृन्दावन, मथुरा, द्वारका में श्रीकृष्ण की विचित्र लीला काव्य-पुराणादि में बहुप्रकार से पल्लवित हो उठी थी। 16वीं शताब्दी के पहले राधा की कहानी भी लोकमानस का आकर्षण बन चुकी थी। वृन्दावन के गोस्वामियों को जब राधा-कृष्ण-तत्त्व की व्याख्या करनी पड़ी तो श्रीकृष्ण की विचित्र लीला से सम्बन्धित उपाख्यानों को उन्हें लेना पड़ा और उनके मूल-सिद्धान्त से संगति रखकर व्याख्या करनी पड़ी।"[29] अस्तु, ब्रज, मथुरा, द्वारका आदि विविध स्थानों पर फैली विविध प्रेम-प्रसंगों को कल्पित करने वाली उस अनन्त वैचित्य वाली लीला की भी चूल अपने सिद्धान्त के साथ उन्हें मिलानी थी। इन गौड़ीय तत्त्व-विवेचकों ने इस समस्या का भी सामना अपनी प्रतिभा के बल पर किया। बल्कि कहना यों चाहिए कि दोनों ही समस्याओं का समाधान उन्होंने एक ही स्तर पर किया। आगे हम इसी की चर्चा कर रहे हैं।

यह सारा दुष्कर-सा प्रतीत होने वाला कार्य, वास्तव में भगवान की शक्ति-कल्पना पर आधारित है। प्रमुख शक्तियों की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं तथा यह भी कह चुके हैं कि एक ही परमतत्त्व शक्ति की वैचित्री एवं स्फुरणा के आधार पर ही ब्रह्म, परमात्मा या भगवान कहा जाता है। ब्रह्म में शक्ति का अस्तित्व या लीलावैचित्री का अनुभव नहीं होता, परमात्मा में जीव-शक्ति एवं माया-तत्त्व से प्रत्यक्ष्य सम्बन्ध होता है परन्तु भगवान-तत्त्व में इन तटस्थ एवं बहिरंग शक्तियों का मूल आश्रयत्व तो रहता ही है, साथ ही स्वरूप-शक्ति के साथ प्रत्यक्ष लीला-मग्नता भी विद्यमान रहती है। इस प्रकार भगवान लीलानन्दमय एवं महैश्वर्यशाली पुरुषोत्तम सिद्ध होते हैं।[30]

भगवत्-तत्त्व के प्रकटीकरण की एक और क्रम-पद्धति भी इस सम्प्रदाय में स्वीकार की जाती है। शक्ति के त्रिधा भेद के स्थान पर प्रकटीकरण की चार भूमिकाएँ भी मानी गयी हैं। प्रथम तो सदा स्वरूप में अवस्थान, श्रीकृष्ण परम तत्त्व के ऐसे ही प्रथम अवस्थान हैं। दूसरी भूमिका तद्रूपवैभव में अवस्थान की है। भगवान कृष्ण के अवतारादि शुद्ध सत्वयुक्त वैकुण्ठादि धाम एवं धाम के नित्य परिकरगण इस द्वितीय भूमिका के ही प्रकाशन हैं। यह दोनों ही भूमिकाएँ स्वरूप-शक्ति से सम्बन्धित हैं। तटस्था-शक्ति द्वारा परमतत्त्व के अवस्थान की तृतीय भूमिका जीव है एवं बहिरंगा-माया-शक्ति द्वारा जगत् के रूप में परिणति इस तत्त्व के अवस्थान की चतुर्थ भूमिका है।[31] यह सब भगवान की अचिन्त्य शक्ति द्वारा सम्भव होता है। अचिन्त्य होने के कारण ही ये शक्तियाँ कल्पना न होकर स्वाभाविकी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वरूप-शक्ति के द्वारा पूर्ण-भगवान, धाम, परिकर आदि के रूप में परमतत्त्व व्यंजित होता है तथा माया-शक्ति के द्वारा जगत्-रचना का कार्य होता है। माया-शक्ति का रूप बहुत कुछ परम्परा प्राप्त ही है, पर उसे परमतत्त्व के ही एक रूप में परमात्मा से सम्बन्धित करके माया-सृष्टि को मिथ्या नहीं सत्य सिद्ध कर दिया गया है।[32] इस बात का उल्लेख हम पीछे भी कर चुके हैं।

गौड़ीय वैष्णवों के शक्ति सिद्धान्त में तटस्था-शक्ति की कल्पना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। साधारणतः जीव को माया-शक्ति के अन्तर्गत माना जाता है पर इस सिद्धान्त में वह तटस्था-शक्ति है जो न पूरी तरह माया-शक्ति के अधीन है और न वह स्वरूप-शक्ति के ही अन्तर्गत है। वह दोनों ओर जा सकता है। माया यदि विमोहित कर ले तो वह विषय-वासनाओं में लिप्त हो जाये पर यदि भक्ति (जो स्वरूप-शक्ति ही है) जाग जाय तो वह स्वरूप-शक्ति की लीला वैचित्री का आनन्दपान करने में समर्थ हो जाता है। माया चूँकि जड़ है, अतः वह इस चेतन-शक्ति को विमोहित कर सकने में सदैव समर्थ नहीं होती। लीला के क्षेत्र में भगवान की स्वरूप-शक्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्वरूप-शक्ति के साथ ही भगवान का विचित्र लीला-विलास चलता है। इसी शक्ति के सन्दर्भ में भगवान में पूर्ण ऐश्वर्य एवं पूर्ण माधुर्य की सत्ता होती है। भगवान कृष्ण सच्चिदानन्द हैं—यानी उनके पूर्णस्वरूप में सत्, चित् और आनन्द ये तीन धर्म होते हैं। इन्हीं तीनों धर्मों का अवलम्बन करके स्वरूप-शक्ति भी त्रिधा हुई—सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी। सन्धिनी-शक्ति सत्ताकारी है, उसके द्वारा भगवान स्वयं सत्तारूप होकर भी सत्ता धारण करते हैं और कराते हैं, इसे सर्वदेशकालद्रव्यादि प्राप्तिकरी भी कहा गया है। संवित् विद्या-शक्ति है—भगवान स्वयं ज्ञानरूप हैं पर इस शक्ति के द्वारा वे स्वयं जानते हैं और दूसरों को भी जनाते हैं। गुणोत्कर्ष से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हुए इनमें सर्वोच्च ह्लादिनी होती है—यह वह शक्ति है जिसके द्वारा स्वयं ह्लादक भगवान ह्लादित होते हैं एवं दूसरे को भी आह्लादित करते हैं।[33]

भगवान की इस मूल-शक्ति के भीतर एक स्वप्रकाशता-लक्षणवृत्ति-विशेष है। इस स्वप्रकाशता-लक्षणवृत्ति-विशेष के द्वारा जब भगवान के स्वरूप या स्वरूप-शक्ति का आविर्भाव होता है तो उसी को विशुद्ध सत्व कहते हैं।[34] भगवान की यह स्वरूप-शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है—एक अपने स्वरूप में और दूसरी अपने स्वरूपविभव में। विशुद्ध-सत्व से ही पूर्ण भगवान श्रीकृष्ण के धाम, परिकर, सेवकादि रूप-वैभव का विस्तार होता है। अपने इस वैभव के साथ ही रसमय श्रीकृष्ण को लीला-वैचित्र्य होता है। जिस प्रकार भगवान नित्य हैं, उसी प्रकार उनका धाम नित्य है, पार्षद, परिकर और सेवक नित्य हैं तथा वहाँ की लीला भी इसीलिए नित्य है। वास्तव में ये सब एक ही हैं, केवल भगवान के प्रकार-विशेष वैचित्र्य को प्रकट करने के लिए हैं।

जीव गोस्वामी ने 'भगवत्-सन्दर्भ' की इन स्थापनाओं को स्पष्ट एवं व्यावहारिक धरातल पर 'श्रीकृष्ण-सन्दर्भ' में उपस्थित किया है। वस्तुतः ऐसा लगता है कि कृष्ण की काव्य-पुराणादि वर्णित लीला उन लोगों के लिए ठोस ऐतिहासिक सत्य थी और उसको ही सब प्रकार से प्रामाणिक एवं सब प्रकार से सार्थक सिद्ध करने के लिए ही पूर्वालोचित तत्त्व विवेचन का सिस्टम खड़ा किया गया था। 'श्रीकृष्ण-सन्दर्भ' में इसीलिए उन्होंने कृष्ण-लीला से सम्बन्धित सभी स्थानों, व्यक्तियों एवं घटनाओं आदि को पूर्व विवेचित भगवत्-लीला का ही प्रकट रूप माना। दोनों प्रकार की

लीलाओं को अभिन्न बताने का प्रयास गौड़ीय तत्त्व-विवेचकों ने बराबर किया। रूप गोस्वामी का प्रयास दार्शनिक-धार्मिक स्तर पर न होकर काव्यशास्त्र के स्तर पर है। जीव गोस्वामी का प्रयास दार्शनिक-धार्मिक स्तर पर हुआ। काव्य के वर्णन प्रसंगों के अन्तर्गत कृष्णदास कविराज ने उसे ही उपलब्ध करना चाहा। नारायण भट्ट, बलदेव विद्याभूषण एवं विश्वनाथ चक्रवर्ती प्रभृति समस्त चैतन्यमतानुयायियों का प्रयास इसी दुष्कर प्रतीत होने वाले कार्य को सुकर बनाना था।

इस कार्य को लीला की प्रकट और अप्रकट[35] विशेषता के माध्यम से सम्पन्न किया गया। श्रीकृष्ण के वपु, लीला, धाम, परिकरादि का स्वरूप प्रकट भी है और अप्रकट भी। इस प्रकट और अप्रकट में कोई भेद नहीं है। दोनों स्वरूपतः एक ही हैं। श्रीकृष्ण की अचिन्त्य-अनन्त शक्ति के द्वारा युगपत यह प्रकट और अप्रकट धाम और लीला विस्तारित होती हैं।

धाम

वैकुण्ठ, गोलोक आदि धामों की चर्चा वैष्णवों के बीच पहले से ही होती आयी है। जीव गोस्वामी ने इन्हीं का चतुरतापूर्वक उपयोग करते हुए पुराणादि के अनुसार ही सृष्टि के लोकों आदि की चर्चा करते हुए वैकुण्ठादि धामों में गोलोक को सर्वोच्च धाम माना।[36] यही गोकुल भी है—तदेव गोलोकं वर्णयित्वा तस्य गोकुलेन सहाभेदमाह।[37] यह गोलोक भी श्रीकृष्ण के समान ही प्रापंचिक और अप्रापंचिक (प्रकृत और अप्रकृत) वस्तुओं में व्याप्त होता है तथा नाना रूपों में व्यक्त होता है।[38] जब भगवान प्रकृत-जगत् में अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं, तभी धाम भी परिकर समेत प्रकट होता है परन्तु भगवान के सदृश ही वे अपने अप्रकृतत्त्व को कभी नहीं खोते, क्योंकि धाम, परिकर आदि भगवान के समान ही शुद्ध-सत्व के प्रकाश होने के करण माया-प्रकृति से परे होते हैं। कृष्ण दोनों ही स्थानों पर विराजमान रहते हैं। वास्तव में जैसे भगवद्-विग्रह की कल्पना नराकार रूप में हुई है, वैसे ही धाम की कल्पना पौराणिक स्थानों के आधार पर ही इस सम्प्रदाय में हुई है। गोलोक (अप्रकट धाम) में वैसे ही नदी, वृक्ष, कुंज, लता, गोपी-गोपी आदि की कल्पना की गयी है, जैसी इस लोक की पौराणिक कथाओं में वर्णित है।[39] दोनों प्रकार के धामों में अन्तर इतना ही है कि लोक-वृन्दावन में कृष्ण प्रकट और अप्रकट दोनों रूपों में रहते हैं पर अप्रकृत गोलोक में केवल अप्रकट रूप में ही विद्यमान हैं। यदि कोई यह कहे कि एक ही साथ धाम की यह दुहरी सत्ता नहीं हो सकती तो जीव गोस्वामी का जवाब होगा कि जैसे एक ही श्री विग्रह बहुत रूपों में प्रकाशित हो सकता है, वैसे ही धाम भी अनेक रूपों में समान गुण और नाम से प्रकाशित हो सकता है। इस प्रकार "गोलोकगोकुलयोरभेदेनैवोक्तम्।"[40]

धाम-सम्बन्धी एकता के प्रतिपादन के पश्चात् भी एक समस्या जीव गोस्वामी के सामने शेष थी कि कृष्ण की पौराणिक लीला केवल गोकुल (वृन्दावन) ही नहीं मथुरा एवं द्वारका के साथ भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। अतः जीव गोस्वामी ने प्रकाश-भेद से कृष्ण-लोक के तीन रूप माने हैं—द्वारका, मथुरा और वृन्दावन। इन तीनों धामों में लीला, परिकरादि भी तीन प्रकार के हो जाते हैं।[41] प्रकाश-भेद से तात्पर्य है कि भगवान के जिस रूप में जैसी लीला जहाँ पर है, उसी के अनुसार अन्तर हो जाता है। ये धाम मात्र ऐसे स्थान नहीं हैं, जहाँ भगवान की प्रतिमा स्थापित हो या जहाँ पर परम-दैवत् का सूक्ष्म रूपत्व हो, बल्कि भगवान के साक्षात् निवासस्थान हैं तथा ये प्रपंचातीत, नित्य अलौकिक एवं भगवान नित्यास्पद हैं। इन तीनों धामों में भी वृन्दावन-लीला ही सर्वोत्तम है। यहीं पर माधुर्य अपने विशुद्ध रूप में है, ऐश्वर्य से आच्छन्न नहीं है।

भगवत्-सन्दर्भ में जीव गोस्वामी ने माधुर्य को ह्लादिनी-शक्ति का ही एक पक्ष बताया है। माधुर्य की अभिव्यक्ति के लिए ही वे यहाँ सुन्दर किशोर रूप में रहे। अपनी समस्त प्रकट-लीला में तो वे यहाँ किशोर रूप में रहे ही,[42] उसके बाद वृन्दावन में अप्रकट-लीला में वे किशोर रूप में ही विद्यमान हैं। इसीलिए किशोरावस्था को ही लीला की वास्तविक वय मानना चाहिए। चूँकि यह वय वृन्दावन में ही है, अतः वृन्दावन को ही सर्वश्रेष्ठ धाम मानना होगा।[43] गोकुल, ब्रज और वृन्दावन को इस सम्प्रदाय में समानार्थक रूप में प्रयुक्त किया गया है।

लीला

पीछे हम भगवान की प्रकट और अप्रकट लीला[44] की चर्चा कर आये हैं और यह भी कहा था कि गौड़ीय वैष्णव-विवेचन में लीला के इन दो रूपों की धारणा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। दोनों ही लीलाएँ नित्य हैं, बल्कि यों कहें कि एक ही लीला दो रूपों में प्राकृत जीव की सीमाओं के कारण व्यक्त होती है। माया-शक्तिबद्ध जीव के लिए लीला अप्रकट है पर अपने साधकों के ऊपर कृपा, दया तथा प्रेम के कारण वह प्रकट होती है। इस प्राकृत जगत् में भी अप्रकट-लीला प्राकृत जगत् और उसके विषयों से एकदम अस्पर्शित रहती है—प्रापंचिकलोकैस्तद्वस्तुमिश्चामिश्रा।[45] इसकी निरन्तरता के बारे में जीव गोस्वामी का कहना है कि काल के समान यह भी आदि, मध्य और अवसान से रहित स्वप्रवाहा है—कालवदादिमध्यावसान-परिच्छेदरहितस्वप्रवाहा।[46] इस लीला में भी यादवेन्द्रत्व, ब्रजयुवराजत्व आदि बने रहते हैं (यानी ब्रज, द्वारका आदि के पौराणिक चरित्र नित्य अप्रकट लीला में भी विद्यमान बताकर समस्त पौराणिक लीला का दैवीकरण कर दिया गया)। प्रकट-लीला भी भगवान के विग्रह के समान ही कालादि से अपरिच्छिन्न है, पर स्वरूप-शक्ति की इच्छा के कारण आरम्भ और

अन्त भी प्रतीत होता है, प्राप्त होता है, प्रापंचिक और अप्रापंचिक के मिश्रण के साथ ही कृष्ण के जन्म-मृत्यु आदि की बातें भी आभासित होती है।[47]

अप्रकट-लीला पुनः दो प्रकार की है—मन्त्रोपासनामयी तथा स्वारसिकी। इनमें से प्रथम एक स्थान विशेष में सीमित नियत स्थिति की एवं उसी-उसी मन्त्र ध्यानमयी होती है।[48] यानी जिस मन्त्र का ध्यान होता है, उसी के अनुरूप स्वरूप, धाम एवं परिकर होता है। इस प्रकार भगवान की विराट लीला बहुत सीमित एक पक्ष-विशेष में ही साधक को अनुभूत होती है। (मन्त्रोपासनामयी लीला ही मानो भक्ति के क्षेत्र में साधन या वैधी भक्ति है)। स्वारसिकी लीला में भगवान स्वयं प्रेम एवं कृपावश अपनी अनन्त लीलाएँ भक्त के लिए प्रकट एवं सुलभ कर देते हैं। मन्त्रोपासना की भी पर्यवसति स्वारसिकी में हो सकती है (जैसे कि वैधी रानानुगा में परिणत हो जाती है।) इस स्वारसिकी अप्रकट-लीला का कोई एक नियत स्थान या समय नहीं है, यह यथावसर विविध स्वेच्छामयी होती है। अपने नाना लीला-प्रवाह रूप में यह गंगा की धारा के समान होती है, जबकि एक-एक लीलावाली मन्त्रोपासनामयी उस एक किसी ह्रद, (सरोवर) या ह्रद श्रेणी के समान होती है जो मुख्य धारा से सम्भूत है)।[49]

पौराणिक कृष्ण-लीला के सन्दर्भ में उपर्युक्त विवेचन से सम्बन्धित एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब स्वरूप, धाम, परिकर आदि सब एक ही हैं, नित्य हैं तब वृन्दावन से मथुरा चले जाने पर कृष्ण का गोप-गोपियों से वियोग अथवा द्वारका-लीला की समाप्ति पर यादवों से वियुक्ति को कैसे समुचित ठहराया जाये? जीव गोस्वामी का जवाब होगा कि वास्तव में प्राकृत प्रकट-रूप में ही यह वियोग है, अप्रकट रूप में वहाँ नित्य-मिलन और विहार ही है। एक ही स्वरूप अनेक प्रकाश प्राप्त करता है और प्रकाश-भेद से अभिमानभेद (सम्बन्ध-भेद) तथा क्रिया-भेद हो जाता है जो अलग-अलग भी सत्य है तथा एक ही समय में भगवत्-स्वरूप अनेक रूपों में अलग-अलग प्रकाशित होकर अलग-अलग लीलाएँ भी कर सकता है। अतः जब एक प्रकट-लीला में वियोग है, तब उसी समय अप्रकट-लीला में संयोग की स्थिति भी बनी रहती है और यह सब भगवान की अचिन्त्य शक्ति के कारण है।[50] यह ध्यान रहे कि गौड़ीय वैष्णवों में 'अचिन्त्य' वह ट्रम्प कार्ड है जिसका प्रयोग प्रत्येक विरोध की शान्ति के लिए वे कर लेते हैं।

परिकर

पीछे हम धाम की चर्चा में परिकर के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कह चुके हैं कि परिकर स्वरूप-शक्ति का ही प्रकाश है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही गोकुल, मथुरा एवं द्वारका के परिकरों की सार्थकता धाम के साथ ही सिद्ध की गयी है।

रूप गोस्वामी के हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु एवं नीलमणि में इस परिकर को ही विभिन्न प्रकार के भक्ति रसों में अन्तर्भुक्त करने का पाण्डित्यपूर्ण एवं निपुण प्रयास किया गया है। यह भी कहा जा चुका है कि भगवान से कान्ता-भाव का सम्बन्ध ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है—माधुर्य-गुण ही भगवान की ह्लादिनी-शक्ति से सम्बन्धित होता है। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न उठता है कि पौराणिक लीला में कान्ता-भाव को अपनाने वाले विविध पात्रों का जो वर्णन मिलता है, उनमें मात्र गोपियाँ ही कैसे श्रेष्ठ हैं? ब्रज में गोपियाँ, मथुरा में कुब्जा और द्वारका में कृष्ण की 1608 महिषियाँ है जिनमें 8 पट्ट-महिषियाँ भी हैं—सभी कृष्ण को पति या प्रेमी के रूप में चाहती हैं, अतः उनमें पुराण द्वारा स्थापित गोपी भाव की श्रेष्ठता को कैसे बनाये रखा जाये?

गौड़ीय तत्त्व-व्याख्याता इसका दो प्रकार से उत्तर दे सकते हैं। प्रथम उत्तर तो स्वकीया-परकीया-भाव के आधार पर दिया जा सकता है। कृष्णदास कविराज ने कुछ इसी लहजे में उत्तर दिया था कि—

परकीय भावेअति रसेर उल्लास
ब्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास
ब्रजबधूगणेर इह भाव निरवधि
तार मध्ये श्रीराधार भावेर अवधि

(चै.च., आ.ली.परि. 4)

यदुनन्दन ने अपने कर्णानन्द में भी परकीयावाद को ही मुख्यता दी। उनके अनुसार तो जीव गोस्वामी का भी वास्तविक तात्पर्य परकीयाभाव से ही था।[51] आगे चलकर जीव के श्यामानन्द एवं श्रीनिवास ने भी परकीयावाद को ही महत्त्व दिया है। श्री निवास की शिष्य-परम्परा में राधा मोहन ठाकुर ने तो मुर्शिदाबाद के नवाब ज़फ़र अली के दरबार में कहते हैं, स्वकीयावादियों को बिल्कुल निरस्त कर दिया था। इस सम्बन्ध में शीला भट्टारिका के "यः कौमार हरः" एवं रूप के "प्रियः सोऽयं कृष्णः"[52] का बहुधा परकीया-समर्थन में उल्लेख किया जाता है, परन्तु वास्तव में इनकी व्याख्या स्वकीयात्व के आधार पर भी की जा सकती है। इस परकीयावाद को विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने ग्रन्थों एवं टीकाओं में पूरी तरह स्थापित कर दिया था, परन्तु प्रारम्भ में रूप एवं जीव की विचार-पद्धति स्वकीयावाद के ही पक्ष में थी। यद्यपि उज्ज्वल-नीलमणिकार ने परकीया में शृंगार के परमोत्कर्ष की बात कही है[53] फिर कुछ स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि इस भाव की हीनता केवल प्राकृत नायकों के सन्दर्भ में ही है, 'रसनिर्यासस्वादार्थ' अवतारी कृष्ण के प्रसंग में यह लघुत्व को प्राप्त नहीं होता।[54] वास्तव में परकीया सूत्र का कथन एवं उसका स्पष्टीकरण ठीक भागवत की ही परम्परा में है। भागवत में गोपियों का वर्णन बहुधा कन्या या परस्त्री के रूप में हुआ है—रास के समय कृष्ण की मुरली के स्वर से गृहीतमानस

गोपियाँ अपने सारे घर-गृहस्थी के कार्य, पति, पुत्र आदि को छोड़कर कृष्ण की ओर दौड़ पड़ी थीं।[55] उनके पति, पिता, भ्राता और बन्धुओं ने उन्हें बहुत-कुछ रोका, किन्तु श्री गोविन्द ने उनके चित्तों को ऐसा खींच लिया था कि वे मुग्धा बालाएँ उनके रोके न रुकीं—

ता वार्यमाणाः पतिभिः न पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥10।29।8

इस प्रत्यक्ष अनैतिक-सी दिखने वाली क्रीड़ा के प्रति परीक्षित ने सन्देह प्रकट किया था कि "जगदीश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने धर्म की स्थापना और अधर्म के उच्छेद के लिए ही अपने पूर्ण अंश से अवतार लिया था, फिर धर्मसेतु के वक्ता, स्रष्टा एवं रक्षक होकर भी उन्हींने परस्त्रीगमन जैसा प्रतीप आचरण क्यों किया?[56] भागवतकार ने जो उत्तर दिया था, रूप गोस्वामी का उत्तर ठीक उसी की प्रतिध्वनि है। भागवतकार ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा था कि "जो गोपियों, उनके पतियों और सम्पूर्ण देहधारियों के अन्तःकरण में विद्यमान हैं, उन सर्व (बुद्धयादि) साक्षी भगवान ने ही लीला से शरीर धारण कर भूलोक में अवतार लिया था।[57] अर्थात् तत्त्वतः जो समस्त प्राणियों के शरीर और अन्तःकरण में विराजमान रहकर निरन्तर रमण कर रहे हैं, उनके लिए परस्त्री जैसी कोई चीज नहीं है और इसीलिए परदारानिदर्शन जैसा कोई प्रश्न ही नहीं उठता। रसनिर्यासस्वादार्थ अवतारी कृष्ण की बात उठाकर रूप गोस्वामी ने दूसरे शब्दों में इसे ही दुहराया है।

रूप एवं जीव दोनों ही विद्वान स्वकीया के पक्ष में थे। रूप ने ललित माधव नाटक के 10वें अंक में राधा और कृष्ण का विवाह करवाया है। विदग्ध माधव के प्रथम अंक में भी देखते हैं कि राधा का अभिमन्यु गोप से विवाह सच्चा नहीं है, यह केवल योगमाया का कार्य था। यों राधादि कृष्ण की नित्य प्रेयसी है। रूप की ही विचारधारा का अनुकरण करते हुए जीव गोस्वामी ने भी परकीयावाद को मायिक कहकर नित्य प्रेयसीत्व पर ही बल दिया है। उन्होंने स्वकीयावाद का समर्थन नैतिक परम्परा एवं रसशास्त्र दोनों दृष्टियों से करना चाहा है। साहित्य-दर्पण में कहा गया है—"उपनायक-संस्थायां मुनिगुरुपत्नी-गतायां च। बहुनायक-विषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्। प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते। शृंगारेऽनौचित्यम्...।"[58]

भक्ति को रस मानने वाले जीव गोस्वामी ने यह सिद्ध करना चाहा कि गोपियों ने कृष्ण को पति के रूप में प्राप्त किया था, जार के रूप में नहीं। जार शब्द का प्रयोग केवल उनके प्रेमाधिक्य की एक मानसिक अवस्था विशेष का द्योतक है।[59] भागवत में आये कात्यायनी व्रत[60] से भी ज्ञात होता है कि कृष्ण की वर के रूप में ब्रजकन्याओं ने वांछा की थी और भक्तवांछाकल्पतरु कृष्ण उनकी कामनाओं को पूरा न करें यह कैसे सम्भव है।[61] इसके अतिरिक्त 'सिद्धान्त-रसशास्त्र-सम्मता' भी इस लीला को उन्होंने माना। जीव ने अपने गुरु रूप गोस्वामी के ललित माधव वाले

राधाकृष्ण विवाह की ओर भी संकेत किया है। जीव के अनुसार गोपियों के साथ न तो गोपों ने कभी विवाह किया और न गोपियों को कभी स्पर्श ही किया। अतः परकीयात्व या परस्पर्शत्व के अधर्म का दोष उन पर नहीं लगता। वस्तुतः गोपों के साथ गोपियों के मायिक शरीर का ही विवाह हुआ था और माया-शक्ति द्वारा उत्पन्न देह के साथ ही गोपगणों का संयोग होता था। इस सम्बन्ध में उन्होंने भागवत के इस श्लोक का भी उपयोग किया है—

नासूयन्खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान् दारान् ब्रजौकसः ॥ 10।33।38

अर्थात् भगवान की माया से मोहित हो जाने के कारण ब्रजवासियों ने अपनी-अपनी स्त्रियों को अपने पास ही समझकर कृष्णचन्द्र के प्रति तनिक भी असूया नहीं की।

इसी आधार पर उनका मत है कि यदि कभी पति आदि शब्दों का प्रयोग होता भी है तो उसे बाहरी समझना चाहिए, न कि आन्तरिक।[62] इसी प्रकार पीछे उद्धृत भागवत के श्लोक (10।29।8) में आये पुत्र शब्द के बारे में उनका कहना है कि यह दूसरे के पुत्रों के लिए है क्योंकि पुत्रवती माँ के साथ भी प्रेम-सम्बन्ध रसशास्त्र की दृष्टि से परिपक्व नहीं हो पाता। इस प्रकार भागवत के प्रसंगों का अपने अनुकूल अर्थ करते हुए जीव गोस्वामी की सम्मति है कि गोपियाँ उनकी स्वरूप-शक्ति का प्रकाश हैं, नित्य प्रेयसी हैं, उनके साथ कृष्ण का सम्बन्ध इसलिए अधर्मपूर्ण व्यभिचार का कार्य नहीं है। रूप गोस्वामी के पीछे उद्धृत श्लोक की टीका में भी इस सम्बन्ध में उन्होंने विस्तृत विवेचन करके यही कहा है—तदेव श्रीकृष्णेन तासां नित्यदाम्पत्ये सति परकीयात्वे च मायिके सति... ।[63]

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जीव और रूप, दोनों गोस्वामी परकीया भाव के समर्थक न थे। परकीया का उल्लेख उन्हें राधा-कृष्णा एवं कृष्ण-गोपियों के परम्परा-प्राप्त रूप के कारण करना पड़ा था। कृष्णदास कविराज को पीछे हमने परकीया-समर्थक रूप में उद्धृत किया है, पर आदि लीला के चतुर्थ परिच्छेद में ऐसे संकेत मिल जाते हैं कि वैकुण्ठ लीला में उपपति-भाव का प्रचार नहीं है—

वैकुण्ठाद्येनाहि ये लीलार प्रचार।
से से लीला करिब पाते मोर चमत्कार।
मो विषये गोपीगणेर उपपति भावे।
योग माया करिबेन आपन प्रभावे।

सम्भवतः परकीया-भावना सहजिया वैष्णवों की देन है। प्रारम्भ में वृन्दावन गोस्वामियों ने इसे पूर्ण शास्त्रीय प्रतिष्ठा नहीं मिलने दी, परन्तु उनके पश्चात् परकीया-भावना इस सम्प्रदाय में पूर्णरूपेण स्वीकार कर ली गयी।

अस्तु, इस उपयुक्त प्रसंगान्तर के पश्चात् हम फिर अपने मूल प्रश्न की ओर

आते हैं कि क्यों वृन्दावन की 'ब्रज गोपरामाणां' को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। इसके लिए एक तर्क तो परकीयावाद का है जो प्रारम्भिक गोस्वामियों को बहुत दूर तक मान्य नहीं है। जीव गोस्वामी ने एक तर्क और दिया है। 'भगवत्-सन्दर्भ' में उन्होंने भगवत्-तत्त्व की स्वरूप-शक्ति को उनकी लीला सहायिका माना है और वहाँ उसका नाम लक्ष्मी बतलाया है लक्ष्मी की भू, कृपा, पुष्टि आदि आठ विशिष्टता रूपी विग्रहों की भी चर्चा की गयी है। द्वारका, मथुरा में स्वरूप-शक्ति महिषी नाम से अभिहित होती है। इनमें से रुक्मिणी स्वयं लक्ष्मी हैं तथा आठों पट्ट महिषियाँ स्वरूप-शक्ति की ही अन्य पहलू भू, कृपा आदि हैं। सामूहिक रूप से वे लक्ष्मी से एकात्म हैं[64] परन्तु गोकुल में कृष्ण की स्वरूप-शक्ति का प्रकाशन ब्रजदेवियों के रूप में हुआ है। वे कृष्ण की श्रेष्ठतम ह्लादिनी शक्ति की विशेष अभिव्यक्ति हैं। इसलिए मथुरा एवं द्वारका की महिषियों से श्रेष्ठ हैं।[65] वे सब-की-सब वृन्दावन-लक्ष्मी हैं—श्री वृन्दावन लक्ष्म्यस्त्वेता एवेति।[66] गोपाल-तापनी उपनिषद् में गोपियों को 'अविद्या-कलाप्रेरक' कहा गया है। इसकी व्याख्या करते हुए लेखक ने कहा है 'आ' का अर्थ है सम्यक्, विद्या परम-प्रेम-रूपा है और कला उनकी वृत्तिरूपा है।[67] ह्लादिनी की तत्तत् क्रियाओं में प्रवर्तक हैं ब्रज बधुएँ—इसलिए तास्तु नित्यसिद्धा एव। ह्लादिनी की सारवृत्ति प्रेम है और उसी के रससार विशेष का उनमें प्राधान्य है एवं इसीलिए उनका प्राधान्य है—

"आसां महत्त्वन्तु ह्लादिनी सारवृत्तिविशेषप्रेमरससारविशेषप्राधान्यात्।"[68]

ये गोपियाँ 'आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभाविता' कही गयी हैं। अतएव इस प्रेम-प्राचुर्य के प्रकाश-हेतु श्री भगवान का भी इनमें परमोल्लास प्रकाश होता है एवं उसी से भगवान में रमणेच्छा प्रादुर्भूत होती है।[69] इस प्रकार एक भिन्न दार्शनिक आधार पर ब्रज-देवियों को श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है।

परन्तु समस्त ब्रज-देवियों को नित्यसिद्धा या नित्यप्रिया मान लेने पर एक असंगति सामने आती है। जीव को तटस्था-शक्ति के अन्तर्गत रखा गया है एवं नित्यसिद्धा गोपियाँ स्वरूप-शक्ति के अन्तर्गत नित्य सहचरी हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में गोपी भाव की साधना के क्या अर्थ होते हैं? दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि नित्य सिद्धत्व साधना की वस्तु नहीं है। इस असंगति से बचने के लिए गोपियों के साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया तीन भेद किये गये हैं।[70] पूर्वजन्म की साधना से जो भक्त जन गोपीदेह पाते हैं, वे साधनपरा गोपियाँ है। इनके अनेक भेद किये गये हैं पर उस विस्तार में हमें नहीं जाना। पर साधना द्वारा गोपी भाव की प्राप्ति इस प्रकार स्वीकार कर ली गयी है। जब-जब कृष्ण अंश-रूप में देवयोनि में जन्म लेते हैं, तब-तब उनके सन्तोष-साधन के लिए नित्य प्रियाओं के अंशों का भी जन्म होता है, यही देवियाँ हैं। कृष्ण के ब्रज-अवतरण में यही देवियाँ गोप-कन्याओं के रूप में नित्य प्रियाओं की प्रिय सखी स्थानीय होती हैं।[71]

इस प्रकार देवी के रूप में सखी भाव को इन लोगों ने स्थान दिया। साधनपरा के प्रकार में गोपी भाव को महत्त्व मिला। यह ध्यान रहे कि साधनपरक गोपी-तत्त्व ही जीव का साध्य है, नित्य प्रिया गोपीत्व कभी भी साध्यवस्तु नहीं है, यह नित्य सिद्ध है। यों सब मिलाकर उस सम्प्रदाय में साधना की दृष्टि से गोपी भाव की अपेक्षा सखी भाव का ही उत्कर्ष है।

राधा

पीछे हम कह चुके हैं कि गोपी-लीला एवं राधा-लीला की दो परम्पराओं का समन्वयन गौड़ीय वैष्णवों ने किया है। इस समन्वय में राधा प्रमुख हो उठी हैं एवं अन्य गोपियाँ उन्हीं की अंगभूता या अंशरूपा हो गयी हैं। रूप गोस्वामी ने नित्यप्रिया हरि-वल्लभाओं के नाम गिनाते हुए बताया—

तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधा चन्द्रावलीत्युभे।
यूथयोस्तु ययोः सन्ति कोटिसंख्या मृगीदृशः ॥[72]

इन सर्वश्रेष्ठ राधा और चन्द्रावली में भी उनके अनुसार गुणों में अति वरीयसी एवं महाभाव स्वरूपा राधा ही सर्वाधिका हैं—

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेण गुणैरतिवरीयसी ॥[73]

इसी से मिलती-जुलती बात जीव गोस्वामी ने भी प्रतिपादित की है। उनके अनुसार इन परममधुरप्रेमवृत्तिमयी में भी राधा तत्सारांशोद्रेकमयी हैं, राधिका में ही प्रेमोत्कर्ष की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है। ऐश्वर्यादि समस्त शक्तियाँ इस प्रेमवैशिष्ट्य का अनुगमन करती हैं, अतः वृन्दावन में श्री राधिका में ही स्वयं लक्ष्मीत्व हैं।[74] यानी ह्लादिनी का सार प्रेम, प्रेम का भी सार भाव और भाव की ही पराकाष्ठा का नाम महाभाव है और राधा ठकुरानी यही महाभावस्वरूपा हैं।[75] तात्त्विक दृष्टि से वे सर्वशक्ति वरीयसी ह्लादिनी शक्ति ही है तथा भगवत् रति की परिणति के सर्वोच्च शिखर महाभाव की साक्षात् विग्रह हैं।[76] वे प्रेम का साक्षात् स्वरूप हैं, उनकी देह प्रेम से विभावित हैं, वे कृष्णा की प्रेयसी हैं। यह समस्त संसार में विदित है।[77] कृष्ण को रसपान कराके वे पूरा काम करती हैं।[78] वास्तव में लक्ष्मीगण, महिषीगण एवं ब्रज देवीगण उन्हीं का अंश हैं। उनमें ब्रज देवीगण आकार-भेद से राधा की ही कामव्यूह रूप हैं। ये रस का कारण हैं, इन्हीं की सहायता से राधा कृष्ण को रसपान कराती हैं। राधा पूर्णशक्ति हैं, कृष्ण पूर्णशक्तिमान हैं। कृष्णदास कविराज ने तो यहाँ तक कह दिया है कि वे वास्तव में एक ही हैं, लीला रस के आस्वादन के लिए ही दो रूपों में वह प्रकट हुए हैं—

राधा पूर्णशक्ति, कृष्ण पूर्णशक्तिमान्
दुइ वस्तु भेद नाहि, शास्त्रेर प्रमाण।
राधा कृष्ण एके सदा एकइ स्वरूप
लीला रस आस्वादिते धरे दुइ रूप ॥[79]

जीव गोस्वामी ने भी इस अभिन्नत्व का निर्भ्रान्त प्रतिपादन किया है—परमशक्ति शक्तिमत्वेनातिशायित-महाभाव-रसेन वा परस्परमभिन्नतां गतयोरैक्येनैव विवक्षते तदिति।[80] अतः वृन्दावन में राधा-कृष्ण की युगलित स्थिति ही कृष्ण का सर्वाधिक सान्द्रानन्द चमत्कारकर प्रकाश है।[81] यहाँ पर दोनों ही नित्य कैशोरावस्था में क्रीड़ा करते रहते हैं, यही लीला एक मात्र आस्वाद्य है। दोनों एक होकर भी लीला के बहाने दो हैं—यह अभेद में भेद अचिन्त्य शक्ति के बल पर है, यही अचिन्त्य भेदाभेद है।

पीछे हम कह चुके हैं कि भगवत्-सन्दर्भ में भक्ति को भी ह्लादिनी शक्ति का ही एक पक्ष माना गया है। राधा भी ह्लादिनी है। भगवान का स्वरूप रसमय है। इस रसमयता का कारण ह्लादिनी शक्ति है। इस शक्ति के द्वारा भगवान स्वयं आह्लादित होते हैं और दूसरों को भी आह्लादित करते हैं। इस प्रकार उनका प्रवेश दोनों ओर है। भगवान के साथ वह लीला-सहचरी बनकर उन्हें रसास्वादन कराती हैं तथा भक्त के हृदय में भक्ति बनकर भगवत् आनन्द में उसे लीन करती हैं। चूँकि ह्लादिनी की सारभूत विग्रह राधा है, अतः राधा का भी दोनों पक्षों में प्रवेश गोस्वामियों ने विवेचित किया है—

ह्लादिनी कराय कृष्णे आनन्दास्वादन।
ह्लादिनी द्वाराय करे भक्तेर पोषण ॥[82]

वस्तुतः इन तत्त्व-विवेचकों ने एक ओर उन्हें कृष्ण की नित्य प्रियतमा के रूप में श्रेष्ठतम स्थान पर पहुँचा दिया, दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ भक्त भी कह दिया। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि राधा की प्रतिष्ठा स्वरूप-शक्ति की श्रेष्ठतम वृत्ति के रूप में भी की गयी, भगवान के प्रति पाँच मुख्य भाव-सम्बन्धों में भी श्रेष्ठतम कान्तारति के श्रेष्ठतम रूप समर्था रति की अन्यतम प्रतिनिधि भी वे ही मानी गयीं और प्रेम भाव के विकास की श्रेष्ठतम परिणति महाभाव के साथ उन्हें एकात्म दिखाकर सर्वश्रेष्ठ भक्त भी सिद्ध कर दिया गया। इस प्रकार वे सर्वोच्च शक्ति हैं, सर्वाधिक मधुर कान्ता हैं और सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं।
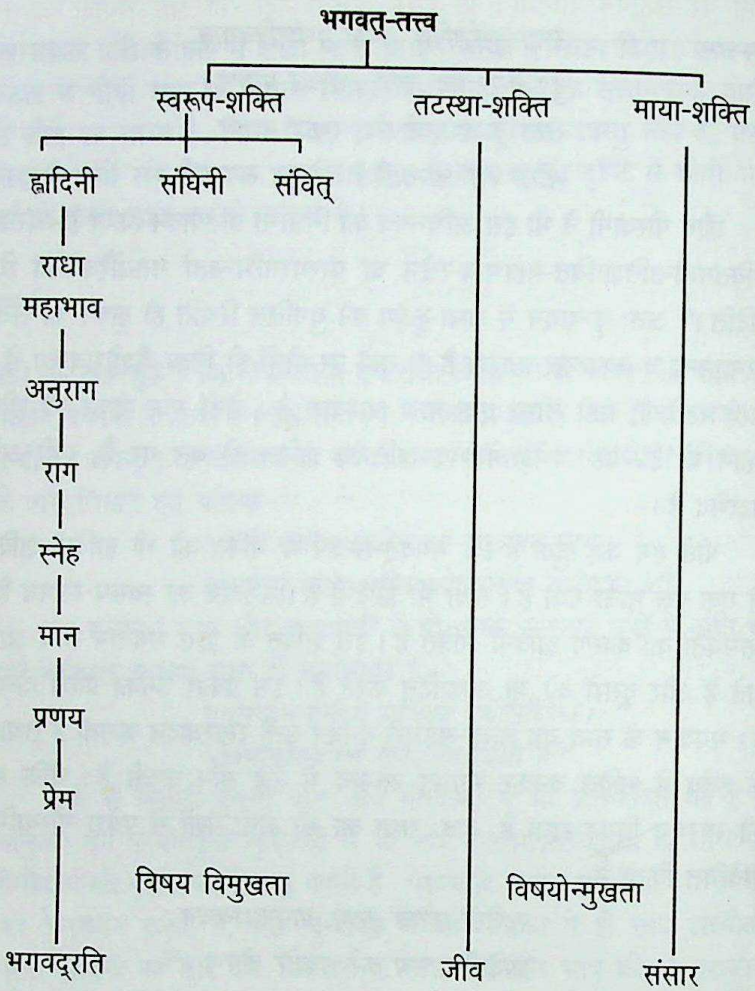
सखी

भारतीय प्रेम-काव्य की अनिवार्य रूढ़ि के रूप में सखी की सत्ता सदैव मान्य रही है एवं जिस प्रकार प्रेम-काव्य की रसनिर्भर नायिका राधा धर्म और दर्शन के सिंहासन पर भली-भाँति आरूढ़ हो जाती है, वैसे ही सखी भी साधना के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान को प्राप्त करती है। लगता है कि सखी-भाव धीरे-धीरे जड़ पकड़ता जा रहा था एवं 16वीं शताब्दी में अनेक सम्प्रदायों में अचानक ही फूट पड़ा। हरिदासी, राधावल्लभी एवं चैतन्य सम्प्रदाय इसके प्रारम्भिक उत्स बने एवं बाद को तो इसने अपने समकालीन प्रत्येक सगुण भक्ति सम्प्रदाय को प्रभावित किया। पुष्ट दार्शनिक

नीति पर स्थापित पुष्टिमार्ग भी इससे अछूता नहीं रहा और मर्यादा का स्थापक राम-सम्प्रदाय तो इसमें आकण्ठ मग्न हो गया। निर्गुणोपासक शुक (चरणदासी) सम्प्रदाय के बारे में तो यह कहना कठिन हो गया है कि यह निर्गुणोपासक है या सखीभावापन्न मधुर रस का उपासक। ऐतिहासिक दृष्टि को अलग रखकर केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाये तो हमारा विचार है कि सखी भाव-साधना उस काल की मानसिक आवश्यकता भी थी। जब लीलावपु उपास्य हो, जिसके भिन्न-भिन्न धामों में भिन्न-भिन्न परिकरों के साथ नित्य लीलाएँ चल रही हों और उनमें भी लक्ष्मी, रुक्मिणी, सत्यभामा, कुब्जा या राधा जैसी कान्ताएँ भी हों, तब कान्ताभाव के क्षेत्र में अपने को भी प्रिया मानना अपने को कुछ खो देने ही जैसा है। फिर वह लीला भी क्या कुछ कम मोहक है। इसके अतिरिक्त प्रियतमा बन सकने की योग्यता का भी तो सम्पादन करना चाहिए।

मामूली से किसान की लड़की भाग्य से रानी बन जाये यह बात दूसरी है, पर वह किसी तत्कालीन सामन्त या बादशाह की प्रिया बन सकने की अपेक्षा उस समय सेविका ही अधिक बन सकती थी। ऐसी स्थिति में यदि इन साधकों में सखी भाव का प्रचार हुआ हो तो उसे ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक आवश्यकता ही समझनी चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से गोपी भाव, राधा भाव एवं सखी भाव—यह विकाम का क्रम रहा है तथा साधनागत विकास की दृष्टि से हमें लगता है कि गोपी भाव की चरम परिणति राधा भाव है। राधा कृष्ण-प्रियतमा होने के साथ-साथ सर्वश्रेष्ठ भक्त भी हैं, जहाँ तक कि अन्य भक्त पहुँच ही नहीं सकते, जिसका दर्शनमात्र दूसरे को भक्ति का आनन्द देने वाला है। ऐसी स्थिति में सामान्य जन के लिए जिस साधनामार्ग की आवश्यकता पड़ी, उसके लिए ब्रज परिकर में सखी की कल्पना की गयी। इस प्रकार प्रेमिकाएँ और भक्त गोपियाँ हैं, श्रेष्ठतम प्रेमिका एवं भक्त राधिका हैं एवं सखियाँ इस नित्य लीला का दर्शन करने वाली हैं। इस विकास के पीछे कुछ अन्य तथ्य भी हैं। भारतीय नैतिक जीवन का आदर्श बहुलतावादी नहीं है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रेम की परम निष्ठा एक के ही प्रति हो सकती है—इन तथ्यों ने गोपियों के स्थान पर एक प्रमुख गोपी राधा की कल्पना अनिवार्य करा दी (चाहे वह स्वकीया हो या परकीया। रस के अतिरिक्त भक्ति के क्षेत्र में सेवक-सेव्य भाव भी सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। ईश्वर अपने से बड़ा है—भले ही उसे अधिक वैभवशाली न कहकर सर्वतोभावेन रसमय कह दिया जाये, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता—उसके प्रति सेवाभाव अनिवार्य है। अतः जब कान्ता भाव या मधुर रस का जोर बढ़ा, तब उसी के भीतर से सेव्य-सेवक सम्बन्ध पर आधृत सखी भाव भी उभरकर आ गया। पुराने दास्य भाव से इसका अंकुर मात्र इस बात में है कि वहाँ पर प्रभु में विभुत्व अधिक है, यहाँ पर रसमयता प्रधान है। एक दूसरा अन्तर यह भी है कि यहाँ पर सेवा में भी अन्तरंगता अधिक है। स्त्री-पुरुष की रतिकेलि के मध्यकालीन चित्रों एवं मूर्तियों

में सम्भोगकाल में दासियों की उपस्थिति दिखाई गयी है, भक्ति-साधना की दृष्टि से उनमें अन्तरंगता का तत्त्व और जोड़कर सखी का स्थान दे दिया गया। इस प्रकार सखी भाव की साधना मधुर रस के मध्य से सेव्य-सेवक सम्बन्ध का ही पुनरुत्थान है।

चैतन्य सम्प्रदाय में इन सखियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कहना ठीक नहीं है कि चैतन्य सम्प्रदाय में सखी भाव को पर्याप्त स्वीकृति नहीं मिली है। अन्य सखीभावोपासकों में जो कुछ कहा गया है, उसका सारतत्त्व यहाँ पर भी विद्यमान है, पर यह सब कृष्ण की समस्त लीलाओं, उनके बारे में प्रचलित धारणाओं को स्वीकार करके ही है और जिस ढाँचे के भीतर उस सबको स्थान दिया गया है, उसी के भीतर ये भी हैं, अलग से इस भाव को स्फीत उन्होंने नहीं करना चाहा। 'उज्ज्वल नीलमणि' में वर्णित राधा के गुणों में से एक गुण यह भी है कि वे सखी प्रणयाधीना हैं।[83] इन सखियों को भी रूप गोस्वामी की विश्लेषण-प्रवण प्रतिभा ने पाँच भागों में बाँटा है—सखी, नित्यसखी, प्राण सखी, प्रिय सखी और परम श्रेष्ठ सखी। इनके नाम भी गिनाये गये हैं। परम श्रेष्ठ सखियों में ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी और सुदेवी हैं, ये आठों सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वगुणाग्रिमा बतायी गयी हैं[84] तथा इनका राधा और कृष्ण, दोनों के प्रति पराकाष्ठा का प्रेम रहता है। कभी राधा के प्रति यह प्रेम अधिक होता है (विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी टीका में बताया है कि यह समय वह है जब राधिका खण्डिता नायिका होती है) एवं कभी कृष्ण के प्रति इनका प्रेमाधिक्य हो जाता है (विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार जब राधिका मानिनी होती है)।[85] उज्ज्वल नीलमणि के तो दो पूरे प्रकरण ही सखी से सम्बन्धित हैं, सखी प्रकरण एवं सखी विशेष प्रकरण।[86]

कृष्णदास कविराज ने इन सखियों के महत्त्व का बड़ा मनोहारी निदर्शन किया है। उनके अनुसार सखियों के बिना इस लीला की पुष्टि नहीं होती। सखियाँ ही लीला-विस्तारक भी हैं और आस्वाद भी वे ही हैं। सखियों के बिना इस लीला की और कोई गति ही नहीं है। कृष्णदास कविराज स्पष्ट बताते हैं कि जो सखी भाव से इनका अनुगमन करना है, वही राधाकृष्णकुंज-सेवारूपी साध्य को प्राप्त कर सकता है। अत्यन्त गद्‌गद भाव से वे इन सखियों का अद्‌भुत गुण बताते हैं (जिसे वे पनकथ्य कथन कहते हैं) कि इन सखियों में कृष्ण संगसुख की स्पृहा नहीं होती। राधिका के साथ ही कृष्ण की लीला कराने में ही उन्हें अपनी केलि से कोटिगुना अधिक सुख मिलता है। राधा स्वयं कृष्ण के प्रेम की कल्पलता हैं एवं ये सखियाँ उस लता के पल्लव, पुष्प एवं पत्रों की भाँति हैं, अतः जैसे लता की जड़ सींचने से पल्लवादि को स्वयं रस प्राप्त हो जाता है, वैसे ही राधा की रस-प्राप्ति ही उन्हें रसपुष्ट करती रहती है—

सखी बिनु एइ लीलार पुष्टि नाहिं हय।
सखी लीला विस्तारिया सखी आस्वादय।।

सखी बिनु एइ लीलार अन्येर नाहिं गति।
सखी-भावे येइ तारे करे अनुगति।।
राधाकृष्ण-कुंज सेवा-साध्य सेइ पाय।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय।।
सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन।
कृष्ण सह निज लीलाय नाहिं सखीर मन।।
कृष्ण सह राधिकार लीला ये कराय।
निज केलि हैते ताहि कोटि सुख पाय।।
राधार स्वरूप कृष्ण-प्रेम-कल्पलता।
सखीगण हय तार पल्लव पुष्प पाता।।
कृष्ण लीलामृते यदि लता के सिन्चयः।
निज सेव्य हय ते पल्लववाछेर कोटि सुख हय।।[87]

इस प्रकार कृष्ण की प्रेयसी या पत्नी बनकर अंगसंग-सुख लेने के स्थान पर राधाकृष्ण की ही लीला में आनन्द प्राप्त करने का तत्त्व साधना के स्तर पर उभरता है। कृष्णदास कविराज ने तो गोपी भाव एवं सखी भाव को समानार्थक रूप में प्रयुक्त किया है—

अतएव गोपी भाव करि अंगीकार।
रात्रि दिन चिते राधा कृष्णेर विहार।।
सिद्ध देह चिंति करे ताहात्रि सेवन।
सखी भावे पाय राधाकृष्णेर चरण।।
गोपी अनुर्गात बिना ऐश्वर्य ज्ञाने।
भजि लेह नाहि पाय बजेन्द्रनन्दने।।

(चै.च., म. लीला, परि. 8, पृ. 133)

जीव गोस्वामी ने भी बताया है कि नायक-नायिका (राधा-कृष्ण) का स्थायी भाव 'साक्षात् उपभोगात्मक' होता है, पर सखियों में यह 'तद् अनुमोदनात्मक' होता है।[88] जयदेव के गीत-गोविन्द में लीला-आस्वादन का जो तत्त्व हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं,[89] वही साधना की दृष्टि से सखी भाव में परिणत हो जाता है।

हम यह भी कह चुके हैं कि गोपियों को राधा का काय-व्यूह रूप माना गया है। पीछे उद्धृत रूप गोस्वामी एवं कृष्णादास कविराज के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि ये सखियाँ भी उनकी काय-व्यूह रूप ही हैं। इस प्रकार सखियाँ भी स्वरूप-शक्ति का ही प्रकाश सिद्ध होती हैं। इसे यों अधिक ठीक से समझा जा सकता है कि राधा जो ह्लादिनी शक्ति है, उन्हीं की वृत्ति भक्ति भी है। वे सर्वश्रेष्ठ भक्त भी हैं और भक्ति रस प्रवाहिका भी हैं। सखियों के रूप में ह्लादिनी की यह भक्तिरसता ही मानो प्रवाहिका होती है। इस दृष्टिकोण की यह स्वाभाविक परिणति है कि यह

भी स्वीकार कर लिया जाये कि राधिका स्वरूपत्व की प्राप्ति या राधा के भाव से कृष्ण की सेवा जीव के लिए कभी सम्भव नहीं है। इसीलिए जीव के सखी भाव की साधना की बात उठती है, परन्तु उस क्षेत्र में भी अपनी दार्शनिक मान्यताओं एवं भक्ति रस-सम्बन्धी स्थापनाओं की संगति के लिए उन्होंने रागात्मिका एवं रागानुगा का सम्बन्ध स्पष्ट कर दिया है। दार्शनिक दृष्टि से सखियाँ ब्रज-परिकर के भीतर सम्मिलित होकर स्वरूप-शक्ति का प्रकाश हो जाती हैं, पर जीव तो तटस्थ-शक्ति है; इसलिए उसकी सेवा वही नहीं हो सकती जो इन नित्य सखियों की होती है। इसलिए स्वातन्त्र्यमयी सेवा और आनुगत्यमयी सेवा—ये दोनों भेद स्वीकार किये गये हैं।

ब्रज की सखियों की सेवा स्वातन्त्र्यमयी (रागात्मिका) है, जीव या साधक की इन्हीं के अनुगमन पर आनुगत्यमयी होती है। यही रागानुगा भक्ति है। इसका तात्पर्य है उन्हीं के अनुरूप सेवा का आचरण तथा श्रवण-स्मरण आदि के द्वारा अनुरूप राग से रुचि उद्बोधित करके लीला का रसास्वादन। डॉ. शशिभूषणदास गुप्त का यह मन्तव्य इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है, "राधा-प्रेम ही पूर्ण मधुर रस का रागात्मक प्रेम है, वह एक राधा के सिवा और कहीं भी सम्भव नहीं है। इस राधा की काय-व्यूह स्वरूप हैं सखियाँ, मंजरीगण उन सखियों की अनुगता सेवादासी हैं, श्री रूप मंजरी आदि ये मंजरीगण भी गोलोक की नित्य परिकर हैं; अनुग भाव से उनकी सेवा और लीला-आस्वादन ही जीव का श्रेष्ठ काम्य है।"[90] इस प्रकार की सेवा का ही रूप अष्टयाम की सेवा और लीला में विकसित हुआ है। चैतन्य चरितामृत की भूमिका में श्री राधा गोविन्दनाथ ने सखियों एवं मंजरियों के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, "सेवा के प्रकार भेद से गोपियों को दो मार्गों में विभक्त किया गया है—सखी तथा मंजरी। जो गोपियाँ श्री राधा की समजातीया सेवा से श्रीकृष्ण की प्रीति का विधान करती हैं, उन्हें सखी कहते हैं।....जो श्री राधा-गोविन्द के मिलन एवं सेवा का आनुकूल्य ही सम्पादन करना अपना प्रधान कर्तव्य समझती है, उन्हें मंजरी कहते हैं। ये राधा की किंकरी हैं एवं अन्तरंग-सेवा की अधिकारिणी हैं। अन्तरंग-सेवा में सखियों की अपेक्षा मंजरियों का अधिकार अधिक है। मंजरीगण सखीगण से न्यूनवयस्का हैं। ये भी स्वरूप-शक्ति हैं। साधनसिद्धा गोपीगण सब मंजरी ही हैं। मंजरीवर्ग में नित्यसिद्ध जीव भी हैं।"[91]

हम इस बात को जोर देकर कहना चाहते हैं कि चैतन्य सम्प्रदाय में भागवत् की गोपियों की नित्य प्रेयसी वाले रूप को साधक की साधना के स्तर पर स्वीकार नहीं किया गया। राधा भाव से भजने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, साधक के लिए लीला का आस्वादन ही रह जाता है और उसके लिए सखियों के भाव का अनुगत होना पड़ता है। परिकर के रूप में इस लीला का स्मरण और लीला का आस्वादन—यही गौड़ीय भक्तों का परम साधन और साध्य है। गौड़ीय वैष्णव भक्ति रस-दर्शन में सखियों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, इस बात पर श्री सुशील कुमार डे के इस

वक्तव्य को उद्धृत करके हम इस अंश को समाप्त करेंगे। डॉ. डे के अनुसार–

चैतन्य-सम्प्रदाय के धर्म-दर्शन (थियोलॉजी) एवं रसशास्त्र में सखी एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है। बिना उसके राधा और कृष्ण की सरस एवं मधुर (शृंगारिक) केलि न तो विस्तारित होती है और न पुष्ट होती है। इस केलि में सखी एवं उसके भाव का अनुकरण करने वाले (रागानुगा ढंग से) भक्त को छोड़कर अन्य किसी का प्रवेश नहीं है।[92]

यहीं पर यह कह देना भी उचित होगा कि प्रारम्भ में तो साधनपरा गोपी भाव की साधना इस सम्प्रदाय में स्वीकार्य रही, परन्तु धीरे-धीरे अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव एवं राधा के अधिक उत्कर्ष के साथ (यह परवर्ती सहजियों का भी प्रभाव था जो नित्यानन्द के साथ सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गये थे) सखी भाव का ही प्राधान्य हो गया। पिया-प्यारी की क्रीड़ा का ही शत-शत पदों में गान दिखाई पड़ने लगता है, अन्य गोपियाँ मात्र सखियों के रूप में ही दिखाई देती हैं। स्वयं रूप गोस्वामी की पद्यावली एवं उनके शिष्य माधुरीदास की 'माधुरी वाणी' में यह अन्तर देखा जा सकता है। रूप गोरवामी में गोपी-प्रेम के चित्र उपलब्ध हो जाते हैं,[93] पर माधुरी वाणी में स्वयं कृष्ण का राधा-संग-विहार ही वर्णित हुआ है। माधुरी वाणी का वक्तव्य सब मिलाकर सखी भावोपासकों के अधिक निकट बैठता है।[94] इस प्रवृत्ति को हम आगे और विकसित होता हुआ 19वीं शती के कवियों में देख सकते हैं।

गौड़ीय वैष्णव-तत्त्ववाद की रूपरेखा

(1) कृष्ण ही परात्पर भगवत्-तत्त्व हैं। ब्रह्म और परमात्मा उनसे हीन कोटि की अवस्थाएँ हैं।

(2) कृष्ण ही अवतारी हैं, शेष अवतार।

(3) कृष्ण की तीन मुख्य शक्तियाँ हैं—अंतरंगा स्वरूप-शक्ति, बहिरंगा माया-शक्ति और तटस्था जीव-शक्ति। इनमें स्वरूप-शक्ति ही श्रेष्ठ है।

(4) स्वरूप-शक्ति के द्वारा ही भगवान अपनी लीला का विस्तार करते हैं।

(5) धाम, परिकर, लीला सब उसी स्वरूप-शक्ति के प्रकार हैं।

(6) स्वरूप-शक्ति की तीन मुख्य वृत्तियाँ—ह्लादिनी, सन्धिनी एवं संवित् है। इनमें ह्लादिनी ही सर्वश्रेष्ठ है।

(7) ह्लादिनी परम मधुर शक्ति है, यही भगवान को नित्य सहचरी राधा के रूप में आनन्द देती है एवं भक्ति के रूप में जीव को लीलारस का आस्वाद कराकर आनन्द प्रदान करती है।

(8) राधा इस प्रकार कृष्ण की सर्वोत्तम ह्लादिनी-शक्ति भी हैं और सर्वोत्तम भक्त भी। उनका और कृष्ण का अन्तर शक्ति और शक्तिमान का है।

(9) धाम गोलोक है। गोलोक और गोकुल में कोई भेद नहीं है।

(10) इस धाम का भी त्रिधा प्रकाश होता है—वृन्दावन (ब्रज), मथुरा और द्वारका।

(11) प्रत्येक धाम का परिकर एवं लीला भिन्न-भिन्न है। इनमें सर्वोत्तम लीला एवं परिकर वृन्दावन धाम का है।

(12) लीला के प्रकट और अप्रकट दो रूप हैं।

(13) भक्त का साध्य न तो नित्यप्रिया गोपीत्व है और न राधात्व की प्राप्ति ही उसका लक्ष्य है।

(14) गोपीनाथ से साधना का तात्पर्य साधनपरा गोपियों का अनुगत्य स्वीकार करना है।

(15) राधात्व की निकटता की दृष्टि से राधा की सखी रूप में लीला का विस्तार, लीला में सेवाभाव और लीला का आस्वादन करने वाले का अनुगत्य है।

(16) साध्य की दृष्टि से भगवान की लीला ही यहाँ साध्य है।

(17) भगवत्तत्त्व चूँकि स्वयं कृष्ण हैं, अतः इस सम्प्रदाय में तात्त्विक दृष्टि से प्रधानता कृष्ण की है। यद्यपि राधा को भी पर्याप्त मान मिला है एवं 17वीं शती से राधा को भी कृष्ण के बराबर स्थान प्राप्त होने लगा था।

(18) प्रारम्भ में भी इस सम्प्रदाय में परकीया को कुछ-न-कुछ स्वीकृति प्राप्त रही है और बाद में तो 18वीं शती तक पहुँचते-पहुँचते परकीया भाव को पूर्णतया प्रधानता मिल जाती है तथा परकीयात्व के ही आधार पर गोपियाँ कृष्ण-प्रियाओं में श्रेष्ठ गिनी जाती हैं।

(19) परकीया-भाव की इस स्वीकृति का परिणाम है कि इस सम्प्रदाय के कवियों ने प्रेम-वर्णन के क्षेत्र में विरह और उत्कण्ठा आदि के प्रभूत रसात्मक चित्र प्रस्तुत किये हैं।

इस सम्प्रदाय की साधना की समीक्षा के संक्षिप्त संकेत

(1) कृष्ण से सम्बन्धित समस्त परम्पराओं को आत्मसात् करने का प्रयत्न हुआ है।

(2) इनमें से दो परम्पराएँ मुख्य हैं—मानवतादि पुराणों एवं महाभारतादि ग्रन्थों में वर्णित कथा एवं काव्य के क्षेत्र में राधा-कृष्ण की ललित प्रेमगाथा।

(3) प्रथम में गोपियाँ, कुब्जा, महिषियाँ, उनकी प्रेमिकाएँ एवं पत्नियाँ हैं दूसरी में राधा। प्रथम में सर्वोत्तम प्रेमिका (इसलिए भक्त भी) गोपिकाएँ हैं एवं दूसरी परम्परा में इस पद की निर्विवाद रूप से अधिकारिणी श्री राधा हैं।

(4) अपने समन्वय में इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने पहले तीनों धर्मों ब्रज, मथुरा एवं द्वारका—में ब्रज की गोपिकाओं को श्रेष्ठ माना और फिर इन गोपिकाओं में भी राधा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया।

(5) पर इस समन्वय के बावजूद दो प्रकार की साधनाओं के आदर्श साधक के सामने उपस्थित होते हैं–

(क) पहला आदर्श तो गोपियों का है पर इन्हें स्वरूप-शक्ति कहा जा चुका था; अतः साधनपरा गोपियों के भाव का अनुमान करने का आदेश देकर गोपी भाव की साधना की परम्परा सुरक्षित रखी गयी।

(ख) राधावाद को प्राधान्य दे देने के बाद जिस साधना-पद्धति का उदय हुआ, उसी को सखी भाव कहा गया। कृष्ण एवं गोपिकाओं की क्रीड़ा नहीं, राधा-कृष्ण की केलि का ये सम्पादन और रसास्वादन करती हैं।

(6) इस समन्वय एवं अभिनवीकरण में उन्होंने अपने शक्ति-सिद्धान्त का अत्यधिक उपयोग किया है। बिना इन शक्तियों की कल्पना के यह कार्य सम्भव ही नहीं था।

(7) इसके बावजूद तमाम परस्पर विरोधी दिखने वाली बातों का समाहार एवं समाधान उन्होंने भगवान की अचिन्त्य-शक्ति के बल पर कर लिया है। जब इतनी तर्क-प्रवण मेधा वाले पण्डितों के सम्प्रदाय का यह हाल है, तो सहज ही यह जाना जा सकता है कि भक्तिकाल तर्काश्रित या बुद्धिप्रवण न होकर रागपरक है और इनका दर्शन वस्तुतः रहस्यपरक है। इन साधकों को 'प्रेम-रहस्यवाद' (Love Mysticism) का ही पथिक माना जाना चाहिए।

ब्रजलीला एवं निकुंज-लीला : भिन्नता की मानसिक पृष्ठभूमि

गौड़ीय वैष्णव तत्त्व-दर्शन को तनिक विस्तार से उपस्थित करने का तात्पर्य मात्र इतना है कि पृष्ठभूमि में स्थित दार्शनिक विचारधारा से परिचित हुआ जा सके। मध्यकाल के विविध भक्ति सम्प्रदायों में काव्य-पुराणादि वर्णित लीला को इस प्रकार दार्शनिक स्तर पर व्याख्यायित करने का यह प्रयास अपने आपमें अप्रतिम है। दर्शन की दृष्टि से वल्लभ-सम्प्रदाय बहुत ही पुष्ट एवं दृढ़ है, पर वहाँ भी लीला के बारे में ऐसा सांगोपांग विवेचन प्राप्त नहीं होता। आगे चलकर 18वीं शताब्दी में रामोपासकों ने रामकथा को भी ऐसा ही मोड़ देना चाहा है (उसकी चर्चा हम आगे करेंगे)। लेकिन उस पर गौड़ीय वैष्णव व्याख्या-पद्धति एवं विचारधारा का बड़ा गहरा और व्यापक प्रभाव है। गौड़ीय वैष्णवों के समकालीन अन्य वृन्दावनीय सम्प्रदायों ने साधना के शुद्ध व्यावहारिक धरातलों और अपनी रहस्यानुभूतियों के आधार पर ही इस लीला को ग्रहण किया। पर लगता है कि इस सबके मूल में दार्शनिक दृष्टि लगभग वही रही है जो गौड़ीय वैष्णवों की थी। हमारा अनुमान है कि विष्ण, भागवत, पद्म, ब्रह्मवैवर्त पुराणादि के साथ ही वैष्णवाचार्यों द्वारा कल्पित स्वरूप-शक्ति से सम्बन्धित लीला का दर्शन सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया था। इसी कारण अन्य सम्प्रदायों

में भी गौड़ीय वैष्णव-तत्त्वदर्शन से मिलती जुलती अभिव्यक्तियाँ हमें प्राप्त हो जाती हैं, इनमें स्थापना के बाद पारस्परिक आदान-प्रदान का क्रम भी बढ़ता रहा, इसने भी समानताएँ उत्पन्न और विकसित कीं, परन्तु फिर भी कतिपय साधना एवं सिद्धान्तगत अन्तर प्राप्त होते ही हैं।

हमारा अनुमान है कि इस अन्तर का मुख्य कारण है गौड़ीय तत्त्वदर्शन रहस्यानुभूतियों पर आधारित न होकर परम्पराप्राप्त साहित्य की नींव पर खड़ा है। उस साहित्य की व्याख्या अवश्य अपने ढंग से उन्होंने की है, पर व्याख्या में पर्याप्त स्वतन्त्रता की सुविधा होते हुए भी उस सारे साहित्य एवं विचार की अपनी कुछ सीमाएँ और मर्यादाएँ भी होती हैं। यद्यपि स्वयं चैतन्य सम्भवतः मध्यकाल के श्रेष्ठतम एवं गहनतम रहस्यानुभूतियों वाले व्यक्ति थे पर स्वयं उन्होंने कुछ लिखा नहीं है जिससे उस रहस्यानुभूति के आधार का पता लगता। उनके जीवनचरित्रकारों ने जो कुछ चैतन्य के मुख से कहलवाया है, उसके बारे में यह कहना कठिन है कि कितना चैतन्य का है और कितना उनके मुख में जीवनीकारों ने अपनी ओर से रख दिया है। उसकी जीवनी से केवल इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे कान्ता भाव को स्वीकार करते थे एवं मधुर भाव की अत्यधिक सान्द्र स्थितियों में गहन आवेश में मग्न भी हो जाते थे। अपनी पिछली शब्दावली में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि महाभावस्वरूपिणी श्री राधा के भाव का मानो मूर्तिमान विग्रह थे। चैतन्य मतानुयायी तत्त्व-विवेचकों ने कुछ उनसे संकेत लेकर शास्त्रों के आधार पर अपना दार्शनिक, व्यावहारिक साधना का ढाँचा तैयार किया था, परन्तु हरिदासी या राधावल्लभीय सम्प्रदायों में इससे भिन्न स्थिति रही। इनके संस्थापकों स्वामी हरिदास एवं श्री हित हरिवंश ने अपनी रहस्यानुभूतियों को स्वयं ही अभिव्यक्त किया है, इसके लिए किसी आप्त-प्रमाण को उन्हें खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उनका अपना अनुभव स्वयं ही प्रमाण रहा।

प्रमाण की दृष्टि से एक और मजेदार विकास हम देख सकते हैं—पुष्टिमार्ग में प्रमाण-चतुष्टय की मान्यता है। गौड़ीय वैष्णवों में केवल भागवत को ही पूर्ण प्रमाण स्वीकार किया गया; परन्तु हरिदासी एवं राधावल्लभीय सम्प्रदायों में भागवत इत्यादि को सम्मान तो दिया गया परन्तु प्रमाण रूप में उन्हें स्वीकार करने का प्रश्न नहीं उठा। अतः प्रमाण स्वानुभव ही रहा।[95] इस तथ्य ने एक-दूसरे परिणाम पर इन सम्प्रदायों को पहुँचा दिया। इन्हें कृष्ण की विविध काव्य पुराणादि वर्णित लीलाओं को शिरसः स्वीकार करके अपने सैद्धान्तिक ढाँचे के भीतर स्थान देने की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं हुआ। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि कृष्ण-लीलाओं के भीतर सार रूप से जो राधा-कृष्ण के प्रेम का तत्त्व है, उसे ही उन्होंने स्वीकार किया। माता, पिता, गुरुजन, सखा, गोपी, गोप, मथुरा, द्वारका, दैत्यवध, अत्याचारी का विनाश, धर्म की स्थापना आदि जितनी भी बाह्य बातें हैं, उन्हें छोड़कर मात्र आन्तरिक प्रेम-तत्त्व को

स्वीकार किया गया। इसी कारण इन सम्प्रदायों में हमें लीला एक भिन्न स्तर पर दिखाई देती है एवं लीला की इस भिन्न स्तर वाली स्थिति के भीतर ही साधना के क्षेत्र में सखी भाव का चरम विकास हुआ। आगे हम इन सम्प्रदायों की उपास्य, उपासक एवं लीला-सम्बन्धी धारणाओं का विवेचन करेंगे।

सखी (हरिदासी) सम्प्रदाय में उपास्य, लीला, धाम, परिकर एवं साधना-भाव

भक्त-चरित्रों के विश्रुत गायक नाभा जी ने स्वामी हरिदास के बारे में लिखते हुए कहा है–

युगल नाम सौ नेम जपत नित कुंजबिहारी।
अवलोकत रहैं केलि सखी सुख के अधिकारी।।
गानकला गन्धर्व श्याम श्यामा को तोषैं।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषैं।।
नृपति द्वार ठाढ़े रहै दर्शन आसा जासु की।
आसधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की।।[96]

यह छप्पय ही बताता है कि वे युगलोपासक थे, कुंजबिहारी-केलि के सखी भाव से आस्वादक थे तथा ये युगल श्यामा और श्याम थे।

पीछे गौड़ीय वैष्णव-सिद्धान्त-चर्चा में हम भगवत्-तत्त्व पर विचार कर आये हैं। वहाँ पर हमने देखा था कि भगवान और कृष्ण एक ही हैं, अन्य सारे अवतार कृष्ण के ही अंश हैं, पर वे स्वयं भगवान हैं। वे शक्तिमान हैं और उनकी विविध शक्तियाँ हैं। धाम, परिकर आदि सब शक्तियों का ही प्रकाश है एवं उनकी प्रकट और अप्रकट लीलाएँ चला करती हैं। सखी-सम्प्रदाय में इस प्रकार का कोई व्यवस्थित विवेचन उपलब्ध नहीं होता। इसके कारण का निर्देश हम पीछे कर चुके हैं कि ये साधक रहस्यदर्शी अधिक है, व्यवस्थित नियामक कम। परन्तु फिर भी यत्र-तत्र उनके कथनों से कतिपय निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

स्वामी हरिदास युगलोपासक थे। उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाओं में युगल को सम्बोधित करके या उनका नाम लेकर ही अपनी बात कही है। उनके 'केलिमाल' ग्रन्थ में जहाँ युगल का नाम पूरा-पूरा उद्धृत नहीं भी हुआ है, वहाँ पर अभिप्रेत वही है। केवल 'अष्टादश-सिद्धान्त' के पदों में पन्द्रह पद ऐसे हैं, जिनमें युगल को सीधे सम्बोधित नहीं किया गया है। इन पन्द्रह पदों में भी पाँच पदों में बिहारी अथवा कुंजबिहारी शब्द आया है जो लक्षणा से युगल-रूप का ही बोध देता है तथा तीन पदों में कमल-नैन, आनन्दनन्दिस एवं श्याम शब्द प्रयुक्त हुआ है–शेष 6 पदों में उन्होंने केवल हरि शब्द का प्रयोग किया है।[97]

गौड़ीय वैष्णवों से सखी-सम्प्रदाय का पहला सबसे प्रत्यक्ष और मौलिक अन्तर है

कि जहाँ प्रथम में कृष्ण को स्वयं भगवान कहा गया है, वहाँ दूसरे में कृष्ण नाम ही छोड़ दिया गया गया है। यह बात ही सूचित करती है कि कृष्ण के नाम से सम्बन्धित तमाम व्यक्तियों, घटनाओं, परिस्थितियों, स्थानों एवं लीलाओं को अनिवार्य नहीं माना गया। पीछे हम देख चुके हैं कि गौड़ीय वैष्णवों को इन्हें स्वीकार करने के कारण तमाम समस्याओं के समाधान के लिए अनेक स्तरों पर व्याख्याएँ करते हुए उनके मध्य संगति स्थापित करनी पड़ी थी। पर यह समस्या स्वामी हरिदास के सामने न थी। उनके सम्प्रदाय में कृष्ण नाम को छोड़कर श्याम-श्यामा, कुंजबिहारी-बिहारिनि, लाल-लाड़िली, लाड़िली-लाड़िले, प्रिया-प्रियतम, छबीलो-छबीली आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। न वे नन्द-नन्दन हैं और न वे वृषभानुनन्दिनी। राधा नाम अवश्य सम्प्रदाय में प्रयुक्त हुआ है। राधा के साथ चूँकि ऐश्वर्य की पूर्व-कल्पित परम्पराएँ न होकर प्रेयसी का उद्दाम रूप ही सम्बद्ध था, इसी कारण राधा सम्भवतः स्वीकार्य रहीं। वास्तव में कृष्ण नाम स्वीकार करने ने बाद एक प्रश्न उठता है कि कृष्ण तो द्वापर में हुए थे, उसके पहले और बाद की क्या स्थिति रही? अवतार के सन्दर्भ में काल-विशेष का दोष आ जाता है। चैतन्य-मतानुयायियों ने इस समस्या का उत्तर नित्य प्रकट एवं अप्रकट लीला कहकर दे दिया था। पर स्वामी हरिदास अपने उपास्य को अत्यन्त सहज भाव से एक-देशीयता से छुटकारा दे देते हैं। उनके अनुसार गौर-श्याम वर्णी यह जोड़ी सहज ही प्रकट हुई है। तात्पर्य यह कि ये नित्य और अजन्मा हैं। किसी एक काल में ही उनकी विद्यमानता न कहकर यह स्वीकार किया है कि यह जोड़ी पहले भी थी, अब भी है और आगे भी रहेगी। सौन्दर्य के क्षेत्र में तो वे आगे हैं ही, समवयस् भी हैं—

माई री सहज जोरी प्रकट भई रंग की गौर श्याम घनदामिनि जैसे।
प्रथमहुं हुती अबहूं अगेहूँ रहहिं न टरिहै जैसे।
अंग अंग की उजराई सुघराई चतुराई सुन्दरता ऐसे।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा, कुंजबिहारी समवैस वैसे।[98]

स्वा. बिहारिणि दास जी ने मानो इसे ही स्पष्ट करते हुए कहा है—

मेरे नित्य किशोर अजन्मा
बिहरत के प्राण द्वै तन्मा।[99]

इस युगल-रूप के प्रकटीकरण एवं क्रीड़ा की सहजता, स्वाभाविकता एवं अलौकिकता की ओर अत्यन्त लाक्षणिक संकेत करते हुए उन्होंने कहा है—

रुचि के प्रकास परस्पर खेलन लागे। [100]

वे रुचि या प्रेम के प्रकाश हैं, यह तथ्य भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है यानी श्याम-श्यामा वास्तव में एक अन्य तत्त्व-रुचि या प्रेम या रस के प्रकाश हैं। गौड़ीय वैष्णव-सिद्धान्त में हमने देखा था कि राधा कृष्ण की स्वरूप-शक्ति का प्रकाश है, उनका सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान का है, पर यहाँ एक ही तत्त्व रुचि के ये दोनों

ही प्रकाश हैं और इस प्रकार शक्ति-शक्तिमान वाली व्याख्या की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस उपपत्ति का परिणाम है कि दोनों को समानता का स्तर प्राप्त हो जाता है। 'परस्पर खेलन लागे' कथन प्रकटीकरण की अलौकिकता, पारस्परिक प्रेम-भावना एवं क्रीड़ा-परायणता की ओर संकेत करता है।

इस सहजता, अनादि तत्त्व आदि को ध्यान में रखने के कारण ही सम्भवतः स्वामी बिहारिणि दास (इस सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त-व्याख्याता) ने कहा था–

मन नसा आसा मगन तन की कछू न सम्भार।
श्री बिहारीदास नाम न कहै निरषै नित्य बिहार॥
नामी नाम न भावई तन मन मनसा प्रान।
आसा दास विहार कियौ बसि रसिकाने धाम॥
नाम न कछु विहार बिन ठाली नाम निवारि।
नामी नाम सुहावनौ जब देख्यो करत बिहार॥
कहा नाम नामी कहा सखी सुख पूछौ तोहिं।
तन मन मगन बिहार में तहाँ ढूढ़ि ले मोहिं॥[101]

इस प्रकार मुख्य बात नित्य-बिहार है, नाम नहीं। तात्पर्य यह कि इस युगलरूप का मुख्य परिचय नाम से नहीं नित्य-विहार-तत्त्व से दिया जा सकता है। यदि कोई नाम दिया भी जायगा तो युगल के पारस्परिक बिहार, प्रेम एवं केलि को प्रकट करने वाला ही होना चाहिए। यों नाम और नामी का सम्बन्ध अन्यत्र उन्होंने बीज एवं तरुशाखा का माना है जिसमें साधनरूपी अपार पुष्प खिलते हैं।[102]

वास्तव में युगल एक ही हैं, केवल इच्छा से ही दो होते हैं। इसी कारण बहुत-से लोग इस सम्प्रदाय के दर्शन का नाम 'इच्छा-द्वैत' बताते हैं। पर वास्तव में इच्छा से दो होने का सिद्धान्त लगभग सभी वैष्णव-सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। अन्तर इतना ही है कि यहाँ पुरुष-तत्त्व (श्याम) की ही प्रधानता नहीं है। दोनों को समान पद प्राप्त है। बिहारिणि दास ने उनके एकत्व की एक बड़ी अनोखी उपमा दी है कि चना जैसे एक ही होता है पर उसके भीतर दो दालें हो जाती हैं, वैसे ही एक होते हुए भी ये दो हैं–

बहुत भाँति इनको कहै श्री बिहारिणि दास विचारि।
विकल बिना आलिंगनै एक चना द्वै दारि॥[103]

अथवा जैसे एक ही मूल के दो स्कन्ध एक ही समय में होते हैं, वैसे ही ये भी हैं–

एक मूल अस्थूल लौ, द्वै स्कन्ध समवैस।[104]

यह जोड़ी ऐसी विचित्र बनी है, जैसी कि किसी ने न देखी है, न सुनी है और न मानी है।[105] ये प्यारे को प्यारी अच्छी लगती है और प्यारी को प्रियतम बहुत भाते हैं, दोनों को ही युगल किशोर जानना चाहिए।[106] जैसे 'घन-दामिनी' सदा साथ रहते हैं, वैसे ही ये भी हैं। ऐसी अद्‌भुत जोड़ी है कि मन, वचन और कर्म से इन्हीं का

संग करने का मन होता है फिर और किसी ओर दृष्टि टलती ही नहीं है।[107] जिस प्रकार पृथ्वी में गन्ध है परन्तु उसका रूप सूक्ष्म है, उसी प्रकार श्याम के रूप में गौर अंश सूक्ष्म रूप से विद्यमान ही रहता है—

ज्यों पृथ्वी में गन्ध है सूक्षम धरे सरूप।
यों गौर स्याम में मिल रह्यौ भिन्न न कहिये रूप।[108]

न ये लक्ष्मी और नारायण हैं और न ही ये ब्रज के राधाकृष्ण हैं—वे लोग तो इनके रस के लिए ललचाने और बिललाते रहते हैं—

अभिमानौ दरवान ज्ञान की कौन कहै कुसरात।
याही तै दुर्लभता सबकौ लछिमीपति ललचात।
यद्यपि राधा कृष्ण बसत ब्रज बिन बिहार बिललात।[109]

वेदादि में जो निर्गुण ब्रह्म की चर्चा आती है, मुनिगण जिस निराकार की बात कहते हैं, वह सब इन नित्य-बिहारी की आभा मात्र है—

निर्गुण ब्रह्म जो बर्नत वेद, ताकौ सुनौ जुदो इक भेद।
सो नित्त बिहारी की आभा आहि,
निराकार मुनि बदत जो ताहि।[110]

यदि कोई यह प्रश्न करे कि विविध अवतारों का कारण क्या है तो स्वामी रसिक देव का उत्तर होगा कि इन अवतारों के उद्भव का कारण युगल का यह नित्य-विहार ही है—

नारायण आदि सकल औतार, तिन कारन नित्य विहार।[111]

यों वे और किसी के आश्रित नहीं हैं पर मन के लिए तो कोई सहारा चाहिए और वे अगोचर भी हैं, अतः दिखाई कैसे पड़े। मन इस दिव्य केलि-रूपी आलम्बन के सहारे टिका रहता है, इस प्रकार लीला का भी कारण नित्य विहार प्रतीत होता है।[112] यह अंग हमें सूरदास के "अवगति गति कछु कहत न आवै" को याद दिला देता है। स्वामी ललितकिशोर देव ने इस नित्य विहार-लीला का कारण प्रभु का वह अनुग्रह माना है जो सखी को आनन्द देना चाहता है, अन्यथा उनका रूप तो वेदों के लिए भी अलख और अगोचर है—

निगम अगोचर अलख है क्यों हू लख्यौ न जाय।
प्रेम सहचरी भाव सों युगल रूप दरसाय।[113]

यो दोनों ही विहार के इतने लालची हैं कि इनके बिना जो समय बीतता है, वह उनके शरीरों को अत्यधिक शिथिल कर देता है, उन्हें वे विरह के क्षण प्रतीत होने लगते हैं—

व्याकुल विरह विहार बिनु नखसिख लोभी लीन।
श्री बिहारिणि दास अंग सिथिलई स्वासन गनत अधीन।[114]

इनके विहार को ही लेकर सखी-सम्प्रदाय के भक्तों ने सहस्रों दोहों, पदों, कवित्त,

सवैयों में रस की धारा बहाई है। पर किसी को यह न समझना चाहिए कि इनके विहार में प्राकृतिक मल-मैथुन या काम का आवेश है—

इनके मल मैथुन कछु नाहीं, ए दिव्य देह विहरत बन माँहीं
काम प्रेम रस विवस विहारी, सावधान सहचरि सुकुमारी।[115]

इस अलौकिक काम-प्रेम के रस में वे इतना मग्न हो जाते हैं कि उन्हें अपनी सुधबुध ही नहीं रहती। सावधान सखी उनकी चिन्ता ऐसे क्षणों में करती है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सखी-सम्प्रदाय का उपास्य गौड़ीय वैष्णवों से पृथक् है। वहाँ पर उसे सत्-चित्-आनन्द कहा गया है, पर इनकी विहारिणी और वल्लभ उसमें भी उज्ज्वल है—

विहारिनि वल्लभदुर्लभ जानूँ।
सत् चिद् आनन्द ब्रह्म जोति तिनहूँ ते उज्ज्वल मानूँ।[116]

युगल में प्रधानता

जब उपास्य का रूप युगल हो जाता है, तब यह प्रश्न बहुत समीचीन नहीं रहता कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है पर इधर हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जब से युगलोपासना और सखी-भाव को महत्त्व प्राप्त हुआ है, तब से घुमा-फिराकर राधा को अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है और इस राधा-प्रथा को इन सम्प्रदायों का विशेष प्रदेय माना जाता है।[117] इस साहित्य के आन्तरिक अध्ययन में मुझे यह निष्कर्ष एकांगी प्रतीत होता है। यह सत्य है कि राधा की श्रेष्ठता-सम्बन्धी अंश इस साहित्य में यथेष्ट है परन्तु कुंजबिहारी को ही श्रेष्ठतम मानने वाले उद्धरणों की भी कमी नहीं है। वास्तव में ये श्रेष्ठताएँ सापेक्षिक हैं और भिन्न-भिन्न स्तरों पर है। जहाँ पर सैद्धान्तिक परात्पर तत्त्व आदि की चर्चा आ जाती है और अवतार, सृष्टि आदि के प्रसंग आ जाते हैं, वहाँ पर कृष्ण की श्रेष्ठता का निदर्शन होता है; परन्तु जहाँ पर निकुंज-विहार की प्रेम-पद्धति है, वहाँ पर राधा अधिक गम्भीर एवं प्रधान दिखाई देती है। पर यह विशेषता तो प्रेम भाव के कारण है। गौड़ीय वैभवों ने महाभाव की जिस अवस्था का तादात्म्य राधा के साथ किया था, उसी की अत्यन्त स्वाभाविक परिणति प्रेम के प्रदेश में राधा की यह श्रेष्ठता है। इसके अतिरिक्त ह्लादिनी-शक्ति की जिस भक्ति का आनन्द देने वाली वृत्ति की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं, उसके अनुसार राधा को उपास्य मानना कृष्ण की अवमानना नहीं है। इसी प्रकार जैसे कि स्वा. हरिदास या गुरु को भी उपास्य से भी कभी-कभी अधिक महत्त्व देना युगल रूप का अपमान नहीं है। अपना स्त्री-सुलभ कोमलता से राधा भक्त के लिए अधिक सुलभ है तथा राधा एवं सखी दोनों के ही स्त्रीरूपा होने से तत्सुखित्व का भाव भी अधिक सहज एवं स्वाभाविक हो जाता है। कृष्ण को उपास्य-रूप में अधिक मान्यता

देने से गोपी भाव से कृष्ण को कान्त मानने की अभिलाषा भी जाग सकती है। हमारा विचार है कि प्रधानता-सम्बन्धी द्वैत की स्थापना इन सम्प्रदायों की युगलोपासना एवं नित्य-विहार की आत्मा के विरुद्ध है। अस्तु, अगले पृष्ठों में हम 'विहारी' एवं 'विहारिणी' दोनों के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

प्रियतम

अपने अष्टादश-सिद्धान्त के पदों में स्वा. हरिदास ने उन्हें हरि नाम से सम्बोधित करते हुए बताया है कि उनकी मायाबाजी विचित्र रूप से फैली हुई है और उसमें मुनिगण तक भ्रमित हो जाते हैं।[118] मृगतृष्णा-रूपी जग में हरि का ही सब खेल व्याप रहा है।[119] इसको प्रत्येक दिन वे बुनते भी हैं और उधेड़ते भी है, इस प्रकार प्रपंच के इस सागर (जगत्) का निर्माण और विनाश सब उन्हीं की माया है–

निशिदिन बुनत उधेरत जात प्रपंच कौ सागर।[120]

संसार को माया का परिणाम एवं माया को भगवान से सम्बद्ध करके वे वैष्णव-तत्त्व-दर्शन एवं सृष्टि-क्रिया के मानने वाले ही सिद्ध होते हैं। जो कुछ प्रभु चाहते हैं, वही होता है। जीवन कितना ही फड़फड़ाये, पर प्रभु-इच्छा के पिंजड़े में बद्ध है और उसी के अनुरूप वह कार्य कर सकने में समर्थ होता है–

ज्यों ही ज्यों ही तुम राखत हो, त्यों ही त्यों रहियतु हौं हरि,
और तो अचरचे पाइधरौं, सो तो कहौ कौन के पेड़ भरि।
यद्यपि कीयौ चाहौ अपनौ मनभायौ,
सो तो क्यों करि सकौ राख्यौ हौं पकरि।
कहि श्री हरिदास पिंजरा को जनावर ज्यों,
फड़फड़ाय रह्यो उड़िबे को कितोउ करि।[121]

उनके परात्परत्व की ओर सखी-सम्प्रदाय के श्रेष्ठ व्याख्याता स्वा. बिहारिणी देव जी ने बड़े स्पष्ट संकेत किये हैं। उनके अनुसार वे मात्र अपनी इच्छा से लीला-शरीर-रूपी विग्रह भारी बनते हैं, अन्यथा वे तो अवतारी हैं और सब भले ही अवतार हों। लक्ष्मीपति नारायण ही नहीं, ब्रजाधीश कृष्ण के लिये भी वे सुलभ नहीं हैं, उनसे बड़ा और कौन अधिकारी है–सबसे बड़े वे स्वयं हैं। ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। अन्य अवतार उनकी अंशकलाएँ हैं, भृकुटमणि कुंजबिहारी अवतारी हैं, पति हैं–

इच्छा विग्रह धर लीला वपु सब अवतारन पर अवतारी।
लक्ष्मीपति ब्रजपति कौ दुरलभ, इनते कौन बड़ी अधिकारी।।[122]

एवं

सकल ईश के ईश हैं, अंशकला अवतार।
श्री कुंज बिहारी मुकुटमणि, अवतारी भरतार।।[123]

अथवा

निर्गुण ब्रह्म जो बरनत वेद, ताकौ सुना जुदो इक भेद।
सो नित्त बिहारी की आभा आहि, निराकार मुनि बदत जु ताहि।।[124]

या

अंस कला सब अवतारनि को अवतारी भरतार।[125]

ऐसे विराट् को यह समझना भी भूल होगी कि वे चतुर्भुज हैं, षड़यन्त्र हैं या कि ब्रजेश्वर कृष्ण हैं; वे मात्र द्विभुजधारी हैं। हाँ, अनुपम कुंजबिहारी अवश्य हैं। इस प्रकार अत्यन्त कोमल मानवीय स्तर पर उनकी कल्पना की गयी है—

चतुर्भुज छभुज भये ब्रजभूप, कुंजबिहारी दुभुज अनूप।[126]

यद्यपि उनका अन्त कोई नहीं पाता,[127] पर फिर भी जो पण्डित लोग माहात्म्य का मिश्रण करके उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं, वे मानो इस माहात्म्य के आधार पर व्यापार करते हैं :

कागद मसि लिखि लीक लिवारी, बहुमत रत पण्डित पटवारी।
महातम मिश्रित ते रुजिगारी, जना जाति वंचित जंजारी।[128]

यह माहात्म्य-रहित कहा जाने वाला अत्यन्त कोमल मानवीय व्यक्तित्व सदा सर्वदा सबके ऊपर है और नियन्ता है। कोई यह भी न समझे कि उनमें लीला का अभाव है—"यह लीलासागर नटनागर अपनी रुचि में रमावे"।[129] सबका यह स्वामी आदि, मध्य एवं अवसान सभी में एक-रस रहता है।[130] वास्तव में स्याम ही एकमात्र सिंह हैं—शेष सभी तो शृगालवत् हैं।[131] वस्तुतः अपने-अपने भाव के अनुसार ही लोग अपने उपास्य को देखते हैं। रसिकों के लिए तो मोहन अत्यन्त मृदुल वेषधारी हैं। यों सखी सम्प्रदाय के आचार्य ब्रज-लीलाओं को तिरस्कृत नहीं करते, उनके अनुसार ब्रज-लीला आदि के उपासक उन लीलाओं में भी उसे देख लेते हैं (पर उसका रूप तो वही है जो रसिकों को दृश्यमान है।)—

जिहिं जैसा तिनि तैसा देखा, रसिकन कौ मोहन मृदु भेसा।
विधि निषेध तजि भक्ति कर निदरि,
दुविधा गये हिये आवे दृष्टि।
इक मन साधन कर वृज जाई, इक चितचीर हरन सुखदाई।
मुरली रब रसिक रमाई, ते बनिता सथ जूथ कहाई।[132]

परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत कर चुके हैं, प्रेम के क्षेत्र में, निकुंज-लीला के क्षेत्र में यही अवतारी, भरतार माया की बाजी पसारने वाले कोटि-काम लावण्य-विहारी राधा का मुख जोहते रहते हैं—उनकी कृपा की अभिलाषा रखते हैं। राधा की छाँह से ही उनमें सुधराई आयी है।[133] उनका मन होता है कि प्यारी के प्राण से प्राण मिले रहें एवं तन में तन समाया रहे, आँखों से आँखें लगी रहें राधा के वशीभूत उन्हें भ्रूक्षेप भी बरदास्त नहीं है।[134] उनकी जितनी विभुता हम पीछे

देख चुके हैं, वह सब प्रेमराज्य के लिए नहीं हैं। यहाँ तो महत्ता-सूचक ठाकुर सम्बोधन उन्हें संकुचित कर देता है। प्रिया की जूठन खाने के लिए वे लालायित रहते हैं एवं सखियों से याचना करते हैं कि प्यारी के साथ मुझे बिहार का अवसर प्रदान करती रहो। स्वा. विहारिणि दास ने इन कोमल, चतुर चिकनिये लाल के लिए लिखा है–

अति टौंड़क अति चिकनिया, अधिक चतुर इतराइ।
कितै विमौ कित ठकुरई जूठन को ललचाइ।
जाचै जूठन पाइये, पां परि हा हा खाइ।
जौ ठाकुर करि बोलियै, सकुचि तनकु हवै जाइ।
ताहि सुहाई न ठकुराई बड़ो प्रताप विस्तार।
जाचत है दिन जीव का सखी मोहि अहार विहार।
प्रान पलित पाइनि परै परसै होत निहाल।
यहै दसा सेवत सखी दूलह दुलहिन लाल।[135]

राधा

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि राधा का परम्परा-प्राप्त स्वरूप प्रेम-मूर्ति का था। ऐश्वर्य, वैभव की परम्पराएँ उनके साथ सम्बन्धित नहीं थीं। इसी कारण राधा को स्वीकारने में उन्हें बहुत संकोच नहीं हुआ। पर इस काल तक राधा ब्रज-लीलाओं के भीतर अनन्य भाव से गुम्फित हो चुकी थीं। इसी कारण 18वीं शती के आचार्य ललितकिशोरी देव को यह बात कहने की आवश्यकता पड़ी कि ये राधा न तो ब्रज की हैं और न ही रास-विलास वाली हैं। यह तो तीसरी राधा हैं जो कुंज में हरिदास द्वारा दुहराई जाती हैं यानी कि जो निकुंज-लीला-विलास में मग्न हैं, वे ही ये हैं। न तो इनका जन्म होता है, न कर्म–दोनों ही समान वय वाले एक रस निकुंज-विहार में रत रहते हैं। यह तो साधक की रुचि पर निर्भर करता है कि उन्हें राधा कहे या कुंजविहारिणी संज्ञा से सम्बोधित करे। वास्तव में नाम और नामी (वस्तु) में अभेद है, भेद लीला का परिणाम मात्र है–

एक राधा ब्रज में बसैं एक राधा रास विलास।
तीजी राधा कुंज में दुलरावै हरिदास।
राधा नाम विभाग करि समझौ रसिक सुजान।
जनम कर्म जाको नहीं इकरस वैस समान।
भावै तो राधा कहौ, भावै कुंजविहारिणि नाम।
नाम वस्तु अभेद है, लीला भेद परिणाम।[136]

कालिदास की उक्ति "क्षणे क्षणेयन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" उनके

लिए पूरी तरह लागू होता है। प्यारी राधा का मुख ज्यों-ज्यों लाड़ले देखते हैं, उन्हें प्रतिक्षण नया ही लगता है–

प्यारी जू जब जब देखौं तेरो मुख तब तब नयौ नयौ लागति।[137]

उनका मुख नहीं है मानो अमृत की पंक है, जिसमें प्यारे के नयन फँस गये हैं।[138] वास्तव में कृष्ण की जितनी भी सुघराई है, सब उन्हीं की छाँह में रहने के कारण है–

सुधर भये बिहारी याही छाँह ते।
जे जे गटी सुधर जानपने की ते ते याही बाँह ते।[139]

स्वयं प्यारे अपने मुख से कहते हैं कि जहाँ-जहाँ प्रिया के चरणों की छाप पड़ती है, वहीं-वहीं उनका मन छाया करता रहता है–

जहाँ जहाँ चरन परत प्यारी जू तेरे तहाँ–
तहाँ मन मेरौ करत फिरत परछाहीं।[140]

यों तो ब्रह्माण्ड में अगणित नारियाँ हैं, वे रूपवती एवं चित्ताकर्षिणी भी हैं पर जो शोभा, जो सौन्दर्य, जो सुषमा इनमें है वह न देव-नारियों में है, न नाग-नारियों में और न किसी और महिला-समाज में। इसके अतिरिक्त यह भुवन मोहन सौन्दर्य न पहले सुना गया है, न अभी है और निश्चित रूप से आगे भी नहीं होगा–

देव नारि नाग नारि और नारि
ते न हौंहि और की औरे।
पाछे न सुनी ऐसी अबहूँ आगे हू न ह्वै है,
यह गति अदभुत रूप की अद्‌भुत और की औरे।[141]

लाल को इसी बात का भय रहता है कि प्यारी जी कभी उनसे कुमया न कर जायें–

प्यारी जू एक बात कौ मोहि उर आवत है री।
मति कबहूँ कुमया करि जांति।[142]

वास्तव में किशोरी ही सुख का सार-समूह हैं। रूप की आगार, रंग की साक्षात् सागर, परम विचित्र एवं अत्यन्त लोभी श्यामा जी के आगे श्याम सदैव आधीनी करते हैं।[143] श्याम भोक्ता है एवं श्यामा भोग्या हैं, अपने इस रूप में वे आलम्बन रूप भी हो जाती हैं, यही उनकी प्रधानता है। इसी रूप में वे लाल के प्राणों का पोषण करती हैं, सम्पूर्ण सुख देती हैं एवं प्रिय के जीवन के लिए रसिकता का आगार हैं–

भोगी स्याम भोग हैं प्यारी, पोषत प्राण लाल हितकारी।
स्वामिनि सब सुख पूरण दानि, पिय की जीवन रसिक निधानि।[144]

भोग्य की इस सहज प्रधानता के वशीभूत होकर अपने प्रताप को दुराकर पति रति की याचना करते हैं, अपनी इस रसरीति को प्रकट करने के बाद के प्रिया के चरणों में प्रणत होकर अपने को धन्य मानते हैं, वे सबके स्वामी हैं, पर उनकी भी स्वामिनी राधा हैं–

मानदान दे प्रान प्रिया पति रति जाचत परताप दुरायन।
बिनु रसरीति प्रतीति प्रकट करि धन्य जन्म मानत परि पायन।
कर कंकन दरपन देषहु न श्रीविहारिनि दास लहै मन भाइन।
सब ठाकुर कौ ठाकुर हरि ता ठाकुर कौ ठाकुर ठकुराइन।[145]

इस प्रेमावेग में ही एक अन्य स्थान पर वे सर्वोपरि कुंजविहारिनी रानी बता दी गयी हैं। यहाँ तक कि ब्रजराज भी उनकी प्रजा है।[146] इस प्रेमाधिक्य के कारण ही प्रिया की भौंह का मैला होना भी लाल के लिए प्राणान्तक होता है।[147]

यों एक स्थान पर यह भी प्रतीत होता है कि कृष्ण की अनेक वल्लभाएँ थीं। राधा मान किये हैं, सखी उनसे आकर कहती है कि यदि सर्वोपरि होना चाहती हो तो चलो–

आजु त्रनु टूटत है ललित त्रिभंगी पर।
चरन-चरन पर मुरली अधर धरै, चितवनि बंक छबीली भू पर।
चलहु न बेगि राधिका पिय पै, जौ भयो चाहति हौ सर्वोपरि।[148]

परन्तु इस एक ही प्रसंग को अधिक खींचना उचित न होगा। इसके अतिरिक्त सर्वोपरि की व्याख्या अन्य अर्थों में भी की जा सकती है।

परन्तु जैसा कि पीछे हम अपना मन्तव्य प्रकट कर चुके हैं, राधा की यह प्रधानता निकुंज-लीला के प्रेमाधार को दिखलाने के लिए है। उनका वास्तविक रूप युगल का ही है–प्रधानता-अप्रधानता की यहाँ चर्चा नहीं होनी चाहिए। पर इतना अवश्य ध्यान रहे कि गौड़ीय वैष्णवों जैसा शक्ति एवं शक्तिमान का यहाँ पर कोई विभाजन नहीं है। इन दोनों के मध्य निरवधि नित्य-विहार की केलि होती रहती है। इस केलि-महारस में ही वे भी डूबे हैं एवं सखियाँ भी इसी रस में आनन्द लाभ करती रहती हैं। विहारिणिदास ने दोनों का समन्वय एक स्थान पर अत्यन्त सुन्दर रीति से किया है। उनके अनुसार 'विहारिणी' पर भाव रखकर कुंज-बिहारी राव का भजन करो–

यौ भजि कुंज बिहारी राव।
श्री विहारनि रानी पर धरि भाव।[149]

परिकर

जैसा पीछे इंगित किया जा चुका है, लीला के विस्तृत रूप के स्थान पर सारभूत तत्त्व को अपनाने के कारण सखी-सम्प्रदाय में परिकर की वैसी कोई व्यापक एवं पुष्ट धारणा नहीं है, जैसी कि गौड़ीय वैष्णवों में हमें उपलब्ध होती है। यहाँ पर केवल मात्र कुछ सखियों का संकेत मिलता है। सखियों के भी नाम, रूप, सेवा, प्रकार आदि का पृथक् विवेचन नहीं हुआ है। केवल सेवाकार्य या मान के समय मनाने

आदि के प्रसंग में कुछ सखियों का उल्लेख हो जाता है। केलिमाल में 'हरिदासी' नाम सखी के रूप में उल्लिखित हुआ[150] एवं केवल एक अन्य स्थान पर ललिता का उल्लेख है।[151] अन्य स्थानों पर एक वचन या बहुवचन में सखी की ही चर्चा आयी है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी हरिदास सखियों को भगवान का ही अंश मानते थे। कम-से-कम एक पद में तो उन्होंने सखियों को कृष्ण-मूर्ति ही कहलाया है। लाल कह रहे हैं–

जहाँ-जहाँ चरन परत प्यारी जी तेरे तहाँ
तहाँ मन मेरो करत फिरत परछाहीं।
बहुत मूरत मेरी चौर ढुरावत कोऊ
बीरी खवात एक व आरसी लै जाहीं
और सेवा बहुत भाँति की जैसी ये कहै
कोऊ तैसी ये करौ ज्यों रुचि जानो नाहीं।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कों।
भले मनावत दाइ उपाहीं[152]

सखियाँ केलि की व्यवस्था करती हैं, मानिनी को मान के समय मनाकर केलिसमुत्सुक बनाती हैं, साथ में छिरका खेलती है, रास के समय भी साथ रहती हैं एवं उस शोभा का पान करते रहने की ही उनकी आकांक्षा रहती है–"ऐसे ही देखत रहौ जनम सुफल करि मानो तथा "हंसत खेलत बोलत मिलत देखो मेरी आखिन सुख।"[153]

इन विविध सखियों में एक सखी अधिक प्रमुख है, इसका भी संकेत अनेक स्थानों पर मिल जाता है। हरिदासी एवं ललिता नाम का उल्लेख हमने अभी किया है तथा सम्प्रदाय में इन दोनों को एक ही स्वीकार किया जाता है, अतः यह निष्कर्ष अनुचित न होगा कि मुख्य सखी हरिदासी या ललिता ही है। एक अन्य स्थान पर स्वयं प्रिया जी कहती हैं कि अनन्त जिह्वाओं से भी तेरे गुणों का गान नहीं हो सकता :

रोम-रोम जो रसना होता तौऊ तेरे गुनन बखाने जात।
कहा कहौं एक जीम सखीरी बात की बात।[154]

बाद के सम्प्रदायाचार्यो ने इन अन्तरंगा सखियों के रूप को और अधिक विकसित किया है। परवर्ती लोगों ने युगल के समक्ष ही हरिदासी सखी को स्थापित कर दिया है। विहारिणिदास के अनुसार तो प्रेम की तरुण तरंगों वाले सिन्धु में सखी के सहारे ही लाल-लाड़िली तैर पाते हैं। उनके विहारजन्य श्रम का निवारण, तीर पर लाने का कार्य एवं प्रेमाभिभूत अधीर युगल को धैर्य बँधाने का काम उन्हीं का है–

तरुन तरंगिनि मैं परे उरझे बार सिवार।
पैरहिं साहस सखी के अति आवर्त बिहार।

श्रमिहिं निवारत कर धरत कबहूँ लावत तीर।
श्री विहारिनिदास हुलास मन देत अधीरन धीर।[155]

स्वामी हरिदास के महत्त्व को ललितकिशोरी देव ने पूरी तरह स्थापित करते हुए प्रियालाल को धन एवं हरिदास को धनी माना—

प्रियालाल है धन सही, धनी सही हरिदास।
महालाड़ अति चाव सौ, विलसत केलि विलास।[156]

एक अन्य रूपक द्वारा उन्होंने समझाना चाहा है कि खिलाड़ी हरिदास जी हैं एवं लाड़लीलाल खेल हैं तथा खेल सदा खिलाड़ी के बस में रहता है यानी प्रिया और प्रिय हरिदास-सखी के वंश में ही हैं—

खिलाड़ी श्रीहरिदास हैं खेल लाड़िली लाल।
राखत अद्‌भुत रंग मै जानि महा निजु हाल।
खेल खिलाड़ी बस रहै ऐसे जुगुल किशोर
श्री हरिदासी लाड़ सौ नहि जानत निसि मोर।[157]

इस तथ्य को और अधिक पूर्णता प्रदान करते हुए लाल, लाड़िली एवं हरिदास तीनों के मध्य अभिन्नता स्थापित की गयी है। जैसे कि एक ही छिलके के भीतर तीन चने हों, वैसे ही (वृन्दावन भूमि) अँचल में यह तीनों हैं :

तीन चना इक छौलका ऐसे धर्म विचार
श्री विहारी विहारिनिदास उर अंचल बीच विहार।[158]

अभिन्नता का कारण रस-प्राप्ति है। लाल-लाड़िली को परस्पर विहार से शरीर-सुख मिलता है एवं श्री हरिदास उनके सुख से सुखी होते हैं—

कहिबे कौ तो तीन है सुख विलास में एक।
तनु मन विलसे दोइ मिलि मन करि विलसे एक।
ततसुख विलसे मनमई सो सुख तनहि विलास
गौर श्याम तनु सुख सुखी तत सुख श्री हरिदास।[159]

सम्प्रदाय ने उनको पूर्णरूपेण उपास्य बना दिया है। यहाँ तक कि लाख बार हरि-हरि कहने की अपेक्षा एक बार 'हरिदास' कह देने से लाड़िली प्रसन्न होकर सदैव वृन्दावन-विपिन (निकुंज-स्थल) का वास दे देती है—

लाख बार हरि-हरि कहै एक बार हरिदास
अति प्रसन्न श्री लाड़िली सदा विपुन को वास।[160]

अथवा यदि भूल से ही एक बार हरिदास नाम निकल जाय तो नित्य-विहार का अनवरत रसपान वह करने लगता है—

श्री स्वामी हरिदास कहै जो भूलि कै।
हरि हाँ नित्य विहारै लहै रहै रस झूलि कै।[161]

और इतना निश्चित है कि बिना स्वामी हरिदास के न तो यह केलि कभी

दृश्यमान हुई है और न होगी। यह बात वैसी ही असम्भव है, जैसे कि लड़कपन में खेल-खेल में कोई वैराग्ययुक्त वनवास करने की बात कहे। वस्तुतः जिस प्रकार रात्रि बिना चन्द्र प्रकाश एवं शोभाहीन होता है, वैसे ही स्वामी हरिदास के बिना भक्ति का भाव व्यर्थ है, इसलिए नित्य विहार को चाहने वाले को स्वामी हरिदास का गान करना चाहिए—

ना पाई ना पाइ है श्री स्वामी बिनु केलि।
विपुन बसै वैराग्य जुत ज्यों लारिका खेलि।
जैसे चन्द्रा रैनि बिनु स्वामी बिन भाव।
चाहे नित्य विहार तो श्री हरिदासै गाव।[162]

हम जानते हैं कि जीवन का चरम लक्ष्य यही नित्य विहार-रस ही है।

धाम

स्वामी हरिदास में धाम की वैसी कोई पुष्ट दार्शनिक कल्पना हमें प्राप्त नहीं होती जैसी कि गौड़ीय वैष्णवों के सम्प्रदाय में है। इस सम्प्रदाय में सबसे महत्त्वपूर्ण धाम निकुंज है। निकुंज की ही सत्ता वृन्दावन में स्वीकार की जाती है एवं वृन्दावन ब्रज में है, इसलिए सभी महत्त्वपूर्ण स्वीकार किये गये हैं पर यह ध्यान रहे कि इनकी श्रेष्ठता का क्रम अपरपूर्व है या सब मिलाकर धाम के रूप में वृन्दावन को ही स्वीकार किया गया है। स्वामी हरिदास ने अपनी रचनाओं में एकाधिक स्थानों पर वृन्दावन का उल्लेख किया है। उनके अनुसार वृन्दावन से बन को ही गुँजमाल की तरह हाथ में पोहना चाहिए।[163] अन्यत्र ऋतु-वैभव के साथ ही वृन्दावन की सुषमा भी वे वर्णित करते हैं—

ऐसी ऋतु सदा सर्वदा जौ रहै बोलति मोरनि।
नीके बादर नीकी धनुष चहूँ दिशि नीको
श्री वृन्दावन आछी नीकी मेघन की घोरनि
आछी नीकी भूमि हरी हरी
आछी नीकी बूँदनि की रेंगनि काम की रौरनि
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा के मिल गावत।
जम्यौ राग मल्हार किशोर-किशोरनि।[164]

अन्य भी उन्होंने विहार के प्रसंग में वन का उल्लेख किया है। यह कहना अनुचित न होगा कि यह वन वृन्दावन ही है। परवर्ती सम्प्रदायाचार्यों ने वृन्दावन को और अधिक महत्त्व प्रदान कर दिया। बिहारिणिदास ने तो अन्य धामों का उल्लेख करते हुए वृन्दावन को सर्वश्रेष्ठ बता दिया—

तीरथ सकल लोक बैकुण्ठ तै मधुपुरी अधिक सन्देह नसानौ।
ताते अधिक निकट ब्रज वैभो ब्रह्मा वेदनि प्रकट प्रवानो
श्री बिहारनिदास निकुंजनि सेवत ताज राधा रवन रवानौ।
विद्यमान हरि मन्दिर राजत, श्री वृन्दावन रस खानि खदानौ।[165]

धर्म, अर्थ, मोक्ष आदि पुरुषार्थ एवं भक्ति के अनेक भेद बताये गये हैं पर जो सुख वृन्दावन में, जो पवित्रता यमुना के कूल के सौरभ में है, वह अन्यत्र कहीं नहीं हैं–

श्री बृन्दावन को सुख कहूँ न लह्यो।
धर्म, अर्थ, कामना मुक्ति पद भेद भक्ति बहु भाँति कह्यो।
परम पवित्र पुलिनि सौरभ कन पावन जमुना तीर बह्यो।[166]

अन्य मत-मतान्तरों, पुराणों आदि में वर्णित वैकुण्ठ, महावैकुण्ठ आदि भी उनके धाम हैं पर वृन्दावन विपिन तो राजधानी है। वृन्दावन को यदि रस की खानि कहा जाये तो अनुचित न होगा। क्योंकि साक्षात् रस-विग्रह गौर-श्याम यहाँ नित्य-विहार करते रहते हैं। राधा-कथा यहाँ नित्य है, विपिन का यह विलास भी नित्य है एवं कोटि-कोटि गोलोक का आलोक यहाँ के एक-एक पत्ते में है–

वैकुण्ठ महा वैकुण्ठ लौ सबछी धामै जानि
रजधानी बृदाविपुन अद्भुत रस की खानि।
अद्भुत रस को खानि है श्री वृन्दावन नित्त
गौर श्याम विहरै जहाँ एक प्रान द्वैं मित्त।
नित्य हो राधा कृस्न है नित्य ही विपुन विलास।
कोटि कोटि गोलोक लै एक पत्र परकास।[167]

उपासना का स्वरूप और भाव

सखी-सम्प्रदाय नाम ही यह सूचित करता है कि उपासक को सखी भाव से उपासना करनी होती है। सखियाँ ही दम्पति-रस-भोग का आनन्द ले पाती हैं। विहारिणिदास जी इसीलिए कहते हैं–

सहचरी है भजौ पल पास क्यौ जतौ संग बसिहो मनि कौट नाते।[168]

महन्त किशोरदास का भी निर्देश है कि सहचरी-भाव से नित्य निकुंज विहार का भजना ही उचित है।[169] सखी भाव की श्रेष्ठता बताते हुए वे कहते हैं–

और भाव ते अधिक अति, सखी भाव को अंग।
किशोरदास दम्पति निकटि सहचरि करत प्रसंग।
सब भावन को मुकुट मणि, सहचरि भाव अनूप।
किशोरदास और न निकटि, सखी भाव तद्रूप।

सांति दास्य अरु सष्य हू, वात्सल्य तहाँ न जात।
किशोरदास सहचरि निकट, संतत सुख दरसात।[170]

परन्तु सहचरी भाव की पहचान क्या है? केवल अपने को सखी कह देने से ही तो काम नहीं चलता। वास्तव में सखी भाव की साधना सहज नहीं है। जब तक पुरुषत्व का अभिमान शेष है, तब तक सखी भाव का अनुसरण सम्भव ही नहीं है। निर्विकार शरीर में ही सखी-भाव का आरोप हो कस्ता है, मन से स्त्री सहवास की आकांक्षा निकाल देनी होती है–

उलटि लगे मन स्याम सो प्रीया भाव है जाइ।
सखी भाव तब जानियै पुरुष भाव मिठि जाइ।
पुरुष भाव छूटै नहीं, मन में बसि रही जोइ।
सखी भाव तब जानियै, निर्विकार तन होइ।[171]

पुरुष-भाव के मिटा देने और स्त्रीस्वरूप का आरोप कर लेने पर प्रेम के प्रतीकवाद का परिणाम यह भी हो सकता है कि श्याम को प्रियतम मानकर उनसे रति-सुख की कामना की जाये। पीछे हम देख चुके हैं कि गोपियों ने कृष्ण-संग-सुख की स्पृहा की थी। पर सखियों के लिए यह मार्ग नहीं है। रसिक देव जी ने इस सम्बन्ध में सावधान करते हुए सखियों के स्वभाव-सम्बन्धी एक प्रसंग का उल्लेख करते हुए उनके स्वरूप का और अधिक स्पष्टीकरण किया है। सखी का मन साँवरे मोहते जरूर हैं पर उनके मन में भोगेच्छा का विकार नहीं है। प्रिया जी भी इसे जानती हैं कि जो कुछ उनको अच्छा लगता है, वही सहचरियों को भी प्रिय है। सखी लाड़िली जी से पूछती है–

मो मन मोहे साँवरो मेरै नहीं विकार।
हौं तोहि पूछी लाड़िली ताकी कहा विचार।[172]

प्रिया जी का निर्भ्रान्त उत्तर है...

तब हंसि बोली राधिका सखि कित पूछति मोहि।
जो मेरे मन में बसै सो मोहतु है तोहि।[173]

इस प्रकार सखियों का आनन्द प्रिया-प्रियतम के आनन्द से सम्बन्धित है। उनके प्रेम को तत्सुखी इसीलिए कहा जाता है। उन्हीं (युगल दम्पति) के सुख से सुखी होना इनकी विशिष्टता है–

निर्विकार सहचरि समझि, ततसुख सुखित सुजान।
ततसुख ही निज सुख गिनत, दास किसोर निदान।[174]

स्वामी रसिक देव जी ने भी इसे स्पष्ट करते हुए बताया है कि अपने सुख के अवगाहन के स्थान पर प्रिया-प्रियतम के सुख की कामना करे–

ततसुख सखी की एही रीति, तन में रहै अपनपौ जीति।
प्रिया प्रीतम को निजु सुख चाहै, अपनो सुख नहि मन अगाहे।

(भक्ति सिद्धान्त मणि 40)

इस भाव के लिए साधना का निर्देश भी स्वामी रसिक देव ने किया है कि सिद्ध सखियों के भाव का अनुसरण करना चाहिए। इस प्रकार रागानुगा भक्ति की ही प्रस्थापना उन्होंने की है–

जुगल ध्यान कीजै चित लाइ, सखी भाव करि महल समाइ।
साधक रूप सेवा इत करै, सिद्ध सखीन कै भाव अनुसरै।[175]

सखियों एवं प्रिया जी का इतना अभिन्नत्व हो जाता है कि उसके लिए अद्वैतवादी शब्दावली का प्रयोग करके स्पष्ट किया गया है। सखियाँ जल हैं एवं प्रिया तरंग हैं अथवा प्रिया जी जल हैं और सखियाँ तरंग–

हम जल प्रिया तरंग है प्रीया जल है हम है तरंग।
तन मन मिलि एकंत सुख छिन छिन बाढ़त रंग।[176]

अथवा

प्रीया हमारे अन्तर है, हम प्रीया के अन्तर।
अंग संग निरखौं केलि सुख सदाई रहै निरन्तर।[177]

इन सखियों के मन में प्रेम ही भरा रहता है। प्रेम ही उनका सर्वस्व है। चूँकि प्रेम-वारि बरसने से प्रेम ही उत्पन्न होता है, प्रेम ही फलता-फूलता है, प्रेमियों की इस पुकार को सुन कर सखियाँ जब प्रेम-व्यापार के लिए बढ़ती हैं तो रास्ते में प्रेम-ही मिलता है प्रेम ही उनका पति है, उनकी वास्तविक गति भी प्रेम ही है। उनका नेम भी प्रेम ही है; यहाँ तक कि उनका बिछौना, ओढ़ना और भोजन प्रेम ही है एवं इन प्रेम-स्वरूपा सखियों का अतिथि भी साक्षात् प्रेम ही होता है–

प्रेम प्रेम ही ऊपजे जौ करै प्रेम की वारि।
तब ही प्रेम फूले फल्यौ प्रेमिनि कह्यो पुकारि।
प्रेम बनिजनै हौ चली आगे मिलिया प्रेम।
प्रेमै पति गति पाइ सखी मोहि प्रेम कौ नेम।
प्रेम डिसौना, ओढ़ना अचवत भोजन प्रेम।
प्रेम प्रैम कौ पाहुनो प्रेम प्रेम कौ नेम।[178]

सखियों का यह नाता महल का नाता है एवं यह इतना सच्चा नाता है कि और सब नाते इसके आगे झूठ ही नहीं पड़ जाते बल्कि यह नाता सखियों के मन को एक दुर्जय आत्म-विश्वास से भर देता है–

हमारे महल को नातो साँचो।
ताही के बल गरजत सबसौ आवत नाहीं आँचो।
श्रीकुंजबिहारिनि ललित लाड़िली इनहि हिये में खाँचो।
श्रीहरिदासी रसिक सिरोमणि मन मिलि पोषत पाँचौ।[179]

प्रिया का नाम ही इनके महान मुख का आधार है। यह नाम अत्यधिक आनन्द देने वाला ही नहीं है, रूप और रस का भण्डार भी है। यहाँ तक कि समस्त सार-तत्त्वों

का भी सार-तत्त्व यही है। जिसकी रसना से, भूल से भी, यह नाम निकल जाय वह प्रिया के उर का हार हो जाये–

महासुख प्रिया नाम आधार।
अति आनन्द रूप निधि रस निधि सकल सार कौ सार।
जाकी रसना भूलिहू निकसै होइ प्रिया उर हार।
श्री ललित रसिकवर की निज जीवनि अद्‌भुत नित्य बिहार।[180]

सान्द्र प्रेम के इस बल पर ही तो वे बिहारी की भी परवाह नहीं करती, उनसे भी उनका व्यवहार ऐड़ का ही होता है–

किये रहै ऐड बिहारीय सौं हैं बेपरवाह बिहारनि।[181]

इस सम्प्रदाय में सखियों के वैसे भेद-प्रभेद हमें प्राप्त नहीं होते, जैसे कि गौड़ीय वैष्णवों या निम्बार्कीयों में अथवा राम-भक्ति के रसिक-सम्प्रदाय में प्राप्त होते हैं। सभी सखियाँ निकुंज-विहार की ही व्यवस्था करती हैं एवं कुंज के रन्ध्रों से उसी विहार का वर्णन कर सुखी होती हैं।

बहुत थोड़े में श्री भगवत्‌रसिक ने इस सम्प्रदाय का रूप निम्नलिखित कुण्डलिया में अत्यधिक स्पष्टता के साथ उपस्थित किया है–

आचारज ललित सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्यकिशोर उपासना, जुगुल मन्त्र कौ जाप।
जुगुल मन्त्र कौ जाप, वेद रसिकनि की वानी।
श्री वृन्दावन धाम, इष्ट स्यामा महारानी।
प्रेम देवता मिले बिना, सिधि होइ न कारज।
भगवत सब सुख दानि, प्रकट में रसिकाचारज।[182]

हरिदासीय एवं राधावल्लभीय सम्प्रदाय का अन्तर

युगल-रूप, परिकर, धाम, उपास्य-भाव एवं नित्य विहार आदि सभी में हरिदासीय सम्प्रदाय राधावल्लभीय सम्प्रदाय में बहुत अधिक समानता है। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक का सुचिन्तित मत है कि : "श्रीस्वामी हरिदास जी तो हित हरिवंश जी के समसामयिक थे। स्वामी जी ने सखी भाव के साथ नित्य विहार और निकुंजलीला का ठीक उसी रूप में गायन किया, जिस रूप में श्री हित हरिवंश जी ने प्रस्तुत किया था। उनका तथा उनकी शिष्य-परम्परा का जो भक्ति साहित्य मिलता है, उसमें तथा राधावल्लभीय भक्ति साहित्य में विचार-धारा और भावना का विशेष अन्तर नहीं है। प्रायः एक ही भावभूमि पर दोनों ने साहित्य-सृजन किया है।[183] दोनों के मध्य दो सामान्य भिन्नताओं की भी चर्चा उन्होंने की है। उनके अनुसार ये अन्तर हैं–

(1) स्वामी हरिदास की साधना में वैराग्य का प्राधान्य था। तथा

(2) हरिदासीय (निम्बार्कीय भी) सम्प्रदाय में स्वकीया भावना को महत्त्व प्राप्त है जबकि 'राधावल्लभी सम्प्रदाय में लौकिक दृष्टि से स्वकीया की स्वीकृति होने पर भी राधा को स्वकीया-परकीया-भेद-विवर्जित माना गया।[184]

हमारे लिए डॉ. स्नातक की विभिन्नता सम्बन्धी इन स्थापनाओं से सहमत होना कठिन है। प्रथम स्थापना के सम्बन्ध में इतना तो हम स्वीकार करते हैं कि स्वामी जी के सम्प्रदाय में विरक्त शिष्यों का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा परन्तु इसके साथ ही सिक्के का दूसरा पहलू यह भी है कि उनके शिष्यों की गोस्वामी-परम्परा गृहस्थ होती आयी है। जहाँ तक वैराग्य-भावना के मूल का प्रश्न है, राधावल्लभ सम्प्रदाय में संसार के प्रति विरक्त रहने को कम मान नहीं दिया गया है। हित हरिवंश जी का निम्न पद विशुद्ध वैराग्य-भावना का द्योतक है–

मानुष कौ तन पाय भजौ ब्रजनाथ कों।
दबी लै कै मूढ़ जरावत हाथ कों।
श्री हित हरिवंश प्रपंच विषय रस मोह के।
हरि हाँ बिन कंचन क्यों चलै पचीसा लोक के।[185]

वस्तुतः भक्ति की आन्तरिक प्रेम-भावना और उपासना में वैराग्य वाला यह अन्तर तनिक भी सिद्ध नहीं होता।

जहाँ तक स्नातक जी द्वारा स्थापित दूसरी भिन्नता का प्रश्न है, वह भी समुचित प्रतीत नहीं होती। स्वयं स्नातक जी ने माना है कि लौकिक व्यवहार की दृष्टि से राधावल्लभ सम्प्रदाय में स्वकीया भाव को स्वीकार किया गया है। ठीक यही बात सखी सम्प्रदाय के बारे में भी कही जा सकती है। सैद्धान्तिक रूप से दोनों ही सम्प्रदाय नित्य-किशोर-अजन्मा युगल की कल्पना करते हैं, पर प्रकट लीला (व्यवहार का लोक) के क्षेत्र में दूलह-दुलहिन का रूपक कभी-कभी कवियों ने बाँधा है। चाचा हितवृन्दावनदास (राधावल्लभीय) ने भी राधा-कृष्ण का विवाह कराया है तथा स्वा. रसिक देव हरिदासीय ने भी श्याम-श्यामा का विवाह वर्णित किया है। जो बात डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के लिए कही है, वही बात डॉ. गोपाल दत्त शर्मा ने हरिदासीय सम्प्रदाय के प्रसंग में कही है। उन्होंने राधावल्लभ सम्प्रदाय की ओर इंगित करते हुए लिखा है–

"कोई श्री राधा को स्वकीया मानते हैं, किसी-किसी ने भी राधा और कृष्ण के विवाह का भी वर्णन किया है तथा स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय के उपासना रस का नाम है–निरवधि नित्य विहार, इनकी ठकुराइन कुंज विहारिणी राधा स्वकीया तो हैं किन्तु वे वृषभानु गोप के घर जन्म नहीं लेतीं और न इनके ठाकुर कुंज बिहारी ही नन्दबाबा के घर प्रकट हुए"।[186]

ये परम्पर विरोधी वक्तव्य, वस्तुतः हमें एक ही निष्कर्ष तक पहुँचाते हैं कि स्वकीया-सम्बन्धी कोई विवाद या अन्तर दोनों में नहीं है, परन्तु इसका अर्थ यह

भी न लिया जाये कि दोनों सम्प्रदाय ठीक एक-दूसरे के प्रतिरूप है। उनमें कतिपय अन्य अन्तर अवश्य हैं। संक्षेप में हम नीचे इन अन्तरों को उपस्थित कर रहे हैं—

(1) प्रारम्भ में ब्रजलीला वृन्दावन निकुंज लीला में कोई स्पष्ट अन्तर की धारणा राधावल्लभ सम्प्रदाय में नहीं थी जबकि यह धारणा प्रारम्भ से हरिदासीय सम्प्रदाय में विद्यमान थी। पीछे हम दिखा चुके हैं कि सखी सम्प्रदाय में कृष्ण, नन्द, सुवन, ब्रजपति जैसे नाम लगभग नहीं आते हैं, पर राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रारम्भ से ही इनका प्रभूत उपयोग हुआ है। हित हरिवंश जी ने अपनी रचनाओं में कृष्ण, नन्दनन्दन, गोवर्धनधर, ब्रजनाथ एवं वृषभानुनन्दिनी जैसे शब्दों का उपयोग किया है।[187] उन्होंने राधा एवं कृष्ण के जन्म की बधाइयाँ भी गायी हैं—

चलौ वृषभानु गोप के द्वार।
जन्म लियौं मोहन हित श्यामा आनन्द निधि सुकुमार।[188]

तथा

आनन्द आज नन्द के द्वार।
दास अनन्य भजन रस कारण प्रगटे लाल मनोहर पवार।[189]

श्री हित हरिवंश ने रास के अनेक मनोहर वर्णन किये हैं। उनमें एक स्थान पर स्पष्ट रूप से भागवत की परम्परा में वे युवतियों को उचित रूप से परिरम्भन, चुम्बन और आलिंगन का सुख कृष्ण से प्रदान करवाते हैं—

सकल उदार नृपति चूड़ामणि सुख वारिद वरषायौ।
परिरम्भन चुम्बन आलिंगन उचित जुवति जन पायौ।[190]

पर इस प्रकार के वर्णन सखी-सम्प्रदाय में नितान्त विरल हैं।

(2) सखियों के क्षेत्र में स्वामी हरिदास ने केवल ललिता (हरिदासी) का नाम लिया है, पर हित हरिवंश जी ने ललितादिक कहकर जैसे पौराणिक ललितादिक सखियों की ओर संकेत किया हो।[191] इस संकेत को ही मानो ग्रहण कर आगे चलकर अब ध्रुवदास जी ने अष्ट प्रमुख सखियों, फिर उनकी आठ-आठ सखियों तथा अन्य सखियों का उल्लेख किया है। ललिता, विशाखा, रंगदेवी, चित्रा, तुंगविद्या, चम्पकलता, इन्दुलेखा एवं सुदेवी अष्ट प्रमुख सखियाँ हैं।[192]

यह अष्ट सखियाँ मानो साक्षात् हित (प्रेम) की मूर्तियाँ हैं तथा सेवा में अत्यधिक प्रवीण हैं, इनके भी आठ-आठ सखियाँ हैं, जो उन्हीं के सुख में रंगी रहती हैं। उनके नाम, वर्ण, सेवा एवं वस्त्रों का विवरण ध्रुवदास जी ने पुराणों के अनुसार दिया है—

अष्टसखी मनो मूरति हित की, अति प्रवीण सेवा करै चित की।
आठ-आठ सहचरि तिन संगा, रंगी निरन्तर तेहि सुख रंगा।
नाम वरन सेवा वसन, जैसे सुने पुरान।
ते सब ब्यौरे सौ कहौं, आपति मति अनुमान।।[193]

इन सबका उपरोक्त क्रम में वर्णन करने के बाद लेखक ने पुनः अपने सूचना-स्रोत

का नाम निर्भ्रान्त रूप से स्पष्ट कर दिया है। यह स्रोत है 'गौतमीय तन्त्र'—

कहे गौतमी तन्त्र में, इन सखियन के नाम।
प्रथमबन्दि इनके चरन, सैवहु स्यामा स्याम।[194]

अष्ट सखियों आदि के नामों की यही परम्परा गौड़ीय वैष्णवों में भी स्वीकृत है। ऐसा लगता है कि ध्रुवदास के समय तक रूप एवं जीव गोस्वामी का प्रभाव यथेष्ट रूप से अन्य सम्प्रदायों के सिद्धान्त-व्यवहार पर पड़ चुका था। पर लगता है कि अष्ट सखियों के नामों के बारे में ध्रुवदास निश्चित नहीं थे। रसानन्द लीला में एक दूसरी ही परम्परा उन्होंने प्रतिष्ठापित की है। इसके अनुसार ललिता, विशाखा, वृन्दा, स्यामा, चन्द्रा, मुदिता, नन्दिनी एवं भामा ये आठ मनभाई सखियाँ हैं जो कि रूप-दर्शन से कभी भी तृप्त नहीं होती हैं। इन आठों के भी सेवाकार्य का विवरण वहीं पर लेखक ने दिया है।[195]

परन्तु हरिदासी सम्प्रदाय में इस प्रकार सखियों का कोई निरूपण अथवा विभाजन हमें प्राप्त नहीं होता। हरिदासी सम्प्रदाय में यदि मुख्य सखी कोई है भी तो स्वयं हरिदासी (या ललिता), शेष सब सखियाँ मात्र सखी हैं। हरिदासी के स्थान पर हितरूपा सखी की कल्पना राधावल्लभ-सम्प्रदाय में भी है, पर ब्रजलीला की पौराणिक कल्पना सखियों के नाम, रूप, सेवा, वस्त्र आदि के वर्णन में इस सम्प्रदाय के भीतर प्रविष्ट अवश्य हो गयी है। इतना अवश्य है कि सखियों में भी पाँच प्रकार की सखियों या सखी मंजरी आदि के भेद इन सम्प्रदायों में उपलब्ध नहीं होते।

इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य अन्तर—जिनका परिमाणवाची कोई पुष्ट समर्थन नहीं किया जा सकता—और भी पढ़ते-पढ़ते प्रतीत होते हैं। राधावल्लभ-सम्प्रदाय में राधा का रूप हमें सखी-सम्प्रदाय की अपेक्षा अधिक उभरता प्रतीत होता है। इसी प्रकार वृन्दावन के बारे में भी राधावल्लभियों के कथन अधिक भाव-विह्वल एवं विदग्ध लगते हैं। ध्रुवदास ने अग्नि सम्प्रदाय के रस का नाम ही वृन्दावन रस अभिहित किया है।[196]

कालक्रम में पूर्ववर्ती होने के कारण हमने हरिदास सम्प्रदाय के युगल उपास्य, धाम, परिकर उपासना भाव को विस्तार में उपस्थित किया है। समानता की मात्रा के आधिक्य के कारण राधावल्लभ-सम्प्रदाय के प्रसंग में भी उन्हीं बातों को दोहराना उचित नहीं है। इसीलिए हम यहाँ राधावल्लभ-सम्प्रदाय के उपास्य धाम परिकर, उपासनामात्र आदि का निरूपण अलग से नहीं कर रहे हैं।

हरिदासी एवं राधावल्लभीय सम्प्रदाय की मुख्य विशेषताएँ

1. प्रेम ही परतत्त्व है।
2. उसका प्रकाशन श्याम-श्यामा के रूप में होता है।
3. श्याम-श्यामा नित्य विहार में निमग्न रहते हैं।

4. शक्ति-शक्तिमान जैसे सम्बन्ध इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को व्याख्यायित नहीं कर सकते।
5. प्रेम और भक्ति के क्षेत्र में राधा का स्थान प्रमुख है।
6. अन्य सारे अवतार बिहारी जी के ही अंश हैं, पर सृष्टि के पालन, सृजन या संहार से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। यों संसार की सृष्टि भी उनकी माया ही है पर वास्तविक नित्य स्वरूप नित्य विहार में ही है।
7. यह रूप नित्य-किशोर अजन्मा है।
8. ब्रज, मथुरा, द्वारका आदि की काव्य पुराणादि वर्णित लीलाओं से इन सम्प्रदायों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तक कि ब्रजलीला का माधुर्य रस इस विहार रस के एक कण के छलक जाने से उत्पन्न है।
9. इसी कारण परिकर धाम की जो विस्तृत विवेचना गौड़ीय वैष्णवों में उपलब्ध है, यहाँ पर उसका अभाव है। पर यह अभाव किसी प्रकार की हीनता का सूचक नहीं है। यह आवश्यकता न होने के कारण है।
10. गुरु श्री राधा के समान होता है। दोनों ही सम्प्रदायों ने अपने-अपने संस्थापकों को उपास्य के पद तक पहुँचा दिया है।
11. जीव को उपासना सहचरी भाव से करनी चाहिए।
12. सहचरी भाव में पुरुष भाव का अभाव हो जाता है, तन-मन निर्विकार हो जाते हैं एवं नित्य-कुंज-विहार में सेवा करने की उत्कण्ठा तथा विहार-दर्शन की ही लालसा रहती है।
13. सहचरी लाल-लाड़िले के सुख में ही सुखी रहती है, इसलिए उसके भाव को तत्सुखी भाव कहते हैं।
14. सहचरी के स्वरूप में प्रेम, दास्य एवं सख्य का अद्‌भुत संयोग रहता है।
15. नित्य-विहार-दर्शन ही जीवन का परम पुरुषार्थ है।

गोपी भाव एवं सखी भाव की तुलना

गोपी भाव	**सखी भाव**
1. कृष्णा ही परात्पर तत्त्व हैं।	1. रस ही परात्पर तत्त्व है।
2. (क) श्री कृष्ण की ब्रजलीलाएँ उपास्य हैं।	2. (क) नित्य वृन्दावन-धाम की निकुंजलीला ही उपास्य है।
(ख) ब्रजलीला का अप्रकट स्वरूप गोलोक-लीला है।	(ख) निकुंजलीला उपासकों के लिए नित्य प्रकट और सांसारिक जीवों के लिए अप्रकट है।

3. राधाकृष्ण की क्रीड़ाओं में निस्संग सुखानुभव यहाँ नहीं है।	3. निस्संग सुखानुभव विद्यमान रहता है।
4. नायिकाओं में स्वकीया-परकीया का भेद, परकीया के आधार पर विरह की प्रोज्ज्वलता और तीव्रता गोपी भाव की साधना में ही है।	4. इसमें विरह को कोई स्थान नहीं है। स्वकीय-परकीय-भेद भी नहीं है।
5. ब्रजलीला का सारा प्रसंग पौराणिक है। लोक में घटने वाली समस्त घटनाएँ यहाँ संकलित हैं।	5. पुराणों का आधार छोड़ दिया गया है।
6. श्रीकृष्ण के अवतार-काल की रास-सहचरी गोपियाँ हैं।	6. गोपियाँ नित्य-धाम की नित्य-सहचरी हैं।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में उपास्य, परिकर, धाम एवं उपासना भाव की कल्पना

सम्प्रदाय में नित्य विहारोपासना का इतिहास

रसोपासना के ऐतिहासिक विकास-क्रम में निम्बार्क-सम्प्रदाय की स्थिति अत्यधिक विवादास्पद है। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि निम्बार्क मत में कम बातें ऐसी निकलेंगी जो निर्विवाद रूप से सबको स्वीकार्य हों। स्वयं निम्बार्काचार्य के उद्भव के सम्बन्ध में परस्पर इतनी भिन्न राय और प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं कि सत्य उन प्रमाणों से ही आवृत्त हो जाता है। रसोपासना के क्षेत्र में विवाद और संशय का क्षेत्र और अधिक बढ़ जाता है। निम्बार्कीय मानते हैं कि रसोपासना या युगलोपासना के प्रणेता निम्बार्काचार्य ही थे; प्रमाणस्वरूप दशश्लोकी का पाँचवाँ श्लोक–

अंगे तु वामे वृषभानुजा मुदा, विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेविता मुदा, स्मरेण देवी सकलेष्टकामदाम्।।

उद्धृत किया जाता है कि निम्बार्क का समय भी सम्प्रदाय के उत्साही शोधक विक्रम की छठी से 8वीं शताब्दी तक निश्चित करते हैं।[197] इस प्रकार दशश्लोकी का समय भी यही हो जाता है, परन्तु दूसरी ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दशश्लोकी को 19वीं शती की प्रक्षिप्त रचना माना है।[198] निम्बार्क सम्प्रदाय के रस-सम्बन्धी आकर-ग्रन्थों, आदिवाणी और महावाणी के सम्बन्ध में पर्याप्त शंका प्रकट की गयी है। पर्याप्त विचार एवं मनन के बाद हमारा मत है कि निम्बार्क-सम्प्रदाय में मधुर रागमयी उपासना बाद को प्रचलित हुई है।

इस स्थापना का प्रथम प्रमाण यह है कि निम्बार्क-सम्प्रदाय के संस्कृत ग्रन्थों में हमें माधुर्य-उपासना के विवरण लगभग नहीं ही उपलब्ध होते हैं। इस बात को स्वयं

निम्बार्क के अन्य शोधक भी स्वीकार करते हैं।[199] यदि दशश्लोकी को प्रमाण भी माना जाये तो उससे सखी-भावोपासना या युगल अद्वय रूप की वैसी स्पष्ट कल्पना प्राप्त नहीं होती। इसके अतिरिक्त इन संस्कृत ग्रन्थों में युगलोपासना के सहचरी-रूप का समुचित विवरण उपलब्ध नहीं होता।

यह आश्चर्य की बात कही जायेगी कि जो छिपाने की वस्तु है, वह जन-भाषाओं में व्यक्त हो गयी थी और जो भाषा उसे छिपा सकती थी, उसमें वह अप्रकट ही रही। गीता की केशवकाश्मीरीकृत तत्त्वार्थ-प्रकाशिका व्याख्या की अनुक्रमणिका से भगवान के जन्म लेने का प्रयोजन बताया गया है जो इस प्रकार है—

"भागवत्-धर्म के प्रचलन का अभाव देखकर संसारी जनों के उद्धार के लिये अपने स्वरूप, ज्ञान और भक्ति का प्रचार करने के लिए तथा अपने दर्शनार्थ चातकवत् उत्कण्ठित अनन्याश्रित प्रेमी भक्तों को सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्य आदि से परिपूर्ण अपनी छवि के दर्शन मधुर आलाप, मनोहर लीला आदि उनकी मनोभिलाषा पूर्ति करने के लिए अपने समग्र गुण और शक्ति समेत भूमाहरण के बहाने से भगवान श्रीकृष्ण प्रकट हुए थे।"

इस अंश को उद्धृत करते हुए डॉ. नारायण दत्त शर्मा ने निष्कर्ष निकाला है कि इसमें भगवान के आविर्भाव का प्रयोजन भक्तों की रसमयी उपासना को ही बतलाया है।[200] हम इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। भगवान के अवतार का हेतु भक्तों की लीला-दर्शन कराना, आनन्द देना है, यह मन्तव्य भक्तिकाल के सम्पूर्ण सम्प्रदायों का रहा है। तुलसीदास ने भी 'भगत-हेतु' भगवान राम का जन्म लेना माना है एवं गौड़ीय वैष्णवों में भी विश्वास था कि भक्तों पर अनुग्रह करने एवं स्वलीला कीर्ति-विस्तार के लिए भगवान प्रकट होते हैं।[201]

संस्कृत एवं हिन्दी की इन रसमयी उपासना वाले ग्रन्थों में निम्बार्क की सिद्ध देह को लेकर भी दो परम्पराएँ प्रकट हुई हैं। पुरानी साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार वे भगवान विष्णु के सुदर्शन चक्र के अवतार हैं एवं वाणीग्रन्थों के अनुसार उन्हें रंग देवी सखी का अवतार माना गया है। स्पष्ट है कि एक भगवान विष्णु और उनके विभुत्व तथा शक्तिशालित्व से सम्बन्धित परम्परा है एवं दूसरी कृष्ण के माधुर्य एवं विलास से सम्बन्धित है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि रसमयी उपासना की परम्परा सम्प्रदाय की नवीन अर्जित सम्पत्ति है। यह बात तनिक भी अपमानजनक नहीं होगी कि नयी परिस्थितियों में उपासना का नवीनीकरण किया जाये। यह बात दूसरी है कि इसे स्वीकार कर लेने से समस्त माधुर्य-भावना का स्रोत एवं प्रस्तोता बनने का गौरव छिन जाता है। पर हिन्दी-काव्य में तो इस परम्परा के प्रथम प्रयोक्ता का गौरव शेष रह ही सकता है। कुछ विद्वानों ने इस गौरव को शोध की अधिकृत मुहर लगाकर प्रामाणिक बना देना चाहा है।[202]

इस अध्याय के पूर्व लिखित पृष्ठों में हमने माधुर्योपासना के क्षेत्र में दो स्पष्ट

परम्पराएँ देखी हैं। एक हम ब्रज-लीला गायकों की परम्परा कह सकते हैं। दूसरी परम्परा शुद्ध वृन्दावन-माधुरी या निकुंज-लीला के गान की है, जिसमें प्रवेश सखी भाव से ही हो सकता है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के वाणी-साहित्य एवं तत्सम्बन्धी लेखन में ये दोनों परम्पराएँ विचित्र भाव से गुँथी हुई हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि अत्यन्त योजनाबद्ध रूप से समस्त परम्पराओं के उल्लेख्य प्रसंगों या विचारों को अपने सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी दिखाया जाय एवं इन बातों को सम्प्रदाय के साहित्य में काफी पहले का दिखाकर परम्परा के प्रस्थापक की महिमा भी बटोर ली जाये।

श्रीभट्ट की आदिवाणी एवं श्री हरिव्यास देव की महावाणी इस सम्प्रदाय की रसोपासना के मुख्य आकर ग्रन्थ हैं, परन्तु इन दोनों के कालनिर्णय के सम्बन्ध में बड़ा भ्रम है। नाभादास के भक्तमाल में इन दोनों व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है, इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि 17वीं शती विक्रमी के पूर्वार्द्ध में ये अवश्य उपस्थित रहे होंगे। यों अभी हाल में ही नाभा जी के भक्तमाल में 18वीं शती के प्रथम दशक के कवियों (यथा भगवतमुदित एवं राधावल्लभीय चतुर्भुजदास) का संकेत प्राप्त किया गया है[203] और इसे स्वीकार कर लेने पर इन महानुभावों का समय विक्रम की 17वीं शती के अन्तिम भाग तक खींचा जा सकता है तथा 'नयम बान पुनि राम शशि गनौ अंक गति बाम' में 'राम' के स्थान पर 'राग' पढ़ने से से जो संवत् 1652 समय आता है, उसकी भी रक्षा हो सकती है। पर इधर यह सिद्ध हो गया है कि यह दोहा बाद का जोड़ा गया है, पुरानी प्रतियों में यह उपलब्ध नहीं है।[204] डॉ. गोपालदत्त शर्मा ने उनका समय सं. 1550 के आस-पास अनुमान किया है। बहरहाल संवत् के विवाद में पड़ना हमारा उद्देश्य नहीं है, पर मेरा अनुमान है कि श्रीभट्ट जी 16वीं शती वि. के उत्तरार्द्ध के पूर्व नहीं थे। डॉ. गोपालदत्त जी ने इसी प्रसंग में आगे हरिव्यासदेव जी का समय 1625 के आसपास माना है, जो अधिक सन्तुलित प्रतीत होता है।[205] यह संवत् नृसिंह-परिचर्या के लेखन के आधार पर है। नृसिंह-परिचर्या उतनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक नहीं है। अतः बहुत सम्भव है कि हरिव्यास देव का उल्लेख्य कार्यकाल इससे बाद का संवत् 1650 के आसपास का हो।

अस्तु डॉ. गोपालदत्त शर्मा द्वारा सुझाये गये सम्वतों को स्वीकार कर लेने के बाद भी आदिवाणी एवं महावाणी को और अधिक परवर्ती मानने के लिए हम बाध्य हैं। कहा जाता है कि इन दोनों ग्रन्थों का संकलन श्रीरूपरसिक देव जी ने किया था। निम्बार्क सम्प्रदाय के योगदान की प्राचीनता के अत्यन्त उत्साही समर्थक डॉ. नारायण दत शर्मा ने लिखा है...'युगल-शतक को निजभजन-भाव-रुचि से श्रीरूपरसिक जी ने ही विभिन्न सुखों में विभाजित किया है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन हो जाता है कि इस संकलन में रूपरसिक देव जी की स्वयं की कितनी भजन, भाव, रुचि मिल गयी है। इस समय युगल-शतक की जो प्रकाशित प्रति

प्राप्त है, उसमें भी उसके सम्पादक-प्रकाशक ने भाषा-छन्दादि के परिवर्तन कर दिये हैं।"[206] फिर प्राचीन प्रतियों में भी छन्द-संख्या को लेकर लगभग दुगुने का अन्तर है। अर्वाचीन प्रतियों में 100 दोहा और 100 पद मिलते हैं, जबकि प्राचीन प्रति में 92 पद और 12 दोहे। इस प्रकार दोहे और पद मिलाकर संख्या 104 हो जाती है। ऐसी स्थिति में युगल-शतक की प्राचीनता अथवा प्रामाणिकता पर भरपूर शंका उठती है। नाभादास के छप्पय से इतना तो सिद्ध है कि वे मधुर भाव-संकलित भगवान की ललित-लीला-संवलित-छवि को देखने गये थे एवं उस प्रेम की वर्षा में सुन्दर कविताएँ लिखी थीं।[207] पर इस प्रेम और लीला के स्वरूप में कितना इन परवर्ती संशोधकों ने जोड़ा है, इसका निर्णय नितान्त दुष्कर हो गया है। बहुत सम्भव है कि यह लीला-माधुरी सूरदासादि के समान रही हो। पर इतना अवश्य लगता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय की वैधी परम्परा के स्थान पर रागमयी भक्ति के क्षेत्र में श्रीभट्ट जी का प्रवेश हो गया था।[208]

आदिवाणी (युगल शतक) से भी अधिक विवाद हरिव्यासदेव जी की महावाणी को लेकर है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो उसे 19वीं शती की रचना माना है। नाभादास ने अपने भक्तमाल में उन्हें परम वैष्णव, देवी को भी दीक्षा देने वाला बताया है, पर इनकी रस-रीति की चर्चा नहीं की है। हरिराम व्यास ने भी महावाणी जैसे वाक्सिद्ध रस-ग्रन्थकार का उल्लेख नहीं किया है। अतः यह शंका होती है कि महावाणी का सृजन उनके द्वारा नहीं हुआ। निम्बार्कीय इसका कारण यह बताते हैं कि अत्यधिक गोप्य होने के कारण ही इसका प्रचार नहीं हुआ। पर गोपनीयता की बात तो रसोपासकों ने प्रत्येक सम्प्रदाय में कही है। इससे भी अधिक शंकित कर देने वाला तथ्य है कि महावाणी हरिव्यास देव जी ने रूपरसिक देव जी को स्वप्न में प्रदान की थी और उसकी रस-साधना को विस्तार देने का आदेश दिया था। यही नहीं परशुराम देव जी से विरक्त वैष्णवों दीक्षा ग्रहण करने का भी उन्हें आदेश हुआ।[209]

इस तथ्य को तनिक इस क्रम से रखकर विचार किया जाये तो बात अधिक स्पष्ट हो जाती है—

1. हरिव्यास देव जी को अपने जीवनकाल में रसिक साधक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हुई थी। यों शायद श्री भट्ट जी के प्रभाव में वे लीला रस-समुत्सुक रहे हों, पर उसके समर्थ प्रस्तोता या प्रयोक्ता वे नहीं थे।
2. उन्होंने महावाणी का लेखन स्वयं नहीं किया था, बल्कि स्वप्न में रूपरसिक देव जी को प्रदान किया था।
3. हरिव्यास देव जी के 12 प्रमुख शिष्य थे और इनमें भी सलेमाबाद-पीठ के परशुराम देव जी सर्वप्रमुख थे। हरिव्यास देव जी ने इनमें से किसी को भी अपनी रस-रीति प्रदान नहीं की।

4. रूपरसिक देव जी ने परशुराम देवाचार्य से ही वैष्णव दीक्षा ग्रहण की, अतः उन्हीं के शिष्य हुए।
5. परशुराम देव जी बड़े आचार्य ही नहीं थे, समर्थ कवि भी थे, परशुराम सागर उनका प्रमुख काव्य-ग्रन्थ है, जिसके आधार पर डॉ. नारायण दत्त शर्मा ने निर्णय दिया है कि...'परशुराम देव जी महान कवि हैं।'
6. इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य-शृंगार या माधुर्य भाव नहीं है। इसका मुख्य रस शान्त है एवं निर्गुणी परम्पराओं को इसमें जमकर अभिव्यक्ति मिली है।
7. ऐसी स्थिति में यदि यह निष्कर्ष निकाला जाये कि रूपरसिक देव जी के मन में परशुराम जी की निर्गुण-सगुण-समन्वय वाली भावना के प्रति विशेष आकर्षण नहीं था एवं उसके स्थान पर समकालीन रसोपासना उन्हें आकर्षित कर रही थी,[210] आधुनिक मनोविज्ञान का स्वप्न दर्शन इस आधार पर यही कहेगा कि उसके अवचेतन में पड़ी इन दोनों बातों ने ही स्वप्न में आकार ग्रहण किया। गुरु के प्रति जो अनाकर्षण था, उसने गुरु के भी गुरु को स्वप्न में बुला लिया एवं युगल की रसमयी उपासना शैली तो प्रत्यक्ष ही 'प्रकट' हुई। इस प्रकार निम्बार्कीय होते हुए भी वे निम्बार्कीय परम्पराओं से अलग हुए एवं अन्य समकालीन कवियों अथवा साधनाओं से प्रभावित होकर महावाणी रचना रूपरसिक जी ने की। डॉ. नारायण दत्त शर्मा ने भी स्वीकार किया है कि रूपरसिक जी के हाथों भी कुछ संस्कार सम्भव है। इसकी प्रतीति हरिव्यास यशामृत में महावाणी के महिमागान से होती है।[211]
8. निम्बार्कीय परम्पराओं से पृथक् हो जाने की बात इससे भी सिद्ध होती है कि रूपरसिक देव के समकालीन या परवर्ती बृन्दाबन देवाचार्य (विक्रम की 18वीं शती के उत्तरार्द्ध) का गीतामृत-गंगा ग्रन्थ भी वैसा शुद्ध रसोपासना का ग्रन्थ नहीं है, जैसा कि महावाणी है।

रूपरसिक देव जी के काल-निर्णय का झगड़ा फिर खड़ा होता है। उनके गन्थ लीला-विंशति के संवत् निर्धारण के लिए दो पाठों वाला दोहा प्राप्त है। एक में संवत् 'पदरासै जु सत्यासिया' आता है एवं दूसरे पाठ में 'सतरासे जु सत्यासिया' बताया गया है। प्रतियों के संकेतों के मिलान या निर्णय का कार्य हमारे क्षेत्र के बाहर है पर एक तथ्य की ओर इंगित करना उपयुक्त होगा। रूपरसिक देव जी परशुराम देव जी से दीक्षा लेते हैं एवं परशुराम जी का समय सं. 1680 के बाद तक माना जाता है। इधर रूपरसिक देव के समय के बारे में हमें कुछ अन्य तथ्य भी प्राप्त हुए हैं। वंशी अलि जी के शिष्य किशोरी अलि जी की वाणी का संग्रह हमें उपलब्ध हुआ है। प्रति 19वीं शती की प्रतीत होती है तथा खण्डित भी है। इस प्रति में संवत् 1831 तक के पत्रादि भी संगृहीत हैं। इसके आधार पर ज्ञात होता है कि रूपरसिक

जी 18वीं शती के अन्त एवं 19वीं शती के प्रारम्भ में विद्यमान थे। अगले अध्याय में रूपरसिक जी का काल-निर्णय करने में हम इस पुस्तक की सामग्री को पूरी तरह उपस्थित करेंगे, परन्तु इस आधार पर परशुराम देव एवं हरिव्यास देव का समय और अधिक परवर्ती प्रतीत होता है।

पीछे कहे गये एक और तथ्य को हम यहाँ दोहरा देना चाहते हैं कि हरिव्यास देव जी ने सिद्धान्तरत्नाञ्जलि आदि में जिस प्रकार पंच भक्ति रसों का विवेचन किया गया है, वह ठीक गौड़ीय वैष्णव परम्परा में है। हमें लगता है कि या तो ये अंश प्रक्षिप्त हैं या फिर हरिव्यास देव गौड़ीय वैष्णवों के बाद हुए हैं। हमारा अनुमान है कि ऐसे प्रयास बाद में सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा किये गये हैं। एक ओर उन्होंने शास्त्र के स्तर पर भक्ति का विवेचन गौड़ीय वैष्णवों के प्रभाव में किया और दूसरी ओर हरिदासीय एवं राधावल्लभीय मतों के रस उपासना-सम्बन्धी दृष्टिकोणों को भी ग्रहण किया। समन्वय एवं ग्रहण का यह कार्य 17वीं-18वीं शतियों में पूर्णरूपेण सम्पन्न हुआ है। आलोच्य शोधकाल में माधुर्योपासना या प्रेमाभक्ति का पर्याप्त प्रसार इस सम्प्रदाय में हो चुका था, अतः इन ग्रन्थों के आधार पर हम उपास्य-उपासना आदि का निरूपण कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में पहली ध्यान देने योग्य बात है कि निम्बार्कीय दृष्टिकोण में (जैसा कि हम पीछे भी संकेत कर चुके हैं) गौड़ीय वैष्णव एवं सखी-साधना दोनों का ही समन्वय हुआ है। दार्शनिक दृष्टि से वैसा पुष्ट निरूपण इनमें हमें प्राप्त नहीं होता, जैसा कि गौड़ीयों में हम देख चुके हैं।

सर्वेश्वर

इस सम्प्रदाय के मुख्ध उपास्य श्री सर्वेश्वर हैं। यह शब्द उनकी विभुता एवं ऐश्वर्य का संकेत करता है। यही परात्पर तत्त्व हैं, यही आदि-मध्य-रहित कृष्ण भी हैं। सारे अवतार उन्हीं के अंश हैं। एक रस रहने वाले वे समस्त संसार के कार्यों एवं वस्तुओं के कारण हैं।[212] वे अजन्मा तो हैं ही, अत्यन्त सुन्दर एवं आनन्दमय भी हैं। वे परम सुन्दर वैकुण्ठ के निवासी, समस्त सुखों के सारतत्त्व, अतुलनीय माधुर्य एवं असीम ऐश्वर्य के निधि हैं।[213] वे जो एक अद्वय तत्त्व हैं, अपनी इच्छा से ही दो हो जाते हैं।[214] बृन्दाबन देव जी ने तो उनको मूर्तिमान शृंगार एवं सब रसों का आधार कहा है। रस-पोषण करने वाली समस्त शक्तियों को साथ लेकर वे ब्रज-विहार कर रहे हैं—

मूर्तिमान शृंगार हरि, सब रस को आधार।
रस पोषक सब शक्ति ले, ब्रज में करत विहार।।[215]

राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं, जिनके साथ वे नित्य विहार करते हैं।[216] राधा को कृष्ण की स्वकीया[217] के रूप में ही स्वीकार किया गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय

में इस प्रकार दोनों परम्पराओं का समन्वय करने का प्रयास हुआ है। इच्छा से ही एक तत्त्व दो रूपों में विभाजित हो जाता है, यह बात सखी-सम्प्रदाय के अनुकूल है एवं राधा ह्लादिनी शक्ति हैं, वे शक्तिमान हैं, यह कथन गौड़ीय वैष्णव-मतवाद का स्मरण कराता है, परन्तु राधा का स्वकीयात्व गौड़ीय वैष्णवों से नितान्त पृथक् है। यों युगल-रूप के चित्रण में एकदम सखी-सम्प्रदायों जैसी भावना के दर्शन होने लगते हैं—

प्यारी जी प्यारे की जीवन, प्यारो प्यारी प्रान अधार।
प्यारी प्यारे की उरमाला, प्यारो प्यारी के उरहार।
प्यारी प्यारे रंग महल में, रंग भरे दोउ करत बिहार।[218]

श्री भट्ट जी ने अपने उपास्य का रूप एकदम स्पष्ट शब्दों में उपस्थित करते हुए कहा है कि वृन्दावन में विलास करने वाले प्रिय-प्यारे ही हमारे सेव्य हैं। नन्द-नन्दन एवं वृषभानु-नन्दिनी के चरणों के वे अनन्य उपासक हैं—

सन्तो, सेव्य हमारे श्री प्रिय प्यारे बृन्दाविपिन विलासी।
नन्द नन्दन वृषभानु नन्दिनी चरण अनन्य उपासी।
मत्त प्रणय वश सदा एक रस विविध निकुंज निवासी।
श्री श्रीभट युगल वंशीवट, सेवत मूरति सब सुखरासी।[219]

धाम

महावाणी में धाम के रूप में वृन्दावन की बड़ी ही उदात्त कल्पना की गयी है। उसका चित्रण भी बड़े विस्तार से हुआ है। उसकी विराटता का तनिक यह गणित देखिए—

अखिल ब्रह्माण्ड वैराट के ठाट सब
महा वैराट के रोम के कूप।
सावकाशै उड़त रहत नित सहज ही
परम ऐश्वर्य आश्चर्य मय रूप।
सो प्रथम एक ही शून्य मधि सम रह्यो
जैसे तृसरेनु को रेनु शत अंश।
याते दश दशगुनी सहस्रशत शून्य पुनि
तिनते लख सहस्र महाशून्य अवतंश।
तिन महाशून्य के शिखा परतेज कौ
कोटि गुन ते गुनो अति अमित विस्तार।
तहाँ निजधाम बृन्दाविपिन जगमगे
दिव्य वैभवन को दिव्य आगार।[220]

ऐसे वृन्दावन में जहाँ पर राधा और उनके प्रिय निरन्तर नित्य-विहार करते रहते हैं, जय हो–

जय बृन्दावन नित्य जय नित्य निकुंज सुख सार।
जय श्रीराधा पिय जहाँ, विहरत नित्य विहार।।[221]

श्री भट्ट जी ने उसे आनन्द-मूल कहा है तथा नाम लेते ही युगल-किशोर की प्रणयरति देने वाला बताया है।[222]

परिकर

परिकर में सखियों की ही कल्पना की गयी है। गौड़ीय एवं राधावल्लभीय सम्प्रदायों की भाँति ही यहाँ पर सखियों के यूथों, अष्ट प्रमुख सखियों एवं फिर उनकी आठ-आठ सखियों (कुल 576) की कल्पना की गयी है। इन सखियों के नाम, रूप, वेश एवं सेवा आदि की यहाँ पर भी विस्तृत चर्चा है।[223]

लीला

लीला की दृष्टि से निम्बार्कियों में फिर दोनों परम्पराएँ स्पष्ट हैं। यहाँ पर निकुंज-लीला (कर्णिका-लीला) तथा ब्रज-लीला (आवरण-लीला) दोनों ही का वर्णन किया गया है। इसलिए दोनों ही लीलाओं की संज्ञाएँ एवं पात्र भी हैं। इसी कारण गोपियों का भी वर्णन मिल जाता है,[224] पर गौड़ीय वैष्णवों के समान लीलाओं को विशिष्ट व्याख्या देकर एक दार्शनिक 'सिस्टम' के भीतर समेटने का कोई प्रयास निम्बार्क सम्प्रदाय में उपलब्ध नहीं होता।

उपासना-भाव

युगल-शतक एवं महावाणी दोनों ही में जीव के लिए साधना-मार्ग सहचरी-रूप में ही स्वीकार किया गया है। यद्यपि इस अवस्था तक पहुँचने के पूर्व दस पैड़ियों की कल्पना की गयी है और ये पैड़ियाँ बहुत कुछ वैधी भक्ति की हैं। सम्भवतः इन पैड़ियों की स्थिति को ध्यान में रखकर ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निम्बार्क सम्प्रदाय में वैधी भक्ति की ही स्थिति को स्वीकार किया है।[225] पर वास्तव में मात्र वैधी प्रारम्भ में ही स्वीकृत रही है, अपने इस परवर्ती विकास में सम्प्रदाय में रागानुगा को पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया है। महावाणी आदि में सखियों की विविध सेवाओं का विस्तार से उल्लेख है एवं साधक को उन्हीं सहचरियों के भाव का अनुगमन करके राधा-माधव के विहार का तत्सुखी भाव से आनन्द-लाभ करना ही परम काम्य माना

गया है। इस सम्बन्ध में निम्बार्क सम्प्रदाय और अन्य सखी-सम्प्रदायों में विभेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

उझकति सहचरि निरखि सुख हिय में भरी हुलास।
नव निकुंज रस पुंज छवि श्यामा श्याम विलास।[226]

डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने इस समानता को लक्षित करके ही कहा है—

"श्री भट्ट जी के युगल-शतक नामक ग्रन्थ में राधा का स्वरूप नित्य-विहार और सहचरी-स्वरूप को बड़ी सरस शैली में प्रतिपादित किया है। यह ग्रन्थ भावना में राधावल्लभीय पद्धति से साम्य रखता है।....मूलतः निम्बार्क मत में सखी का स्वरूप युगल-शतक की सहचरी से कुछ भिन्न था, किन्तु रस-मार्ग का प्रवर्तन होने पर रसोपासना के अंगभूत सखी का ही रूप वहाँ भी स्वीकृत हुआ। महावाणी में तो रसोपासनानुकूल सहचरी वर्णित हुई है।"[227]

वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण, परिकर धाम इत्यादि की कल्पना

वल्लभ सम्प्रदाय में पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म की कल्पना की गयी है। अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी ब्रह्म भी पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। वास्तव में इस सम्प्रदाय में ब्रह्म के तीन मुख्य रूप हैं, पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म कृष्ण, अक्षर ब्रह्म एवं अन्तर्यामी रूप।[228] अक्षर ब्रह्म ही स्वभाव, कर्म, काल भेद से रुद्रादिक देवताओं के रूप में प्रकट होता है।[229] ब्रह्म को एक से अनेक होने की इच्छा हुई और उसने अपने खेल के लिए ही अपना स्वरूप प्रकट किया। इस प्रकार सृष्टि आदि उसकी इच्छा-शक्ति के परिणाम हैं।[230] यह इच्छा-शक्ति ही वल्लभ सम्प्रदाय में माया-शक्ति है। पर माया यहाँ पर झूठी नहीं है। इस बात पर वल्लभ सम्प्रदाय में बहुत बल दिया गया है। ब्रह्म इस सृष्टि के सम्प्रदायी और निमित्त कारण है।[231] ब्रह्म रसो वै सः श्रुति के अनुसार रस रूप भी वह है। वह आनन्दाकार विग्रह से अपने अक्षर धाम (गोलोक) में अपनी इच्छानुसार लीला-मग्न रहता है। यह सच्चिदानन्द ब्रह्म नित्य है और उसकी लीला भी नित्य है।[232] वह अनन्त रूपों वाला एवं विरुद्ध धर्मों का आश्रय है।[233]

कृष्ण

इस सम्प्रदाय के अनुसार स्वयं कृष्ण ही रसात्मा, रमेश, विरुद्ध धर्माश्रयी पूर्ण ब्रह्म हैं।[234] सूरदास आदि ने भी उन्हें इसी रूप में देखा है।[235] भागवत के "एते चांशकला पुंसः, कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" का उपयोग इस सम्प्रदाय में भी किया गया है। हरिदासी सम्प्रदाय के सन्दर्भ में हम लक्ष्मीपति नारायण के ललचाने की बात कह चुके हैं। सूरदास भी कुछ उसी टोन में कहते हैं—

नारायण धुनि सुनि ललचाने श्याम अधर धुनि बैन।
कहत रमा सों सुनि सुनि प्यारी बिहरत है बन श्याम।[236]

'म्लेच्छकान्तेषु देशेषु' श्लोकों वाले श्री कृष्णश्रय स्तोत्र के लेखक श्री वल्लभाचार्य यदि मात्र रसात्मक लीलाओं से हटकर धर्म-संस्थापन में भी विश्वास करें तो आश्चर्य न होना चाहिए। वल्लभ सम्प्रदाय में उनके चतुर्व्यूहात्मक (धर्म-संस्थापक)[237] एवं रसात्मक[238] दोनों रूपों को स्वीकार किया गया है। देवकी नन्दन वासुदेव धर्मरक्षक रूप हैं तथा नन्दसुवन यशोदालाल रसरूप हैं, परन्तु सम्प्रदाय में इसी दूसरे रसरूप की ही विशेष महिमा है। इसी कारण वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने लीलावपु कृष्ण की ही अनन्त वैचित्री का गुणगान किया है। धर्मरक्षक रूप की ओर यत्र-तत्र संकेत मात्र है।

राधा

प्रारम्भ में सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व हमें प्राप्त नहीं होता। परिवृढाष्टक में वल्लभाचार्य ने 'पशुपजा' गोपकन्या की चर्चा अवश्य की है जिसे विद्वान राधा के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं। पर इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त वह राधा ही है तो फिर राधा नाम लेने में आचार्य को हिचक क्यों रही? पीछे हम कह चुके हैं कि विष्णु पुराण, भागवत पुराण आदि से एक अधिक सौभाग्यशालिनी गोपी का पता लगता है। 'पशुपजा' सम्भवतः उसी परम्परा में है। हमें यह भी प्रतीत होता है कि सामाजिक उद्देश्य को दृष्टिपथ से ओझल न करने वाले वल्लभ प्रारम्भ में राधा तत्त्व को स्वीकार नहीं करना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने राधा तत्त्व को स्वीकार नहीं किया एवं बालभाव की उपासना पर ही बल दिया,[239] परन्तु भागवत को प्रमाण मानकर चलने वाला व्यक्ति कान्ता भाव से बच नहीं सकता। स्वयं वल्लभ ने गोपियों को अपना गुरु 'गोप्यस्तु अस्माकं गुरुः' माना है[240] तथा एक अन्य स्थान पर उन्होंने यह आकांक्षा व्यक्त की है कि मेरे हृदय में गोपियों के विरह का दुख पैदा हो जाये।[241] वल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी की सेवा में दो गौड़ीय वैष्णवों को नियुक्त किया था, उन्होंने सम्प्रदाय में राधा या गोपी भाव को लाने में सहायता दी होगी। इसके अतिरिक्त 16वीं शती के समाप्त होते-होते चैतन्य, सखी एवं राधावल्लभीय आदि सम्प्रदायों में राधा-भाव का जो स्फूर्तन होता है, उसमें वल्लभ सम्प्रदाय भी बचा नहीं रह सका एवं गो. विट्ठलनाथ जी ने राधाभाव को पूर्णतया स्वीकार कर लिया। श्रीनाथ जी की वल्लभ द्वारा प्रवर्तित सेवा-पद्धति में राधा या कान्ता भाव का स्थान नहीं है, परन्तु विट्ठलनाथ जी ने सेवा के मण्डान में राधा को ब्रह्मोत्सवों में सम्मिलित कर लिया। श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव की तरह राधा का जन्मोत्सव भी मनाया जाने लगा। विट्ठलनाथ जी ने 'स्वामिन्याष्टक', स्वामिनो स्तोत्र, एवं 'श्रृंगार रस मण्डन' की रचना करके राधा एवं दाम्पत्य भाव को महत्त्वपूर्ण प्रतिपादित किया,

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वल्लाभाचार्य ने कान्ता भाव का नितान्त तिरस्कार किया है। उन्होंने जब भगवान को सर्वभाव से भजनीय बताया, तब उसके अन्तर्गत रतिभाव स्वतः आ जाता है। भागवत के श्लोक—

कामं क्रोधं भयस्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हिते ॥[242]

की व्याख्या करते हुए अपनी सुबोधिनी टीका में उन्होंने कहा है कि काम स्त्री भाव में, सौहार्द सख्य भाव में होते हैं। इस प्रकार स्त्री भाव की स्वीकृति उनमें है। 'सूर निर्णय' के लेखकों ने आचार्य वल्लभ द्वारा विवेचित तीन प्रकार की गोपियाँ गोपांगना, गोपी, ब्रजांगना—उद्धृत की हैं। गोपांगनाएँ परकीया भाव से भजती हैं, वे साक्षात् 'पुष्टि-पुष्ट रूप' हैं। गोपी वास्तव में कुमारिकाएँ हैं जो कात्यायनी आदि व्रतों के माध्यम से कृष्ण को प्राप्त करना चाहती हैं, ये 'मर्यादा पुष्ट' हैं एवं ब्रजांगनाएँ कृष्ण को बाल भाव से भजती हैं, ये 'पुष्टिप्रवाह रूप' हैं।[243] परिवृढाष्टक में उन्होंने पशुपजा का शृंगारी रूप ही चित्रित किया है—

कलिन्दोद्भूतायास्तटमनुचरतीं पशुपजाम्।
रहस्येकां दृष्ट्वा नवसुभगवक्षोजयुगलाम्
दृढं नीवीग्रंथिं श्लथयति मृगाक्ष्या दृढतरम्
रतिर्प्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे ॥

इसी प्रकार मधुराष्टक हैं, उन्होंने कृष्णा के अंग, चेष्टा, क्रियादि को मधुर ही कहा है। सुबोधिनी भाष्य में उन्होंने अनेक स्थानों पर रति भाव की ओर संकेत किये हैं।[244] यों हम पहले भी कह चुके हैं कि भागवत को प्रमाण मानकर चलने वाला व्यक्ति मधुर भावना को अस्वीकार नहीं कर सकता। हमारा अनुमान है कि लोक-दृष्टि की विकृति के भय से उन्होंने बाल भाव पर जोर दिया है अन्यथा उनकी भक्ति भावना कान्ताभाव को अस्वीकृत नहीं करती, पर राधा-भाव उन्हें अवश्य बहुत स्वीकार्य नहीं लगता।

अस्तु, वल्लभ सम्प्रदाय में चाहे जैसे भी हो, राधा का चित्रण होता है एवं यह चित्रण अपनी शक्ति में किसी भी अन्य सम्प्रदाय से कम नहीं है। राधा और कृष्ण का सम्बन्ध प्रकृति-पुरुष का शाश्वत सम्बन्ध माना जाने लगता है। सूरदास ने प्रीति की इस निरन्तरता की ओर बार-बार संकेत किया है।[245] उन्होंने दोनों की अभेदता का बराबर चित्रण किया है। वे युगल स्वरूप हैं—

सदा एक रस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहि जानत दिरहत युगल स्वरूप।[246]

लौकिक सम्बन्ध की दृष्टि से राधा कृष्ण की स्वकीया ही हैं। सूर, परमानन्ददास, आदि ने राधा-कृष्ण का विवाह कराया है। इस युगल रूप में गौड़ीय वैष्णव एवं रसोपासक दोनों ही मतों का अद्भुत समन्वय हुआ है। कृष्ण के जाने के बाद वे

विरह की साक्षात् विग्रह दिखाई पड़ती हैं। उद्धव-संवाद के पदों में राधा एकमात्र प्रेयसी के रूप में नहीं दिखाई पड़ी है, उनमें विरहिणी गोपियों की हृदय-वेदना ही प्रकट हुई है। अष्टछाप के कवियों ने युगल स्वरूप का सखी भाव से लीला-स्वादन भी किया है।[247] वास्तव में संयोग और वियोग की वे समस्त स्थितियाँ इन कवियों में सहज ही प्राप्य हैं जिनकी चर्चा प्रेम के सन्दर्भ में की जाती है।

गोपी

वल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम का वास्तविक आदर्श गोपिकाएँ ही हैं। राधा भी दार्शनिक दृष्टि से कृष्ण से अभिन्न होते हुए भी (यों तो जीव और जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं) काव्य-चित्रण के क्षेत्र में गोपी ही हैं। गौड़ीय वैष्णवों में राधा के प्रभा-मण्डल में गोपियों की कान्ति मलिन पड़ जाती है, परन्तु वल्लभ सम्प्रदाय में गोपियाँ अपने महत्त्व को खोती नहीं। इसका कारण यह भी है कि लीला-वर्णन में श्रीमद्भागवत का अनुसरण इन कवियों ने किया है। सैद्धान्तिक स्तर पर गोपियों के दो रूप हैं—एक रूप में तो वे नित्य गोलोक में होने वाले रसरूप कृष्ण के नित्य रास की संगिनियाँ हैं जो कि भगवान की आनन्द प्रसारिणी शक्ति रूप ही हैं। इस रूप में कृष्ण और उनका सम्बन्ध धर्म और धर्मी का है। कृष्ण की ब्रजलीलाएँ उनकी नित्य लीलाओं की ही अवतार हैं। कृष्ण ने अपने समस्त परिकर, राधा, गोप, गोपी, गो, गोवत्स आदि समेत अवतार लिया था।[248] भक्त (जो सत्, चित् से युक्त पर आनन्द से रहित होता है) अपने आनन्द अंश की खोज में गोपी स्वरूप प्राप्त करना चाहता है। उनके राग का अनुकरण करके रागानुगा भक्ति की साधना करता है। साधना की दृष्टि से यह दूसरा रूप ही विशेष महत्त्वपूर्ण है। बहुत-से विद्वान कृष्ण-लीला के आध्यात्मिक प्रतीक को स्पष्ट करने के लिए गोपियों को आत्मा और कृष्ण को परमात्मा भी सिद्ध करते हैं एवं इस प्रकार भक्तात्मा के लिए इस भावमार्ग का उपस्थापन करते हैं।

पीछे हम वल्लभ द्वारा बतायी गयी तीन प्रकार की गोपिकाओं की चर्चा कर चुके हैं : गोपांगना, गोपी एवं ब्रजांगना। इन्हीं को अन्यपूर्वा, अनन्यपूर्वा एवं सामान्या कहा गया है। इनमें से रास में सम्मिलित होने का अधिकार प्रथम दो प्रकार की गोपियों तथा एक अन्य प्रकार निर्गुणा को है। उन्होंने सुबोधिनी में रास में प्रवेश पाने वाली इन्हीं तीन वर्गों की 19 प्रकार की गोपियों का विवरण दिया है।[249] इनमें भी अन्यपूर्वा (जो परकीया होते हुए भी कृष्ण को कान्त मानती थीं) भाव को भक्ति का श्रेष्ठतम रूप माना है। इसे पुष्टि-पुष्ट भाव की भक्ति कहते हैं। राधा को भले ही स्वकीया माना गया हो, पर गोपी भाव की भक्ति में तो परकीया भाव को ही वल्लभ सम्प्रदाय में महत्त्व दिया गया है। सूरदास, परमानन्द दास, नन्ददास आदि ने अनेक बार कुलकानि भेंट कर मिलने वाली गोपियों की चर्चा है।

वल्लभ ने एक स्थल पर यह भी कहा है कि निस्साधन भक्त केवल स्त्री भाव से भगवान का रसास्वादन कर सकने में समर्थ होते हैं।[250] यहीं पर कार्डिनल न्यूमैन की भी प्रसिद्ध उक्ति याद आ जाती है। उसने कहा था कि यदि तुम्हारी आत्मा को उच्चतर आध्यात्मिक आनन्द में आना है तो तुम्हें निश्चय ही स्त्री बन जाना चाहिए। (इफ दाई सोल इज टु गो इनटु हाइली स्प्रिचुअल ब्लेस्डनेस, दाऊ मस्ट बिकम ए वूमन।)

अपना सब कुछ समर्पित कर देने वाली इन स्त्रियों के प्रति भागवत में कृष्ण कह उठे थे कि मैं तुम्हारी कृतज्ञता के पाश से कभी मुक्त नहीं हो सकता।[251] परमानन्द दास ने भी इन गोपियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने उन्हें प्रेम की ध्वजा कहा है।[252] गोपी के निराले अनन्य प्रेम, जिममें समस्त मर्यादा को मिटाकर वे कृष्ण की प्राण प्यारी बनी थी, के अनुसरण का वे स्पष्ट उपदेश देते हैं—

ये हरि रस ओपी सब गोप-तियन ते न्यारी।
कमल नयन गोविन्द चन्द की प्रानहु ते प्यारी।।
निरमत्सर जे सन्तत अहहि चूड़ामणि गोपी।
निरमल प्रेम प्रवाह सकल मरजादा लोपी।।
जो ऐसे मरजाद मेटि मोहन गुन गावे।
क्यों नहि परकानन्द प्रेम भगति सुख पावे।।[253]

उनके अनुसार गोपियों के प्रेम की बराबरी कौन कर सकता है। उनके चरणारविन्द का रस उद्धव अपने शीश पर धारण करते हैं। स्वयं साक्षात् ब्रह्म उनके भाव का वरण करना चाहते हैं।[254] उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है कि यदि गोपियों का प्रेम और भागवत पुराण न होता तो सभी लोग औघड़ पन्थों के अनुयायी बनकर 'गमैया ज्ञान' का कथन करते—

जो गोपिन के प्रेम न होतौ अरु भागवत पुरान।
तौ सब औघड़ पन्थहिं होती कथन गमैया ज्ञान ॥[255]

वस्तुतः अष्टछाप का सम्पूर्ण काव्य गोपी-महिमा से भरा पड़ा है। भ्रमरगीत एवं रासपंचाध्यायी के प्रसंग गोपियों के प्रेम को अप्रतिम रूप से उज्ज्वल भूमिका में स्थापित कर देते हैं। अष्टछाप के कवियों ने गोपियों के भी तीनों रूपों—अनन्यपूर्वा, अन्यपूर्वा एवं सामान्या में किसी एक के रागात्मक सम्बन्ध का अनुगमन करना चाहा था। वल्लभ सम्प्रदाय का भक्त निकुंज-लीला का कुंज-रन्ध्रों से दर्शक ही नहीं है, वह स्वयं ईश्वर को कान्त रूप से प्राप्त कर उनके साथ रमण करना चाहता है एवं इस रूप में वह गौड़ीय वैष्णवों की अपेक्षा, आलवारों, निर्गुणियों एवं सूफ़ियों के अधिक निकट है परन्तु 18वीं शती तक पहुँचते-पहुँचते सखी भावना का पर्याप्त प्रवेश वल्लभ मत में भी हो जाता है।

धाम

धाम की दृष्टि से वल्लभ एवं गौड़ीयों में कोई स्पष्ट अन्तर हमें प्राप्त नहीं होता। इस सम्प्रदाय में परब्रह्म इस संसार में अकेला ही अवतरित नहीं होता, साथ ही उसकी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियों एवं अक्षरधाम भी जन्म लेते हैं। यह लीलाधाम उसका स्वरूपभूत अंश होने के कारण मायिक शक्ति से रचित संसार के गुणात्मक रूप में भिन्न होता है। ब्रजभूमि रसरूप भगवान के लीलाधाम गोलोक या गोकुल ही का अवतार है।[256] यह भी मायिक जगत् से परे है।[257] सूरदास ने वृन्दावन को निजधाम[258] एवं आदि अजिर[259] कहा है, परन्तु यह ध्यान रहे कि सखी सम्प्रदाय की भाँति इस मार्ग में वृन्दावन और ब्रज अलग-अलग न होकर तात्पर्यवाची हैं–

बृन्दाबन ब्रज को महतु कापै बरन्यो जाई।
चतुरानन पग परसि के लोक गयो सुख पाई।[260]

वल्लभाचार्य ने गोलोक या गोकुल का महत्त्व वैकुण्ठ से भी अधिक माना है।[261] सूर के कृष्ण की मुरली की ध्वनि जब वैकुण्ठ पहुँचती है तो नारायण उसके लिए उत्कण्ठित हो उठते हैं।[262] ब्रज, गोकुल, वृन्दावन एवं यहाँ के निवासियों की स्तुति में परमानन्ददास ने लगभग दो दर्जन पद लिखे हैं[263]–सूरदास, परमानन्ददास इत्यादि ने यमुना की महिमा का भी गुणगान किया है।

पुष्टिमार्ग की विशेषताएँ

(1) **अनुग्रह-तत्त्व की अत्यधिक प्रतिष्ठा**–भक्ति के क्षेत्र में यों तो प्रत्येक सम्प्रदाय ने प्रभु-अनुग्रह पर बल दिया है, पर उसे विशिष्ट रूप से सैद्धान्तिक स्तर पर स्वीकार करने का श्रेय वल्लभ सम्प्रदाय को ही है। पुष्टिमार्ग का नामकरण ही अनुग्रह से सबन्धित है। भागवत के 'पोषणं तदनुग्रहः' के आधार पर ही इसे पुष्टिमार्ग की संज्ञा दी गयी। वल्लभ ने अपने अणुभाष्य में स्पष्ट कर दिया है कि पुष्टिमार्ग एकमात्र अनुग्रह साध्य है–पुष्टिमार्गेष्वनुग्रहैकसाध्यः।[264] 'तत्त्वदीप निबन्ध' के भागवतार्थ प्रकरण में भी उन्होंने कालादि के प्रभाव को रोकने वाली श्रीकृष्ण कृपा को पुष्टि कहा है। अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है कि पुष्टिमार्ग में अनुग्रह की नियामक स्थिति होती है।[265] गो. हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग के लक्षण बताते हुए इस तत्त्व का स्पष्ट निरूपण करते हुए सर्वसिद्धियों का हेतु भगवान का अनुग्रह ही माना है–

अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥[266]

(2) अनुग्रह-तत्त्व को अनुकूलित करने वाला तथ्य (कण्डीशनिंग फैक्टर) है कि भक्त आत्मसहित समस्त आत्मीय वस्तुओं को भी भगवदर्पण कर दे। सर्वात्मना भाव

से नित्य ही श्रीकृष्ण की शरण में रहने का निर्देश मन में त्याग भाव को भी जन्म देता है एवं अहन्ता का निवारण भी करता है।

(3) पुष्टिमार्ग वास्तव में सिद्धान्त नहीं सेवा का मार्ग है। निष्क्रिय भाव-भक्ति मन को स्थायित्व नहीं देती। तनूजा, वित्तजा और मानवी सेवा के क्रम को स्थापित करके और उसमें मानसी सेवा को श्रेष्ठतम एवं सदा करणीय[267] बताकर उन्होंने भावात्मकता के साथ क्रियाशीलता का अटूट सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। तनूजा सेवा में भक्त अपना शरीर भगवान को देता है, वित्तजा में धन-सम्पत्ति आदि भी भगवदर्पण हो जाते हैं एवं सर्वश्रेष्ठ मानसी सेवा में भावात्मकता का प्राधान्य है। जब भक्त के हृदय में भगवान से मिलने की विकलता के कारण विप्रयोग उत्पन्न होता है, तब प्रभु सम्पूर्ण हृदय में लीला का अनुभव कराते हैं और फिर स्वतः ही रसात्मक प्रभु का हृदय में आविर्भाव हो जाता है।[268] सेवा को पूजा से अलग करते हुए हरिराय जी ने बताया है कि सेवा में स्नेह के साथ लौकिक युक्ति से परिचर्या होती है तथा पूजा में शास्त्रानुकूल अर्चना की जाती है—

सेवायां लौकिकी युक्तिस्तथा स्नेहो नियामकः।
पूजायां तु विधिः स्नेहविरुद्धा इति निश्चयः।।[269]

इस प्रकार सेवामार्ग में स्नेह-भाव वाले तत्त्व की अनिवार्य रूप से नियामक स्थिति बनी रहती है।

विट्ठलनाथ जी ने सेवा-विधि का बहुत बड़ा मण्डन बाँधा। यद्यपि आगे चलकर सेवा-विधि के इस वैभवशाली रूप के कारण सम्प्रदाय में कतिपय विकृतियाँ भी उत्पन्न हुई पर उस समय मुस्लिम वैभव के समक्ष मनोवैज्ञानिक रूप से हिन्दू जनता को इसने खड़े होने की दृढ़ता दी होगी। इस विधि में सामन्ती वैभव एवं आदर्शों का जमकर उपयोग किया गया। भक्तिमार्ग में दास भाव (महत्त्व की भावना के प्रति समर्पण) आवश्यक है। वैधी भक्ति के अनुयायियों ने तो इसे मान दिया ही है, सखी भाव में भी इसे अपनाया गया एवं पुष्टिमार्ग ने भी इसे अपने ढंग से स्वीकार किया है।

(4) भाव की दृष्टि से गोपी भाव को जितनी शक्ति के साथ इस सम्प्रदाय ने स्थापित किया, उतना उसके समकालीन किसी भी अन्य सम्प्रदाय ने नहीं किया। यह भाव सखी-भावना के परवर्ती प्रभाव में भी समाप्त नहीं हुआ। गो. हरिराम जी ने स्वयं सखी-भावनापरक साहित्य की रचना की है पर अपने 'भक्ति द्वैविध्य निरूपण' में उन्होंने गोपी भाव की कृष्णभक्ति को ही श्रेष्ठ एवं दुर्लभ बताया है। इस मत के अनुयायी भक्त भगवान के चरणों के सरोवर में (नवधा आदि के द्वारा) शीतल मज्जन नहीं चाहते, ये तो भगवान के पद्म मुख के पराग का पान करना चाहते हैं, अधरों के अमृत का आस्वादन चाहते हैं, वैसा ही आस्वादन जैसा कि गोप-सीमन्तनियों ने प्राप्त किया था—

भक्तिर्द्विधा पदाम्भोजवदनाम्बुजभेदतः।
प्रथमा शीतला भक्तिर्यतः श्रवणकीर्तनात् ॥
तत्रैव मुख्यसम्बन्धः सुलभो नारदादिषु।
द्वितीया दुर्लभा यस्मादधरामृतसेवनात् ॥
तद्भावनारूपा विरहानुभवात्मिका।
गोपासीमन्तिनीनाम् च सा हरिणा स्वतः ॥[270]

भावनारूपा एवं विरहानुभावात्मिका यह भक्ति विरह के तत्त्व को भी अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा ऊँचाई पर प्रतिष्ठित करती है। यह सर्वमान्य बात है कि अष्टछाप के कवियों ने श्रेष्ठतम वियोग-काव्य का सृजन किया है। इस विरह भावना की उच्चता के समकक्ष सूफ़ियों की विरह-भावना को ही रखा जा सकता है। हमारा अनुमान है कि पुष्टिमार्ग के विरह-तत्त्व पर सूफ़ियों का भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य विद्यमान है। सूरदास ने तो स्पष्ट लिखा है, 'अधो विरही प्रेम करै।'[271]

(5) पुष्टिमार्ग में पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा मार्गों की कल्पना करके अन्य साधना मार्गों को भी स्वीकृति दी गयी है तथा पुष्टिमार्ग में भी शुद्ध पुष्ट, पुष्टि पुष्ट, मर्यादा पुष्ट एवं प्रवाह पुष्ट, इन चार प्रकार के जीवों की कल्पना करके भक्ति के अनेक सम्प्रदायों को स्वीकृति देनी चाही हैं। ऐसा लगता है कि अपने मन का प्रचार करते हुए भी वल्लभ अन्य साधना-मार्गों सम्प्रदायों के प्रति पूर्णरूपेण उदार थे।

(6) पुष्टिमार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित होते हुए भी वल्लभ सम्प्रदाय में प्रेमाभक्ति को अत्यन्त पुष्ट व्यावहारिक आधार पर प्रतिष्ठित किया गया। दार्शनिक भित्ति होने के कारण रहस्यानुभूति की प्रामाणिकता भी इसमें नहीं, परन्तु भावना के वेग में रहस्यात्मक संकेतों की नितान्त उपेक्षा भी नहीं को गयी।

(7) कृष्ण ही इस सम्प्रदाय के आराध्य हैं। राधा की प्रधानता दिखाने वाले पद वल्लभ सम्प्रदाय में कठिनता से मिलेंगे। सूरदास राधा से भी कृष्णचरण की ही भक्ति माँगते हैं।[272]

(8) वात्सल्य, सख्य एवं मधुर इस सम्प्रदाय के कवियों के मुख्य भक्ति-रस रहे हैं। इस प्रकार मानव के मानसिक संगठन के एक बड़े भाग को यह सम्प्रदाय अभिव्यक्त एवं परितुष्ट करता है।

ललित सम्प्रदाय में उपास्य, लीला, नाम परिकर एवं उपासना भाव की धारणा

ललित सम्प्रदाय वृन्दावन का एक छोटा-सा सम्प्रदाय है, जिसकी स्थापना 18वीं शती के अन्तिम चरण में महात्मा वंशी अलि जी ने की थी। यह सम्प्रदाय इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि राधावाद अपनी पराकाष्ठा पर इसी सम्प्रदाय में पहुँचता है। शक्ति की धारणा इस सम्प्रदाय में अत्यधिक व्यापक रूप में हुई है। पीछे हम

सखी राधावल्लभी सम्प्रदायों के विवेचन के प्रसंग में कह चुके हैं कि प्रेम के क्षेत्र में राधा की प्रमुखता उन सम्प्रदायों में स्वीकृत हो गयी थी, पर दार्शनिक स्तर पर कृष्ण ही परात्पर तत्त्व बने रहे। शक्ति और शक्तिमान की कल्पना उनमें शक्तिमान के महत्त्व की दर्शिका है, परन्तु ललित सम्प्रदाय में शक्तिमान को नहीं शक्ति को ही प्राधान्य प्राप्त हुआ। राधा ही इस सम्प्रदाय में परात्पर तत्त्व मान ली गयीं।

यहीं पर यह भी याद दिला देना उचित होगा कि राधा को परात्पर तत्त्व स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं कि इस सम्प्रदाय में केवल शक्ति-रूपा (शक्ति-भावना के अनुरूप) राधा की ही उपासना होती है। यह सम्प्रदाय भी सखी या राधावल्लभी सम्प्रदायों की भाँति ही युगलोपासक है। स्वामी हरिदास गो. हित हरिवंश का उल्लेख उन्होंने बड़े सम्मान से किया है।[273] ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों सम्प्रदायों का उन पर गहरा प्रभाव था। पीछे सखी-सम्प्रदाय की चर्चा करते हुए हम कह चुके हैं कि स्वामी हरिदास को ललिता का अवतार स्वीकार किया गया है एवं उनका अत्यधिक महत्त्व बताया गया है। ललित सम्प्रदाय में भी गुरु को ललिता रूप ही माना गया है।[274] अथवा ललिता को ही गुरु कहा है।[275] राधा को प्रमुखता देने का संकेत सम्भवतः उन्हें राधावल्लभीय सम्प्रदाय में प्राप्त हुआ होगा। वंशी अलि जी के पश्चात् भी ललित सम्प्रदाय राधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों के मध्य घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। हमारे देखने में वंशी अलि जी के शिष्य किशोरी अलि जी की वाणी का हस्तलिखित संकलन आया है। उसमें किशोरी अलि एवं गो. चन्दलाल (राधावल्लभीय) के मध्य होने वाले पत्र-व्यवहार का भी संग्रह है।[276] उसमें ज्ञान होता है कि गो. चन्दलाल के मन में किशोरी अलि उनकी राधोपासना के लिए अत्यधिक सम्मान का भाव था।[277]

राधा एवं उनकी लीला

महात्मा वंशी अलि जी ने अपने 'राधा सिद्धान्तम्' ग्रन्थ में प्रारम्भ में ही बता दिया है कि सौन्दर्य राशि, नित्य प्रेमासक्त किशोरी राधा ही अनन्य भाव से हमारी उपास्य है।[278] वे चाहते हैं कि समस्त इन्द्रियों का विषय राधा ही हो—

राधा जीभ रटों सदा सुनों सुकान।
श्री राधा नयनन देखिहों राधा बिननहिं आन।[279]

राधिका का रूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि ब्रह्मा तथा भगवान को रचने वाली एवं अधिष्ठात्री शक्ति वे ही हैं।[280] सब कुछ को अनुस्यूत रखने वाली एवं ब्रह्म की अपर पर्याय वे ही हैं। वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं, परन्तु वे स्वतन्त्र शक्ति होते हुए भी भक्त के अधीन हैं[281] एवं श्रीकृष्ण उनके भक्त हैं तथा उनकी भक्ति के अधीन होकर समान भाव में कृष्ण के साथ विहार करने के लिए उन्होंने अवतार धारण किया है।[282] वृषभानु के घर में भी जन्म उन्होंने साधकों पर अनुग्रहार्थ ही

लिया है।[283] वास्तव में लोक में लीला का समस्त विस्तार ही 'साधकानां प्रसादाय' ही है।[284] वे वास्तव में सर्वेश्वरैश्वरी हैं, अतः पत्नी भाव (कृष्ण के प्रति) जो दिखाई पड़ता है, वह भक्तों को लीला का दर्शन कराने मात्र के लिए है।[285] इस प्रकार सपाट रूप से कृष्ण की सत्ता मात्र भक्ति की राह जाती है। कृष्ण, सखियों या अन्य राधा पदाश्रित व्यक्तियों के भाव में ही राधा की उपासना करने का निर्देश उन्होंने दिया है–

कृष्णः सख्यश्च राधायाः भक्ताः राधापदाश्रयाः।
तद्भक्तभावतः सेव्या नमस्या राधिकाश्रितैः॥[286]

अन्यत्र भी उन्होंने नन्द कुमार को सेवक ही कहा है।[287] वास्तव में इस अंश से तो ऐसा प्रकट होता है कि सम्प्रदाय में कृष्ण को एकदम निष्कासित कर दिया गया है, परन्तु यह सत्य नहीं है। 'हृदय सर्वस्व' के दोहा में राधा के युगल रूप एवं विहार का भी सहज एवं सरल चित्रण हुआ है–

श्री वृषभानु कुमारि नित नाम कुँवर नन्दनन्द।
बूड़े रहत विहार में सहचर आनन्द कंद।[288]

नित्य विहार का भी वर्णन पूर्वोल्लिखित रसोपासना जैसा ही यहाँ पर भी है–

खान पान सुध नेक नहीं, सखी करत[289] *सब काज।*
अंगन ही में सब समय सिज्जा हो को राज।।1।।
नयन से शृंगार सब होत है आँगन माँझ।
बिरहन में बूढ़े रहें नहीं जानत[290] *दिन साँझ।।2।।*
नयन ही में नयन रहें, हिय में समाय[291]*।*
भुजन भुजा लपटी रह, यही एक रस माय।।3।।

ऐसे गाढ़ विहार में रत रहने वाले कृष्ण में उन्होंने दास भाव ही देखा है, ईश्वरता तो वंशी अलि जी के मतानुसार राधा में ही है–

ईश्वरताई कुर्वरि में दासन्तन हैं लाल।
कृपादृष्टि किये आपस में करत[292] *अनोखे ख्याल।।4।।*

पर वे साक्षात् मूर्तिमान शृंगार हैं और प्रेम के कारण ही ब्रज में सर्वश्रेष्ठ है एवं लीला निर्वाह के लिए कान्त भाव से अलंकृत हैं।[293]

ललिता एवं अन्य सखियाँ

ललिता को इस सम्प्रदाय में बहुमान मिला है। उन्हें कहीं-कहीं पर राधिका से अभिन्न कहा गया है।[294] ललिता को युगल रूप की करुणा, प्रीति एवं स्वरूप-शक्ति बताया गया है।[295] युगल को उन सहचरी के अचल में ही रहने वाला अथवा एक प्राण तीन मित्र (तीन देह) की संज्ञा भी उन्होंने दी है।[296] यहाँ तक कि दोनों के हृदय में ललिता का विशाल स्नेही नाम विद्यमान रहता है।[297]

अन्य समस्त सखियाँ ललिता की सहचरी हैं एवं ललिता की ही रीति से उपासना करने का निर्देश भी उन्होंने दिया है।[298] ललितादिक अष्ट सखियों के नाम एवं जन्मतिथियाँ भी गिनायी हैं।[299] ये सखियाँ राधा के बिना एक पल भी नहीं रह सकतीं। वास्तव में वे राधा को अपना भर्ता मानकर ही अपने को सौभाग्यवती मानती हुईं सौभाग्यसूचक चूड़ा, नथ आदि चिह्नों को धारण करती हैं।[300] वास्तव में राधा, कृष्ण, ललिता, वृन्दावन एवं सखी में कोई अन्तर नहीं है।[301] सिद्धावस्था में यह अद्वय की द्योतिका भूमि है। वर्षगाँठ आदि उत्सवों एवं जलविहारादि लीलाओं में सखियाँ अपने-अपने भाव में सुख लेती रही हैं।[302]

उपासना भाव

महात्मा वंशी अलि जी ने गौड़ीय वैष्णवों के अनुकरण पर वैधी, रागात्मिका एवं रागानुगा के भक्ति-प्रकारों को भी स्वीकार किया है। उनकी परिभाषाएँ भी पुरानी ही हैं।[303] रागात्मिका भक्ति में भी दास, सखा (सखी) वात्सल्य एवं उज्ज्वल का उल्लेख एवं उनके आश्रम तथा विभाव की चर्चा भी की गयी है।[304] इनमें भी उज्ज्वल मधुर रस को ही उन्होंने श्रेष्ठतम माना है क्योंकि मणिसमूहों के मध्य से गुजरने वाले सूत्र की भाँति ही उसमें सब अनुस्यूत रहते हैं–मधुरादिविशेषास्तु सूत्रे मणिगणा इव[305] एवं इनमें में किसी भी भाव में भजने का वे निषेध नहीं करते, परन्तु ललिता की गुरु रूप में कल्पना करके उनके भाव से भक्ति करने का उन्होंने जो इंगित किया है, वह उनके झुकाव को सखी-उपासना की ओर ले जाता है। स्वयं वे अपने को राधा की चेरी मात्र कहते हैं–

राधा चेरी हों सखी मेरे मन नहिं आम।
वंशी अलि नीज जीव को सब विध राधा मान ॥[306]

सक्षेप में उन्होंने सिद्धान्तों का सार करते हुए कहा है कि वृन्दावन विहारिणी श्रीराधा जी का नाम ही हमारी परमगति है। श्री ललिता जी हमारे सिद्धान्त की गुरु हैं। उनकी कृपा से राधा के स्वरूप में मेरा प्रेम हो।[307]

रामभक्ति-साहित्य में रसोपासना का स्वरूप

इतिहास

विद्वानों का अनुमान है कि भारतीय जन-मानस के दूसरे सर्वोत्तम उपास्य देवता राम की अवतार-रूप-कल्पना पहली शताब्दी ई.पू. के आसपास की है[308] परन्तु अवतार रूप में कल्पित हो जाने के बहुत दिन बाद तक उनके प्रति प्रगाढ़ भक्ति-भावना का

आविर्भाव नहीं होता। श्री आर.जी. भण्डारकार का अनुमान है कि यद्यपि ईसवी सन् के प्रारम्भ में राम विष्णु के अवतार माने गये थे, किन्तु उनकी विशेष रूप से प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग ही प्रारम्भ हुई है।[309] डॉ. कामिल बुल्के[310], डॉ. भगवती प्रसाद सिंह[311] आदि का अनुमान है कि रामभक्ति का आविर्भाव दक्षिण-भारत के आलवार सन्तों में सर्वप्रथम हुआ है। 8वीं शताब्दी के आसपास से रामभक्ति का साम्प्रदायिक रूप प्रमुखता प्राप्त करने लगता है।

जहाँ तक रामभक्ति में माधुर्योपासना के प्रवेश का प्रश्न है, उसका निर्णय करना विवादास्पद है। हिन्दी साहित्य में माधुर्यभाव भक्ति में रामभक्ति की रचनाएँ तुलसीदास के बाद की ही प्राप्त हुई हैं।[312] डॉ. भगवती प्रसाद सिंह ने अपने महत्त्वपूर्ण शोधग्रन्थ 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय' में उस भावना की प्राचीनता को वाल्मीकीय रामायण तक पहुँचाया है, परन्तु ऊपर के निर्णयों से यह ध्वनित होता है कि वाल्मीकि-रामायण रामभक्ति का ग्रन्थ नहीं है। विद्वानों ने उसमें भक्ति वाले अंश प्रक्षिप्त माने हैं। अतः राम-सीता का श्रृंगारी भावना का अंकन उसमें काव्य के आग्रह से ही मानना उचित होगा। अन्य जिन नाट्य एवं काव्य-ग्रन्थों का उल्लेख डॉ. सिंह एवं पं. भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' (रामभक्ति में मधुर उपासना) ने किया है, वे भी भक्तिकाव्य न होकर सरस साहित्य के अन्तर्गत ही परिगणनीय है। स्वयं डॉ. सिंह ने स्वीकार किया है कि वास्तव में ये (लेखक) साधक नहीं, कवि थे किन्तु थे इस भावना के समर्थक। अतएव उनकी रचनाएँ स्वयं साधनात्मक न होते हुए श्री रसिक-साधना के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि बन गयी।[313] प. भुवनेश्वर नाथ मिश्र माधव ने जिन संहिता ग्रन्थों, स्तवराज एवं गीतियों तथा रामायणों आदि[314] की चर्चा की है, वे सभी परवर्ती प्रतीत होती हैं। स्वयं लेखक ने उनके काल-निर्णय का कोई प्रयास नहीं किया है। डॉ. भगवती प्रसाद सिंह ने माना है कि ऐतिहासिक दृष्टि में आलवार सन्तों को माधुर्यभाव का प्रथम भक्त मानना चाहिए[315] परन्तु जैसा कि पीछे हम कह चुके हैं, आलवारों की माधुर्य-भावना प्रेम-प्रतीकवाद के अन्तर्गत परिगणनीय है, वह भाव एवं दर्शन-क्षेत्र की वस्तु नहीं है। उस माधुर्य भाव तथा परवर्ती राम एवं कृष्ण-सम्प्रदायों के माधुर्य-भाव (रसिक-साधना) में गुणात्मक अन्तर है। वास्तव में इस बात को अस्वीकार करना कठिन है कि रामभक्ति की रसोपासना पर कृष्णभक्ति के सम्प्रदायों का गहरा प्रभाव है। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि 19वीं शती तक रामभक्त रसोपासना का मर्म समझने के लिए वृन्दावन जाते रहे हैं। यों जिन तान्त्रिक साधनाओं एवं शक्तिवाद का प्रभाव कृष्णभक्ति की माधुर्य भावना तथा रागवाद, सखीवाद आदि पर पड़ा है, वे मूल प्रभाव-स्रोत रामभक्ति को भी बराबर प्रभावित करते रहे हैं, इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

रामभक्ति-साहित्य में तुलसीदास एक ऐसे विशाल वट-वृक्ष के समान हैं, जिसकी सुखद छाया को छोड़कर साधारणजन अन्यत्र नहीं जाना चाहता। यद्यपि तुलसीदास के

युग तक (मृत्यु सं. 1680) कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में रसिकोपासना एवं सखी भाव का व्यापक प्रचार हो चुका था, पर अपने अप्रतिम लौह व्यक्तित्व के बल पर लोक-संग्रही तुलसीदास ने राम, सीता, कौशल्या, भरत, हनुमान आदि चरित्रों के माध्यम से जिस वैधी भक्ति मर्यादा-मार्ग को प्रतिष्ठित कर समाज के लिए मेरुदण्ड का कार्य किया, वह मेरु ऐसे अविचल भाव से दृढ़ रहा कि उस पर परवर्ती रसिक-साधनाओं का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ सका, उत्तरी भारत के अधिकांश सामान्यजन उससे प्रेरणा लेते रहे। दार्शनिक दृष्टि से देखने पर तुलसी के राम और सीता कृष्ण एवं राधा से भिन्न स्थिति वाले नहीं दिखाई देंगे। राम ही परब्रह्म हैं जो भक्तिवश कौशल्या की गोद में जन्म लेते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण न बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगतिवश कौशल्या की गोद।[316]

उनके वाम भाग में छविनिधि, आदि शक्ति श्री सीता जी शोभायमान हैं। उनके भृकुटि विलास से ही संसार उत्पन्न होता है।[317] वे संसार को उत्पन्न ही नहीं करतीं उसके लालन-पालन एवं हरण का कार्य भी परब्रह्म के संकेत पर जानकी ही करती है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी।
जो सजति जगु पालति हरति सख पाइ कृपानिधान की।।[318]

उन्हें तुलसीदास ने ब्रह्म की परमशक्ति कहा है—

नारद वचन सत्य सब करिहौं
परम सक्ति समेत अवतरिहौं।[319]

पीछे गौड़ीय वैष्णवों आदि के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि राधा भक्ति देने वाली भी हैं। सूरदास ने भी राधा से कृष्णचरण-रति माँगी थी। तुलसीदास भी अपनी अर्जी सीता के हाथ ही राम तक भिजवाते हैं।[320] इन युगल में प्रेम कम नहीं है, पर किसी को दिखाने के लिए न होकर यह सहज रूप से मर्यादित प्रेम है। इसका मर्म राम और सीता ही जानते हैं। बल्कि यों कहना चाहिए कि इस प्रेम का मर्म राम का मन जानता है और वह मन मदा सीता के पास रहता है, इस प्रीति-रस को इतनी ही बात से समझा जा सकता है—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहिं पाहीं, जानु प्रीति रस एतनैहिं माहीं।[321]

परन्तु इन प्रिया-प्रियतम के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति मर्यादित रही है। परवर्ती रामरसिकोपासकों को यह दार्शनिक रूप ज्यों-का-त्यों उपलब्ध हो गया, उसमें लीला की कल्पना व प्रेम-सम्बन्धों का मुक्त प्रसार और जुड़ गया। आदि शक्ति को आह्लादिनी में परिवर्तित करके, फिर उसे रसदात्री बनाने में देर नहीं लगी। सम्भवतः तुलसीदास के जीवनकाल में ही यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी।

रसिक-सम्प्रदायों में अग्रदास इस साधना के प्रवर्तक माने जाते हैं उनका

आविर्भाव-काल संवत् 1642 है एवं तुलसी का मृत्यु-संवत् 1680 है, इस प्रकार अग्रदास के जीवन का प्रारिम्भक अंश तुलसी के उत्तरार्द्ध के समकालीन रहा है। ऐसा लगता है कि कृष्णभक्ति की रसिकता रामभक्तों को भी आकृष्ट कर रही थी। अग्रदास ने इस प्रवृत्ति को पहचानकर उसे व्यवस्थित साधना पद्धति का रूप दे दिया। धीरे-धीरे राम-सम्प्रदाय में यही साधना बल पकड़ती गयी एवं 19वीं शती का रामभक्ति-साहित्य सर्वतोभावेन इसी माधुर्य भाव में डूबा हुआ दिखाई देता है।

कृष्णभक्ति का प्रभाव स्वीकार करके राम-सीता को युगलबिहारी कह तो दिया गया, परन्तु वास्तव में यह कार्य उतना सरल नहीं था। राम के चरित्र एवं लीलाओं की जो धारणा आदिकाल से लेकर मध्यकाल तक चली आ रही थी, उसमें श्रृंगारिकता का न्यूनतम प्रवेश हुआ था। राम-सीता को राधा-कृष्णा एवं कृष्ण-गोपियों जैसी प्रेम-गाथाएँ चित्रित करने वाली न तो कोई पुष्ट प्रकीर्णक-पथों की ही परम्परा अब तक उपलब्ध हो सकी है और न भागवत जैसा कोई पुष्ट-ग्रन्थ एवं गीत-गोविन्द जैसा ललित काव्य ही हमें प्राप्त होता है, जिसमें राम-सीता के इस उज्ज्वल रसपरक रूप को स्पष्ट किया गया हो। इसके स्थान पर राम का प्रजावत्सल, दुष्ट-संहारक एवं मर्यादा पुरुषोत्तम रूप अधिक स्थापित रहा है। तुलसी ने उनके इन गुणों को और सुदृढ़ भूमि पर स्थापित कर दिया था। रामकथा के सारे पात्र वास्तव में परिवार एवं समाज के विविध सम्बन्ध-सूत्रों के अत्यधिक उदात्त स्तर पर प्रातष्ठित किये गये थे। रसिकोपासकों ने इन सबको स्वीकार करते हुए भी माधुर्यपरक व्याख्या करनी चाही। रामकथा की इन्हीं आवश्यकताओं के कारण ही हमें सिद्धान्त-पक्ष में यत्र-तत्र कृष्ण भक्ति के सम्प्रदायी की अपेक्षा अन्तर प्राप्त होता है, अन्यथा व्यापक रूप से गौड़ीय वैष्णव-तत्त्व-दर्शन (बाद को हरिदासी आदि सम्प्रदायों की भी विचारधारा) को ही रामभक्तों ने स्वीकार किया है। नीचे इन समानताओं एवं वैषम्यों का संक्षिप्त विवरण हम उपस्थित कर रहे हैं। रामलीला को माधुर्यभावपरक मोड़ देने का सबसे अधिक शास्त्रीय एवं पाण्डित्यसाध्य प्रयत्न मधुराचार्य जी ने किया था। उन्होंने वाल्मीकीय रामायण को वेदादि की भी अपेक्षा अधिक प्रमाण एवं सारे वाङम्य का कारण[322] बताते हुए उसकी श्रृंगार रसपरक व्याख्या करने का अद्भुत प्रयत्न किया था। संस्कृत व्याकरण की कामधेनुता के सहारे शब्दों को खींच-खाँचकर जो अर्थ निकाले गये हैं, उनसे आज का पाठक तो खीझ सकता है, पर उस साधना के समझने में ऐसे अर्थ महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे प्रयत्नों का मनोरंजक उदाहरण है कि रामकथा के वनगमन वाले प्रसंग को इन लोगों ने वास्तविक न मानकर माया-जन्म माना। इन विवेचकों के अनुसार राम-सीता, लक्ष्मण चित्रकूट से आगे गये ही नहीं, वे चौदह वर्ष वहीं विहार करते रहे। रावण के संहार के लिए वास्तव में राम की आज्ञा से लक्ष्मी, नारायण एवं शेष गये थे—सीता, राम एवं लक्ष्मण के वेश में।

राम की उसी प्रकार परब्रह्म-रूप में यहाँ पर भी कल्पना है, जिस प्रकार कि अन्य रसोपासक सम्प्रदायों में हम कृष्ण का रूप देख चुके हैं।[323] वे सच्चिदानन्द हैं।[324] वे द्विभुज परात्पर हैं।[325] नृत्य-राघव-मिलन में उन्हें लीला के क्षेत्र में दक्षिण नायक कहा गया है :

कहुँ दक्षिण नायक रस लीला, कहहिं राम सुन्दर मृदुशीला।[326]

दक्षिण नायक होने के नाते उन्हें अनेक प्रियाओं का वल्लभ होना पड़ता है। सहस्रों मुनि-कन्याओं, राज-कन्याओं, नाग-कन्याओं तथा गन्धर्व-कन्याओं को उनकी पाणिग्रहीता भार्या माना गया है।[327] वास्तव में जब कृष्ण के इतनी भार्याएँ या वल्लभाएँ थीं तो फिर राम की क्यों न होतीं? फिर रास के लिए भी तमाम प्रियाओं की आवश्यकता थी। इसी कारण मधुराचार्य, राम-सखे इत्यादि ने उनकी अनेक भार्याओं की कल्पना की है, पर दूसरी ओर राम का एक पत्नीव्रत परम्परा में अत्यधिक आदर चला आ रहा था। इन दोनों परस्पर विरोधी दिखने वाली बातों के मध्य संगति स्थापित करने के लिए बहुभार्यात्व की एक दार्शनिक व्याख्या उन्होंने देनी चाही।

इस व्याख्या के अनुसार राम की पराशक्ति सीता से ही उत्पन्न उन्हीं की अंशभूता अन्य समस्त स्त्रियाँ या सखियाँ हैं, अतः वे वास्तव में सीतारूप ही हैं। इस तरह राम का एक पत्नीव्रत खण्डित नहीं होता। मधुराचार्य ने जनक की ऐसी ही शंका का समाधान स्वयं जानकी से सुन्दरी-तन्त्र के द्वितीय पटल के एक उद्धरण द्वारा कराया है। जानकी कहती है :

"हे पिता, आप पुरुषोत्तम श्रीराम जी की रस-रूप शक्ति मुझे जानें। श्रीराम महादेव हैं, वे सत् और असत् से परे हैं, वे भोक्ता है। मेरी ईक्षणकला के आक्षेप से श्रीरामचन्द्र शरीर धारण करते हैं और उनकी इच्छा से मेरा शरीर है, ऐसा समझिये। श्रीरामचन्द्र और मेरे शरीर के ऐक्यभाव से यह रसरूप परब्रह्म है जो आत्यन्तिक सुखरूप है। इसी से विश्व सुखी होता है। इसी रस से बहुत से रस वीर, करुण, हास्य, भयानक आदि—उद्भिन्न हुए हैं, सभी शक्तियाँ मुझसे निकली हैं, जो शुद्ध सत्वरूपा हैं और विकार-रहिता हैं।....ये सब श्रीरामचन्द्र की भोग्यरूपा हैं, सदानन्दा और, रस-मोद विहारिका हैं। ये मेरे ही समान हैं। इन सबके भोक्ता रघुनन्दन ही हैं।"[328]

मधुराचार्य ने यह व्याख्या तो दी ही है, पर यह भी कह दिया है कि जो लोग उनके निरवधि नित्य-विहार को नहीं जानते तथा लोक-वेद के किंकर हैं, वही लोग उन्हें एक पत्नीव्रत-धारी समझते हैं अन्यथा वे तो सुखैश्वर्य-रसज्ञः कामिनी-कामवर्द्धक हैं। मधुराचार्य के अनुसार—

"जो लोग नीरस चित्त के हैं अर्थात् जो लोग श्री रामचन्द्र के निरंकुश निरवधिक

नित्य विहार रस के ज्ञाता नहीं हैं, केवल एक पत्नीव्रत वचनों के छायानुसारी हैं। जितेन्द्रियत्वादि बल वाले श्रीरामचन्द्र जी की अघटित-घटना पटीयसी शक्ति के जानकार नहीं हैं, वे अपरिमित ज्ञानानन्दा-श्रेयभूत परब्रह्म श्री रामदेव के शृंगार रस का परम उत्कर्ष तथा उनके सुखैश्वर्य की पराकोटि में संकोच करते हैं कि परब्रह्म-स्वरूप पत्नीव्रती रामचन्द्र जी में यह विहारलीला सम्भव नहीं हो सकती। ये लोग लोक और वेद के किंकर हैं, इस कारण धर्म-विषयक भक्ति में अन्ध हैं। वे इस रस को समझ नहीं सकते, अपनी सीमा में आप ही बँधे हुए हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। ये दूषणीय नहीं हैं, भूषणीय ही हैं। दूषणीय इसलिए नहीं हैं कि उनकी दृष्टि श्री रामजी के नित्य ऐश्वर्य, नित्य माधुर्य और नित्य सौकुमार्य रूपों तक जा नहीं पायी है, नहीं तो वाल्मीकि जी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रखा है कि 'रामचन्द्रसुखैश्वर्यरसज्ञः सन् कामिनी-काम-वर्द्धनः' हैं।[329]

उनके अनुसार शृंगार रस के विश्राम स्थल केवल राम हो सकते हैं। कृष्ण में भी यह क्षमता है, पर वे अंशावतार मात्र हैं। रामावतार की श्रेष्ठता का शृंगारिक दृष्टि से प्रमाण देते हुए उन्होंने वाल्मीकि रामायण से उद्धरण देते हुए कहा है कि जहाँ कृष्ण के प्रति मात्र स्त्रियाँ ही आकृष्ट होती थीं, वहीं राम के अद्भुत भुवन-मोहन रूप को देखकर पुरुष भी रमणेच्छु हो उठते हैं। वन में ऋषि-मुनि भी उनके साथ स्त्री रूप से रमण करने के लिए आकुल हो उठे थे।[330]

सीता

राम-प्रिया सीता दार्शनिक विचार से राम की आह्लादिनी शक्ति है।–जयति सिया आह्लादिनी शक्ति शक्तिगन भूप।[331] हनुमत्संहिता में भी उन्हें आह्लादिनी शक्ति-रूपा बताया गया है।[332] भगवान एकाकी रमण नहीं करते, उन्हें दूसरे की आवश्यकता होती है, इसीलिए एक ही ब्रह्म पति-पत्नी का रूप धारण कर लेते हैं।

एकाकी नहिं रमन हवै चहत सहायहिं सोइ।
रमत एक ही ब्रह्म यह पति पत्नी तनु होइ।[333]

वे राम के मन की गति को जानकर अपने शरीर में ही सहस्त्रों नारियों को उत्पन्न करके उन्हें सन्तुष्ट करती हैं–

रामस्य हृद्गतिं ज्ञात्वा, जानकी स्वांगतः सृजन्।
नार्यष्टादशसहस्रोत्तरशतैर्युतमष्टोत्तरम् ॥[334]

राम को करोड़ों ब्रह्माण्डों में भी वैसा सुख नहीं मिलता, जैसा कि प्रिया जी के मुख-कमल के मकरन्द का पान करने में उपलब्ध होता है। प्रियबस प्रिया हैं एवं प्रियाबस प्रिय हैं। वे एक-दूसरे के प्राण हैं एवं दिन-रात उनके चित्त एक-दूसरे में उलझे रहते हैं–

पिय वस प्रिया प्रिया बस पीय, उरझे रहत रैन दिन हीय।
हिय के जीवन हैं पीय, पीय के प्रान जीवन धन सीय।।[335]

वास्तव में एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती—

सीता रामं विना नैव रामः सीतां विना नहि।
श्रीसीतारामयोरेषः सम्बन्धः शाश्वतो मतः।।[336]

इस प्रकार उनका नित्य सम्बन्ध है। उनकी लीला और विहार अनाहत, अबाधित भाव से नित्य होती रहती हैं। राम-सीता का वियोग वास्तव में प्रकाश-लीला के अन्तर्गत है—वास्तव में संयोग ही नित्य है। सीता अविद्या का नाश एवं विद्या का प्रकाश करती हैं।[337]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने रूप, शक्तित्व, लीला साहाय्य एवं नित्यत्व आदि की दृष्टि से स्वरूपतः सीता एवं पूर्व विवेचित राधा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि सीता सर्वथा स्वकीया नायिका हैं। मधुराचार्य ने परकीया भावना का अत्यधिक खण्डन किया। उनके अनुसार 'प्रच्छन्नकामुकत्व' की जिस बात को उठाकर परकीया-भाव का समर्थन किया जाता है, वह लौकिक दृष्टि से ही ठीक हो सकती है। भगवत्पक्ष में तो वस्तुतः स्वकीया प्रेम ही उत्तम प्रीति सुख का हेतु है।

परिकर

परिकर की एक विराट् कल्पना गौड़ीय वैष्णवों में हम देख चुके हैं। उनका कारण बताते हुए हमने कहा था कि ब्रज, मथुरा एवं द्वारका की त्रिविध लीलाओं को उन्हें समेटना पड़ा था एवं इसी कारण परिकर की नाना रूप में कल्पना की गयी थी, परन्तु साथ ही यह भी हमने ध्यान दिलाया था कि इनमें मुख्यतः ब्रज-लीला (वृन्दावन-लीला) को ही प्राप्त रही। राम की लीला में धाम सम्बन्धी ऐसे वैविध्य तो नहीं हैं परन्तु अयोध्या में वे राजपद पर तो प्रतिष्ठित हैं ही। इसलिए लीला, धाम, परिकर एवं भाव-सम्बन्धों आदि की दृष्टि से इस राजसत्ता के ऐश्वर्य को ध्यान में रखना पड़ता है। रामभक्ति में इसी कारण ऐश्यर्य का त्याग कहीं नहीं हुआ। माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों का समन्वय इसमें रहा है।

अस्तु, राम के ऐश्वर्य एवं माधुर्य-समन्वित रूप के अनुरूप ही परिकर में विविध भाव-सम्बन्धों की कल्पना की गयी है। गौड़ीय वैष्णवों के समान ही इस परिकर की नित्य रूप में कल्पना की जाती है—लीला की जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सभी परिकर रूप ही हैं।[338] दिव्य धाम में समस्त पदार्थ अप्राकृत, अल्प चैतन्य रूप में ही रहते हैं।[339]

इस परिकर में सर्वश्रेष्ठ स्थान सखीगणों का ही है। इनकी कल्पना ठीक अन्य

रस-सम्प्रदायों के अनुरूप ही रामभक्ति सम्प्रदायों में भी की गयी है। वे सीताजी का अंश हैं—श्री सिय अंश सुखी सरूपा।[340] जिस प्रकार सीता और राम प्रसन्न रहते हैं, वही सखियाँ करती हैं—

जेहिंविधि रहहिं मुदित सियरामा, सोइ सब अलिगन करहिं सुकामा।[341]

सखियों के अनेक वर्गों में विभाजन भी रसिकों ने किये हैं। सखी एवं किंकरी के भी भेद स्पष्ट किये हैं। राम एवं सीता की अलग-अलग सखियों की भी कल्पना की गयी है, परन्तु यह विस्तार हमारे लिए अनावश्यक है।

धाम

धाम तत्त्व त्रिपाद विभूति के अन्तर्गत ही है।[342]

वृहद् उपासना रहस्य के धाम-प्रसंग में गोलोक के मध्य में अति विस्तारित एवं ललाम इस धाम की कल्पना की गयी है। अपने स्वरूप में धाम की यह कल्पना भी पीछे विवेचित कृष्णोपासकों से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार वहाँ पर वृन्दावन की महिमा है, वैसे ही यहाँ साकेत की महिमा है। विविध लोकों से परे गोलोक एवं उसके भी मध्य साकेत है।[343] साकेत के अन्तर्गत ही मध्य भाग में 'कनक भवन है' (यह भी राजा रामचन्द्र की गरिमा के अनुकूल ही है।) यही उनका विहार प्रसाद है।[344] यहीं पर अनन्त सखियों के साथ विद्यमान सीता जी के साथ राम रास-लीला आदि क्रीड़ाओं में मग्न रहते हैं।[345] साकेत राम की अप्राकृत लीला का धाम हो गया। प्राकृत प्रकट लीलाओं के धाम के रूप में अयोध्या का बड़ा महत्त्व है। राम प्रिया शरण 'प्रेमकली' ने अपने 'सीतायन' ग्रन्थ में राम एवं सीता के समान ही अयोध्या को भी अनादि कहा है—

राम अनादि सीता अनादि अवध अनादी।
तुम्हरी पुरी अनादि सकल कह वेद के बादी।

तुलना की दृष्टि से अयोध्या को ब्रज का प्रतिरूप एवं साकेत को वृन्दावन का प्रतिरूप कहा जा सकता है। यों बन-विहार के लिए चित्रकूट को सर्वाधिक मान्यता सम्प्रदाय में प्राप्त है। सीता की प्रकट लीला की जन्म-भूमि होने से मिथिला भी सम्प्रदाय में आदरपूर्ण दृष्टि से धामवत् देखी जाती है।

लीला

राम मर्यादा पुरुषोत्तम तो थे ही, रस-साधना की आवश्यकतावश वे लीला पुरुषोत्तम भी बने। निर्गुण-सगुण प्रकट एवं अप्रकट तथा तात्त्विकी एवं अतात्त्विकी लीला के अनेक भेद भी किये गये हैं। यों विविध भावी के अनुरूप माधुर्य, सख्य आदि लीलाएँ

भी भगवान राम की होती रहती है। वय एवं काल के अनुसार भी लीला भेद हो जाते हैं। ये सभी नित्य हैं।

राम के परम्परा-सिद्ध उद्धारक रूप के अनुकूल ही लीला का एक उद्देश्य जीव का उद्धार एवं लीला-पुरुषोत्तम की लीला का प्रयोजन स्वरूपानन्द की प्राप्ति कैंकर्यसुख प्रदान है।[346] लीला में प्रवेश भगवदनुग्रह एवं आचार्य तथा मन्त्र की मध्यस्थता से होता है।[347]

उपासना भाव

राम भक्तों में रसिक साधना के अन्तर्गत पाँचों भक्ति भावों को स्वीकार किया जाता है[348], जबकि कृष्णोपासकों में रस-साधना माधुर्य भाव की ही द्योतक है। रसिक सम्प्रदाय में इन पाँचों भक्ति भावों की सम्बन्ध दीक्षा दी जाती है। यही नहीं—इन सम्बन्धी को केवल राम के पक्ष से ही नहीं देखा जाता, सीता-पक्ष से भी सम्बन्ध-कल्पना इस सम्प्रदाय की एक विशिष्ट देन है। इस सम्प्रदाय के महात्मा सूर किशोर जी सीता को पुत्री एवं राम को जामाता मानते थे एवं प्रयागदास जी सीता को बहन एवं राम को बहनोई के भाव से देखते थे। अन्य सामाजिक पारिवारिक सम्बन्धों को भी इस क्षेत्र में अभिव्यक्ति मिली है तथा मर्यादाहीनता न होने से उन सम्बन्धों का निर्वाह भी किया गया है। कृष्णोपासकों में ऐसी सम्बन्ध-कल्पनाओं का अभाव है। इसका मुख्य कारण यह है कि कृष्ण का वैसा पारिवारिक रूप पुरानी गाथाओं में स्पष्ट नहीं हो सका था, जैसा कि राम का प्रतिष्ठित हुआ था। इसी प्रकार राम की मधुर लीलाओं को प्रधानता देते हुए भी राम के ऐश्वर्य-प्रधान एवं पारिवारिक चरित्र के प्रति श्रद्धा कम नहीं है।

सिद्धान्त की दृष्टि से भक्ति के पाँचों रसों को इस मार्ग में पूर्ण महत्त्व प्राप्त है। इनमें से किसी का भी आलम्बन लेकर साधना करने वाले अनन्त समय तक साकेत में लीला-सुख प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु इस धाम में इन साधकों की प्रवेश-सम्बन्धी अवस्थिति में कुछ भेद है। अन्तरंग विहार-कक्ष तक प्रवेश सखियों का ही, अधिकांशतः स्वीकार किया गया है,[349] यों वे सख्यभावोपासक नर्म सखाओं की भी पहुँच विहार में स्वीकार करते हैं।[350] रामभक्ति को इस साधना में शृंगार एवं सख्य दो को विशेष महत्त्व प्राप्त हैं। यों वात्सल्य एवं दास्य को भी अंगी रसों के रूप में कल्पित किया गया है—

वात्सल्य माता पिता, सब रस कौ है हेतु।
तिहि बिन जग लीला जुगल, बनत नहीं रस केतु ॥
बिना दासता भक्ति नहि, भक्ति बिना रस नाहिं।
रसिक जीव रस रंग मणि, राम दास सब आहिं ॥[351]

शान्त रस को बहुत अधिक महत्त्व नहीं मिल सका है। सामान्य प्रजा-जनों को ही शान्त रसावलम्बी परिकरों के रूप में कल्पित किया गया है।[352] इस प्रकार धाम के बाहरी आवरण में ही उनकी अवस्थिति स्वीकार की गयी है। सब मिलाकर शान्त, दास्य एवं वात्सल्य भावोपासक साधकों की संख्या इस धारा में कम ही रही है। मुख्यतः दो ही सशक्त परम्पराएँ प्राप्त होती हैं—एक अग्रदास में प्रारम्भ होने वाली माधुर्य भाव की साधना एवं दूसरी रामसखे तथा कामदेन्द्र मणि की सख्य-भावावेशी साधना। प्रथम में साधक के लिए सखी भाव धारण करना पड़ता है एवं दूसरे में सखी की ही पुरुषाकार कल्पना की गयी है। अतः तात्त्विक दृष्टि में दोनों में बड़ा अन्तर नहीं प्रतीत होता। सभी सखियाँ नित्य विहार में प्रवेश नहीं प्राप्त करतीं एवं इसी प्रकार सभी सखा विहार-क्षेत्र में निष्कासित नहीं हैं। हम ऊपर बता चुके हैं कि नर्म सखाओं की उपस्थिति स्वीकार की गयी है। एक बात में अन्तर अवश्य हो जाता है कि सखियाँ रामभोग्या भी हैं, परन्तु सखाओं के प्रसंग में ऐसा कोई भाव नहीं उठता।

जहाँ तक सखी भावना का सम्बन्ध है, राम-सम्प्रदाय में स्वसुखी एवं तत्सुखी दोनों प्रकार की सखियों की मान्यता है। ऐसा लगता है कि कृष्णोपासकों में जिसे गोपी भाव सखी भाव कहा गया था, वह स्वसुखी एवं तत्सुखी सखी-साधनाओं के रूप में राम-सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो जाता है। कभी-कभी एक विरोधाभास भी इस स्थिति के कारण प्रतीत होता है। कृष्णोपासकों में गोपी भाव ब्रज-लीला से सम्बन्धित हो गया था एवं सखी-भाव वृन्दावन-लीला से। ऐसा कोई आत्यन्तिक विभाजन न होने से रामोपासकों में पारस्परिक क्षेत्रों का अतिक्रमण होता अनुभव होता है। ऐसा लगता है कि पतनोन्मुख सामन्ती आदर्शों की छाया में ग्रहण की जाने वाली कृष्ण-लीलाओं के पौराणिक रूप के अनुकरण पर उन्हें बहुपत्नी पति भी बनाया गया, सम-सामयिक सखी भाव के उपासकों की छाया में राम-सीता की ही केलि के सुख की प्राप्ति ही जीवन का चरम काम्य भी स्वीकार कर ली गयी।[353] जिस प्रकार कृष्णोपासकों में 'निकुंज-रस' या 'भगति माधुरी' की चर्चा है, वैसे ही यहाँ पर भी 'निकुंज-रस' या 'महल माधुरी' की चर्चा आती हैं।[354]

साधना की विविध स्थितियों, प्रेम की विविध दशाओं आदि की दृष्टि में रामोपासकों की इस रागानुगा भक्ति एवं कृष्णोपासकों की रागानुगा में कोई अति उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। जो थोड़े-बहुत अन्तर प्राप्त होते हैं, वे या तो दोनों लीलाओं की पुराण-गाथा सम्बन्धी भिन्नता के कारण हैं या फिर व्यावहारिक उपासना में विस्तार के अन्तर हैं। विस्तार-भय से इनकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। यों यह चर्चा प्रसंग की दृष्टि में अमहत्त्वपूर्ण भी होगी।

रामोपासक रसिक साधना की मुख्य विशेषताएँ

(1) इस साधना में :
   (क) ऐश्वर्य एवं माधुर्य, दोनों स्वरूपों का समन्वय है।
   (ख) वैधी एवं रागानुगा, दोनों का समन्वित रूप ही स्वीकार किया गया है।

(2) यह साधना मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती। प्रत्येक साधक अपनी भाव-साधना के अनुसार सामाजिक मर्यादाओं का दृढ़तापूर्वक पालन करता है।

(3) सखी-भावना एवं मधुर रस का पर्याप्त महत्त्व होते हुए भी अन्य भाव-सम्बन्धों या भक्ति रसों को न्यून नहीं माना गया है।

(4) सखी-भावना में राम एवं सीता की सखियाँ अलग-अलग हैं। सीता की सखियाँ राम भोग्याएँ भी हो जाती हैं। विहार-योजना इन्हीं के जिम्मे होती है।

(5) सखी-भावना के अन्तर्गत तत्सुखी के साथ ही स्वसुखी शाखा भी रसिक अली की परम्परा में स्वीकार की गयी। एकमात्र राम को पुरुष एवं जीवात्मा को स्त्रीरूप में कल्पित करके राम के साथ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की भावना करके इन लोगों ने प्रकारान्तर से कृष्ण भक्ति के गोपी भाव को स्वीकार किया था।

(6) रामोपासना में बहुभार्यात्व तो है लेकिन परकीया भावना का निषेध है। यहाँ स्वकीया की ही एकमात्र सत्ता है।

(7) रामोपासकों का सख्य भाव भी कुछ विशिष्ट है। वह सखी-भावना का ही पुरुष संस्करण है। नित्य-विहार में सख्योपासकों ने नर्म सखा की उपस्थिति स्वीकार की है।

(8) सब मिलाकर धाम, लीला, परिकर एवं काम्यतत्त्व की दृष्टि से राम एवं कृष्ण-रसोपासकों में समानता की मात्रा बहुत अधिक है।

शुक-सम्प्रदाय में उपास्य, लीला, धाम, परिकर एवं उपासना भाव की धारणा

इतिहास

विक्रम की 18वीं शती के उत्तरार्द्ध में शुक-सम्प्रदाय की स्थापना महात्मा श्यामचरणदास ने की थी। इस समय के आते-आते समन्वय की एक प्रवृत्ति सारे देश में जाग्रत हो चुकी थी। भक्ति-सम्प्रदायों में पुराना आवेग तो नहीं रह गया था, पर सिद्धान्तगत्

दूरी पारस्परिक सम्पर्क के कारण कम होती जा रही थी। निर्गुण और सगुण के मध्य के अन्तर तीखे नहीं रह गये थे। वास्तव में भक्तिकाल में ही निर्गुण में भी गुणों की स्थापना प्रेम-भावना के कारण स्वतः हो गयी थी एवं सगुण-मतवादियों ने यह कभी अस्वीकार नहीं किया कि ब्रह्म निराकार भी होता है। धीरे-धीरे समन्वय की जो वृत्ति बढ़ी, वह शुक-सम्प्रदाय जैसे समन्वयवादी मार्गों को जन्म देती है।

इस सम्प्रदाय के संस्थापक श्यामचरणदास पहले एक लम्बे अरसे तक योग-साधना में लगे रहे हैं, बाद को वे प्रेममार्गी सगुण-भक्तों के लीला-गायन को पूरी तरह अपना लेते हैं। एक ओर उन्होंने अष्टांग-योग, अष्ट प्रकार के कुम्भक, छहों कर्म, हठयोग आदि का वर्णन किया है जो शुद्ध रूप से या तो योगमार्ग की परम्परा में है या फिर निर्गुणी भक्तों की शब्दावली एवं वक्तव्य की अनुगूँज है।[355] दूसरी ओर उन्होंने भक्ति पदार्थ का ही वर्णन नहीं किया है, चीरहरण-लीला[356], दान-लीला[357], माखनचोरी-लीला[358], काली-नथन-लीला[359], मटकी-लीला[360], कुरुक्षेत्र-लीला[361] आदि का भी जमकर वर्णन किया है। अनहद नाद, शून्य नगर में की जाने वाली साधना हमारे विवेचन क्षेत्र से बाहर है, उनकी प्रेमाभक्ति के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार-विमर्श अवश्य करना है।

सेव्य

चरणदास का सेव्य हरि-नाम से भी पुकारा गया है, निर्गुणियों की परम्परा में उसे राम भी कहा गया है, परन्तु सगुण भक्ति के क्षेत्र में वे कृष्ण, श्याम, नटनागर, कुँवरकिशोर, नन्दराय कुँवर, कन्हैया आदि नामों का सम्बोधन करते हैं। यह परमतत्त्व लीला सिन्धु है, उसकी अगाध गति है। संसार की उत्पत्ति, पालन एवं विनष्टि का वही हेतु है। पलक मारते ही करोड़ों ब्रह्माण्डों की सृष्टि कर देते हैं और जब चाहते हैं, तब कुछ नहीं शेष रहता। उसे न निर्गुण कहा जा सकता है और न सगुण। वास्तव में उस रूप के समान दूसरा है ही नहीं। वे अपनी उपमा आप हैं—

निरगुण सगुण कहा न जावै, चरणदास शुक्र देव सुनावें।
चरणदास वा रूप की, पटतर दई न जाहि।
राम सरीखे राम हैं, और बतावों काहि।।[362]

यह भी अविगत, अविनासी, आदि पुरुष हैं, नाना प्रकार के कौतुक किया करते हैं, अनेक प्रकार के रूप धारण करते रहते हैं। स्वयं ही मोहनलाल ग्वाल बनकर मुरली बजाते हैं और आप ही ब्रजस्त्री बनकर जंगल को दौड़ी आती हैं। आप ही गोपी भी हैं और आप ही कान्ह बनकर रास रचाने वाले भी हैं। यही नहीं, अन्तर्धान होकर आप ही अपने को ढूँढ़ते भी हैं और व्याकुल होते हैं। स्वयं अपनी ही लीला देखने के लिए प्रेम उत्पन्न करते हैं। कभी एक हैं और कभी अनेक हो जाते हैं।

आदि पुरुष अविगत अविनासी नाना कौतुक लावै रे।
आपहिं आप और नहिं कोई बहुत रूप बनावैं रे।
आपहिं मोहन लाल ग्वाल हो मुरली आनि बजावै रे।
आपहिं ब्रज की बनिता होकर बन को दौरी आवै रे।
आपहिं गोपी कान्ह विराजे आपहिं रास रचावै रे।
अन्तर्द्धान होये फिर आपहिं आपहिं ढूँढ़न धोवे रे।
आपहिं व्याकुल अप देखन कूँ लीला प्रेम बनावै रे।
परगट होय सबन सुख देवै आपहिं रंग बढ़ावै रे।
भोर भये जब खेल मचावै आप आप रह जावै रे।
कबहुँ एक अनेक कभी है विधि निषेध गति भोवे रे।[363]

नारायण, लक्ष्मी, ब्रह्मा, शंकर, विष्णु, वेद और समस्त संसार उन्होंने क्षणमात्र में उत्पन्न कर दिया है।[364] न उसका आदि, मध्य, अवसान है, न उसका कोई रंग है वह पुष्प की गन्ध और नाद से भी झीना है। तीनों गुणों और पाँचों तत्त्वों के आगे है, न प्रकट है और न गुप्त; फिर भी उसमें अगणित गुण भरे पड़े हैं।[365] ऐसे आदि पुरुष का कहना है कि जो कोई सब कुछ तजकर मुझसे प्रीति करता है, मैं उसी के हाथ बिका रहता हूँ।[366] प्रेम के वे ऋणी हैं तथा प्रेमियों के लिए ही वे अवतार ग्रहण करते हैं। भक्त और उसमें कोई अन्तर नहीं होता।[367] वास्तव में भक्तिहेतु ही उन्होंने नन्दगृह में अवतार लिया है—

भाषैं चरणदास शुक देव के प्रताप सेती,
आदि पुरुष भक्ति हेतु नन्द गेह आयो है।[368]

तीनों लोकों एवं सातों भुवनों के बाहर जो अमर लोक है, उसी के मध्य वह पुरुष-ब्रह्म रहता है जो कि सबके मन में भी विद्यमान है। यह अमर लोक गोलोक भी कहलाता है।[369] अमर लोक के मध्य ही निज धाम है जिसका अंश वृन्दावन हैं—

अमर लोक विच है निज धामा, जाको अंश वृन्दावन नामा।[370]

यों पुरुषोत्तम अपने धाम में रहते हैं पर प्रेम के कारण ब्रज में आकर रहते हैं। वे लीलाधारी पुरुषोतम वृन्दावन में सदैव विहार करते रहते हैं।

पुरुषोत्तम निज धामा माँ ही, कारण प्रेम रहें ब्रज आयी।
पुरुषोत्तम प्रभु लीला धारी, वृन्दावन में सखा बिहारी।।[371]

गोल चबूतरे एवं चौसठ खम्भों वाले वृन्दावन में राधा प्यारी के साथ वे विहार करते हैं। वे नित्य किशोर हैं और वे नित्य किशोरी। दोनों की बारह वर्ष की वय है।[372] रसिक केलि के लिए वहाँ अनेक कुंजे हैं—

रसिक केलि एहु कुंज हैं।[373]

इस अजर पुरुष, पुरुषोत्तम स्वामी, अविनाशी परब्रह्म के बायें अंग रूप की राशि (राधा) विद्यमान हैं।[374] राधा प्यारी नाना प्रकार के अलकारों से सज्जित हैं, उनकी

मुस्कान विद्युतवत् है। वास्तव में करोड़ों चन्द्रमा उन पर न्योछावर हैं।[375]

परिकर

पाँच तत्त्व एवं तीनों गुणों से न्यारी सखियाँ-सहेलियाँ खम्भे के निकट खड़ी युगल पर चँवर दुलाती रहती हैं। सबकी सब नित्य किशोरी गोरी व वस्त्राभूषण सज्जित हैं।[376] सखियाँ सदा सुहागिनें हैं, चूड़ी पहने रहती हैं–

सदा सुहागिनि पहिने चूरी, सुबक पछेली बंगरी रूरी।[377]

सखियाँ हरि के साथ विचरण करती रहती हैं।[378] इसी परिकर के साथ वृन्दावन में अपूर्व रासकेलि होती रहती है। चरणदास के मन को 'रास' अत्यधिक उन्मथित कर सका था। उन्होंने बार-बार उसका चित्रण किया है।

इस धाम में सखा भाव में पहुँचते हैं एवं सखी भाव से भीतर प्रवेश होता है–

सखाभाव पहुँचत यहि ठाँई, सखी-भाव भीतर का जाई
घेरे स्वरूप अनुपम भारी, सदा सुहागिनी हरि पिय प्यारी।
परम पुरुष पुरुषोत्तम पावे, निकट रहें नित केलि बढ़ावें।[379]

उपासना भाव

परन्तु जिस प्रकार चरणदास ने निर्गुण एवं सगुण दोनों के प्रभाव ग्रहण किये हैं, उसी प्रकार केवल सखी भाव को ही उन्होंने नहीं स्वीकारा। उन्होंने गोपी-लीलाओं का भी गद्गद कण्ठ से गान किया है। चीरहरण-लीला, दान-लीला, मटकी-लीला आदि में इन लीलाओं का रोचक चित्रण किया गया है। गोपी-विरह-निवेदन में वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों की भाँति ही प्रियतम कृष्ण के अभाव में विप्रयुक्त गोपिकाओं ने विलाप किया है। गोपियाँ कुब्जा के प्रति ईर्ष्या प्रकट करती हैं, अनेक पुराने संयोग-प्रसंग स्मरण करती हैं[380] और आँखों को दोष देती हैं कि कृष्ण की रूप-माधुरी में अटककर क्या इन्होंने कुछ अच्छा काम किया है? लोक और कुल की लाज नष्ट हो गयी है, स्वयं भी अत्यन्त व्याकुल होकर आँसुओं से भरी रहती हैं। खाना, पीना और सोना छूट गया है, विरह की अग्नि हृदय में जलती रहती है–

अंखियन कहा नीकी करी।
श्याम सुन्दर छवि निरख के जहाँ जाय अरी।
अतिहिं व्याकुल धीर नाहीं रहत असुवन भरी।
तजो खान अरु पान सोवन, प्रेम की लागी लरी।
बिरह पीड़ा उठत निशिदिन, हिये पावक जरी।
नेह पाके भई औरी, ढूँढ़ी गरी-गरी।
चरणदास शुकदेव के अब, कौन फंदे परी।।[381]

इन अंशों में तथा अन्यत्र भी ऐसे पदों की कमी नहीं है जिनमें युगल-विहार-दर्शन की अभिलाषा न होकर मात्र कृष्ण की प्रीति की वाँछ प्रकट की गयी हो। यह बात सखी-सम्प्रदायों की आत्मा के नितान्त विरुद्ध है। यह स्वसुखी प्रेम कहा जा सकता है, तत्सुखी नहीं। एक उदाहरण लें–

तुम्हारे रूप लोभानी हों।
जाति बरन कुल खोय के भई प्रेम दिवानी हों।
खान-पान सब सुधि गयी और अकबक बानी हों।
तुम्हरे चरण कमल मन मेरो रहो लिपटानी हों।
सुन्दर सूरति सोहनी मेरे नैन समानी हों।
तुम बिन चैन नहीं दिन राती सुनि पिय बानी हों।[382]

इस पद में गोपी-प्रेम ही नहीं है, परकीया भावना भी स्पष्ट है। सूरदास की भाँति इन गोपी-प्रेमिकाओं से चरणदास ने मुरली को उपालम्भ भी दिलवाये हैं।

बस री बैरन बाँसुरी, तू ही ब्रज के माँहि।
लगी रहत पिय मुख जू ते, पल छिन छाँड़त नाहिं।
जब तू बाजत तान सूँ, एवंशी बड़ भाग।
कसक उठत जियरा जरै, तन मन लागत आग।[383]

राम को पति मानकर अन्य पतिव्रता भाव से प्रेम करने का निर्देश इस सम्प्रदाय में किया गया है।[384] हम कह चुके हैं कि पतिव्रता के रूपक को निर्गुणी भक्तों ने बहुत अपनाया है। सूफ़ी-प्रेम के प्रभाव में पली विरहिणी कबीर की भी याद दिला देती है–

गद्गद वाणी कण्ठ में, आँसू टपके नैन।
वह तो विरहिनि राम की, तलफत है दिन रैन।[385]

वस्तु, साधनागत अनेक भाव एवं प्रणालियाँ हमें चरणदास में उपलब्ध हो जाती हैं, परन्तु मूल में एक बात उन्हें याद रहती है कि मुख्य वस्तु प्रेम है–

प्रेम बराबर योग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।
प्रेम भक्ति बिन साधुवा, सबही थोथा ध्यान।
प्रेम छुड़ाये जगत कूँ, प्रेम मिलावे राम।
प्रेम करै गति और ही, लै पहुँचे हरि धाम।[386]

यह प्रेम यदि विविध रूपों में प्रकट हो सकता है तो चरणदास इन रूपों को अपनी मौज में आकर अपना लेंगे। उन्हें उनके सैद्धान्तिक मत-वैभिन्य से कोई मतलब नहीं प्रतीत होता। नवधा भक्ति को भी वे बहुमान देते हैं और सखी भाव से निजधाम में प्रवेश भी चाहते हैं। विरहिणी बनकर गद्गद कण्ठ से प्रिय को टेरते भी हैं और रंगमहल में निर्गुण सेज पर सोने की व्यवस्था भी करते हैं।

सूफ़ी प्रेम-दर्शन

सूफ़ी तत्त्ववाद के बारे में कुछ भी कहने के पूर्व इतना याद दिला देना आवश्यक है कि सूफ़ी मत का विकास किसी आचार्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक पद्धति पर नहीं हुआ है। वह क्रियाशील साधकों का एक गतिशील सम्प्रदाय रहा है जो अपने विकास में नाना प्रकार के तत्त्व और प्रभाव ग्रहण करता गया है। इसी कारण सूफ़ी-दर्शन का एक सर्वमान्य स्वरूप खड़ा करना सम्भव नहीं प्रतीत होता, परन्तु जैसा कि प्रारम्भ में ही हम कह चुके हैं, सूफ़ी तत्त्ववाद के लिए बीजरूपी सामग्री क़ुरान में ही उपलब्ध थी तथा यह भी ध्यान में रखने की बात है कि सूफ़ियों ने कभी भी अपने को इस्लाम से पृथक् घोषित नहीं किया, वे सदैव इस्लामी धर्म के केन्द्र से अपने को सम्बन्धित किये रहने का प्रयास करते रहे हैं। इसी कारण अपने लिए प्रामाणिकता उन्होंने क़ुरान एवं पैगम्बर के जीवन में खोजी है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि क़ुरान की व्याख्या उन्होंने अपने ढंग से करनी चाही है तथा अपने अनुकूल स्थलों पर ही अधिक बल दिया है।

सनातनपन्थी मुसलमानी धारणा के अनुसार ईश्वर की सत्ता जगत् बाह्य स्वीकार की गयी है। वह स्वर्ग में रहकर सबका नियन्त्रण करता है परन्तु उसके गुणों का जैसा वर्णन किया गया है, वह सगुण मतवाद के निकट की वस्तु है। पीछे हम एतत्सम्बन्धी कतिपय उद्धरण क़ुरान से दे चुके हैं। वह सृष्टि का कर्ता है,[387] एकमात्र वही परमात्मा है, अन्य कोई नहीं।[388] वह नित्य और सर्वशक्तिमान है।[389] वह द्रष्टा, श्रोता, साक्षी और स्वतः पूर्ण है।[390] सब कुछ उसी से उत्पन्न एवं सब कुछ उसी में विलयमान है।[391] वह अपरिसीम रूप है।[392] ऐसे सगुण परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में सूफ़ियों में दो वर्ग स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।[393] 'वहदतुल वुजूद' एवं 'वहदतुल शुहुद' के सिद्धान्त इन दोनों के विभाजक तत्त्व हैं।

पहते मत के अनुसार हक़ और खल्क़ यानी कि सृजनकर्ता और सृष्टि में एकात्म भाव है। इब्नुल अरबी के अनुसार समस्त वस्तुओं और दृश्यों के पीछे ईश्वर की एकता है। ईश्वर के सिवा कुछ है ही नहीं, अस्तित्व में केवल वही है। 'वहदतुल वुजूद' का सिद्धान्त वास्तव में 'तौहीद' के इस्लामी सिद्धान्त का ही विकास है। तौहीद के अनुसार परमात्मा केवल एक है। वुजूद के सिद्धान्त में केवल यह कह दिया गया है कि परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी अस्तित्व में नहीं है। इस प्रकार इस मत के अनुसार दिव्य ज्ञान सर्वातिशायी (इमिनेण्ट) है। इस सिद्धान्त का प्रभाव हिन्दी के भक्तिकाल के सृष्टि पर बहुत अधिक रहा है। 'वहदतुल शुहूद' के अनुसार स्रष्टा और सृष्टि के मध्य एकत्व नहीं होता है। सर्वाशयिता के सिद्धान्त को भी इसमें स्वीकार नहीं किया जाता। मनुष्य और ईश्वर के बीच में केवल स्वामी और दास का सम्बन्ध हो सकता है, न कि प्रेमी और प्रिय का। इस सिद्धान्त का प्रभाव भारतवर्ष में 17वीं-18वीं शताब्दी में अधिक पड़ा।

सृष्टि

अधिकांशतः सूफ़ी सृष्टि को ही ईश्वर की अभिव्यक्ति मानते हैं। इस अर्थ में वे वैष्णव परिणामवादियों के निकट है। ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है, यह तो क़ुरान भी स्वीकर करता है। सृष्टि-रचना का कारण बताते हुए हल्लाज ने कहा है कि सुष्टि-रचना के पूर्व निरपेक्ष एकत्व में ईश्वर स्वयं को प्यार करता था और प्रेम के द्वारा ही उसने अपने आपको अपने सम्मुख उद्‌घाटित किया।[394] रूमो ने बताया है कि संसार निर्मल दर्पण के समान है और जब आँखों के बादल नष्ट हो जाते हैं तभी वह दिखाई देता है।[395] सनाई अत्तार ने इसी को और स्पष्ट करते हुए कहा है, "वह (प्रभु) छिपी हुई निधि है तथा दृश्यमान जगत् वह साधन है जिसके माध्यम से हम उसे खोज सकते हैं।"[396] इस प्रकार लीलावाद एवं प्रतिबिम्बवाद की भी स्वीकृति किन्हीं न किन्हीं अंशों में सूफ़ी मत में प्राप्त हैं।

सूफ़ियों का प्राप्य

परमात्मा के साथ एकत्व को प्राप्त करना ही उनका चरम लक्ष्य प्रतीत होता है। पर यहाँ एक प्रश्न उठता है कि इस एकत्व का तात्पर्य क्या है? परमात्मा में पूर्ण लय हो जाना एकत्व है अथवा स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हुए परमात्मा में वास करना इसका तात्पर्य माना जाये? प्रारम्भ में बौद्ध-दर्शन के निर्वाण-तत्त्व के प्रभाव में 'फ़ना' तत्त्व के अन्तर्गत प्रथम विचार को स्वीकार किया गया पर धीरे-धीरे 'फ़ना' के बाद 'बक़ा' की स्थिति स्वीकार की गयी। 'फ़ना' की अवस्था में साधक अपने अस्तित्व को लय कर देता है, पर 'बक़ा' की अवस्था में ईश्वर के साथ शाश्वत जीवन व्यतीत किया जाता है। वैष्णव तत्त्ववादों में इन दोनों की समानान्तर स्थितियाँ स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। 'फ़ना' तो स्पष्ट रूप से आवागमन-निरपेक्ष मोक्ष है जिसे भक्तिकाल का वैष्णव कवि स्वीकार नहीं करता, पर 'बक़ा' की स्थिति नित्य परिकर में प्रवेश पाने जैसी है और यह वैष्णव कवि की परम आकांक्षा होती है।

साधन-मार्ग

सूफ़ी परमात्मा को चूँकि जगत्-बाह्य रूप में नहीं देखते, इसलिए वे उसे इसी जगत् के भीतर और सबसे अधिक अपने मन के भीतर ढूँढ़ते हैं। प्रेम की राह से चलकर ही उसका भावन किया और कराया जा सकता है। इब्नुल अरबी ने एक स्थल पर कहा है कि ज्ञानी अपनी अनुभूति दूसरों को भावित नहीं करा सकते। समान अनुभव वालों को प्रतीक के माध्यम से वे इंगित मात्र कर सकते हैं।[397] अरबी ने स्पष्ट घोषित किया कि ईश्वर के प्रति प्रेम और चाह वाले मत से अधिक उदात्त धर्म दूसरा नहीं

है।[398] ज्ञान के समान प्रेम भी प्रभु-अनुग्रह से ही इन सूफ़ियों ने माना है। इतना ही नहीं, ईश्वर भी अपने प्रेमियों से प्रेम करता है[399] अपना स्वरूप एवं लक्ष्य प्राप्त कराने के लिए। वास्तव में प्रेम आत्मा का दिव्य प्रेरक वृत्तिरूप होता है। रूमी ने आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक प्रेम के ऐक्य को लक्षित किया था।

प्रभु-अनुग्रह के अतिरिक्त गुरु-निष्ठा एवं ज़िक्र (नाम-स्मरण) का इस साधन-मार्ग में अत्यधिक महत्त्व है। ज़िक्र का तात्पर्य है कि परमात्मा का स्मरण करते-करते एक ऐसी स्थिति को उपलब्ध करना जिसमें मन समस्त विषय-विकारों से दूर हटकर मात्र ईश्वर में ही लग जाता है।

सूफ़ियों ने अपने साधन-क्रम के बड़े विशद एवं प्रतीकात्मक विवरण दिये हैं। उस विस्तृत चर्चा में पड़ना हमारे लिए अप्रासंगिक होगा।

सन्दर्भ

1. डॉ. मुंशीराम शर्मा : भारतीय साधना और सूर साहित्य—चतुर्थ अध्याय।
2. या च सा योनिर्लक्ष्मीस्तद्धर्मधर्मिणी—अहिर्बुध्न्य संहिता—59। 7।
3. वही 41। 4
4. पद्म पुराण 227। 9-10
5. यामुनाचार्य : श्री स्तोत्र रत्न : 44
6. लीलाशुक कृष्णामृत 106
7. राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः—जयदेवरचित गीत-गोविन्द श्लोक 1
8. वल्लभाचार्य : अणुभाष्य, पृ. 601 (ब्रह्मसूत्र 2। 1। 33 का भाष्य)।
9. जीव गोस्वामी, तत्त्व-सन्दर्भ (षट सन्दर्भ, संस्करण)।
10. एते चांशकलाः पुसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—भागवत 1। 3। 28
11. अवतार सब पुरुषेर कला अंश स्वयं भगवान कृष्ण सर्व अवतंस चै. च., आ. ली., परि. 2, पृ. 14
12. वही, पृ. 14
13. वही, पृ. 16
14. ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
    अनादिरादिगोविन्दः सर्वकारणकारणम्। —ब्रह्म-संहिता 5-1
15. श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्तरत्न संग्रह, पृ. 58
16. शक्तिश्च त्रिधा, अन्तरंगा बहिरंगा तटस्था च। —जीव गोस्वामी : भगवत्सन्दर्भ, पृ. 65।
17. चैत. चरि. म. ली. परि. 8, पृ. 149 (सं. क्षीरोदचन्द्र गोस्वामी पूर्णचन्द्र शील कलकत्ता।
18. (क) चै. चरि. आ. ली. परि 20, पृ. 16
    (ख) तत्रान्तरंगया स्वरूपशक्त्याख्यया पूर्णेनैव स्वरूपेण वैकुण्ठादि-स्वरूप-वैभव-रूपेण च तदवतिष्ठते, तटस्थया रश्मि-स्थानीयचिदेकात्मशुद्धजीवरूपेण बहिरंगया मायाख्यया प्रतिच्छविगत-वर्णशावल्यस्थानीय तदीय-वहिरंग-वैभव-जडात्म-प्रधानरूपेण चेति चतुर्धात्वम्। जीव गोस्वामी, भग. सन्दर्भ, पृ. 65-66
19. (क) एस. के. दे. : वै. फे. मू., पृ. 212-213

(ख) जीव गोस्वामी, भग. सन्दर्भ पृ. 65-74
20. जीवगोस्वमी, भगवत् सन्दर्भ, पृ. 298
21. लै.च., म.ली., परि. 21, पृ. 275
22. जीव गोस्वमी भगवत् सन्दर्भ, पृ. 196
23. वही, पृ. 194 ह्वादिनी सारांशप्रधाना गुह्यविद्या एवं भक्तिः तत्प्रवर्तकलक्षणा वृत्तिद्वयैकया गुह्यविद्यया तद्वृत्तिरूपा प्रीत्यात्मिका भक्तिः प्रकाशते।
24. एस. के. दे. : वै. फे. मू., पृ. 222
25. जीव गोस्वामी : भगवत् सन्दर्भ, पृ. 198
26. वही, पृ., 199-200।
27. अत्रोपविश्य सा तेन कापि पुष्पैरलंकृता।
अन्यजन्मनि सर्वात्मा, विष्णुरभ्यर्चितो यया। —विष्णु पुराण, 5। 13। 35
28. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ. 135
29. डॉ. शशिभूषण दास गुप्त : श्री राधा का क्रम-विकास : पृ. 214
30. श्री जीव गोस्वामी के भगवत् सन्दर्भ के आधार पर।
31. डॉ. श.भू. गुप्त : रा.क्र.वि., पृ. 188
एवं
जीव गोस्वामी : भगवत् सन्दर्भ, पृ. 65-67
32. वही-परमात्म सन्दर्भ, पृ. 71-73
33. जी.गो. : भगवत् सन्दर्भ, पृ. 191
34. तदेवं तस्या मूलशक्तेस्त्रयात्मकत्वे सिद्धे येन स्वप्रकाशतालक्षणेन तद्वृत्तिविशेषेण स्वरूपं स्वयं स्वरूपशक्तिर्वा विशिष्टं वाविर्भवति तद् विशुद्ध-सत्वम्। —वही, पृ. 191
35. जी.गो. : श्रीकृष्ण सन्दर्भ, पृ. 404 —"श्रीकृष्णलीला द्विविधा, अप्रकटरूपा प्रकटरूपा च।"
36. जी.गो. : श्रीकृष्ण सन्दर्भ पृ. 369 —तदेव सर्वोपरि श्रीकृष्णलोकोऽस्तीति सिद्धम्।
37. वही, पृ. 369
38. स गोलोकः सर्वगतः श्रीकृष्णवत् सर्वप्रापचिंकाप्रापचिंकवस्तु-व्यापकः महान् भगवद्रूप अत एव।
—जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण सन्दर्भ, पृ. 368
39. वही, पृ. 371-372 के आधार पर।
40. वही, पृ. 374
41. वही, पृ. 370 (स च लोकस्तत्तल्लीला परिकरभेदेनांशभेदात् द्वारकामथुरागोकुलाख्यस्थानत्रयात्मक इति निर्णीतम्।
42. अत्र पूर्णकिशोरव्यापिन्येव व्रजे प्रकटलीलारोपा-जीव गोस्वामी—श्रीकृष्ण. सं., पृ. 421
43. (क) श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्तरत्न संग्रह-राधा गोविन्द नाथ (हिन्दी अनु. हकीम श्यामलाल), पृ. 75
(ख) एस. के. दे. : वै. फे. मू., 264-264
44. श्रीकृष्णलीला द्विविधा, अप्रकटरूपा प्रकटरूपा च। —जी. गो. : श्रीकृ. सं., पृ. 405
45. जी.गो. : श्री कृ. सं. पृ. 404-404
46. वही, पृ. 405
47. जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण सन्दर्भ, पृ. 405
48. वही, पृ. 405
49. वही, पृ. 406

(क) मन्त्रोपासनामयत्वेऽपि स्वारसिक्यामेव पर्यवसितः।

(ख) यथावसरविविध-स्वेच्छामयी स्वारसिकी।

(ग) तत्र नानालीलाप्रवाहरूपतया स्वारसिकी गंगेव। एकैकलीलात्मतया मन्त्रोपासनामयी तु लब्धा ततूसम्भव-हृद्श्रेणिरिवाज्ञेया।

50. जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण सन्दर्भ, पृ. 407-409।

51. वाहार्थबुझये ताहा स्वकीया वलिया।
मितरेर अर्थमात्र केवल परकीया।
श्री जीवेर गम्भीर हृदय बुझिया।
बहिर्लोक वार्तालये स्वकीय वलिया। —यदुनन्दन-कर्णानन्द, पृ. 88

52. रूप -गोस्वामी, पद्मावली श्लोक, 382-383

53. अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः (17) —उ. नी. म., पृ. 14

54. लघुत्वसूत्रं यत्प्रोक्तं तत्त प्राकृतनायके, न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि। —वही, पृ. 14-15

55. श्रीमद्भागवत, 10-29-5-7

56. श्रीमद्भागवत, 10 । 33 । 27-28

57. गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्। योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडने स्नेहदेहभाक्।
—श्रीमद्भागवत, 10 ।33 ।36

58. साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद श्लोक 263-264 (चौखम्भा, वाराणसी, 1957)।

59. जीव श्रीस्वामी : श्ररीकृष्ण सन्दर्भ, पृ. 428

60. श्रीमद्भागवत, 10 । 22 । 4

61. जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण सन्दर्भ, पृ. 429

62. क्वचित्ताभिरेव तेषु यत् पतिशब्दः प्रयुक्तस्तत्बहिर्लोके व्यवहारत एव नान्तर्दृष्टितः। —वही, पृ. 431

63. उ.नी. मणि, पृ. 23

64. जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण सन्दर्भ, पृ. 439-442

65. जीव गोस्वमी : श्रीकृष्ण सन्दर्भ, पृ. 442-444

66. वही, पृ. 443

67. वही, पृ. 443

68. वही, पृ. 443

69. आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिरिति। अतएव तत् प्राचुर्यप्रकाशेन श्रीभगवतोऽपि तासु परमोल्लासप्रकाशो भवति, येन ताभी रमणेच्छा जायते। —वही, पृ. 443-444

70. उ. नी. मणि, पृ. 63

71. देवेष्वंशेन जातस्य कृष्णस्य दिवि तुष्टये
नित्यप्रियाणामंशास्तु या जाता देवयोनयः। 50
अत्रदेवावतरणे जनित्वा गोपकन्यकाः
अंशिनीनामेवासां प्रियसख्योऽभवन्व्रजे। 51 —उ.नी. म., पृ. 69-70

72. उ.नी.म., पृ. 73

73. उ.नी.म., पृ. 73

74. तदेव परममधुर-प्रेमवृत्तिमयीपु तास्वपि तत्सारांशोद्रेकमयी श्रीराधिका तस्यामेव प्रेमोत्कर्षपराकाष्ठाया दर्शितत्वात्...तत् प्रेमवैशिष्ट्यं ऐश्वर्यादिरूपा अन्याः शक्तयो नात्याहा अप्यनु-गच्छतीति श्रीवृन्दावन श्रीराधिकायामेव स्वयं लक्ष्मीत्वम्। —जीव गोस्वामी : श्रीकृष्ण सन्दर्भ, पृ. 444

75. ह्लादिनी सार प्रेम, प्रेम सार भाव।
भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव।
महाभाव स्वरूपा श्री राधा ठकुरानी।
सर्वगुणखानि कृष्णकान्ता शिरोमणि। —चै. चरि., आ. ली. 4 परि., पृ. 24
76. ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी। —उ. नी. म., पृ. 75
77. प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमे विभावित, कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठ जगते विदित।
—चै. चरि, म. ली., परि 4, पृ. 149
78. वही, पृ. 149
79. चै.चरि., आ.ली. परि 4, पृ. 24-25
80. जीव गोस्वमी : श्रीकृष्ण सन्दर्भ, पृ. 447
81. अतः सर्वतोऽपि सान्द्रानन्द-चमत्कारकरश्रीकृष्णप्रकाशे श्रीवृन्दावनेऽपि परमाद्भुतप्रकाशः श्रीराधया युगलितस्तु श्रीकृष्ण इति। —वही, पृ. 447
82. चै. चरि., आदि लीला, परि. 4, पृ. 24
83. उ.नी.म., पृ. 95
84. उ.नी.म., पृ. 97 एवं 98
85. वही, पृ. 98
86. उ.नी.म., पृ. 190-236
87. चैतन्य चरितामृत : मध्यलीला, परि. 8, पृ. 152
88. जी.गो. : प्रीति सन्दर्भ, पृ. 867, एष च स्थायी साक्षादुपभोगनात्मकस्तदनुमोदनात्मकश्चेति द्विविधः। पूर्वः साक्षान्नायकानाम।
उत्तर : सखीनाम्।
89. राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः। —गीतगोविन्द, श्लोक 1
90. शशिभूषण गुप्त : रा. क्रा. कि., पृ. 238
91. हकीम श्यामलाल द्वारा अनूदित उक्त अंश के हिन्दी रूप : श्रीमद् वैष्णव सिद्धान्त रत्न संग्रह, पृ. 103-104
92. एस. के. दे : वै. फे. मू., पृ. 158
93. रूप गोस्वामी : पद्यावली, संख्या 154-157
94. माधुरी वाणी : प्रकाशन बाबा कृष्णदास, कुसुम सरोवर, मथुरा।
95. अहमक यामै अर्थ न पायो काहे को पढ़ियै वेद पुराना।
कागद के अंकनि उन्माना।
अनुभै करि प्रीतम पहिचाना, भया प्रतिछिन कछू प्रवाना। —स्वामी विहारिणि देवः चौबोला-6-7
96. भक्तमाल : छप्पय संख्या 91
97. अष्टादश सिद्धान्त के पद, प्रकाशक कुंजविहारी पुस्तकालय, वृन्दावन।
संख्या 2, 3, 12 में श्यामा-कुंजविहारी, संख्या 7, 8, 11, 15, 18 में बिहारी या कुंजबिहारी, संख्या 7 में कमलनैन, 9 में आनन्दनन्दिस एवं 16 में श्याम तथा शेष में हरि का प्रयोग है।
98. स्वा. हरिदास : केलिमाल, सं. 1
99. साखी, 142
100. केलिमाल, 2
101. स्वा. विहारिणीदास : साखी, 130-133
102. नाम बीजु नामी तरुसाखा साधन पहुप अपार। —वही सिद्धान्त के पद, 144 (पृ. 104)

103. स्वा. बिहारिणिदास : साखी 114
104. वही, वही 111
105. स्वा. हरिदास : केलिमाल, 31
106. वही–वही, 3
107. वही–वही, 4
108. ललितकिशोरी देव : सिद्धान्त के दोहा (कालक्रम से परवर्ती इस उद्धरण में कृष्ण का रूप शक्तिमान का-सा प्रतीत होने लगता है)। –स्वा. ह. सम्प्रदाय और वाणी साहित्य, पृ. 295 पर उद्धृत।
109. बिहारिणिदास : सिद्धान्त के पद, 142
110. स्वा. रसिकदेव : भक्ति-सिद्धान्तमनि, 87
111. वही, 88
112. निरालम्ब नहि मन की विष बचन अगोचर क्यों करि लखै।
दिव्य केलि औलम्बन दीनो, लीलारस यो जनहित कीनो। –वही रससार 12-13
113. स्वा. ललितकिशोरी देव : सिद्धान्त के दोहा। –स्वा. ह. सं. वा. सा., पृ. 298 पर उद्धृत।
114. वही, साखी 135
115. स्वामी ललितकिशोरी देव : रस के चौबोला, 11
116. किशोरदास : सिद्धान्त-सार-संग्रह 11। 1
117. (क) इस प्रकार लाड़िली जी प्रधान उपास्य हैं...। डॉ. गोपाल दत्त शर्मा : स्वामी हरिदास और उनके सम्प्रदाय का वाणी साहित्य, पृ. 306
(ख) श्रीकृष्ण का स्थान राधा की तुलना में इसलिए और भी कम महत्त्व का हो जाता है कि इस सम्प्रदाय में उसे परतत्त्व न मानकर राधा को परतत्त्व के रूप में स्थापित किया गया है। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. 215
(ग) राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रधान रति राधा के चरणों में मानी जाती है।
ललिताचरण गोस्वामी : गो. हित हरिवंश–सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. 204
(घ) प्रथम उपास्य स्वरूप निश्चय...करिबो ही ठीक है...जाकूँ आगम निगमादि समस्त आर्ष पौरुष यथा उचित वर्णन करै तो श्यामा उपास्य रहीं।–बा. कन्हैयादास : श्रीस्वामी हरिदास जी की उपासना शैली। –श्री स्वा. हरिदास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 35-36
118. तुम्हारी माया बाजी पसारी विचित्र
मोहे मुनि सुनि काके भूले कोड़।–अष्टादश सिद्धान्त के पद, 5
119. वही, 13
120. अष्टादश सिद्धान्त के पद, 14
121. स्वा. हरिदास : केलिमाल, पद 1
122. बिहारिणिदास : सवैया 28
123. ललितकिशोरी देव : सिद्धान्त की साखी। –स्वा. ह. सं. वा. सा., पृ. 309 पर उद्धृत।
124. रसिक देव : भक्ति-सिद्धान्त-मणि, 87
125. बिहारिणिदास : सिद्धान्त के पद, 141
126. वही, रस के चौबोला, 16
127. ताको अन्त न कोऊ पावै।–वही, रस के चौबोला 18, पृ. 55
128. वही, रस के चौबोला, 13 (पृ. 53)
129. वही, सिद्धान्त के पद, 83
130. वही, 86

131. वही, 117
132. वही, रस के चौबोला, 19, 20, 21
133. केलिमाल, 24
134. वही, 35
135. स्वा. बिहारिणिदास : साखी, 238-241
136. ललितकिशोरी देव : सिद्धान्त की साखी।
—गोपाल दत्त शर्मा द्वारा स्वा. ह. सं. वा. सा. में पृ. 303 पर उद्धृत।
137. केलिमाल, 34
138. वही, 7 : प्यारी तेरौ बदन अमृत की पंक तामे बींधे नैन द्वै।
139. वही, 24
140. वही, 53
141. केलिमाल, 54
142. वही : 78
143. सुख को सार समूह किशोरी। रूप निधान रंग को सागर परम विचित्र महा अतिभोरी छिन छिन लाल करत अधीन सदाइ प्रसन्न रहौ तुम गोरी। —ललितकिशोरी देव : रस के पद 20
144. स्वा. ललितकिशोरी देव : रस की साखी, चौपाई।
145. बिहारिणिदास, सवैया, 116
146. वही, 116

147. केलिमाल—10
148. केलिमाल 18
149. बिहारिणिदास : सिद्धान्त के पद, 16
150. केलिमाल 25
151. वही 94
152. केलिमाल, 53
153. वही, 3 तथा 32
154. वही, 40
155. बिहारिणिदास : साखी, 127-128
156. ललित किशोरी देव : साखी, 96
157. वही, 98 एवं 82
158. बिहारिणिदास : साखी, 113
159. ललित किशोरी देव : सिद्धान्त की साखी।
—श्री गोपालदत्त शर्मा द्वारा स्वा. हरिदास स. वा. सा. में पृ. 317 में उद्धृत।
160. वही, साखी, 310
161. वही, 16
162. वही, 56-57
163. स्वामी हरिदास : अष्टावश सिद्धान्त के पद, 12
164. वही, केलिमाल, 89
165. बिहारिणिदास : सवैया कवित्त, 60
166. बिहारिणिदास : सिद्धान्त के एक पद, 17
167. ललितकिशोरी देव : सिद्धान्त की साखी, 169-171

168. बिहारिणिदास : परम उज्ज्वल शृंगार रस के पद, 23
169. नित्य निकुंज विहार भजि, सजि सहचरि उरभाव। –किशोरदास : सिद्धान्त सरोवर, 832
170. किशोरदास : सिद्धान्त सरोवर, 635-637
171. स्वा. रसिकदेव : साखी, 13-14
172. रसिक देव : साखी, 5
173. रसिक देव : साखी, 6
174. किशोर दास : सिद्धान्त सरोवर, 639
175. रसिक देव : भक्ति-सिद्धान्त-मणि, 89
176. ललित किशोरी देव : साखी, 297
177. वही, वही, 300
178. बिहारिणि दास : साखी, 87-89
179. ललितकिशोरी देव : सिद्धान्त के पद, 45
180. ललितकिशोरी देव : सिद्धान्त के पद, 48
181. बिहारिणिदास, सवैया, 111
182. भगवत रसिक, अनन्य निश्चात्म-ग्रन्थ, पृ. 43-44
183. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय। –सिद्धान्त और साहित्य, पृ. 584
184. वही, पृ. 584
185. हित हरिवंश : स्फुट वाणी, सं. 9
186. डॉ. गोपालदत्त शर्मा : स्वामी हरिदास का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, पृ. 295 (अप्र. प्रब.)।
187. हित हरिवंश : स्फुटवाणी, 4, 7, 8, 11, 15, 16, 18, 19

वही हित चौरासी, 18, 30, 33, 43, 45, 48 आदि।
188. वही, स्फुट वाणी, 16
189. वही, 11
190. वही, हित चौरासी, 36
191. खेलत रास दुलहिनी दूलहु।

सुनहू न सखी सहित ललितादिक, निरखि निरखि नैननि किन फूलहु। –हि. चौ. 62

तुलनीय

एवं परिष्वंग-कराभिमर्श-स्निग्धेक्षणोद्दाम-विलास-हासैः।
रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥ –श्रीमद्भागवत, 10। 33। 17

तथा

श्लिष्यति कामपि, चुम्बति कामपि, कामपि रमयति रामाम्।
–गीतगोविन्द, पृ. 11 (चौखम्भा संस्कृत सीरीज, 1948)।
192. ध्रुवदास : सभामण्डल लीला। –बयालीस लीला, पृ. 131-132
193. वही, रस मुक्तावली लीला। –बयालीस लीला, पृ. 148
194. वही, पृ. 152
195. वही, रसानन्द लीला, पृ. 250
196. (क) रसिक अनन्यनि कृपा मनाऊं, वृन्दावन रस कुछु इक गाऊं।

–ध्रुवदास : रसमुक्तावली लीला (ब. ली., पृ. 147)।

(ख) वसना निधि अरु कृपानिधि श्री हरिवंश उदार।
वृन्दावन रस कहन कौ, प्रकट धर्‌यो अवतार। –वही, रहस्यमंजरी लीला, पृ. 184

197. (क) श्री ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य : युगल शतक की भूमिका, पृ. 19-20
(ख) डॉ. नारायण दत्त शर्मा : निम्बार्क सम्प्रदाय और हिन्दी-कृष्ण-भक्त-कवि, पृ. 119
198. डॉ. ह.प्र. द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ. 119
199. डॉ. ना.द. शर्मा : नि.सं.हि.कृ.म.क., पृ. 127
200. डॉ. नारायण दत्त शर्मा : निम्बार्क सम्प्रदाय और हिन्दी कृष्ण भक्ति-कवि (अप्र. प्रब.), पृ. 125
201. लघु-भागवतामृत, पृ. 243
202. (क) श्री भट्ट जी एवं हरिव्यासदेव जी रसिक-भावना के क्षेत्र में सभी रसिकों के पूर्ववर्ती थे। ...अतः निकुंजोपासना प्रवर्तन का श्रेय निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों को ही जाता है। डॉ. ना. द. शर्मा : अप्र. प्रब., पृ. 601
(ख) श्री भट्ट जी ब्रजवाणी के सर्वप्रथम अमर गायक हैं।...युगल शतक की परम पवित्र परिष्कृत एवं ललित भाषा ब्रजकाव्य का प्रथम रूप है। वही, पृ. 603-604
203. वासुदेव स्वामी : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 64, संवत् 2016, अंक 3-4
204. डॉ. गोपाल दत्त शर्मा : स्वा. ह. सं. बा. सा. (अप्र. प्रब.), पृ. 430
205. वही, पृ. 434
206. डॉ. नारायण दत्त शर्मा : अप्र. प्रब., पृ. 234
207. भक्तमाल, पृ. 76
208. आचार्य ह. प्र. द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ. 199
209. डॉ. ना. द. शर्मा : अप्र. प्रब. पृ. 320
210. डॉ. ना. द. शर्मा : अप्र. प्रब., पृ. 311
211. डॉ. ना. द. शर्मा : अप्र. प्रब., पृ. 266
212. महावाणी, पृ. 177-178, पद संख्या 14
213. वही, सिद्धान्त सुख 9, पृ. 176
214. वही, सिद्धान्त सुख 14, पृ. 177
215. बृन्दाबन देव : गीता मृतगंगा, प्रथम घाट, 5
216. वही, प्रथम घाट, 3
217. महावाणी, सिद्धान्त सुख, 5 तथा युगल शतक पद 19-20
218. महावाणी, सिद्धान्त सुख, पद 9, पृ. 26
219. युगल शतक, 5
220. महावाणी, सिद्धान्त सुख, पृ. 176
221. महावाणी, सिद्धान्त सुख, पृ. 170
222. युगल शतक, पद 3
223. महावाणी, सिद्धान्त सुख, पृ. 178-184
224. बृन्दाबन देव, गीतामृत-गंगा, प्रथम घाट।
225. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी, साहित्य, पृ. 198-199
226. श्री भट्ट : युगल शतक, दोहा, 74
227. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. 222
228. व्यष्टिः समष्टिः पुरुषो जीवभेदास्त्रयो मताः
अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्तथापरे। —त. दी. नि., सर्वनिर्णयप्रकरण, श्लोक 119, पृ. 315
229. अक्षरस्य स्वभावकर्मकालाभेदा रुद्रादयः। —वही, श्लोक की वल्लभकृत व्याख्या।

230. अनन्तमूर्तिः तद्ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमत्। बहुस्यां प्रजायेयेति, वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती। 30
तदिच्छामात्रस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतना।
सृष्ट्यादौ निर्गताः—सर्वे, निराकारास्तदिच्छया। 31 —त. दी. नि. शास्त्रार्थ प्रकरण, पृ. 87
231. डॉ. एस.एन. दासगुप्त : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, खण्ड 4, पृ. 328-329
232. डॉ. दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, दूसरा भाग, पृ. 402
233. तत्त्वार्थ दीपनिर्णय, पृ. 115
234. वल्लभाचार्य : सिद्धान्तमुक्तावली, श्लोक 3 (परंब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्) तथा श्लोक 15
235. सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल। —सूरसागर, ना. प्र. स. 1600
236. सूरसागर, ना. प्र. स., 1687
237. गोकुल प्रकट भये हरि आई।
अमर उधारन, असुर संहारन अन्तर्यामी त्रिभुवनराई। सू. सा. 631
238. नित्यधाम बृन्दाबन स्याम, नित्यरूप राधा ब्रजबाम।
नित्यरास जल नित्य बिहार, नित्य मान खण्डितामिसार।
ब्रह्म रूप एई करतार, करण हरन त्रिभुवन संसार। —वही, 3461
239. डॉ. मुंशीराम शर्मा : भारतीय साधना और सूरसाहित्य, पृ. 128
तथा
डॉ. गोवर्धननाथ शुक्ल : परमानन्द सागर, भूमिका, पृ. 23
240. गोपिका : प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत्। संन्यास निर्णय, 8
241. वल्लभाचार्य, निरोधलक्षणम्-1
242. भागवत, 10। 29। 15
243. द्वारकादास पारिख एवं प्रभु दयाल मीतल : सूर निर्णय, पृ. 204
244. वल्लभाचार्य, सुबोधिनी भाष्य, 10। 31। 7, 13 व 10। 33। 26 आदि।
245. सूरसागर, ना. प्र. स. 1291, 1301, 1332, 1333, 1350
246. सूर सारावली, वे. प्रे., पृ. 38
247. सूरसागर, ना. प्र. स. 2463। परमानन्द सागर, 689, 694, 816
248. डॉ. दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ. 505-506
249. वल्लभाचार्य : सुबोधिनी, रास पंचाध्यायी, फल प्रकरण अध्याय 3। 2-5
250. अतो हि भगवान कृष्ण : स्त्रीषु रेमेऽहर्निशम्। सुबोधिनी, तामसफल प्रकरण। 4
251. न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
यामाभजन् दुर्जरगेह शृंखलाः, संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥ —भागवत, 10। 32। 22
252. परमान्ददास : परमानन्द सागर, 825
253. वही, पृ. 826
254. वही, पृ. 823
255. वही, पृ. 824
256. डॉ. दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ. 405
257. अणुभाष्य, अध्याय 4, पद 2, सूत्र 15
258. सूर सारावली, वे. प्रेस, पृ. 34
259. वही, पृ. 2

260. सूरसागर, दशम स्कन्ध वे. प्रे., पृ. 158
261. अणुभाष्य, 4 । 2 । 15
262. सूरसागर, ना. प्रचारिणी सभा, 1682
263. परमानन्द सागर—पद सं. 835 से 860 विशेष रूप से।
264. अणुभाष्य, अ. 4, पाद 4, सूत्र 9
265. वल्लभाचार्य : सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक 18
266. पुष्टिमार्गलक्षणानि, श्लोक 2 (हरिराम वाङ्मय मुक्तावली-1)।
267. कृष्णा सेवा सदा कार्या मानसी सा परामता (सिद्धान्त मुक्तावली-1)।
268. गो. हरिराय : स्वमार्गीय सेवा फल निरूपण, रूप निर्णय, श्लोक 5
269. वही, श्लोक 48
270. गो. हरिराय : भक्ति द्वैविध्य निरूपण, 1, 2, 3
नन्ददास ने भी कहा है—
धन्य कहति भई ताहि नाहि कछु मन में कोपी
निरमत्सर जे सन्त तिनति चूरामणि गोपी
इन नीके आराधे हरि ईश्वर वर जोई
ताते अधर सुधारस निधरक पीवत सोई। —रास पंचाध्यायी, अध्याय 2, 38-39
271. भ्रमर गीतसार, पद सं. 175
272. सूरसागर : दशम स्कन्ध, नागरी प्रचारिणी सभा, 1673
रसना एक, नहीं शतकोटिक शोभा अमित प्यारी।
कृष्ण भक्ति दीजै श्री राधे सूरदास बलिहारी।।
273. (क) श्री हरि वैश स्वरूप हैं श्री हरिदास उदार।
जे जे बातें महल की वरणत नित्त विहार।। —वंशी अलि, हृदय सर्वस्व, छन्द संख्या 18
(ख) श्री ललिता हरिवंश वधु प्रघटी रस निधि आय।
चरन माधुरी कुंवर की दीनी सबन जनाय।। —वही, 16
274. श्री गुरु ललिता रूपमम तिनको नाम रटन्त।
पाठं सम्पत राधिका श्री बृन्दाविपुन वसन्त।। —वही, 25
275. गुरुः श्रीलहि लता ज्ञेया सातु तस्या परा सखी।
—वंशी अलि : श्रीराधा सिद्धान्तम् : श्लोक 3
276. डॉ. शरण बिहारी गोस्वामी के संग्रह से प्राप्त।
277. किशोरी अलि की वाणी, पत्र संख्या 190 और आगे।
278. स्वसौन्दर्यमहाराशौ नित्यं सक्तकिशोरिका।
राधास्माकमुपास्यास्ति तदनन्येन चेतसा।। —वंशी अलि, राधा सिद्धान्तम् 1
279. वही, हृदय सर्वस्व, 28
280. शक्तेर्वा ब्रह्मणो वापि तथा भगवताऽपि हि।
कर्त्री श्रीराधिका श्रेया अधिष्ठात्री तथैव च।। —वही, रा. सि., 2
281. वही, 7 एवं 6
282. नित्यं भक्तपराधीना तेन राधा विहारिणी।
साम्यं भजति भक्तेन रसे कृष्णेन लीलया।। —वही, पृ. 2
283. वही, 28

284. वही, 23
285. वही, 22
286. वही, 5 तथा श्लोक संख्या 76 भी द्रष्टव्य।
287. सेव्या सदा श्रीराधिका सेवक नन्द कुमार।
दूने सेवक सहचरी सेवा विपुन विहार। –वही, हृदय सर्वस्व, सं. 5
288. वही, 4
289. वही, हृदय सर्वस्व, सं. 5। –वही 3
290. वहीं, 6
291. वही, 8
292. वही, 7
293. शृंगारानुकृतिः कृष्णो ब्रजे प्रेम्णा महत्तमः।
लीलामात्रैकनिर्वहि कान्तत्वाहं कृति मता।। –वही, रा. सि. 13
294. वही, राधा सिद्धान्तम्, 4
295. ललिता दोउजन प्रीति हैं करुणक्ति स्वरूप।
आलिंगन वपु सों रहत रचत विहार अनूप।। –वही, हृदय सर्वस्व, 13
296. वही, 15
297. वही, 17 हृदय सर्वस्व।
298. वही, 19
299. वही राधा सिद्धान्तम्, 78-80
300. वही, 45-46
301. वही, हृदय सर्वस्व, 29
302. वही, सं. 10-12
303. वंशी अलि, रा. सि., सं. 29-34
304. वही, 37 तथा 41-48
305. वही, 49
306. वही, हृदय सर्वस्व, 33
307. वही, रा. सि. 103
308. डॉ. कामिल बुल्के : रामकथा (उत्पत्ति और विकास), पृ. 145
309. डॉ. भण्डारकर : वैष्णविज्म-शैविज्म, पृ. 66
310. डॉ. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ. 150
311. डॉ. भ. प्र. सिंह : रा.भ.र.स., पृ., 54
312. आचार्य ह. प्र. द्विवेदी : मधुराचार्य और उनका मणि-सन्दर्भ, 'कल्पना अप्रैल' 1955, पृ. 5
313. डॉ. भ.प्र. सिंह : रा.भ.र.स., पृ. 76
314. भुवनेश्वरनाथ मिश्र, 'माधव', 'रामभक्ति में मधुर उपासना', पृ. 141-186
315. डॉ. भ. प्र. सिंह : रा.भ. र. स., पृ. 76
316. रामचरितमानस, बालकाण्ड, 198, 341, अरण्यकाण्ड 22, 93, किष्किन्धा काण्ड 26, उत्तरकाण्ड 13, 34, 81, 130 आदि।
317. वही, बा. का., 148
318. वही, अ. काण्ड, 126
319. वही, बा. का., 187

320. विनय पत्रिका पद 41, 42
321. रामचरितमानस, सु. का, 15
322. मधुराचार्य : सुन्दरमणि-सन्दर्भ, पृ. 23
323. रसिक अलि : अनन्य तरंगिणी, पृ. 4
324. बालअली : ध्यान मंजरी (रा.भ.म.उ., पृ. 211)।
325. रसिक अली : सिद्धान्त मुक्तावली (वही पृ. 237) तथा नृत्य राघव मिलन, पृ. 6
326. नृ. रा. मि., पृ. 41
327. बालअली : सिद्धान्ततत्त्व दीपिका, 31
328. मधुराचार्य : सु.भ.सं., प. 432-434
329. मधुराचार्य : सु. म. सं., पृ. 327-328
330. वही, पृ. 106
331. बाल अली : नेह प्रकाश, 1
332. ह.स., पृ. 21
333. बाल अली नेह प्रकाश, 2
334. हनुमत्संहिताः पृ. 10
335. बाल अली : नेह प्रकाश। –राधावल्लभ म. उ., पृ. 201 पर उद्धृत।
336. रा. त. प्र. में जानकी-विलास से उद्धृत।
337. प्रेमलता, वृ. उ. पृ. (राधावल्लभ, म. उ., पृ. 341)।
338. प्रेमलता, बृहत् उपासना रहस्य। –रा. भ. म. उ., पृ. 344
339. रामरस रंग विलास, पृ. 24
340. उ. र., पृ. 111 (रा. भ. र. स., से उद्धृत)।
341. वही, (रा. भ. म. उ., पृ. 344)।
342. वही, पृ. 341
343. रामनवरत्लसारसंग्रह, पृ. 31 (14)
344. वही, पृ. 40 एवं उपासनात्रय सिद्धान्त, पृ. 86
345. वही, पृ. 40
346. अनन्य तरंगिनी, पृ. 2 एवं राघव मिलन, पृ. 45
347. (क) हनुमत्संहिता, पृ. 7 तथा
(ख) बृहद् ब्रह्मसंहिता, पृ. 69-70
348. वात्सल्य शृंगार वा, सान्ति सख्य अरुदास।
पाँचहु रसिक सुभाव सह, सेवहिं प्रभु पिदव खास। तथा डॉ. भ. प्र. सिंह : रा.भ. र. सं., पृ. 143
349. ललित लीला लाल सिय की त्रिगुन माया पार।
पुरुष तहं पहुँचे नहीं केवल अली अधिकार।
–रसिक अली : अन्दोल रहस्य दीपिका (रा.भ.म.उ., पृ. 240)
पुरुष भावना जो हिय धारे, दास सखाहि तदपि प्रभु प्यारे।
गुप्त बिहार न देखन आवहिं, हठ वश परेउ दूरि पछितावहिं।
हनुमदादि शिव धरि अलि रूपा, निरखहिं गुप्त रहस्य अनूपा।
तब ते दास सरबादिक भावा, राखहिं उर तिय भाव सुछावा।
प्रभुहिं मिलन हित भाव सुनारी, धरि उर सेइय जनक दुलारी।
प्रभुहिं मिलन हित भाव सुनारी, धरि उर सेइय जनक-दुलारी।
–प्रेमलता : वृ. उ. र., (रा.भ.म.उ., 5-346)।

350. कामदेन्द्र मणि : राघवेन्द्र रहस्य रत्नाकर, पृ. 27
351. राम रसरंग गीता : राम रसरंग दोहा, पृ. 10-11
352. कामदेन्द्र मणि : माधुर्य केहिल कादम्बिनी, पृ. 52
353. सतगुरु दया सखी तनकीर, निज रंग महल रस रहसि निहारे।
तन कृत करि गुरु प्रेम भाव का आयसु पाय महल पगु धारे।
मधुर मधुर गति मधुरभाव सो मधुर मनोहर सेज सँवारें। —कृपानिवास पदावली, पृ. 4
354. युगल निकुंज रहस्य नवल रस, सो सद्गुर उपवेश करै तस
—कामदेन्द्र मणि : माधुर्य केलि कादम्बिनी, पृ. 51

तथा

श्री प्रसाद प्रसाद करि अष्ट सखी गुन गाय।
अलि निकास जिनकी मया, महल माधुर्य पाय।
—कृपानिवास, भावना पचीसी (रा.म.भ.उ., पृ. 225)।

तथा

रसिक अली जीवन यही ध्यावै रटै दिन रैन।
बिनु जुगल रस लीला लखे दिन पल हिये किमि चैन।
—रसिक अली : अन्दोल-रहस्य-दीपिका (रा.भ.भ.उ., पृ. 240)।

355. चरणदास : भक्ति सागर, पृ. 53-162
356. वही, पृ. 220-231
357. वही, 486-489
358. वही, 490-491
359. वही, 492-495
360. वही, 496-502
361. वही, 511-554
362. वही, भक्तिपदार्थ-वर्णन, पृ. 175
363. चरणदास : शब्द का वर्णन, पृ. 461-462
364. वही, पृ. 254
365. वही, 76
366. वही, 171
367. वही, 171
368. वही, 474
369. चरणदास अमर लोक अखण्ड धाम वर्णन, पृ. 17
370. वही ब्रज चरित्र वर्णन, पृ. 7
371. वही, पृ. 7
372. वही, पृ. 9
373. वही, अमर लोक अखण्ड धाम वर्णन, पृ. 18
374. वही, पृ. 21
375. वही, पृ. 221
376. वही, 22-23
377. वही, ब्रज चरित्र वर्णन, पृ. 9
378. चरणदास, अमर लोक अखण्ड धाम वर्णन, पृ. 19

379. वही, पृ. 19
380. वही, गोपी विरह निवेदन, 497-500
381. वही, पृ. 501
382. चरणदास खब्द वर्णन, पृ. 359-360
383. वही, पृ. 358
384. वही, भक्ति पदार्थ वर्णन, पृ. 188
385. वही, पृ. 182
386. वही, पृ. 12
387. ग्लोरियस क़ुरान, सू. 13 । 16
388. वही, 3 । 2
389. वही, 2 । 263
390. वही, 2 । 224
391. वही, 3 । 109
392. वही, 62 । 4
393. वही, रामपूजन तिवारी : सूफ़ी मत : साधना और साहित्य, पृ. 270
394. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड 12, पृ. 14-15
395. एफ. एच. डेविस : द पर्शियन मिस्टिक्स जलालुद्दीन रूमी, पृ. 63
396. डॉ. विमल कुमार जैन : 'सूफ़ी मत और हिन्दी साहित्य', पृ. 49 पर उद्धृत।
397. आर. ए. निकल्सन : मिस्टिक्स ऑफ इस्लाम, पृ. 103 पर उद्धृत।
398. वही, पृ. 105 पर उद्धृत।
399. वही, पृ. 112

पंचम अध्याय

विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों का अठारहवीं शती का ब्रजभाषा प्रेमाभक्ति-काव्य

18वीं शती में चैतन्य सम्प्रदाय का ब्रजभाषा-साहित्य : पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

पिछले अध्यायों के विवेचन के आधार पर यह धारणा सहज ही बन जाती है कि भक्ति के क्षेत्र में सिद्धान्त एवं प्रभाव, दोनों ही दृष्टियों से चैतन्य-सम्प्रदाय का महत्त्व अभूतपूर्व रहा है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भक्तों ने प्रभूत साहित्य की रचना की है परन्तु उस रचना-क्षमता का सर्वोत्तम प्रकाशन संस्कृत एवं बंगला के माध्यम से ही हुआ है। ब्रजभाषा उतना सशक्त माध्यम इस सम्प्रदाय में नहीं बन सकी। स्वयं ब्रज-प्रदेश में ही 'चैतन्यचरितामृत' जैसे ललित एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना हुई तथा यहीं पर रूप-सनातन-जीव की दार्शनिक-काव्यात्मक उपलब्धियाँ भी प्रस्तुत हुई हैं। प्रबोधानन्द का 'बृन्दाबनशतक', नारायण भट्ट की 'भक्ति रस-तरंगिणी', बलदेव विद्याभूषण का 'गोविन्द भाष्य' तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती के महत्त्वपूर्ण भाष्य एवं टीकाएँ ब्रजभूमि में ही आकार ग्रहण कर सकी थीं, परन्तु ऐसा लगता है कि इन कृतियों के सम्मुख इस सम्प्रदाय के रचनाकारों की ब्रजभाषा कृतियाँ बौनी हैं। इसके कारणों की यहाँ हम खोज नहीं करेंगे, परन्तु इतना तो प्रत्यक्ष है कि हमारे आलोच्य काल में भी स्वतन्त्र-भौतिक रचनाएँ इस युग में कम ही लिखी गयीं। भगवत् मुदित, सुबल श्याम, वृन्दावनदास आदि की कृतियाँ विशुद्ध अनुवाद हैं। गौरगणदास, ब्रजगोपाल या मनोहर राय जैसे रीतिकाव्य की परम्परा से अधिक प्रभावित हो रहे थे। भक्ति का आवेश उनमें कम होता प्रतीत होता है।

स्वतन्त्र ब्रजभाषा-काव्य-रचना की कमी होते हुए भी यह सम्प्रदाय इस युग में अत्यधिक प्रभावशाली बना रहा है। 18वीं शताब्दी में ही राधावल्लभीय रसिकदास ने वृन्दावन गोस्वामियों के अनेक ग्रन्थों का ब्रजभाषा में अनुवाद किया था। गो.

रूपलाल के 'रस रत्नाकार'[1] तथा स्वामी रसिकदेव (हरिदास सम्प्रदाय) के रस-सार[2] के सिद्धान्त-विवेचन पर स्पष्ट रूप से गौड़ीय वैष्णव छाया है। इन दोनों ही ग्रन्थों में धाम, लीला, परिकर, नित्य सिद्धा, साधन सिद्धा सखियों आदि का विवेचन विशुद्ध रूप से गौड़ीय वैष्णव आधार पर है। स्वामी हरिव्यासदेव द्वारा रचित कहे जाने वाले ग्रन्थ 'सिद्धान्त रत्नांजलि' का भक्ति-विवेचन 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' एवं 'उज्ज्वल नीलमणि' पर पूरी तरह आधृत है।

इस युग के चैतन्य सम्प्रदाय की एक दूसरी विशेषता यह है कि सखी भाव से युगलोपासना इस सम्प्रदाय में भी पूरी तरह व्याप्त होती प्रतीत होती है। ब्रह्मगोपाल की हरिलीला में अपवाद के लिए ही एक पद ऐसा प्रतीत नहीं होता जिसमें युगल दम्पति का वर्णन न हो। अकेले कृष्ण या अकेले राधा को चित्रित वे करते ही नहीं। इसी प्रकार प्रियादास ने भी युगल तत्त्व का ही अपनी रचनाओं में गान किया है। वृन्दावन (ब्रज नहीं) का भी महत्त्व युगलोपासना के साथ ही बढ़ता है। इस प्रकार यह सम्प्रदाय प्रभावित ही नहीं कर रहा था, स्वयं भी राधावल्लभ एवं हरिदासी सम्प्रदायों से प्रभावित भी हो रहा था।

चैतन्य मतानुयायी कवि

मनोहर राय

यह गोपाल भट्ट गोस्वामी की शिष्य-परम्परा में रामशरण चट्टराज के शिष्य थे। उनके रचे हुए ग्रन्थ 'श्री राधारमण रससागर' की समाप्ति 1957 वि. में वृन्दावन में हुई थी। इसे प्रकाशित भी किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त 'रसिक जीवनी', 'सम्प्रदाय बोधिनी' नामक दो अन्य रचनाएँ भी उनकी कही जाती हैं, पर प्रभुदयाल मीतल का अनुमान है कि 'सम्प्रदाय बोधिनी' किन्हीं और मनोहरराय की रचना है।[3] बाबा कृष्णदास ने उनके द्वारा सम्पादित 'क्षणदा गीति चिन्तामणि' नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ की भी चर्चा की है।[4] यह एक सशक्त कवि थे। 'भक्तमात' के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास जी मनोहरराय जी के शिष्य थे। मनोहरराय जी पर रीतिकालीन दृष्टिकोण का भी पर्याप्त प्रभाव है। भाषा, अलंकार योजना, वर्णन-चित्र एवं चमत्कार-योजना की दृष्टि से वे रीतिकाल के कवि सहज ही अनुमित किये जा सकते हैं। शुक्लाभिसारिका नायिका का एक चित्र लीजिए–

सरद की रैनि उजियारी अभिसार प्रिया,
प्रीतम पै सेत सारी खौर अंग कीने हैं।
मालती मुकता मल्ली माला, अंग अंग सौहैं,
आभूषन हरिनि जटित रंग भीने हैं।।

चाँदनी में अलि चलीं देखन न पावै अली,
अंग की सुगन्धि अनुसार के हूँ कीने हैं।
राधिका संग मिले मनोहर भाँति-भाँति,
खिले नैन झिले मानो शोभा जल मीनें हैं।।

विहार के लिए जिन राजसी उपकरणों एवं साधनों को जुटाया गया है, वे भी रीतिकाल के पद्माकर आदि की याद दिलाते हैं।

शुद्ध संवेगात्मक चित्रणों में भी मनोहरराय जी पर्याप्त कुशल थे। अनुराग और आतुरता को व्यंजित करने वाला यह कवित्त रीतिकाल के ऐसे ही टकसाली कवित्तों में स्थान पाने योग्य है—

तैसी रहीं जोइ सोइ चली है तमकि तैसी,
काहू की न मानैं कोऊ आतुरता बढ़ी है।
अस्त-व्यस्त भूषन वसन मन-मन काम,
मनमथ राज चटसार मानों पड़ी है।
सनमुख नाद सुधी में गति न भई-बाधा,
आगे पूजी साधा प्रेम गजराज चढ़ी हैं।
रमण सौं मिली राधा शोभा सिन्धु तैं अगाधा,
मानो हर मूरति सनेह साँचे गढ़ी हैं।

इस रीतिवृत्ति के कारण उनका भक्ति का स्वर बड़ा दबा-सा प्रतीत होता है।

प्रियादास

ये पूर्वोक्त मनोहर दास (राय) के शिष्य थे। नाभादास के 'भक्तमाल' की इनकी 'भक्त रस बोधिनी' टीका प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त बाबा कृष्णदास ने इनकी 'रसिक मोहिनी', 'अनन्य मोहिनी', 'चाँद बैली', 'भक्त सुमरिणी' नामक छोटी-छोटी रचनाएँ एक ही जिल्द में प्रकाशित की हैं। प्रियादास सूरतनगर राजपुरा के रहने वाले वासुदेव एवं गंगाबाई के पुत्र थे। जन्म संवत् का यद्यपि निश्चित पता नहीं है, पर संवत् 1735 के आसपास उसका अनुमान इस आधार पर किया जा सकता है कि भक्तमाल की 'भक्ति रस बोधिनी' टीका उन्होंने संवत् 1769 में समाप्त की थी। अतः इस समय के 30-35 वर्ष पूर्व उनका आविर्भाव अनुचित सम्भावना नहीं है। अपने एक अन्य ग्रन्थ 'रसिक मोहिनी' में उन्होंने रचनाकाल संवत् 1794 दिया है। इस प्रकार 16वीं शती का उत्तरार्द्ध उनका रचनाकाल कहा जा सकता है। प्रियादास जी का सबसे प्रिय छन्द दोहा है, यद्यपि अन्य समसामयिक छन्दों का भी प्रयोग उन्होंने किया है। दोहों में उनकी भाषा अत्यधिक विदग्ध रूप में प्रकट हुई है। अपनी कला-योजना में दोहे कभी-कभी बिहारी से टक्कर लेते प्रतीत होते हैं—

घिरति रहे ब्रज भूमि में झूमि नैन अकुलाय,
घूम-घूम तन लोट के, उठे रूप गुन गाय।
बिना पलक द्दग द्दग जुरे देख्यों अचरज सार,
गुरु जनहूँ जक धक सजै इक टक रहे निहार।

परन्तु सब मिलाकर उनका यह शृंगार वर्णन लीलावाद के निकट की वस्तु बना रहता है।

भगवत् मुदित

भगवत् मुदित जी के सम्बन्ध में नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में एक छप्पय लिखा है जिसकी प्रियादास जी ने 5 कवित्तों में टीका की है। इस वर्णन के अनुसार यह माधवदास (माधव मुदित) के पुत्र थे तथा सूजा (शुजाउल्मुल्क) के आगरा के दीवान थे। गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्त हरिदास के यह शिष्य थे। अपने गुरु ब्राह्मणों, ब्रजवासियों इत्यादि में इनकी अत्यधिक श्रद्धा थी। नाभादास के अनुसार यह सखी भाव के उपासक थे तथा नित्य केलि में ही उनकी चित्तवृत्ति रमी रहती थी।

इनके 'रसिक अनन्यमाल' में राधावल्लभीय भक्तों के चरित्रों का संग्रह किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरु-दीक्षा से गौड़ीय वैष्णव मतानुयायी होते हुए भी वे राधावल्लभीय भक्ति भाव से विशेष प्रभावित थे। उनका दूसरा ग्रन्थ 'बृन्दाबनशतक' प्रसिद्ध महात्मा प्रबोधानन्द के 'बृन्दावन महिमामृत' का ही यत्किंचित् रूपान्तर है। प्रबोधानन्द जी के बारे में भी यही प्रवाद है कि सम्प्रदाय से चैतन्य मतानुयायी होने पर भी वे हित हरिवंश और उनकी भजनरीति से अत्यधिक प्रभावित रहे।

भगवत् मुदित सुकवि प्रतीत होते हैं। उनकी मौलिक रचनाएँ यद्यपि कम हैं, पर 'बृन्दाबनशतक' के अनुवाद में भी उनका कवित्व प्रकाशित हुआ है। नीचे हम एक उदाहरण दे रहे हैं—

नव किशोर चित चोर, तरुण तन भोर है।
कोटि कोटि छवि काम, स्याम दुति गौर है।
दोउ मूरति तन एक जीव जीवन रस भोगी।
कौतुक केलि बिलास सदा आनन्द उपयोगी।
चलत फिरत नव कुंज में, कब व्है है मम पुलक मन।
देखि नवल नागरी वेपथु गति है परति तन।

मित्र बन्धुओं ने उनके चार ग्रन्थ—'रसिक अनन्य भाल', 'बृन्दाबनशतक' 'हित चरित्र' तथा 'सेवक चरित्र' बनाये हैं, पर वास्तव में हित चरित्र राधावल्लभीय उत्तमदास की रचना है एवं सेवक चरित्र, रसिक अनन्यमाल का ही अंश है। इस प्रकार मुख्यतः उनके प्रथम दो ही ग्रन्थ सिद्ध होते हैं। कुछ स्फुट पद उनके यत्र-तत्र

और भी उपलब्ध हो जाते हैं। उनके रसिक अनन्य माल का ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। उसका रचनाकाल संवत् 1707 है।

किशोरीदास

किशोरीदास जी का समय भी प्रभुदयाल मीतल ने विक्रम की 18वीं शती का पूर्वार्द्ध माना है।[5] किशोरीदास जी बंगाली ब्राह्मण थे एवं गोस्वामी वंशीदास जी उनके गुरु थे। सनातन गोस्वामी की पाँचवीं पीढ़ी में वे मदनमोहन मन्दिर वृन्दावन के आचार्य थे। इस दृष्टि से उनका समय 18वीं शती उत्तरार्द्ध तक जाता है, यद्यपि पीढ़ी की दृष्टि से काल-निर्णय करना बहुत वैज्ञानिक नहीं प्रतीत होता।

कुसुम सरोवर के बाबा कृष्णदास के पास हमने उनकी बानी का संग्रह 'किशोरीदास की बानी' देखा है। ग्रन्थ में स्फुट पद हैं एवं प्रत्येक पद में राग-रागिनी के नाम तथा ताल दिये हुए हैं। ऐसा लगता है कि वे संगीत के बहुत अच्छे जानकार थे। उक्त वाणी ग्रन्थ से तीन पद हम नीचे दे रहे हैं—प्रथम दो पद निकुंज-लीला से सम्बन्धित हैं एवं तृतीय पद ब्रजलीलागान की परम्परा में है। प्रथम छन्द राग मारू जलद तिताला में है, दूसरा राग कान्हकीर में गाया जा सकता है तथा तृतीय तिताले में सारंग राग के अन्तर्गत दिया हुआ है।

झूलत कदम्ब छइयाँ,
धीरे-धीरे जमुना तीर पिय प्यारी, पटुली पर बैठे दोऊभर बहियाँ।
उर के वार हार सुरझावत वरु समरस चित चहियाँ।
किशोरीदास ब्रजचन्द प्यारी, छवि देवे कूटतर नइयाँ।

खेलत चौपर पीतम प्यारी।
अपनी अपनी जीत विचारत, द्वारन पासै चोपन भारी।

आओ सिमिट सबै ब्रजवासी, लै लै गैया अपनी संग।
रहो गिरि की छैंया सब सब सुख नाचौ गावौ करहु बहुरंग।
पर्वत को परभाव लखोंने तब दै मन माँहि उमंग।
श्री ब्रजचन्द किशोर अहै नग मधुवा को मान करिहै भंग।

गौरगणदास

गौरगणदास की एक रचना 'गौरांग' भूषणा मंझावली बा. कृष्णदास द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। इसकी भूमिका में इन्हें सनातन गोस्वामी चरणों के आश्रित प्रिय शिष्य

बताया गया है, पर यह रचना परवर्ती प्रतीत होती है। मीतल जी ने उनका समय 18वीं शती का पूर्वार्द्ध माना है।[6] इस पुस्तिका में, माँझों के अतिरिक्त अन्य ब्रजभाषा रचनाएँ भी हैं। उन्होंने अपनी साधना को स्वयं ब्रजगोपी भावाश्रित बताया है।

चिन्तामनि ब्रजभूमि विलोकन नित नूतन नव भाव भरी।
धूसरि धूरि अंग ब्रज रज में प्रेम मन्त्र जनु घाव करी।
गुरु अनुसरव भाव कौ वारिधि, उमंगि उमंगि बह्यों गौर हरी।
श्री रूप सवातव आसा उर में ब्रजगोपिन अनुभाव सरीं।

'गौरांग भूषण मंझावली' की भाषा फ़ारसी, पंजाबी एवं ब्रज-मिश्रित खड़ी बोली है। रचना-शैली अत्यधिक दुरूह तथा अटपटी है। कलात्मकता की दृष्टि से भी कृति बहुत उल्लेखनीय नहीं है, पर भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए इसमें बहुत सामग्री मिल जायेगी।

सुबल श्याम

इन्होंने 'चैतन्यचरितामृत' के प्रथम दो खण्डों का इसी नाम से ब्रजभाषा में अनुवाद किया है। बाबा कृष्णदास ने इन्हें प्रकाशित किया है। ये नारायण भट्ट के वंशज यदुपति सिंह के शिष्य थे। इनका कुछ ज्ञात नहीं है, पर नारायण भट्ट से छठी परम्परा में होने में अनुमानतः यह 18वीं शती के अन्त एवं 19वीं शती के प्रारम्भ में विद्यमान रहे होंगे। इनके अनुवाद का एक सरस उदाहरण हम उपस्थित कर रहे हैं—

लीला राधाकृष्ण की अति निगूढ़ तर सोय।
वात्सल्यादिक भावकहि वहिं गोचर है जोय।
एक सखीगण बिन जु लीला पुष्ट न होय,
विस्तारै लीला सखी, आस्वाढै उन सोय।
तिहि लीला मधि सखी बिन नहीं अन्य गति जोय,
तिनहीं को अनुगति करैं, सखी भाव जो होय,
दम्पति सेदा कुंज की साध्य पाय है सोय,
पैबे को तिहि साध्य को नहि उपाय अरु कोय।

(म. लीला। परि. 8, पृ. 67)

यह अंश 'चैतन्यचरितामृत' के मध्यलीला खण्ड के अष्टम परिच्छेद के प्रसिद्ध सिद्धान्त कथन का अनुवाद है जिसमें सखी का महत्त्व बताया गया है। अनुवाद पर्याप्त स्पष्ट एवं सरल हुआ है, पर उस लालित्य का इसमें अभाव है जो मूल ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

साधु चरणदास

साधु चरणदास के बारे में भी कुछ प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं है, परन्तु उनका रचित 'रसिक विलास' नामक ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में हमने बाबा कृष्णदास के पास देखा है। इस ग्रन्थ की रचना का काल तथा ग्रन्थ का उद्देश्य एवं कथ्य उन्होंने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है। इस कथन से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ संवत् 1758 (अथवा 1798) में पूरा हुआ था।

संवत् सत्रह सै अठानवा पायो इन
माह सुदि शुक्लपक्ष पंचमी सुहाई है।
सनिश्चर-वार ऋतुराज हू कौ आगम हो
ताही दिन ग्रन्थ यह पूरण सुहाई है।
रसिक विलास नाम ग्रन्थ अभिराम अहै
सुनै नित स्याम आइ सुखदाई है।
आज्ञा मन भाई साधु चरण बनाइ पोथी,
अति सुखदाइ जमकाइ छवि छाई है।
रसिक विलास नाम ग्रन्थ अभिराम किधौं...
कौ है घामता कौ उपमा विचार्‌यो है।
किधौं भक्ति अंग देखिबे को इहै आरसी है
किधौं साधिबे कौपाटी विधि सुधार्‌यो है।
किधौं जन्त्रसाला मन मोहिवै को मोहन की,
किधौं चटसाला भक्ति तत्त्व ले उचार्‌यो है।

इस ग्रन्थ में श्यामानन्द, रसिकानन्द, रसिक मुरारी आदि द्वारा किये जाने वाले भक्ति-प्रचार का भी उल्लेख हुआ है। यद्यपि लेखक ने प्रारम्भ में ही ग्रन्थ की क्षमता के सम्बन्ध में गर्वोक्ति की है। समस्त ग्रन्थ चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति पद्धति को स्पष्ट करता है। काव्य के रूप-निर्माण पर समसामयिक रीति-प्रणाली का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

ब्रह्मगोपाल

नित्यानन्द प्रभु के परिवार में प्रसिद्ध रामराय गोस्वामी के अनुज प्रभु चन्द्रगोपाल गोस्वामी के पौत्र थे। इनके पिता गो. राधिकानाथ भी चैतन्य मत के अनुयायी एवं कवि थे। रामराय जी विक्रम की 17वीं शती में विद्यमान थे, ऐतिह्य के बारे में निश्चित ज्ञान न होने पर भी इतना तो अनुमान युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि उनके लघु भ्राता के पौत्र 18वीं शती में विद्यमान रहे हों।

ब्रह्मगोपाल जी का 'हरिलीला' नामक छोटा-सा ग्रन्थ बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। हरिलीला में पहले दोहा और फिर एक पद में उसकी विवृत्ति की गयी है। रचना की यह पद्धति रीतिकाल के उन लक्षण ग्रन्थों की याद दिला देती है, जिनमें दोहे में लक्षण एवं कवित्त या सवैये में उसका उदाहरण दिया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि रीतिकाल की परम्पराएँ भक्ति भाव की रचनाओं पर प्रभाव डालने लगी थीं अथवा दोनों के सामने एक ही प्रकार के आदर्श थे। इस पद्धति का एक उदाहरण देखें—

दोहा—रस रसाल रस माधुरी सहज रसीले लाल।
प्रीति बेलि प्यारी परम प्रियतम प्रेम तमाल।।

इसकी निवृत्ति निम्न पद में इस प्रकार हुई है—

जुगलकर सहज रसीले लाल।
मधुर माधुरी प्रीतम प्रेमी, रसिक रसील रसाल।
ललिता कुंज ललित लीलाधर ललित लाड़िली लाल।
लिपटी प्रीति बेलि पुलकित अति सुन्दरि प्रेम तमाल।
बीती सकल सर्वरी प्यारी मुख अम्बुज धरि जाल।
चौंप चौगुनी बात परस्पर सुन शर कोटि विहाल।
प्यारी प्रीतम कण्ठ मालिका पीतम प्यारी लाल।
श्री प्रिया सखी लखि ललिता सहचरि
निज रस कुंज निहाल।

काव्य-सम्पदा की दृष्टि बहुत महत्त्वपूर्ण एवं कल्पनापूर्ण न होते हुए भी ब्रह्मगोपाल जी की ब्रजभाषा अत्यन्त प्रवाहमयी, सहज तथा श्रुतिमधुर है। उसकी पदावली पर भी रीतिकाल की अलंकृति की स्पष्ट छाया देखी जा सकती है।

बृन्दाबनदास

बृन्दाबनदास ने 18वीं शती के अन्तिम भाग एवं 19वीं शती के प्रारम्भ में बंगला के ग्रन्थों का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया था। देवकीनन्दनदास कृत वैष्णववन्दना, नरोत्तमदास ठाकुर कृत 'प्रेमभक्ति चन्द्रिका' नामक बंगला पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने रघुनाथदास गोस्वामी की संस्कृत रचना 'विलाप कुसुमांजलि' का भी ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया था। ये अद्वैताचार्य के परिकर में थे। 'प्रेमभक्ति चन्द्रिका' के प्रारम्भ में उन्होंने इस ग्रन्थ के अनुवाद का जो उद्देश्य कहा है, उससे ज्ञात होता है कि सुगम भाषा में भक्ति के इस श्रेष्ठ ग्रन्थ के अनुवाद का निर्देश श्री हरिवल्लभ जी ने उनको दिया था। यद्यपि ये कृष्णा चैतन्य मतानुयायी थे पर 'सीतापति' को अपना ईश कहा है, जो इनकी समन्वय बुद्धि का परिचायक है। सम्पूर्ण ग्रन्थ दोहा,

चौपाई, सोरठा की रामचरितमानस वाली शैली में अनूदित हुआ है। बीच-बीच में कवित्त भी एकाध आ गये हैं।

भनक सुनत ही तनक जिहि लहै मोद निरधार।
जुगल विमल उज्ज्वल सुरस लसै सरस अधार।

बृन्दाबनदास ने गौतमीय तन्त्र के 'गोपालस्तवराज' का भी ब्रजभाषा में अनुवाद किया है—

अस गोपिन मधि बसत कबहु इम लसत गुपाल।
उमड़ि घिरयो घन घुमड़ि सुजिनि विच दामिन जाल।
कबहुँ जमुन जल लील कबहुँ वर मित्रनि माँही,
गुच्छ केलि रस झेलि कराहीं अति सचु पाहीं।।

विलाप कुसुमांजलि का अंश निम्नलिखित है—

तव भुज प्रिय के शयन में जु जब छाय रहैं छवि।
प्रिय भुज सों तुव नमित अंस परसंस रहैं छवि।
गावत पुनि तिह संग अनंग जु गीत मधुर गति।
कब दैहौ बलि जाँहि सुभग मुखि मोहि मोद अति।

(विलाप कुसुमांजलि, पृ. 13)

हरिवासी सम्प्रदाय में 18वीं शती का ब्रजभाषा-काव्य

पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

नित्य विहारोपासना के प्रथम प्रयोक्ता हरिदासी या सखी-सम्प्रदाय में भी प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया प्राप्त होती है। वल्लभ-सम्प्रदाय, गौड़ीय वैष्णव या निम्बार्कीय जहाँ निकुंज-लीला एवं सखी भावोपासना की ओर झुकते हैं, वहीं 18वीं शती में हरिदासी-सम्प्रदाय में नित्य विहार का परिशुद्ध रूप ब्रज लीला व गोपी भाव से मिश्रित हो जाता है। स्वामी नरहरि देव, रसिक देव, पीताम्बर देव आदि कवियों ने स्थूल विरह, स्थूल मान, परकीया भाव, कृष्ण के प्रति गोपियों का कान्ता भाव इन सभी की अभिव्यक्ति की है। रसिक देव ने तो बाल-लीलाओं का भी चित्रण किया है। सम्प्रदाय में कुछ विशृंखलता भी इस काल में आती हैं। रसिक बिहारी, गोरे लाल आदि स्थानों का उदय इसी काल में होता है। स्वामी ललित किशोरी देव ने 'टट्टी सस्थान' की परम्परा इसी युग में स्थापित की। ललित किशोरी जी ने पूर्वोल्लिखित मिश्रणों को दूर कर पुनः नित्य विहार का शुद्ध रूप अपनी परम्परा के अन्तर्गत प्रस्थापित किया। ललित किशोरी जी कवि रूप में भी महत्त्वपूर्ण हैं, पर उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण साधनानुभूति की दृष्टि से हैं। उनके काव्य में साधनागत निष्ठा का अद्भुत आवेग

प्राप्त होता है। अपने सीमित क्षेत्र के भीतर उन्होंने अत्यन्त सशक्त शब्दावली में अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है, परन्तु इस अभिव्यंजना में सचेष्टता या पच्चीकारी की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

समग्र रूप से देखने पर यह अवश्य ज्ञात होता है कि प्रस्तुत सम्प्रदायानुयायियों ने काव्य-रचना की ओर सचेष्ट ध्यान नहीं दिया है। सम्भवतः संगीत की ओर अधिक ध्यान अवश्य रहा है। एक और विचित्र तथ्य है कि गृहस्थ एवं विरक्त इन दोनों परम्पराओं की प्रस्तुत युग तक काव्य-रचना केवल विरक्तों के अन्तर्गत ही प्राप्त होती है। उनमें भी आचार्यों को छोड़कर अन्य अनुयायियों की रचना भी अत्यधिक विरल है। यह भी सम्भव है कि अन्य रसिका की रचनाओं के रक्षण पर ध्यान न दिया गया हो।

हरिदासी सम्प्रदाय के कवि

नरहरिदास

स्वामी हरिदास की पाँचवीं शिष्य पीढ़ी में नरहरिदास जी हुए हैं। उनके गुरु का नाम स्वामी सरस देव था। नरहरि देव जी सम्प्रदाय की गद्दी पर संवत् 1683 में स्वामी सरसदास की मुत्यु के पश्चात् प्रतिष्ठित हुए थे। इनके प्रधान शिष्य स्वा. रसिक देव जी ने अपने 'गुरु मंगल' में उन्हें बुन्देलखण्ड के गुढ़ा (या गुढ़यौ) नामक ग्राम का निवासी तथा विष्णुदास का पुत्र बताया है। उनके अनुसार नरहरिदास जी की जन्मतिथि ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया है। स्वा. पीताम्बर देव इत्यादि परवर्ती जन भी अपनी बधाइयों में इन्हें ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया को ही उत्पन्न मानते हैं।[7] अपने क्षेत्र बुन्देलखण्ड में ही भक्ति का ये प्रचार करते रहते थे। निजमत सिद्धान्त में किशोरदास ने बताया है कि स्वा. सरसदास ने बुन्देलखण्ड जाकर ही उन्हें अपना शिष्य बनाया था।[8] निजमत सिद्धान्त में उनके जन्म का संवत् 1640 बनाया है जो अनुचित नहीं प्रतीत होता। पौष शुक्ला सप्तमी संवत् 1741 में नरहरि देव जी का वृन्दावन में स्वर्गवास हो गया था। स्वा. नरहरि देव जी से कुछ विचित्र परम्पराएँ भी सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गयी थीं। कहना यों चाहिए कि विशृंखलता का प्रारम्भ इन्हीं के समय से हुआ था। इनके पूर्वाचार्यों ने वृन्दावन के बाहर बहुत कम प्रस्थान किया था, पर नरहरि देव जी बहुधा बाहर रहकर प्रचार-कार्य में लगे रहते थे। ऐसा लगता है कि भक्ति का प्रारम्भिक आवेश निःशेष हो चला था और साम्प्रदायिक प्रतिष्ठा बनाने की धारणा अधिक बलवती हो उठी थी। नरहरि देव जी निधिबन छोड़ वर्तमान रसिक बिहारी जी के मन्दिर के स्थान पर रहने लगे थे। उनके उपास्य आजकल गोरेलाल जी के मन्दिर में स्थापित हैं।

अष्टाचार्यों की वाणी की जो प्रतिलिपि हमें उपलब्ध हो सकी है, उसमें नरहरि देव के संग्रह का परिमाण बहुत कम है। पाँच साखियाँ, एक सिद्धान्त का पद तथा 10 रस के पद ही उनके इस संग्रह में संकलित हैं। अलग से उनका कोई ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

साखियों में जाति-पाँति के खण्डन के साथ ही बाह्य कर्मकाण्ड के प्रति कबीर जैसी अवहेलना का स्वर हमें प्राप्त होता है—

नरहरि धागा सूत को गर्व करौ मति कोइ
जद्यपि चन्द कलंक है, जगत उजेरो होइ।[9]

यद्यपि विरह की स्वीकृति हरिदासी सम्प्रदाय में नहीं है, पर नरहरिदास जी का एक सुन्दर विरह का पद मिलता है—

अरे कारे बदरा ताही में स्याम हिरानैं।
ताही तै तू अन्तरंग त्यो विरहिन पीर न जानैं।
परसि दुकूल यामिनी अति चमकति सत मुख सागर तानैं।
मन्द मन्द मुरली धुनि गावत बाजत मदन निसानैं।
रंग-रंग मिलि सुख उपजत आन रंग क्यौ बानैं।
श्री नरहरिदास जे अन्तर कारे-कारे सौ रति मानैं।[10]

यों इतनी अल्प रचना के आधार पर उनकी कवित्व शक्ति का मूल्यांकन क्या किया जाय? पर जितना भी कुछ है, उससे वे समर्थ कवि प्रतीत नहीं होते। भाव की सम्पदा तो सम्प्रदायानुकूल मन में अवश्य थी, पर उसके पल्लवन के लिए जिस कल्पना-शक्ति, जिस अप्रस्तुत विधान-योग्यता एवं भाषा सामर्थ्य की आवश्यकता है, उसका उनमें अभाव मिलता है। वह युग अलंकरण का था, पर नरहरिदास में इस अलंकरण का भी बाहुल्य नहीं है। उत्प्रेक्षाओं का अवश्य उन्होंने कुशल प्रयोग किया है, पर सब मिलाकर उनकी रचना काव्य-कला की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनके अच्छे पदों में से एक निम्नलिखित है—

प्रीया प्रीय सूरत सेज उठि जागे।
घूमत नैन अरुन अलसानै मनहुँ समर सर नागे।
सिथिल अंग छूटी सिर अलकै बदन स्वेद कन लागे।
मानहुँ विधु कुसुम निकरि पूज्यो अंग अंग अनुरागे।
चितै परस्पर ही उत दोऊ काम केलि रस पागे।
श्री नरहरिदास अंगछवि निरखति गण्ड पीक सो पागे।[11]

युगल केलि का यह चित्र रसिक साधना के अनुरूप है।

स्वामी रसिक दास (रसिक देव)

स्वामी नरहरि देव जी के पश्चात् सम्प्रदाय की गद्दी उनके ज्येष्ठ शिष्य स्वामी रसिक देव जी को संवत् 1741 में मिली। श्री अमोलक रामशास्त्री ने लिखा है कि संवत् 1691 में वसन्ता पंचमी के दिन इन्होंने दीक्षा ली।[12] जन्म-संवत् के बारे में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता, यहाँ तक कि निजमत सिद्धान्तकार जैसे पटु इतिहासज्ञ (?) ने भी उनके जन्म-संवत् का उल्लेख नहीं किया। सहचरिशरण ने जन्मतिथि वसन्त पंचमी मानी है तथा इनके शिष्य पीताम्बर देव जी की बधाई से भी इसका समर्थन होता है—

प्रगटे श्री रसिक देव सुख सार।
मंगल बसन्त पंचमी भू पर छायो नित्य विहार।[13]

सम्भव है कि गुरु ने इनका जन्मदिन ही गुरु-दीक्षा के लिए चुना हो। यदि संवत् 1691 इनका दीक्षा-संवत् है तो जन्म-संवत् 1670 से पूर्व ही मानना होगा। सहचरि शरण की 'गुरु प्रणालिका' के अनुसार ये बुन्देलखण्ड निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे।

इनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि प्रारम्भ में गुरु ने इनसे अप्रसन्न होकर निकाल दिया था। ये बाहर जाकर भी किसी-न-किसी बहाने अपने गुरु की सेवा करते रहे। अन्त में इनकी गुरु-निष्ठा पर प्रसन्न होकर स्वा. नरहरिदास ने इन्हें पुनः बुला लिया और गद्दी का अधिकारी घोषित किया।

गद्दी पर बैठने के बाद डूंगरपुर से श्री रसिक बिहारी का विग्रह मँगाकर उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा कराई। यही वर्तमान रसिक बिहारी का मन्दिर है। रसिकदास जी के 52 प्रमुख शिष्य थे। इनमें तीन सर्वश्री गोविन्द देव, पीताम्बर देव एवं ललित किशोरी देव प्रधान थे। इन्हीं तीनों से क्रमशः गोरेलाल, रसिक बिहारी एवं टट्टी स्थान की परम्पराएँ प्रारम्भ हुई हैं।

अष्टाचार्यों की वाणी में संगृहीत उनकी रचनाओं का परिमाण भी अल्प ही है। उक्त संग्रह में रसिकदास जी की 16 साखियाँ, 5 सिद्धान्त के पद एवं 22 रस के पद प्राप्त होते हैं। उनके अतिरिक्त इनके लिखे हुए 8 छोटे-छोटे ग्रन्थ और भी प्राप्त हुए हैं जिनमें से 5 को भ्रमवश किशोरी शरण अलि जी ने अपनी साहित्य रत्नावली में राधावल्लभीय रसिकदास की रचनाओं में सम्मिलित कर लिया है।[14] ये आठ रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(1) भक्ति सिद्धान्त मणि, (2) रस-सार, (3) रसार्णव पटल, (4) गुरु मंगल, (5) बाल लीला, (6) पूजा-विलास, (7) कुंज कौतुक तथा (8) वाराह संहिता।

इनके अतिरिक्त ध्यान-लीला भी इनका एक ग्रन्थ कहा जाता है जिसे निम्बार्क माधुरी में ब्रह्मचारी बिहारी शरण द्वारा संकलित किया गया है। साहित्य रत्नावली में भी रसिकदास के नाम पर उसका उल्लेख 266 नम्बर पर हुआ है। डॉ. गोपाल

दत्त शर्मा ने उनकी एक संस्कृत रचना 'गुरु परम्परा' का भी उल्लेख किया है जो हमारे लिए अप्रासंगिक है। इन आठ ग्रन्थों में 'रस सार' तथा राधावल्लभीय गो. रूपलाल के 'रस रत्नाकर' में इतना अधिक साम्य है कि यह शंका होती है कि इनमें में कम-से-कम एक अप्रामाणिक होगा। यों यह भी सम्भव है कि किसी अन्य संस्कृत की सिद्धान्त-पुस्तिका को भाषा में दोनों ही महानुभावों ने उपस्थित किया हो। 'भक्ति सिद्धान्त मणि' एवं 'रस सार' का प्रकाशन भी 'सिद्धान्त रचनाकर' के अन्तर्गत निम्बार्कीयों ने किया है।

स्वामी रसिकदास ने सखी सम्प्रदाय की वास्तविक आत्मा को मन से स्वीकार नहीं किया। ऐसा लगता है कि सम-सामयिक ब्रजलीला के गायक अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव में उन्होंने उस अनन्यता को खो दिया जो हरिदासी सम्प्रदाय की निधि थी। फुटकर छन्दों के स्थान पर सम्प्रदाय में पहली बार व्यवस्थित ग्रन्थ-रचना ही उन्होंने नहीं की, सैद्धान्तिक दृष्टि से भी वे व्यूह, आवरण, ब्रज-लीला, गोपी भाव, सखीनामावली आदि के स्वीकरण एवं वर्णन में निरत हो गये थे। अष्टाचार्यों की वाणी में संगृहीत इनके पद शुद्ध सखी भाव के प्रतिष्ठापक हैं। उनका उपयोग हम सम्प्रदाय के सिद्धान्त-विवेचन में कर आये हैं।

काव्य की दृष्टि से रसिकदास जी इस सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण कवि ठहरते हैं। ऐसा लगता है कि काव्य के अभिव्यंजना-पक्ष के प्रति इनका सचेष्ट ध्यान था। इसी कारण छन्दों और अलंकारों का ही व्यवस्थित प्रयोग तो हुआ है, भाषा भी अपेक्षाकृत परिमार्जित एवं समर्थ है। दोहा, चौपाई उनके सबसे प्रिय छन्द हैं तथा पद रोला छन्द का भी उन्होंने प्रयोग किया है। उनका यह रूपक भी अपने चमत्कार के लिए द्रष्टव्य है—

मन सीखी राधा अतर नखसिख भरी बनाइ।
ताहि देखत मोह्यों साँवरौ भँवर वासु लपटाय।।[15]

साम्प्रतिक नये काव्य में क्रियाशील बिम्बों को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। स्वा. रसिकदास द्वारा चित्रित यह बिम्ब भी गतिशीलता की व्यंजना में अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है—

जब पौढ़न को समयौ भयो।
इत आयी दुम की परछाईं उत ढरि चन्द गयौ।
उमरि ढरे दोउ सुरति सेज पर बाढ़्यौ रंग नयौ।
श्री रसिक बिहारी बिहारिनि पौढ़े अति सुख दृगनि दयौ।[16]

इस पद में उमगि ढरे जहाँ क्रिया और गति को प्रकट करता है, वहीं दूसरी पंक्ति प्रकृति के व्यापार को भी पूरी गतिशीलता में बिम्बित करने में समर्थ हुई है।

ऐसा लगता है कि स्वामी रसिकदास जी वास्तव में भीतर से कवि थे। सम्प्रदाय की अत्यन्त सीमित परिधि के भीतर उनकी सृजन-शक्ति पूरी तरह से

अभिव्यंजित नहीं हो पा रही थी, उस परिधि को तोड़कर उन्होंने लीला को विस्तार देना चाहा पर वह सम्प्रदाय में मान्य नहीं हुई—परिणामस्वरूप वह विस्तृति उनके साथ ही समाप्त हो गयी। उनके शिष्य स्वा. ललित किशोरी देव ने पुनः सम्प्रदाय की वास्तविक प्रणाली की स्थापना की। आगे हम रसिकदास जी के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं—

रसिक देव जी के ग्रन्थों का परिचय

(1) **भक्ति सिद्धान्त मणि**—सम्प्रदायानुमोदित भक्ति सिद्धान्तों का निदर्शन इस ग्रन्थ में है। भक्ति के मुख्य लक्षण, साधन, गुरु की मुख्य विशेषताएँ, शिष्य के लक्षण, धर्म-विवेक, पुण्य के कर्म, पाप-कर्मों के लक्षण और उनकी संज्ञा, भक्तों की कार्यावली, साधु लक्षण, नवधा भक्ति और जुगल किशोर आदि विषयों की विवेचना सरल एवं सहज रूप में इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। ग्रन्थ के अन्त में नित्यविहारोपासना का मार्मिक निरूपण हुआ है। इस प्रकार की साधना के लिए कवि का कहना है कि शिष्य को गुरु में अत्यन्त निष्ठा रखते हुए गुरु देव को श्री राधास्वरूप मानना चाहिए और स्वयं को मात्र सखी कल्पित करके श्रीकृष्ण चन्द्र जी को उपास्य एवं परमात्मतन्त्र स्वीकार करना चाहिए। यह ब्रजभाषा में चौपाई छन्द में लिखा गया है। बीच-बीच में दोहे हैं। कुल छन्द संख्या 100 है। सिद्धान्त विवेचन की दृष्टि से ग्रन्थ में मौलिकता एवं गहराई का अभाव है। लगता है कि इसका उद्दिष्ट पाठक मोटी अक्ल का भक्त है।

(2) **पूजा-विलास**—यह 20-25 पृष्ठों का छोटा-सा ग्रन्थ है। पूजा के विविध विधि-विधानों की संक्षिप्त पर सांगोपांग चर्चा इसमें की गयी है। यह भी दोहा-चौपाइयों में लिखा गया है जिनकी संख्या 108 है। पूजा-विधि के अतिरिक्त भक्ति के अन्य अंगों की भी चर्चा इसमें आयी है।

(3) **सिद्धान्त के पद**—इनमें वृन्दावन, ब्रजरज, राधा कृष्ण-सौन्दर्य, नित्य विहार, मान-वर्णन, संसार की असारता आदि पर फुटकर पद लिखे मालूम पड़ते हैं। पद अत्यधिक सरस एवं मधुर बन पड़े हैं। शृंगार के वर्णन भी अमर्यादित नहीं हैं। उपासना एवं इष्ट-स्वरूप को इनमें मुख्यतः व्यक्त किया गया है।

(4) **रस के पद**—निकुंज रस और दाम्पत्य प्रेम-लीला का सान्द्र वर्णन इनमें है।

(5) **भक्ति सिद्धान्त की साखी**—इस ग्रन्थ का वर्णित विषय प्रथम ग्रन्थ जैसा ही है। यह अष्टाचार्यों की वाणी में संगृहीत है।

(6) **कुंज कौतुक**—इसमें निकुंज लीलाओं का गान है। विविध कुंजों के माध्यम से ऋतुचर्या का भी नियोजन किया गया है। इसका छन्द रोला है और संख्या 111 है। इसमें सब मिलाकर 360 कुंजों की संख्या बतायी गयी है, जहाँ विहार होता रहता है।

(7) **रस-सार**—रसोपासना का अन्तरंग अर्थ इस ग्रन्थ में व्यक्त हुआ है। राधाकृष्ण की सापेक्षिक स्थिति, मार्ग की कठिनाइयाँ, काम और प्रेम का अन्तर, राधाकृष्ण का तात्त्विक स्वरूप, सखी-उपासना और उसके भेद, निकुंज-लक्षण और शोभा इस ग्रन्थ में अत्यन्त सहज स्वाभाविक रूप में वर्णित हुए हैं। इस ग्रन्थ में सब मिलाकर केवल 45 दोहे एवं चौपाइयाँ हैं।

(8) **गुरु मंगल यश**—अपने गुरु श्री नरहरि देव के प्रति यह उनकी श्रद्धांजलि है जिसमें उन्हें अगणित गुणों का आकर माना गया है। यह चार-चार चरण की 51 चौपाइयों का संग्रह है।

(9) **बाल-लीला**—वास्तव में बाल-लीला में भी श्यामा-श्याम के बीच के माधुर्यपरक भावों का ही चित्रण किया गया है। मधुर रस की प्रेरक एवं पुष्ट करने वाली अनेक प्रवृत्तियों, मुद्राओं, क्रीड़ाओं एवं बालचर्याओं का ही अंकन किया गया है। चौपाई एवं दोहों में यह भी लिखी गयी है। कुल छन्द संख्या 49 है।

(10) **ध्यान-लीला**—यह गुरु नरहरिदास, वृन्दावन धाम, राधा एवं सहचरीगण तथा नित्य विहार के ध्यान सम्बन्धी छोटी-सी पुस्तिका है।

(11) **वाराह संहिता**—उनकी महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें वृन्दावन रस, नित्य विहार लीला, बृहत वृन्दावन (जनपद) आदि का वर्णन किया गया है। वृन्दावन का पौराणिक एवं समसामयिक वर्णन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मूल वाराह संहिता को भाषा में संक्षिप्त रूप में उपस्थित करना ही इस ग्रन्थ का लक्ष्य ज्ञान होता है। यह भी 218 दोहा-चौपाइयों की छोटी-सी पुस्तक है।

(12) **रसार्णव पटल**—सखियों से घिरे हुए कर्णिकापट-स्थित युगल की नित्य विहार शोभा को चित्रित करने वाले इस ग्रन्थ को 84 रोला छन्दों में समाप्त किया गया है।

पीताम्बरदास (पीताम्बर शरण देव)

स्वामी रसिक देव के तीन प्रमुख शिष्यों में से एक पीताम्बरदास जी गुरु की मृत्यु के पश्चात् संवत् 1758 में रसिक बिहारी गद्दी के अधिकारी हुए। कहते हैं कि स्वामी ललित किशोरी देव एवं गोविन्द देव ने गुरु की साधना-प्रणाली से असन्तुष्ट होने के कारण यह गद्दी लेनी अस्वीकृत कर दी थी। इन्हीं पीताम्बरदास जी के शिष्य महन्त किशोरदास जी हुए जिन्होंने 'निजमत सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ लिखा है। वास्तव में निम्बार्क एवं हरिदासी सम्प्रदाय के सम्बन्ध को लेकर जो वाद-विवाद है, उसके जन्मदाता यही गुरु-शिष्य हैं। अपने पक्ष को प्रबल करने के लिए इन्होंने अपनी परम्परा निम्बार्क से जोड़ ली थी।

अस्तु, 'निजमत सिद्धान्त' के अनुसार नारनौल (शाहजहाँपुर) के रहने वाले चौबेलाल नामक गौड़ ब्राह्मण के पुत्र थे। इनका घर का नाम प्रयागदास था तथा

भाद्रपद कृष्ण 8 को वे जन्मे थे। किसी व्यापारी मनोहरदास के माध्यम से ये स्वामी रसिकदास के सम्पर्क में आ गये थे।

हमारे देखने में 'श्री पीताम्बर देव जी की वाणी' नामक एक ग्रन्थ आया है जिममें निम्नलिखित रचनाएँ संगृहीत हैं—(1) केलिमाल की टीका, (2) समय-प्रबन्ध, (3) गुरु-परम्परा नामावली, (4) गुरु मंगल, (5) सिद्धान्त और रस की साखी, (6) सिद्धान्त और रस के पद, (7) माँझ, (8) बधाई। इनमें से काव्य की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण चौथे और पाँचवें हैं, परन्तु सब मिलाकर पीताम्बर देव में काव्य का न तो अभिव्यंजनागत चमत्कार है और न गहरी भावात्मकता। परम्परा से प्राप्त लीलाओं या दृश्यों को उन्होंने उपस्थित किया है। इनमें से काव्य के वैभव की दृष्टि से कुछ ही अंश महत्त्वपूर्ण हैं। एक उदाहरण लें—

रस रस को रसकेलि रसिकदा रस की बनी बसन्त।
रसिक बनी रस की रस देख्यौ रसिक पीय रसवन्त।
रस के रंग अंग रसकीली रसिक आदि सब अन्त।
रस कों रसिक रसिकनी रस के रस कारण पीताम्बर कन्त।[17]

उन्होंने कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई, छप्पय, पद-सोरठा एवं माँझ आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। रचनाओं का मुख्य कथ्य गुरु-निष्ठा, नित्य विहार-वर्णन, गुरु-शिष्य का स्वरूप, भक्ति का स्वरूप, रूप-वर्णन, प्रिया-प्रियतम के अनुराग एवं केलि का चित्रण है।

पीताम्बरदास द्वारा लिखित 'केलिमाल की टीका' अत्यन्त विशाल तथा नित्य विहार को समझने में अत्यधिक उपयोगी है। पीताम्बर देव जी के व्यक्तित्व पर चाहे कोई आरोप लगते भी हों पर उनकी रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साधना की दृष्टि से वे सखी सम्प्रदाय की मूल आत्मा के निकट रहे। अपने गुरु रसिकदास के समान उन्होंने सम्प्रदाय के प्रकृत पथ को छोड़ा नहीं है। ललित किशोरी देव जैसी साधनानुभूति की तीव्रता उनमें अवश्य नहीं है, परन्तु निकुंज लीलाओं के गान में किसी प्रकार पीछे नहीं हैं। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि लीला का वैविध्य उनमें ललित किशोरी देव की अपेक्षा अधिक है। नीचे हम जुगल के शरद्-विहार सम्बन्धी कुछ दोहों को उद्धृत कर रहे हैं। इनमें पीताम्बर देव जी द्वारा चित्रित उज्ज्वल वर्ण की छटा दर्शनीय है—

स्वेत महल अति स्वच्छता, स्वेत सेज पट स्वेत।
पहिरे भूषन स्वेत छवि, निरखत दृष्टि अचेत।।
स्वेत चन्द्रमा चाँदनी, ताकी झलकति स्वेत।
सीतलता व्यापी तनहिं, स्वेत विपुन रसखेत।।
स्वेत मई फूली तहाँ, रजनी नवल नवेलि।
हरषि निरखि तन्मय रंगे, अद्भुत उज्ज्वल केलि।।

चन्द्रमनिन की कुंज मधि, उज्चल बसन बधारि।
उज्चल मुक्ताफलनि की, माला पहिरि सम्भारि।।
उज्चल भूषन सब किये, तन मन उज्चल रूप।
उज्चल मण्डल सरद निशि, अद्भुत सरस अनूप।।[18]

श्री ललित किशोरी देव

ललित किशोरी जी का स्थान सम्प्रदाय के इतिहास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वे श्रेष्ठ रचनाकार ही नहीं थे, सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक धारा के विपथगा हो जाने पर उसे पुनः समुचित पीठिका पर प्रतिष्ठित करने वाले साधक थे। इस दृष्टि से सम्प्रदाय में उनका स्थान विहारिणिदास के समकक्ष है। विहारिणिदास सम्प्रदाय की रीति एवं सिद्धान्तों के प्रथम व्याख्याता थे तथा ललित किशोरी जी दूसरे। वास्तव में स्वामी रसिकदास के युग में (और उनकी रचनाओं में भी) सखी-सम्प्रदाय की निराली रीति विलुप्त होकर ब्रज-रस के अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव में आ गयी थी। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि रसिकदास जी ने बाल-लीला, विवाह एवं विरह आदि का वल्लभ आदि सम्प्रदायों की भाँति ही वर्णन किया है जो कि सम्प्रदाय की आत्मा से मेल नहीं खाता। ललित किशोरी जी ने निधुवन ही नहीं छोड़ा, इस विकृत होती हुई साम्प्रदायिक रीति को पुनः परिशुद्ध किया। सम्भवतः निधुवन को छोड़कर टट्टी स्थान में आने के पीछे उनका यह सैद्धान्तिक मत-वैभिन्य भी रहा होगा। उनके इस कृतित्व की ओर बधाई लिखने वालों ने ध्यान दिलाया है। सिद्धान्त रत्नाकर में संगृहीत एक ऐसी ही बधाई में कहा गया है कि वे न प्रकट होते तो नित्य बिहार न प्रकट होता—

लोक वेद नवधा प्रसिद्ध सुख कौन तरै लीला अवतार।
कर्म धर्म की आस त्रास नित अति भैभीत बहत संसार।
लोभी लोग भोग के लालच पचि मरते विद्या आचार।
जो न प्रकटती ललित किशोरी तो न प्रगटतो नित्य विहार।

(सिद्धान्त रत्नाकर, पृ. 116)

उनके ही शिष्य शील सखी जी ने अपने 'आचार्य मंगल' में ललित किशोरी जी को स्वामी हरिदास का दूसरा रूप कहा है—

श्री ललित किशोरी कृपा सरूप, श्री स्वामी को दूजौ रूप।
सब रसिकन कौ है यह भूप, निर उपमा ये सहज अनूप।

ललित किशोरी जी का जन्म-संवत् निश्चित नहीं है पर सहचरी शरण की 'आचार्योत्सव सूचनिका' के आधार पर मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी सम्वत 1733 इनका जन्म-समय स्वीकार किया जाता है।

अपने गुरु रसिकदास जी के समय में ही वे अपना अधिकांश समय यमुना के किनारे बिताया करते थे। उनकी मुत्यु के पश्चात् वे स्वामी हरिदास का करुआ और गुदरी लेकर चले आये और एक पेड़ के नीचे रहने लगे। कुछ लोगों ने उस स्थान के चारों ओर टट्टियाँ लगा दी थीं, कालान्तर में उसी स्थान को टट्टी स्थान कहा जाने लगा। इनके शिष्य स्वामी ललित मोहिनी देव के काल में इस स्थान की अत्यधिक उन्नति हुई। संवत् 1758 में वे इस स्थान पर आये थे एवं संवत् 1823 में उनकी यहीं पर मृत्यु हुई।

आपका पहला नाम गंगाराम था तथा भदावर प्रदेश के हथकान्ति गाँव में माथुर ब्राह्मणों के यहाँ उत्पन्न हुए थे। जगन्नाथ पुरी में स्वामी हरिदास की महिमा सुनकर वृन्दावन आ गये और यहाँ पर स्वामी रसिक देव जी के शिष्य हुए। इनका दीक्षा-नाम ललित किशोरी रखा गया। ब्रज-रज से ही वे सन्तुष्ट नहीं हुए और हरिदासी साधना का मर्म जानकर ही इन्हें सुख मिला। इस मर्म को उन्होंने प्राचीन वाणियों के अध्ययन से उपलब्ध किया था। वे बड़े ही त्यागी एवं भक्त थे। इसी त्यागवृत्ति के वशीभूत होकर वे निधुवन के पीठ को छोड़कर यमुना के किनारे आ गये थे। आपके वाणी और 'वचनिका' दो ग्रन्थ हैं तथा सम्प्रदाय के अनुकूल नित्य विहार की भावना को ही आपने अपनी रचनाओं में मुख्य रूप से अपनाया है। उसी के अन्तर्गत आने वाले विविध विषय, जैसे—वृन्दावन महिमा, सखी भाव, जुगल स्वरूप की महता, सिद्धान्त-वर्णन, साम्प्रदायिक आचार, विधि-निषेध एवं मर्यादा को उन्होंने अपनी कृतियों से स्पष्ट किया है। प्रारम्भ में स्वामी हरिदास की वन्दना है। फिर अन्य आचार्यों का स्मरण किया गया है। तदनन्तर अन्य विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

अष्टाचार्यों की हमें उपलब्ध वाणी में इनकी रचना का परिणाम विपुल है। उसमें 328 साखियाँ, 4 कवित्त सवैये, 107 सिद्धान्त के पद, 108 रस के पद एवं बधाइयाँ संकलित हैं। साखियों में केवल दोहे ही नहीं हैं, अरिल्ल, सवैया एवं चौबोला भी संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त भी उनका साहित्य उपलब्ध है। डॉक्टर गोपालदत्त जी के अनुसार सब मिलाकर लगभग 1200 साखियाँ, 50 रस की चौपाइयाँ, 130 सिद्धान्त के पद, 147 रस के पद तथा 25 बधाई के पद प्राप्त होते हैं।[19] वृन्दावन में एक स्थान पर हमें फ़ारसी लिपि में उनकी साखियों का एक संग्रह देखने को मिला था परन्तु इस लिपि से अनभिज्ञ होने के कारण हम उस संग्रह का अधिक उपयोग नहीं कर सके तथा उसकी प्रामाणिकता का भी ठीक निश्चय नहीं हो सका। उनका वचनिका ग्रन्थ वास्तव में मौखिक उपदेशों का संग्रह है जिसे शिष्यों ने संगृहीत किया था। उसे किन्हीं वंश गोपाल ने दोहा-चौपाइयों में परिवर्तित कर दिया। टट्टी स्थान से ब्रजभाषा गद्य में 'वचनिका सिद्धान्त' का प्रकाशन हो चुका है। इस ग्रन्थ में उनकी 133 सूक्तियों का संग्रह है। इसी में अपने शिष्य ललित मोहिनी देव को दिये जाने वाले 8 निर्देश भी अन्त में दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) प्रसाद की प्रनीति (प्रसाद का महत्त्व)
(2) रज सों भवि (वृन्दावन रज का महत्त्व)
(3) कण्ठी तिलक कौ भाव (साम्प्रदायिक चिह्नों की महत्ता)
(4) श्री वृन्दावन सों बाहर निकसिवे को मनोरथ न करें (वृन्दावन अनन्यता)
(5) कोउ चींटी पर्यन्त दुखावै नहीं (अहिंसा)
(6) स्वामी हरिदास जी की वाणी में प्रतीति (स्वामी हरिदास में निष्ठा)
(7) कोउ सों माँगे नहीं (अयाचन)
(8) इष्ट सों रति (उपास्य के प्रति अनन्य प्रेम-भावना)

श्री ललित किशोरी जी का काव्य उत्कृष्ट कोटि का है। वे सखी-सम्प्रदाय के श्रेष्ठतम कवियों में परिमाण एवं गुण, दोनों ही दृष्टियों में परिगणनीय हैं। सिद्धान्त-कथन की अनन्यता एवं वास्तविकता ही उनमें नहीं है, साधनगत अनुभूति की तीव्रता एवं निष्ठा उनमें अत्यन्त संवेगात्मक स्तर पर प्रकट हुई है। राधा का रूप-वर्णन सैकड़ों कवियों ने किया है, पर ललित किशोरी देव का स्वर अपना ही है। यह रूपक द्रष्टव्य है–

राधे रूप रसाल, क्षण-क्षण उठत तरंग प्रति।
अद्‌भुत नैन विशाल, ललित किशोरी प्राण है।

गुलाब की यह रंगारंग कली जिस भ्रमर के संकेत से विकसित होती है, वह भ्रमर किसी विदग्ध कवि की ही सृष्टि हो सकता है। महत्त्व की बात रूपक अलंकार मात्र कह देना नहीं है, बल्कि उन सारे अनुषंगों को ध्यान में रखना है जो इस चित्र से मन में उठते हैं। भ्रमर के संकेत की गत्यात्मकता में छिपा गहन रतिभाव, क्षण-क्षण खुलने और बन्द होने में सौन्दर्य की जिस चपलता व अनुराग की विह्वलता तथा विविध रंगों से रंगी जो चित्रात्मकता उपस्थित होती है, वह अन्यत्र विरल है–

विकसित कली गुलाब की श्याम भ्रमर संकेत।
खिन विकसित खिन बँध करि, अरुण असित पित खेत।

निम्नांकित पद में कृतज्ञता की भावना द्रष्टव्य है–

लडैती तेरी कृपा कही नहि जाई।
छिन-छिन प्रति अति तोषति आनन्द उर न समाई।
अपनी कहि-कहि रंग बढ़ावत हंसि-हंसि कण्ठ नलाई।
श्री हरिदासी रसिक सिरोमनि छके रहै महा भाई।

(सिद्धान्त के पद, 80)

बनीठनी जी

किशनगढ़ के प्रसिद्ध भक्त नरेश महाराज सावन सिंह (नागरीदास) की उपपत्नी बनीठनी जी थीं। अपने प्रिय के साथ ही वे भी वृन्दावन आ गयी थीं तथा हरिदासी

सम्प्रदाय में स्वा. रसिकदास जी से उन्होंने वैष्णवी दीक्षा ले ली। यह भी यहीं पर द्रष्टव्य है कि स्वयं नागरीदास जी वल्लभ कुल के शिष्य थे तथा निम्बार्क मत से अत्यधिक प्रभावित थे, परन्तु बनीठनी जी ने रसिकदास जी से दीक्षा ली—यह उस समय की उदार मनोवृत्ति का भी द्योतक हो सकता है तथा रसिकदास की समन्वित ब्रज रस-पद्धति के कारण भी सम्भव है। उनके जीवन के सम्बन्ध में अन्य कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं है परन्तु उनकी समाधि पर जो छतरी बनी हुई है, उससे यह अश्वय ज्ञात होता है कि अषाढ़ शुक्ल 15, संवत् 1822 में उनका स्वर्गवास हुआ था। अपने पति एवं गुरु के प्रभाव में लिखी गयी उनकी जो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, उनमें हरिदासी सम्प्रदाय का विशुद्ध नित्य विहार चित्रित नहीं हुआ बल्कि ब्रज लीलाओं एवं गोपी भाव का ही चित्रण हुआ है।[20] उनके पदों की संख्या भी अधिक नहीं है। 'रसिकबिहारी छाप' से उन्होंने जो थोड़ी रचना की है, काव्य-गुण की दृष्टि से वह बहुत समृद्ध न होने पर भी इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि मध्यकाल के वातावरण में एक निष्ठावान भक्त नारी के वे उद्गार हैं। उनकी रचना के दो उदाहरण हम दे रहे हैं। रचना में ब्रजभाषा के साथ ही राजस्थानी शब्दों का भी प्रचुर उपयोग हुआ है—

रंगि रह्या युगल रूप रंग मोही।
कुंज महल में दर्पन साम्हे दिया रहै गलबाहीं
कदेक सम्भ्रम स्यामा रै नीड़ै स्याम छताहीं।
कदेक रीझि रहै रसिक बिहारी देखि-देखि परछाँहीं।
ये बसुरिया बारे ऐसे जिन बतराय रे।
यों न बोलिये और घर बसे लाजनि दबि गयी हाय रे।
हौं धाई या गेलहिं सों रे नैंक चल्यौ धौ जाय रे।
रसिक बिहारी नाँव पाय के क्यों इतनो इतराय रे।[21]

रूपसखी जी

रूपसखी जी का लौकिक परिचय कुछ भी ज्ञात नहीं है, परन्तु उनके द्वारा रचित साहित्य का परिमाण विशाल है। सिद्धान्तों के पदों में ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वामी रसिकदास जी के शिष्य थे[22] तथा ललित किशोरी देव जी का समकालीन माना जा सकता है। ललित किशोरी जी का समय संवत् 1758 से 1823 तक है। अतः विक्रम की 18वीं शती के उत्तरार्द्ध ही रूपसखी जी का समय भी माना जा सकता है। स्वामी रसिकदास के प्रति उनके मन में अत्यधिक श्रद्धा थी। उनकी अनेक बार उन्होंने स्तुतिमूलक चर्चा की है। एक स्थान पर उन्हें श्री हरिदास स्वामी की गादी प्रकट करने वाला बताया गया है।[23] दूसरे स्थान पर उन्हें रसिकों में शिरोमणि एवं

भूप की संज्ञा दी गयी है।[24] आगे उन्होंने पुनः सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों की चर्चा करते हुए सुख की राशि कहा है।[25] ये अंश भी रसिकदास का शिष्य होना ही सूचित करते हैं। पर सम्भवतः इसके बाद शीघ्र ही रसिकदास जी का गोलोकवास हो गया होगा तथा सम्प्रदाय के आचार्य-पीठ पर ललित किशोरी जी विराजमान हुए होंगे। सम्प्रदाय इस समय अनेक भागों में बँट जाता है, ललित किशोरी देख टट्टी स्थान की स्थापना करते हैं। बहुत सम्भव है कि रूपसखी जी टट्टी स्थान पर ललित किशोरी जी के साथ ही आ गये हों। एक दोहे में उन्होंने ललित किशोरी जी की ही कृपा से नित्य विहार प्राप्त करने की बात कही है।

रूपसखी जी की सिद्धान्त-सम्बन्धी वाणी 'निम्बार्क-शोध-मण्डल' के संग्रह ग्रन्थ 'सिद्धान्त रत्नाकर' में प्रकाशित हो गयी है। इसमें 157 पद, कवित्त, सवैये तथा 92 साखियाँ संगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त उनके लगभग 900 रस के पद एवं कवित्त-सवैये 'निम्बार्क-शोध-मण्डल' के संग्रहालय में प्राप्य हैं।

रूपसखी जी मध्यम कोटि के अच्छे कवियों में ज्ञात होते हैं। सीधी-सादी एवं सरल भाषा में उनके भक्तिपूर्ण हृदय की अभिव्यंजना हुई है। कलागत परिपक्वता, वाग्वैदग्ध्य अथवा चित्रात्मकता या अलंकृत अभिव्यक्ति की ओर उनका अधिक ध्यान प्रतीत नहीं होता, परन्तु हृदय की सहज भावना उनमें बहुधा तीव्र रूप से फूट पड़ी है। श्री हरिदासी की सेविका रूपसखी कुंज के द्वार पर खड़ी है, श्याम उनसे बार-बार बात पूछते हैं, उस समय वे जब अपना परिचय देते हैं, वह उनकी निष्ठापूर्ण भावना का श्रेष्ठ निदर्शन है—

रूप गुन भरी प्रिया पाइनि पलोटति हो,
उनही के नाते ए जू तुम तन हेरी हौ।
परम प्रवीन लवलीन होतो धीर धरो,
अरज करोगी स्याम स्यामा तन नेरी हौ।
मति अकुलाउ हाउ भाव निजुचाव चहौं,
नाना गति मति चारु चकरीलो फेरी हौ।
बार-बार कहा कुंज द्वार बात पूछति हो,
स्वामी हरिदास की खवासिन की चेरी हौ।

(रूपसखी की वाणी, कवित्त 117, पृ. 24
सिद्धान्त रत्नाकर)

यों यत्र-तत्र उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, यमक एवं अनुप्रासादि की योजना भी मिल जाती है, पर उस ओर कवि सचेष्ट नहीं है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वे प्रवृत्या भक्तिकाल के अधिक निकट हैं, न कि रीतिकाल की अलंकृति के।

शील सखी

शील सखी जी का परिचय उपलब्ध नहीं है। 'सिद्धान्त रत्नाकर' की भूमिका में श्री गोविन्द शर्मा ने उन्हें माथुर चौबे कहा है।[26] पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं है। आचार्य मंगल के अन्त में जो "दो चार सिष्यन के जस" दिया हुआ है, उसका अन्तिम दोहा स्यामदास के बारे में है एवं उससे यह प्रतीत होता है कि स्यामदास जी माथुर चौबे थे, न कि शील सखी। दोहा यों है–

माथुर कुल को मुकुट मणि, जगमगात चहुँ ओर
मानु ज्योति जिमि-द्रगन में, उलुक अन्ध भये चोर।[27]

सम्भवतः इसी आधार पर उन्हें चौबे कहा गया है। पर इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि कोई भी लेखक अपने को अपने कुल का मुकुटमणि नहीं कहता; दूसरे यह दोहा स्यामदास जी के प्रसंग में ही आया है।

'आचार्य मंगल' ग्रन्थ से इतना सिद्ध होता है कि वे ललित किशोरी जी के शिष्य थे। ग्रन्थ में सम्प्रदाय के आचार्यों का (स्वामी हरिदास से ललित किशोरी देव तक) तथा ललित किशोरी जी के दो-चार प्रमुख शिष्यों के गुण, शील-साधनादि की स्तुत प्रशंसा की गयी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में गुरुभक्ति की अपूर्व निष्ठा प्राप्त होती है। शीलसखी जी का ध्यान काव्यकला की ओर भी तनिक भी नहीं था। छन्द उनके लिए गुरुनिष्ठा व्यक्त करने का माध्यम मात्र है। शील सखी में भी भक्ति भाव का अनाविल स्रोत विद्यमान था–

लाड़िली की विनोद किधौ प्रीतम कौ प्रेम नित्य,
सरस गुन गर्व रस चाहन समेत हैं।
सेज को सुबास किधौं रंग कौ विलास,
आली सुख कौ निवास मन आनन्द निकेत हैं।
रूप की निकुंज सोभा फूली हाव भावन सों,
चाव चित्त चातुरी कौ आतुर अचेत हैं
ललित किसोरी रूप प्रगटी कृपा अनूप,
रसिक अनन्यनि के आनन्द के हेत हैं।[28]

चरणदास जी

स्वामी रसिक देव के ही शिष्य चरणदास थे। स्वामी रसिक देव की मृत्यु संवत् 1758 में हुई थी, अतः इसके पूर्व ही उन्होंने दीक्षा ले ली होगी। इस प्रकार चरणदास जी का जन्मकाल विक्रम की 18वीं शती का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जा सकता है। इनके रचे हुए चार ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं–

(1) शिक्षा प्रकाश, (2) भक्तिमाला, (3) रहस्य दर्पण, (4) रहस्य चन्द्रिका। नागरी प्रचारिणी सभा की हस्तलिखित ग्रन्थों की सन् 1924 की खोज रिपोर्ट में सं. 37 पृ. 51 पर इनका उल्लेख हुआ है। रिपोर्ट के अनुसार इनका रचनाकाल संवत् 1753 से 1761 के बीच रहा है जो अनुचित नहीं प्रतीत होता। उस रिपोर्ट के अनुसार ये ग्रन्थ बाई इन्दु कुँवारी एवं बाई श्यामादासी के लिए लिखे गये थे।

चरणदास जी के ग्रन्थों में सखी भावानुसार नित्य केलि का सहज और प्रवाहपूर्ण वर्णन हुआ है। अपने कथ्य की ओर संकेत करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है—

श्री ललिता हरिदास नित सहचरि कुंजन केलि।
तिनकी कृपा मनाय कहूँ, कछु दम्पति रस केलि।।
बहु दम्पति रस केलि, कहत हौ वर विहार की।
विहरत कुसुमित कुंज सेव्य तित कोटि मार की।
तहाँ अखण्डित बहत, प्रेम पूरि सुख सरिता।
नेह-नाव सेवक प्रवीन हरिदासी ललिता।

(रहस्य चन्द्रिका)

किसी के आग्रह पर ग्रन्थ लिखने की परिपाटी रीतिकाल का प्रभाव भी मानी जा सकती है।

18वीं शती में राधावल्लभ-सम्प्रदाय का ब्रजभाषा-काव्य : पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

काव्य के परिमाण की दृष्टि से राधावल्लभ सम्प्रदाय का महत्त्व अत्यधिक है। वल्लभ सम्प्रदाय को छोड़कर अन्य किसी सगुणोपासक सम्प्रदाय में इतनी प्रभूत मात्रा में साहित्य नहीं लिखा गया। राधावल्लभ सम्प्रदाय यों तो निकुंज-लीला का रसोपासक सम्प्रदाय है, परन्तु प्रारम्भ में ब्रज लीला का भी किंचित् समावेश उसमें रहा है। सेवक जी एवं ध्रुवदास जी ने उसे पूरी तरह निकुंजोपासक विचारधारा में ढाल दिया। ध्रुवदास जी इस सम्प्रदाय के अत्यधिक समर्थ कवि हुए हैं। उनका समय 17वीं शती का अन्तिम चरण है। संवत् 1700 के आस-पास उनकी मृत्यु हो गयी थी।[29] इस प्रकार हमारे आलोच्य काल के प्रारम्भ में ध्रुवदास जी द्वारा स्थापित निकुंज लीला प्रेम के उदात्त स्वरूप की सशक्त परम्परा प्राप्त होती है। परिणामतः 18वीं शती के राधावल्लभीय सम्प्रदाय के भक्तों का साहित्य सखी भाव एवं वृन्दावन रस की शुद्ध भूमि पर बना रहता है, परन्तु रसिकदास जी गौड़ीय वैष्णव छाया ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। उन्होंने गौड़ीय वैष्णवों कतिपय ग्रन्थों के भाषानुवाद भी किये थे। इसके पश्चात् 18वीं शती के अन्तिम हिस्से में प्रभाव-ग्रहण की यह प्रकिया और अधिक तीव्र हो जाती है। गो. रूपलाल जी में यह गौड़ीय प्रभाव और अधिक स्पष्ट हो

जाता है तथा 19वीं शती के प्रारम्भ में चाचा हित वृन्दावनदास ब्रज-लीलाओं का भी जमकर गान करते हैं। साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि हित हरिवंश, हरिराम व्यास एवं ध्रुवदास ने अपने समसामयिक जनों को प्रभावित भी किया है। गौड़ीय वैष्णव प्रियदास (भक्तमाल के टीकाकार) ने अपने अनन्य मोदिनी ग्रन्थ में हरिराम व्यास के 11 पद प्रमाण के रूप में उद्धृत किये हैं।[30]

रसिकदास : कवि-परिचय

राधावल्लभ सम्प्रदाय में पाँच व्यक्तियों का रसिकदास नाम से उल्लेख प्राप्त होता है। हमारे उल्लेख्य रूपरसिकदास का 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जन्म हुआ था। उनकी रचनाओं पर दिये हुए संवतों से ज्ञात होता है के संवत् 1743 से 1753 तक इनका रचनाकाल रहा है।[31] इनकी लिखी बीस लताएँ, श्री हिताष्टक, रस कदम्ब-चूड़ामणि तथा कुछ फुटकर पद हैं। गोस्वामी धीरीधर के वे शिष्य थे तथा प्रसादलता में उनका सश्रद्ध भाव से उल्लेख किया गया है। रसिकदास जी संस्कृत के भी विद्वान थे तथा उन्होंने संस्कृत वर्णवृत्तों का संस्कृत-पदावली के साथ उपयोग किया है।

'रस कदम्ब चूड़ामणि' में पौराणिक और तान्त्रिक ढंग पर वृन्दावन का चित्रण किया गया है। 'लता' नाम से अभिहित ग्रन्थों में रूप-चित्रण, युगल-विहार प्रेमाभिलाष आदि का वर्णन है। लताओं के नाम अपने प्रतिपाद्य का संकेत देते हैं, जैसे सौन्दर्य लता में राधाकृष्ण की छवि का आकलन है। (रीतिकाल की छाया यहाँ भी देखी जा सकती है) यद्यपि उनमें वाणीगत नवीनता का अभाव है पर अपने विषय और भावना का सरस चित्रण अवश्य किया गया है—

कहा अनंगी धनुष सम भू भंगी नव बाल।
जाकी भंगी में नचत नवल त्रिभंगीलाल।
आहिं मैन खरसान ये कुण्डल कहौं न बैन।
तीछन अनियारे भये जिन सो लगि-लगि नैन।

(सौन्दर्य लता)

को सरबेसर की रही छवि-सर लागत नेज।
बेधत मोहन मन मृगहिं समर खेत सुकि सेज।

(माधुर्य लता)

प्रेम के विलास साँझ भूलि जाँहि भोर साँझ,
सोह गये वे सम्भार वसनन परिहर।
कहूँ चीर चीरा कहूँ अंग-अंग राजे दुहुं,
मुक्ता हार रहे हियन पर करहर।
गजरा खुलि किंकनी भुरी चुरी नीलमनी,

डरी परी झलकैं सेज केसु तरहर।
ललिता जू लै बुलाय करि कर में देवभाइ,
सोभा मेरी देखें शौंभा को न सरवर।

(गो. रूपलाल के हस्तलिखित संग्रह से)

नाथ रूप सिंगार वर नाना छवि उल्लास।
नाना गुन रस प्रेम कल पूरण आनन्द रास।

(रास कदम्ब चूड़ामणि)

रसिकदास के ग्रन्थों की सूची–

(1) प्रसाद लता, (2) मनोरथ लता, (3) मनोरथ लीला, (4) अभिलाष लता, (5) सौन्दर्य लता, (6) माधुर्य लता, (7) सौभाग्य लता, (8) विनोद लता, (9) तरंग लता, (10) विलास लता, (11) सुखसार लता, (12) अद्‌भुत लता, (13) कौतुक लता, (14) रहस्य लता, (15) रतन लता, (16) अतन लता, (17) रति रंग लता, (18) हुलास लता, (19) आनन्द लता, (20) चारुलता, (21) सुक सारी लता, (22) रस कदम्ब चूड़ामणि, (23) रस कदम्ब चूड़ामणि द्वितीय भाग।

दोहा, कवित्त, सवैया आदि प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त संस्कृत वर्णवृत्तों का भी आपने उपयोग किया है। मनोरथ लता में तो वर्णवृत्त ही नहीं भाषा-शैली पर भी संस्कृत का गहरा रंग है। रसिकदास में भक्त एवं रीतिसिद्ध कवि का समन्वय मिलता है।

गो. गुलाबलाल जी

19वीं शती के मध्य भाग में विद्यमान गो. गुलाबलाल जी द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या 37 बताई जाती है।[32] उनकी सम्पूर्ण वाणी की प्रति गो. रूपलाल जी के यहाँ विद्यमान है। गुलाबलाल जी 18वीं शती के राधावल्लभीयों में प्रमुख हैं। यद्यपि उनकी वाणी में रीतिकाल के प्रभावान्तर्गत चमत्कार व कौशल का अतिरेक नहीं हुआ है, पर वैराग्य, उपासना और नित्य विहार का साफ सुथरी ब्रजभाषा में चित्रण खूब उपलब्ध होता है। कश्य की दृष्टि से उनकी वाणी में सिद्धान्त एवं रस, दोनों ही प्राप्त होते हैं। उनकी वैराग्य-भावना का सूचक निम्न कवित्त इस कथन को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है–

कर्मन कौ कहैं ते तो भर्म भव परिबे को,
एक एकादशी सोप्रसाद सौ सदा अरै।
तीरथ मैं वासना उपासना न नित्य कहूँ,
अहो अब जीव या प्रवाह में सो क्यों तरे।

ग्रह और ग्रहिनी सुत बन्धु मित्र दुष्ट जान,
ज्यों-ज्यों मेरी के त्यौं नर्कन में जा परै।[33]
एहो हरिवंश एक करुणा विचारिये जू,
हित सौं गुलाब मन तै छवि ना टरै।

उनके ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है–

(1) प्रार्थनाष्टक, (2) अनन्य सभामण्डल, (3) मंगल आरती, (4) लाड़िली वर्णन, (5) श्याम वर्णन, (6) जुगल वर्णन, (7) न्यारी भावना, (8) वर्षोत्सव के पद, (9) पत्री, (10) पंचाध्यायी, (11) अनन्याष्टक, (12) हिंडोला, (13) पत्री सेवक कूँ, (14) अनन्य रीति, (15) गुरु प्रताप, (16) मात-पिता सुख, (17) प्रसाद निष्ठा, (18) आचार्य अर्थ, (19) अनन्य सभा मिलन, (20) दृढ़ निश्चय, (21) सनेह सिद्धान्त, (22) साधु लक्षण, (23) सिद्धान्त सुख, (24) आनन्द सेवक चेतावनी, (25) वेद चेतावनी, (26) रेखता, (27) स्फुट पद, (28) भक्त दुख मोचन, (29) हृदय सिद्धान्त, (30) श्री हित प्रताप, (31) श्री वृन्दावन प्रताप, (32) यमुना प्रताप, (33) नाम प्रताप, (34) श्री गुरु प्रणाली, (35) इतिहास नाट्य को, (36) इतिहास वेदन को, (37) सम्प्रदायार्थ।

इनमें से प्रथम 13 रस ग्रन्थ हैं, शेष सिद्धान्त ग्रन्थ या सम्प्रदाय के इतिहास से सम्बन्धित हैं। अधिकांश ग्रन्थ कतिपय पदों के संकलन मात्र हैं।

अनन्य अली

उन्होंने अपने 'स्वप्न विलास' नामक ग्रन्थ में अपने बारे में जो कहा है, उससे जन्म-संवत् का तो पता नहीं चलता पर यह ज्ञात होता है किसी राधा-वल्लभीय कुल में उनका जन्म हुआ था। 8 वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने सम्प्रदाय की दीक्षा ले ली थी तथा संवत् 1759 में अपने गुरु गोविन्द लाल जी के साथ वृन्दावन चले आये थे। इनका घर का नाम भगवानदास था तथा जाति से वैश्य प्रतीत होते हैं, बीस वर्ष की आयु में वृन्दावन आये थे। अतः 1739 उनका जन्म-संवत् ठहरता है। आपके लिखे 79 ग्रन्थ कहे जाते हैं।[34] ये ग्रन्थ 'अनन्य अली' की वाणी के नाम से संकलित हैं। इनका रचनाकाल संवत् 1759 से 1790 तक है। 1790 वि. के आसपास उनकी मृत्यु हुई। ग्रन्थों की एक हस्तलिखित प्रति गो. मनोहरलाल जी अहमदाबाद के पास सुरक्षित है। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार इनके पदों की संख्या 6000 के लगभग होगी।[35] सिद्धान्त प्रतिपादन और रसमभक्ति का शृंगारपरक शैली में आपकी वाणी में विवेचन किया गया है। छन्द-रचना में अत्यधिक प्रवीण हैं। प्रसाद और माधुर्य गुण उनकी रचनाओं में प्रचुर मात्रा में हैं। व्यापार सम्बन्धी

रूपक उपमाएँ, उत्प्रेरण रचनाओं में खूब मिलती हैं।

चित डाँडी पलरा नयन प्रेम डोरि सों बांनि
दियौ तराजू लेहु कर तौल रूप मन सानि।

(आशा अष्टक)

उनके ऋतु-वर्णन, नखशिख-वर्णन (सहस्राधिक दोहे) पर रीतिकालीन शृंगार-परम्पराओं का गहरा प्रभाव है।

परसन को कर तरसहीं दरसन दृग चपलाइ।
होड़ परी भुज नैन सौं लम्पट अति तरलाइ।[36]

युगल प्रेम विहार के अतिरिक्त आपकी रचनाओं में बृन्दाबन महिमा, गुरु महिमा, नाम प्रताप, सखी स्वरूप आदि पर भी सामग्री प्राप्त होती है।

उनके ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है–

(1) स्वप्न विलास, (2) जीव प्रकार, (3) मन विनती लीला, (4) आशा अष्टक, (5) श्री हरिवंशाष्टक, (6) श्री बृन्दाबनदास की प्रथम अवस्था, द्वितीय अवस्था, तृतीय अवस्था, चतुर्थ अवलोकन अवस्था, (7) चरणप्रताप लीला, (8) श्री क्रीड़ा सर लीला, (9) प्रतिबिम्ब लीला, (10) श्री लाड़िली जू की नामावली, (11) श्री लाल जू की नामावली, (12) श्री हित हरिवंश जू की नामावली, (13) बृन्दाबन रजधानी लीला, (14) वंशी विलास लीला, (15) परिचर्या विलास लीला, (16) षट-ऋतु लीला, (17) स्वप्न लीला, (18) रहसि बचन विलास लीला, (19) सुरतान्त विलास लीला, (20) मंगल विनोद लीला, (21) कुंज विलास लीला, (22) स्नान विलास लीला, (23) सिंगार विलास लीला, (24) जुगल सभा विनोद लीला, (25) राजभोग लीला, (26) उत्थायन समय विलास, (27) सन्ध्या समय विलास, (28) शयन समय विलास, (29) सज्जा समय विलास, (30) वसन्त ऋतु लीला, (31) ग्रीष्म ऋतु लीला, (32) पावस ऋतु लीला, (33) शरद ऋतु लीला, (34) शिशिर ऋतु लीला, (35) हिम ऋतु लीला, (36) फूल रचना विलास, (37) झीने चीर शोभा विलास, (38) चन्द चित्र, (39) महाशीतल विनोद विलास, (40) चंग खेल विलास, (41) जल नौका विलास लीला, (42) जल विहार लीला, (43) चरन अष्टक, (44) नवल जुगल विनोद लीला, (45) ब्याह विनोद लीला, (46) चौपर खेल लीला, (47) शतरंज खेल विलास, (48) थल नौका खेल लीला, (49) गेंद खेल लीला, (50) भड्डू खेल विलास लीला, (51) आँखमिचौनी खेल अपूर्ण, (52) वचन विलास, (53) हास विलास, (54) विरह विलास, (55) मंगल विलास लीला, (56) छवि चन्द्रावलि लीला, (57) संजोग विलास, (58) लज्जा विलास, (59) मान विलास, (60) दान विनोद लीला, (61) रूप विलास, (62) सेवा विलास, (63) छवि लता, (64) ललिता लता विलास लीला, (65) माधुरी लता विलास लीला, (66) रवमी लता विलास लीला, (67) लावण्य प्रभा

विलास लीला, (68) कंचनलता विलास लीला, (69) चन्द्रलता लीला, (70) मृदुता विलास लीला, (71) सुकुमारिता की सीमा, (72) मोहनता की सीमा, (73) नवल विलास लीला, (74) विमल विलास लीला, (75) सौरभ विलास लीला, (76) चातुर्य विलास लीला, (77) भक्ति विलास लीला, (78) नेत्र विलास लीला, (79) दरस विलास लीला, (80) फुटकर दोहे।

हित अनूपजी एवं वंशीधरजी

18वीं शती के आरम्भ में अनूप जी का जन्म सहसबान जिला बदायूँ में हुआ था। वे किशोरावस्था में ही कुटुम्ब के साथ वृन्दावन चले गये थे। 'माधुर्य विलास' नामक एक अपूर्ण ग्रन्थ इनका प्राप्त होता है जिसे इनकी मृत्यु के उपरान्त उनके मित्र वंशीधर जी ने 1773 में पूरा किया। यह भी गो. कमल नयन जी के शिष्य थे। इसके पूर्वार्द्ध-291 दोहा-चौपाइयों में भगवान के माधुर्य-विलास का विवेचन किया गया है। इस विलास के वपु, सौन्दर्य, सजाति और मैन सम्बन्ध के आधार पर चार भेद होते हैं जिनसे क्रमशः आत्मता-रस, रूप-रस सख्य-रस' एवं शृंगार रस निष्पन्न होते हैं। शृंगार रस के प्रसंग में अनूप जी ने स्वकीया-परकीया नायिकाओं के विविध भेदों का वर्णन किया है। (इस वर्णन में काव्यशास्त्र एवं रूप गोस्वामी का प्रभाव द्रष्टव्य है)। पूर्वार्द्ध में ही ब्रज-वृन्दावन का मनोरम चित्रण भी हुआ है तथा रसिक उपासकों की तीन अवस्थाओं आदि, मध्य और प्रगल्भ को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचित भी किया गया है। सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से यह ग्रन्थ गहन और मौलिक है तथा ब्रजभाषा में हुए सिद्धान्त-विवेचनों में श्रेष्ठ निरूपणों में से एक माना जा सकता है।

उत्तरार्द्ध में वंशीधर जी ने इन स्थापनाओं के (हित अनूप जी के विचारानुसार) उदाहरण दिये हैं जो अनूप जी की अपेक्षा कम शक्तिपूर्ण हैं। यहाँ पर लक्षण एवं उदाहरण वाली काव्यशास्त्रीय परिपाटी हमें उपलब्ध होती है।

9 अर्द्धालियों के बाद एक दोहा वाला क्रम भी स्वीकार हुआ है। इस दिशा में सूफ़ियों एवं तुलसी के स्पष्ट प्रभाव हैं। धाम प्रभाव का दिग्दर्शक एक दोहा देखें—

धाम नाम मुख उच्चरत हित अनुप सुनि बात।
नख शिख तैं सब गात के अंग-अंग घिरि जात।

माधुर्य विलास की यह परिभाषा भी देखिये—

ईश्वरता ब्रह्मत्व जहाँ नहीं लवले कोऊ त्रास।
केवल लीलका लोकवत सो माधुर्य विलास।

इस कथन पर ब्रह्मसूत्रों के लीला लोकवतुकेवल्यम् का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

चन्द्रसखी

विक्रम की 18वीं शती के आरम्भ में विद्यमान थे।[37] राधावल्लभ सम्प्रदाय के बालकृष्ण के वे शिष्य थे। उनके पदों में बालकृष्ण की छाप भी मिलती है। उनकी फुटकर रचनाएँ ही प्राप्त होती हैं, उनके कुछ लोकगीत हैं और कुछ भक्तकवियों जैसे पद हैं। पदों में बृन्दाबन-महिमा, बसन्त, होली, रास आदि लीलाएँ युगल-छबि और प्रेमासक्ति का ही सरस वर्णन हुआ है। लोकगीतकार और भजनकार के रूप में उनके नाम से प्रचलित रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है। उनकी ये रचनाएँ बहुत बड़े भूभाग में मालवा से लेकर ब्रज तक प्रचलित हैं। प्रादेशिक वातावरण के अनुसार इनमें संयोग, वियोग, अनुराग, उपालम्भ, अमर्यादित प्रेम और गृहस्थ-जीवन के विविध प्रसंगों का उल्लेख हुआ है, नारी-भावों की सहज अभिव्यक्ति भी उनमें हुई है। पुरुष होकर भी मीरा जैसी तल्लीनता उनमें मिलती है, यह भक्ति की गम्भीर भावना के कारण हुआ है।

सं. 1700 के कुछ पूर्व अनुमानतः उनका जन्म ओड़छा में हुआ था। वे पहले मोठ के थानेदार रह चुके हैं, बाद में वैराग्य वृत्ति के वशीभूत होकर वृन्दावन चले आये और बालकृष्ण स्वामी के शिष्य हो गये। राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रचारार्थ साधुओं की जमात सहित उन्होंने देशाटन भी किया था। उस यात्रा में प्रचारार्थ उन्होंने आनन्द-भजनों और लोकगीतों की भी रचना की जो उक्त राज्यों में प्रचलित हो गये। संवत् 1758 के लगभग उनकी मृत्यु ओड़छा में ही हो गयी थी। वृन्दावन में केसीघाट पर उनकी बनवायी हुई 'चन्द्र सखी की कुंज' अभी भी विद्यमान है।

श्री राधा रानी! दैं डारो न बाँसुरी मोरी।
जा बंशी में मेरे प्रान बसत हैं, सो बंसी गयी चोरी।
सोने की नाहीं कान्हा! रूपे की नाहीं, हरे बाँस की पोरी।
काहे से गाऊँ राधे! काहे से बजाऊँ, काहे से लाऊं गैया छोरी।
मुख से गाओ कान्ह! ताल सों बजाओ,
लकुटी से लाओ गैया घेरी।
'चन्द्र सखी' भल बाजकृष्ण फवि, हरि चरनन की चेरी।[38]

वे हमारे आलोच्य युग के एक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण कवि हैं। उनके सम्पूर्ण लेखन के संग्रह एवं सम्पादन का प्रयास श्री प्रभुदयाल मीतल एवं श्रीमती पद्मावती 'शबनम' कर रही हैं। भक्तकवि का रूप लोककवि का उस युग में भी समाप्त नहीं हुआ था, इसका प्रमाण चन्द्रसखी का काव्य है।

चन्द्रसखी जी यद्यपि राधावल्लभ सम्प्रदाय के नित्य-विहार के अनुयायी थे, परन्तु उनकी उपलब्ध रचनाएँ ब्रजलीलागान की परम्परा में हैं। वास्तव में इन्हें वल्लभ सम्प्रदाय की भावना का अनुयायी मानना चाहिए।

श्रीकृष्णदास 'भावुक'

यह 18वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में विद्यमान थे। सं. 1791 में 'हित चतुरासी' की प्रेमदास विरचित टीका में इनका सादर उल्लेख प्राप्त होता है—कृष्णदास जू हैं मम प्राणधन। इनके द्वारा लिखित कोई ग्रन्थ तो नहीं प्राप्त होता पर बधाई उत्सवों के पद तथा बृन्दाबनाष्टक एवं हरिवंशाष्टक प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

डाले झूलत राधिका नागरी।
झुकनि हिलोरिन में उर लगत श्याम बड़ भाग री।
मधुर-मधुर मृदु बैननि चढ़त मैन रस पाग री।
बिबस विलोकि भुजनि भरि प्रीतम हरषि ढरत अनुराग री।
अंग अनंग उमंग सुरंगनि झेलत खेलत फाग री।
कृष्णदास हित निपट निकट ह्वै गावत गीत सुहाग री।

ऊपर के पद में झूले की झकोरों की गति का चित्रण बड़ा सजीव बन पड़ा है एवं इन झकोरों के साथ ही जो विवश होकर एक-दूसरे को देखना एवं भुजाओं में भर लेना है, वह भी गति-चित्र ही है। भावुक जी सचमुच ही भावुक कवि थे।

सहचरि सुख (सुख सखी)

गोस्वामी कमलनैन जी के शिष्य थे। कमलनैन जी का समय 1692 से 1754 तक है। अतः 18वीं शती के पूर्वार्द्ध में ही सहचरि सुख का भी जन्म मानना उचित होगा। रचनाकाल इनका 18वीं शती का उत्तरार्द्ध रहा होगा। इनकी साधना का नाम सुख सखी भी था। इनका अब तक कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका है। नागरी प्रचारिणी सभा की 1911 की खोज-रिपोर्ट में बनारस के किन्हीं सज्जन के पास 'रंगमाला' नामक ग्रन्थ की सूचना अवश्य उपलब्ध होती है, पर उससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। वर्षोत्सव में इनके द्वारा रचित कुछ पद अवश्य उपलब्ध होते हैं जो काव्य-दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ध्रुवदास जी की साधना-प्रणाली का इन पर यथेष्ट प्रभाव है। इनके पदों में लक्षणा का सुन्दर उपयोग हुआ है—

भुज सिंगार विपट माधविका छाँह छैल हिय छावै।
उकसनि देत न मान धूप सनमानहिं अधिक बढ़ावै।

कुसुम वसन्ती दबि गये, जब प्रगटौ सहज सुबास।
रीझि छके उपमान सौं याते पिय फिरत उदास।

शृंगारी प्रेम के मधुर अनुभावों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन इन्होंने किया है—

इकटक निहारत बदन पल सहि सकत पलक न पीर।
तिय परसि पुलकत पीत पट पिय रसि सुन्दर चीर।
हंसति लपटति सिलत सकुचति घरकि होत अधीर।
लड़कानि ललना की सम्हारत लाल गहि-गहि धीर।

रूप का प्रभाव–

चक चौंधति लखि कुंवर कौं हो शशि जीतति जे वाम।
आरत ढिग कीरति सुता तब ही हरि दीसत स्याम।[39]

सहचरि सुख का कथ्य सम्प्रदाय की सरणि के अनुसार नित्य-विहार-लीला-वर्णन ही था। इस सीमित क्षेत्र का अधिक-से-अधिक-उपयोग कवि करते आ रहे थे, अतः कथा की मौलिकता उनसे बहुत नहीं प्राप्त होती, परन्तु अपने उक्ति-सौन्दर्य तथा लाक्षणिक प्रयोगों के कारण एक अतिरिक्त चमक उनके काव्य में अवश्य आ गयी है। कहते हैं कि उन्होंने पंजाबी के माँझ एवं कवित्त-सवैया छन्दों का भी प्रयोग पदों एवं दोहों के साथ किया है। अपनी शब्द-साधना, रुचिर और नम्र उक्तियों एवं वाग्वैदग्ध्य के कारण रीतिकाल के कवियों के समकक्ष उन्हें रखा जा सकता है।

रानी बखत कुँवरि 'प्रिया सखी'

'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ' नामक ग्रन्थ में लेखिका ने इन्हें दतिया राज्य की रानी माना है।[40] किसी राधावल्लभीय गुरु की ये शिष्या थीं। 'प्रिया सखी' इनका साधनागत उपनाम था। इनकी लिखी एक रचना 'प्रिया सखी की बानी' उपलब्ध होती है। उसमें रचनाकाल स. 1734 वि. दिया हुआ है।

राधावल्लभीय परम्पराओं के अनुसार वे सखी-भाव की उपासिका थीं एवं श्याम और राधा के विहार का इन्होंने ललित वर्णन किया है–

सखी ये दोई होरी खेलैं।
रंग महल में राधावल्लभ रूप परस्पर झेलैं।
रूप परस्पर खेलत होरी, खेलत खेल नवेलैं।
प्रेम पिचक पिय नैन मेरे तिय, रूप गुलाल सुमेलैं।
कुन्दन तन पर केसरि फीकी स्याम गौर भये मेलैं।
समर समर के सुर लरत दोई टूटत हार हमेलैं।
सम्मुख सख मुसक्याति झमकि झुकि लाड़िली लालहिं पेलैं।
प्रिया सखी हित यह छवि निरखत, सुख की रासि सकेलैं।[41]

रूपक, यमक का चमत्कार तो है ही, साथ ही सौन्दर्य के प्रतियोगी पारस्परिक वैभव एवं उसका प्रभाव पद में भली प्रकार अभिव्यक्त हो सका है।

परन्तु यहीं पर एक बात याद कर लेनी होगी कि स्त्री होने के नाते सखी भाव

की मनःसाधना स्त्रियों के लिए उतनी प्रयत्नसाध्य नहीं होती, परिणामतः साधनागत अनुभूति का आवेश हमें सखी भाव की स्त्री-भक्तों में प्राप्त नहीं होता, परन्तु जिस समय अपनी जैविक स्थिति के कारण वे ब्रह्म को प्रियतम रूप में भावित करती हैं, उस समय उनका भावात्मक आवेश द्रष्टव्य हो जाता है। ऊपर के पद में चमत्कार अवश्य अधिक है, पर अनुभूति की जैसी गहरी व्यंजना निम्न पद में हुई है, वैसी प्रथम पद में प्राप्त नहीं होती–

प्रीतम हरि हिय बसत हमारे।
जोई करूं सोइ करत रैन दिन, छिन पल होत न जिय तें न्यारे।
जित तित तन-मन रोम-रोम में वहै रहे मेरे नैननि तारे।
अति सुन्दर वर अन्तर्यामी, प्रियासखी हित प्रानहिं प्यारे।[42]

श्री हित रूपलाल

गो. हितरूप लाल के ध्रुवदास की निकुंज-लीला को बढ़ाकर पुनः ब्रज-लीला को भी रस-शक्ति के अन्तर्गत ले लिया। उनका जन्म वैसाख कृष्ण सप्तमी स. 1738 को हुआ था। उन्होंने किशोरावस्था से ही कविताएँ लिखनी प्रारम्भ कर दी थीं। उन्होंने ब्रज-लीला ही नहीं सामन्तों जैसे लोक-प्रचलित अन्य उत्सवों को भी राधाकृष्ण की लीलाओं से युक्त करके क्षेत्र का ही विस्तार नहीं किया, उसे लोकजीवन के निकट भी पहुँचाया। राजा जयसिंह ने राधावल्लभ सम्प्रदाय को अवैदिक घोषित करके उसकी जड़े हिला दी थीं परन्तु रूपलाल अत्यन्त शान्त भाव से स्वयं एवं अपने शिष्यों द्वारा राधावल्लभीय प्रेम-पद्धति का व्याख्यान करते हुए उसे वेदातीत या वेदसम्मत सिद्ध करने का निरन्तर प्रयास करते रहे। इसके लिए उन्होंने अनेक छोटे-छोटे पद्यबद्ध ग्रन्थों का निर्माण किया। प्रेम की अकथ कथा, रूप का मार्मिक प्रभाव, सौन्दर्य और विलास के मनोहारी दृश्य उन्होंने अत्यन्त सहज-सरल और सीधे ढंग में उपस्थित कर दिये हैं। इनके 84-84 पदों के दो संग्रह–'प्रथम विजय चौरासी', 'द्वितीय विजय चौरासी' हैं तथा वर्षोत्सव संग्रहों में अन्य अनेक पद मिल जाते हैं। दोहों में लिखे अन्य अनेक ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। चाचा हित वृन्दावनदास के अनुसार सं. 1801 में इनकी मृत्यु हो गयी थी। "संवत् विगत अठारह से इक सोम कुंज मग चली"[43] उनके दो पद हम नीचे दे रहे हैं। इनमें प्रथम रस का पद है और दूसरा सिद्धान्त निदर्शक है–

सोधे भरी कमौरी ओरी लावहीं,
कुम-कुम मेलि फुलेलि मुखै लपटावहीं।
लियौ कपूर पराग झोरि भरि-भरि तबै,
उड़त अबीर गुलाल कहत हो-हों सबै।

झूमक दै दै नाचत दम्पति लाड़िले,
नेह भरे सिलवार पके चित्त वाड़िले।
नील पीत पट गाँठ जोरि ललिता दई,
निरखि हंसत मुख मोरि रूप हित बलि गयी।

(गो. ललिता के चरण संग्रह से)

सुनौं चित्त लाइ रसिक रस रीति
दुर्लभ मानुष देह न है हरि साधु संग में प्रीति।
जनम सहस्त्रनि जो करि हारै तप अरु ध्यान समाधि।
छीन पाय अति शुद्ध हृदय मधि उपजै भक्ति अबाधि।
साधन भक्ति करत बहु जमननि होम जु ब्रज अनुराग।
ताहू कौ फल विपिन उपासन प्रेम प्रीति बड़ भाग।
याहू तैं निज तत्त्व जुगल रस नित्य निकुंज विहार।
हित अलि रूप अनुप हृदय दृढ़ कुँवरि कृपा कौं सार।

(गो. रूपलाल के वर्तमान संग्रह से)

दूसरे पद में नित्य निकुंज विहार की महत्ता स्थापित करने का सचेष्ट प्रयत्न है। गो. हित रूपलाल जी के ग्रन्थों का परिमाण विशाल है। श्री किशोरी शरण 'अलि' ने उनके निम्नलिखित 74 ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पर यह सूची नितान्त प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। बहुत कुछ चेष्टा करने के बाद भी इनमें से अधिकांश ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आ सके तथा जो ग्रन्थ देखने को मिले भी, उन पर पं. रामचन्द्र शुक्ल की नागरीदास सम्बन्धी टिप्पणी पूरी तरह लागू होती है। कुछ ग्रन्थ तो थोड़े से पदों के संग्रह मात्र हैं। बहुधा पुनरुक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। उनके 'रस रत्नाकर' नामक ग्रन्थ की जो हस्तलिखित प्रति गोस्वामी ललिता चरण जी के पास हमारे देखने में आयी, उसमें तथा हरिदासी सम्प्रदाय के स्वात रसिकदास के 'रस सार' (निम्बार्क शोध मण्डल) द्वारा प्रकाशित सिद्धान्त रत्नाकर में संगृहीत में आद्यन्त इतना साम्य है कि यह कहना कठिन है कि यह रचना किसकी है। कुछ शब्दों के हेर-फेर के अतिरिक्त पूरे ग्रन्थ का क्रम एवं वर्ण सब एक ही है। रूपलाल जी का वास्तविक महत्त्व कवि के रूप में उतना नहीं है, जितना आपत्ति के समय सम्प्रदाय को सुदृढ़ बनाये रखने वाले आचार्य के रूप में है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि चाचा हित बृन्दाबनदास उन्हीं के शिष्य थे। अस्तु, रूपलाल के ग्रन्थों की सूची (अलि द्वार प्रकाशित) निम्न है—

(1) साधु लक्षण, (2) सर्वस्व सिद्धान्त भाषा सार, (3) आचार्य गुरु सिद्धान्त, (4) रूप सनातन वल्लभाचार्य सहित स्वकीया परकीया चर्चा, (5) तिलक व्योरा, (6) दिव्य रत्नमाला, (7) सिद्धान्त के पद, (8) समय प्रबन्ध, (9) गुरु शिक्षा, (10) गूढ़ ध्यान, (11) मन शिक्षा बत्तीसी, (12) सिद्धान्त का सार, (13) सर्वतत्त्व

सिद्धान्त, (14) भक्ति भाव विवेक रत्नावली, (15) साधक लीला विलास, (16) नित्य वंशी स्वरूप प्रागट्य, (17) श्री राधावल्लभीय सम्प्रदाय निर्णय, (18) हित रत्न माला, (19) सिद्धान्त पद, (20) चर्चा निवारण, (21) श्री हित प्रागट्य, (22) वंशावलि, (23) सेवाधिकार, (24) वंशी अवतार कलि प्रगट विलास, (25) रंगीलाल प्रागट्य वर्णन, (26) रघुपति वर प्रसाद, (27) रुक्मिणी वर प्रसाद, (28) कृष्णदासी मनोहारी प्रसाद, (29) राधिका वर मन्त्र प्राप्ति, (30) श्री राधा वल्लभ तथा चतुरासी प्रागट्य, (31) गादी सेवा प्राकट्य, (32) श्री राधावल्लभ अभिषेक, (33) श्री नरवाहन परिचय, (34) हरिवासरे महाप्रसाद श्री कृष्णानुसार, (35) रूप सनातन भट्ट त्रय प्रति-युगल दर्शन प्राप्ति, (36) व्यास परिचय, (37) कोष प्राप्ति, (38) हित प्रताप परिचय, (39) हित प्रागट्य प्रमाण (रुद्रयामल), (40) हरिवंश नामावलि, (41) राधा स्तोत्र, (42) गौतमीय तन्त्र-मन्त्र पंचाशन पटल, (43) विजय चतुरासी, (44) खिचरी शृंखला, (45) वर्षोत्सव, (46) बृन्दाबन रस रहस्योद्गार, (47) मानसिक सेवा समय प्रबन्धोल्लास, (48) रस रत्नाकर, (49) वंशीयुक्त, (50) वंशीयुक्त युगल ध्यान, (51) साँझी, (52) ब्रजभक्ति भाव प्रकाश, (53) प्रेमवर्धक पत्रिका, (54) वाणी विलास, (55) माँझ हिंडोरा, (56) भावना व्यौरा, (57) शृंगार समयोल्लास, (58) जलक्रीड़ा प्रबन्धोल्लास, (59) राजभोग क्रीड़ा, (60) सन्ध्या समय क्रीड़ा, (61) शयन क्रीड़ा, (62) प्रिया ध्यान, (63) नित्य विहार जुगल ध्यान, (64) पद्यावलि वसन्त धमार, (65) वर्सोत्सव के पद, (66) मानमोचन स्तोत्र, (67) मुख्या सखी वर्णन, (68) रस वाणी, (69) दान वेली, (70) राम नवमी, (71) नृसिंह चतुर्दशी, (72) प्रेम वैचित्र्यी लीला, (73) मुरली गान लीला, (74) बन लीला, (75) निकुंज केलि लीला, (76) पंचाध्यायी।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी श्री किशोरी शरण अत्रि ने साहित्य रत्नावलि में गिनाये हैं, पर उनका या तो प्रामाण्य नितान्त सन्दिग्ध है अथवा वे पूर्व-कथित ग्रन्थों के ही हेर-फेर हैं। इस युग के कतिपय अन्य प्रमुख रचनाकारों के नाम और उनके द्वारा रचित कही जाने वाली रचनाएँ भी हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं। इन लेखकों की कृतियाँ चाहने पर भी हमें उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। इसी कारण उनका विस्तुत परिचय देने में हम असमर्थ हैं। यों श्री किशोरी शरण 'अलि' ने 18वीं शताब्दी में 63 कवियों 351 ग्रन्थों के नाम गिनाये हैं,[44] परन्तु यह सूची बहुत प्रामाणिक नहीं है। इसमें से बहुत-से कवि या रचनाएँ अन्य सम्प्रदायों से भी सम्बन्धित हैं, जैसा कि हरिदासी सम्प्रदाय के साहित्य की चर्चा करते हुए हमने स्वामी रसिक देव के सन्दर्भ में बताया है कि हरिदासी रसिक देव के कई ग्रन्थ राधावल्लभीय रसिकदास के खाते में इस सूची में डाल दिये गये हैं। वास्तव में यह पूरा साहित्य स्वतन्त्र अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है।

गो. अतिवल्लभ जी

अतिवल्लभ जी के समय का निर्णय करना कठिन है, परन्तु सम्प्रदाय की मान्यताओं ने अनुसार उनका समय वि. की 18वीं शती का उतरार्द्ध प्रतीत होता है। 'बृन्दावन रस' की लीलाओं के अतिरिक्त उन्होंने सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक साहित्य की भी रचना की है। बृन्दावनाष्टक में बृन्दाबन की अलौकिक महिमा का गान हुआ है। उनका वार्ता साहित्य सम्बन्धी एक ग्रन्थ अप्राप्य है। समय प्रबन्ध में उन्होंने 'युगल माधुरी' एवं केलि का ललित वर्णन किया है। 'हित-पद्धति' एवं 'मन्त्र-ध्यान-पद्धति' साम्प्रदायिक सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को स्पष्ट करने वाली रचनाएँ हैं तथा हित वंशावली', 'गुरु प्रणाली' नामक कृतियों में राधावल्लभीय वंशावली एवं गुरु-परम्परा क्रमशः दी हुई हैं। कवित्व की दृष्टि से अतिवल्लभ जी बहुत महत्त्वपूर्ण कवि नहीं हैं। वे राधावल्लभियों की नाद-परिवार की परम्परा के कवि थे।

गो. रसिकलाल

गो. रसिकलाल जी का रचनाकाल स. 1724 से 1734 तक उनके ग्रन्थों के निर्देश के आधार पर अनुमानित है, युगल-लीला-रस का गान करने वाले उनके फुटकर पद्य ही उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'हित चतुरासो' कर्णानन्द एवं गीत-गोविन्द की टीकाएँ भी लिखी हैं।

गो. ब्रजलाल

गो. ब्रजलाल जी मुख्यतः संस्कृत के रचनाकार थे, पर उनके अष्टयाम एवं वर्षोत्सवों सम्बन्धी कतिपय फुटकर कविताएँ भी समूहों में उपलब्ध हो जाती हैं।

लोकनाथ

'राधा सुधानिधि' तथा 'हित चौरासी' की टीकाओं के अतिरिक्त 'वृन्दावन स्वरूप' एवं 'निज महल' उनकी रस सम्बन्धिनी कृतियाँ हैं। 'अनन्य लक्षण' में रसिक के लक्षणों का सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है।

गो. कमल नयन जी

गो. कमल नयन का समय संवत् 1692 से 1754 वि. तक सम्प्रदाय में मान्य है। कमल नयन जी बड़े ही त्यागी एवं उदार महात्मा थे। उनके लेखन का परिमाण बड़ा

नहीं है। अष्टयाम पद्यावली तथा वर्षोत्सवों सम्बन्धी कतिपय मुक्तकों के संग्रह भी प्राप्त होते हैं। इनमें भी अष्टयाम की प्रति हमारे देखने में नहीं आयी। ज्ञात हुआ है कि श्री रूपलाल जी के संग्रह में उसकी प्रतिलिपि खो गयी है, परन्तु बाबा वंशीदास के पास उनके पदों का अच्छा संग्रह है।

निम्बार्क सम्प्रदाय का 18वीं शताब्दी का ब्रजभाषा काव्य : पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

पीछे हम कह चुके हैं कि निम्बार्क सम्प्रदाय प्रारम्भ में वैधी भक्ति का अनुयायी था। 16वीं शती में भक्ति के प्रेमावेश का प्रभाव इस सम्प्रदाय पर भी पड़ने लगा। श्री भट्ट ने युगलशतक में राधा-कृष्ण की लीलागान की परम्परा को सबसे पहले इस सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित किया, परन्तु 'युगल शतक' के प्रामाणिक पाठ के अभाव[15] में इस लीलागान का वास्तविक रूप निर्धारित करना कठिन प्रतीत होता है। 17वीं शती में परशुराम देवाचार्य की रचनाएँ, सगुण-निर्गुण दोनों परम्पराओं को आत्मसात् करने का प्रयास करती प्रतीत होती है। 18वीं शती में निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य बृन्दाबन देवाचार्य की रचनाएँ नित्य विहार के अन्तर्गत किसी प्रकार भी परिगणनीय नहीं हैं। उनके गीतामृत गंगा की परम्परा गोपी भाव ब्रजलीला की है। प्रख्यात कवि घनानन्द भी निम्बार्क सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे, पर उनका काव्य भी मात्र युगलोपासना का ही नहीं है लेकिन 18वीं शती विक्रमी के अन्तिम भाग तक पहुँचते-पहुँचते रूपरसिक देव जी ने इस सम्प्रदाय में विशुद्ध रूप से निकुंज-लीला गान की परम्परा स्थापित कर दी।

हमारे आलोच्य युग में काव्य-वैभव की दृष्टि से निम्बार्क-सम्प्रदाय यथेष्ट समृद्ध प्रतीत होता है। एकमात्र घनानन्द ही किसी भी सम्प्रदाय के लिए गौरव के विषय हो सकते हैं। यों तो बृन्दाबन देव जी एवं रूपरसिक जी का काव्य भी कलात्मक दृष्टि से प्रसंशनीय है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के कवि

श्री बृन्दाबन देवाचार्य जी

बृन्दाबन देव जी निम्बार्क-सम्प्रदाय की सलेमाबाद गद्दी पर (परशुराम जी का द्वार) संवत् 1754 विक्रमी में आरूढ़ हुए थे। इनके गुरु का नाम नारायण देव था। बृन्दाबन देव जी अपने समय के प्रभावशाली महापुरुषों में से थे। साम्प्रदायिक लेखकों के अनुसार वे गौड़ ब्राह्मण थे तथा स. 1700 के लगभग निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे।[16] उनका स्वर्गवास सं. 1797 में हुआ था।[17]

आमेर के राजा जयसिंह द्वितीय, बीकानेर नरेश राजसिंह तथा कृष्णगढ़ का राजकुल इनके प्रभाव में था। कृष्णगढ़ राजकुल के अनेक व्यक्ति इनके शिष्य एवं भक्त हुए हैं। ब्रजभाषा के कवि घनानन्द भी उनके शिष्य थे। घनानन्द ने उनकी प्रशंसा में भी लिखा है जो इस प्रकार है—

सदा कृष्ण-गुन-कथन-रत मत-मण्डन-जय-रूप।
विमुखन अण्डनि वचन वर-रचना तुण्ड अनूप।
दीन-सरन दायक करुन हरन अखिल-दुख-दोष।
अब तिन पाट प्रसिद्ध जग करन जीव परितोष।
बीस विसे महिमा तिन्हें ताहि कोस है बीस,
सदा बसौ नीके लसौं कृपा ईस मो सीस।।[48]

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि मण्डन ने इनका अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है। कृष्णगढ़ राज्य के चित्रागार में उनका एक चित्र प्राप्त हुआ है, जिस पर अंकित निम्न पंक्तियाँ उनके महिमाशाली व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करती हैं—

दिनकर लौ जगमग प्रताप जशजक्त अखण्डित।
रस भाषा कविराज महा दिग्विजयी पण्डित।
अति निमयो, ऐश्वर्य भूप भये आज्ञाकारी।
अन्त समय लौ परमधर्म मर्यादा फली।
श्री निम्बादित्य पद्धति बहे हरिव्यास देव गादी स्थिति
श्री बृन्दाबन देव महान्त से दिग्गज भये न होंहि छिति।[49]

बृन्दावन देव जी में संगठन की भी भरपूर सामर्थ्य थी। कहते हैं कि शैव साधुओं से वैष्णवों की रक्षा करने के लिए रामानन्द सम्प्रदायानुगामी स्वामी बाला नन्द द्वारा जो सम्मेलन जयपुर में बुलाया गया था, उसके संयोजकों में से एक आप भी थे एवं संवत् 1791 के गालवाश्रम में बुलाये गये दूसरे सम्मेलन के वे अध्यक्ष भी थे।

रचनाएँ

बृन्दाबन जी की उपलब्ध रचना इस समय केवल 'गीतामृत गंगा' नाम का ग्रन्थ है। प्रसिद्ध है कि इन्होंने अन्य रचनाएँ भी लिखी थीं परन्तु इस समय वे उपलब्ध नहीं हैं। 'गीतामृत गंगा' का मुख्य प्रतिपाद्य कृष्ण, राधा एवं गोपियों की ब्रज-लीलाओं का वर्णन है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कवि ने बता दिया है कि सच्चिदानन्द भगवान रसरूप हैं तथा राधा उसी ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति हैं। वे एकाकी नहीं रहते, रमण करना ही उनका नित्य धर्म है। अपनी रस-पोषक शक्ति के साथ भगवान श्रृंगार रस के साक्षात् विग्रह हैं। इस रस में चर-अचर समस्त ब्रह्माण्ड को मोहित करने की शक्ति है। भागवत, गीत-गोविन्द एवं अन्य रस-शास्त्रों को मथ करके इस

गीतामृत रसगंगा का सृजन हुआ है।[50] सम्पूर्ण ग्रन्थ चौदह अध्यायों में विभाजित है जिन्हें लेखक ने घाट कहा है। राधाकृष्ण जन्मोत्सव, पौगण्ड लीला, गोरसदान लीला, कैशोर लीला, रास विलास, मान-लीला, दम्पति-रति लीला, खण्डिता वचन, वसन्त होली वर्णन, कृष्ण के नाम चरित-गुण-कीर्तन, कंसवध, तीर्थवर्णन क्रमशः प्रथम द्वादश घाटों में वर्णित हुए हैं। त्रयोदश घाट में भक्ति सम्बन्धी प्रकीर्णक पद हैं एवं चर्तुदश घाट में संगीत की राग-रागनियों के नाम गिनाये गये हैं। कृष्ण से सम्बन्धित इन लीलाओं का चित्रण होने पर भी ग्रन्थ में कथा-काव्य की प्रबन्धात्मकता नहीं है। ग्रन्थ पूर्णतः मुक्तक काव्य है। रचना प्रधानतः पदों में हुई है परन्तु अन्य छन्दों का भी उपयोग हुआ है। दोहे और सवैये प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। वात्सल्य, सख्य एवं शृंगार तीन मुख्य रसों का चित्रण हुआ है। ब्रजभाषा में होते हुए भी राजस्थानी, पंजाबी, मराठी एवं मैथिली शब्द भी मिल जाते हैं।

भाषा में जनप्रचलित मुहावरों का प्रयोग अच्छी तरह हुआ है। कूल्हरि में गुड़ फोड़ना', 'मान्यों तो देव न भीत को लेव', 'आखिन गूद छयोजू' ऐसे ही सुन्दर मुहावरे हैं। सम्पूर्ण रचना में समतामूलक अलंकारों का प्राधान्य है। संगीत की दृष्टि से समस्त पद 80 राग-रागिनियों में विभक्त हैं। उनकी रचना के कतिपय उदाहरण निम्न हैं। प्रेममार्ग के बारे में गोपियाँ कह रही हैं—

नेह निगोड़े को पैंड़ो ही न्यारो
जो कोइ होय के आँधौ चले,
सु लहै प्रियवस्तु चहूँधा उजारो।
सो तो इतै उत भूल्यौ फिरें न लहै कछु गो कोउ होय अध्यारो।
बृन्दाबन' सोइ याको पथिक है,
जा पै कृपा करे कान्हर प्यारो।[51]

उपयुक्त छन्द को पढ़कर घनानन्द का प्रसिद्ध छन्द याद आ जाता है जिसमें उन्होंने कहा है "अति सूधो सनेह को मारग है जहं नेकु सयानप बांक नहीं" कृष्ण का रूप सौन्दर्य ऐसा है। गोपियों को अफसोस होता है कि आँखों को पंख क्यों नहीं मिले अन्यथा वे कृष्ण के कमलमुख के मकरन्द का भ्रमर के समान पान करतीं—

आँखिन पाखि दई न दई, किन
प्रीतम नलिन बदन मकरन्दहि मधुप ज्यों पीली आवति प्रतिदिन
क्यों हूँ चैन परै दिन रैन सु मैन दहै तन कों छिन ही छिन।
बृन्दाबन प्रभु विरह कसाई मोहि करी जकरी बकरी इन।

(गीतामृत गंगा, चतुर्थ घाट, 74)

'गीतामृतगंगा' में रीतिकालीन रचना-पद्धति का भी अच्छी तरह ग्रहण हुआ है।

बृजदासी

बृजदासी का वास्तविक नाम बाँकावती था। कौमार्यावस्था का इनका एक नाम ब्रज कुँवरि भी कहा जाता है। ये लिवाण नरेश बाँकावत आनन्दसिंह की पुत्री थीं। कृष्णगढ़ नरेश महाराजा राजसिंह से संवत् 1776 में इनका विवाह हुआ था। श्रीमद्भागवत का सरल एवं मधुर भाषा में इन्होंने पद्यबद्ध अनुवाद किया है। यह अनुवाद 'ब्रजदासी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ की एक प्रति गीताप्रेस गोरखपुर में भी सुरक्षित है। उसमें भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध का अनुवाद नहीं है। शेष स्कन्धों का अनुवाद उसमें उपलब्ध होता है। यह प्रति संवत् 1885 विक्रमी की है। सम्पूर्ण ग्रन्थ दोहा एवं चौपाई छन्दों में लिखा गया है, कहीं-कहीं अन्य छन्द—कवित्त, सवैया तथा छप्पय—भी प्रयुक्त हुए हैं। अनुवाद एकदम शाब्दिक न होकर भावपरक भी हैं। मूलग्रन्थ की उलझाने वाली गुत्थियों को भी अपने ढंग से ब्रजदासी जी ने सुलझाने का प्रयास किया है। मूलग्रन्थ के एकाधिक शब्द संकेत को पकड़कर उन्होंने जिस प्रकार कलात्मक ढंग से चित्रित किया है, वह उनकी रचना-क्षमता तथा कल्पना-शक्ति का द्योतक है। उदाहरणार्थ भागवत में रासपंचाध्यायी के अन्तर्गत कहा गया है—

निशम्य गीतं तदनंगवर्द्धनं
ब्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।।

पर यहाँ एक समस्या रह जाती है कि ब्रज स्त्रियाँ ही क्यों कृष्ण के पास दौड़कर गयी थीं। ब्रजपुरुष क्यों नहीं? ब्रजदासी जी ने अपने अनुवाद में इस गुत्थी को खोलना चाहा था। इस अंश का अनुवाद करते हुए उन्होंने लिखा है—

सो मुरली को सबद सुढार, सुनति भई गोपीं ता बार।
सबद सुन्यों नहिं ग्वालेन वाहीं, सुनें न रहते वे गृह-माँही।।
चले आवते प्रभु के पास, तौ मिट जातो रंग-विलास।

इस प्रकार ब्रजदासी जी का उत्तर है कि गोपी ने इस ध्वनि को सुना ही नहीं था। सुना इसलिए न था कि वे भी दौड़ आते और फिर रासरंग में विघ्न पड़ जाता।

इसके बाद इन गृहीत मानस गोपियों के कृष्ण के पास जाने का हृदय-ग्राही चित्रण हमारे सन्मुख एक बिम्ब उपस्थित कर देता है—

सुनि मोहित ह्वै जब ब्रजबाला, छिप-छिप इक-इक चली सुचाला।
दौरत उछरत अंचर-हारा किंकिन नूपुर बजत सुढ़ारा।।
स्त्रबनत (श्रवनत) कुण्डल-हलंत सुहाई, अलक कपोलन पै घुटि छाई।
जिन-मन कृष्ण कुमंर हरि लीन्हों, गोपिन-हृदै ध्यान निज दीनों।।

तथा

ज्यों सरिता, सावन उमड़ाहीं, किहुं सों रोकी रहति जुनाहीं।
कहुँ के कहूँ आमरन पैहरें, तिन्ह की सुधि न कछु चित धरें।।
पोंहची प्रभु के निकटहिं जाइ, गोपी महामोद मन पाइ।
तबै जोग-माया सब भूषन, जदा-जोग किय ठीक सु तंन तंन।।

दूसरा अंश मूल भागवत के व्यस्तवस्त्राभरणः की कहीं अधिक विशद एवं मनोहर व्याख्या है। इस प्रकार अवसर पाते ही ब्रजदासी जी की रचना-शक्ति जाग्रत हो उठती है। वे अनुवाद की अपेक्षा सूरदास एवं नन्ददास की परम्परा में मौलिक सृजन करने वाली प्रतीत होती है। इस प्रकार का मुक्त अनुवाद (Free Translation) अपने आप में रचना है और आज के बहुत-से अनुवादकों के लिए सिद्धान्त भी है और चुनौती भी।

घनानन्द

नवीन खोजों के आधार पर घनानन्द का जन्म संवत् 1740 एवं मृत्यु संवत् 1817 के आसपास स्वीकार किया गया है।[52] वे जाति के भटनागर कायस्थ थे तथा मोहम्मद शाह के दरबार में मीर मुंशी के पद पर आसीन थे। संगीत पर इनका अच्छा अधिकार था। कहते हैं कि एक बार स्वयं बादशाह के कहने पर इन्होंने गाना अस्वीकार कर दिया था परन्तु अपनी प्रेमिका सुजान नामक दरबार की वेश्या के अनुरोध पर तत्काल अपनी कला का प्रदर्शन कर दिया था। बादशाह ने इसे अपना अपमान समझकर उन्हें दिल्ली से निष्कासन का दण्ड दे दिया। प्रेमी घनानन्द ने चाहा कि सुजान भी साथ चले परन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। निराश प्रेमी घनानन्द विरक्त होकर बृन्दाबन चले आये और निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। लौकिक प्रेम को उनकी रचना-शक्ति ने उदात्त बनाकर अलौकिकता की ओर मोड़ दिया। सुजान वेश्या के स्थान पर सुजान 'प्रिया-प्रियतम' के मुरीद हो गये।

भक्तिमार्ग में निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत सलेमाबाद पीठ के आचार्य बृन्दाबन देव के वे शिष्य थे।

रचनाएँ

घनानन्द की 40 रचनाओं का संग्रह 'घनानन्द ग्रन्थावली' के नामे से संवत् 2009 में प. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। इस संकलन में रचना स्तर के दो स्पष्ट अन्तर देखे जा सकते हैं। रचनाओं का प्रथम स्तर वह है जिसमें इन्होंने या तो वैयक्तिक, स्वच्छन्दतावादी (रोमैण्टिक) प्रेम की लाक्षणिक व्यंजनाएँ की हैं अथवा राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का रस निर्भर गान किया है।

रचना का दूसरा स्तर अपेक्षाकृत उन निबन्ध रचनाओं का है जिनमें उन्होंने भक्ति-सिद्धान्तों एवं सम्प्रदाय के नियमों का पद्यबद्ध वर्णन किया है। 'घनानन्द ग्रन्थावली' में निम्नलिखित 40 ग्रन्थों का संग्रह किया गया है–

(1) सुजान हित, (2) कृपाकन्द, (3) वियोगिबेलि, (4) इश्क लता, (5) यमुनायश, (6) प्रीति पावस, (7) प्रेम प्रत्रिका, (8) प्रेम सरोवर, (9) ब्रज विलास, (10) सरस बसन्त, (11) अनुभव चन्द्रिका, (12) रंग बधाई, (13) प्रेम पद्धति, (14) ब्रजभानु पुर सुषमा वर्णन, (15) गोकुल गीत, (16) नाम माधुरी, (17) गिरि पूजन, (18) विचार सार, (19) दान घटा, (20) भावना प्रकाश, (21) कृष्ण कौमुदी, (22) घाम चमत्कार, (23) प्रिया प्रसाद, (24) बृन्दाबन मुद्रा, (25) ब्रज स्वरूप, (26) गोकुल चरित्र, (27) प्रेम पहेली, (28) रसनायश, (29) गोकुल विनोद, (30) ब्रज प्रसाद, (31) मुरलिका मोद, (32) मनोरथ मंजरी, (33) ब्रज व्यौहार, (34) गिरिगाथा, (35) पदावली, (36) परिशिष्ट, (37) त्रिभंगी छन्द, (38) छन्दाष्टक, (39) प्रकीर्णक, (40) परम हंस वंशावली।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि घनानन्द ब्रजभाषा के श्रेष्ठतम कवियों में हैं। अपनी लाक्षणिक एवं खरादी हुई ब्रजभाषा, छन्दों की चमक, अलंकारों के वैविध्यपूर्ण एवं उपयुक्त प्रयोग, प्रेम भाव की स्वच्छन्द व्यंजना आदि के कारण वे हिन्दी के प्रमुख कवि गिने जाते हैं। साहित्यिक मूल्यांकन वाले अध्याय में हम उनकी रचनावादिता का उपयोग करेंगे। दो-एक उदाहरण केवल बानगी के तौर पर लें–

रूप के भारनि होति है सौहीं लजौं हियै दीठि सुजान यों झूली।
लागिये जाति, न लागी कहूँ निसि, पागी तहीं पलकौंमति भूली।
बैठिये जू हिय पैठति आजु कहाँ उपमा कहियै समतूली।
आये हौ भोर भये घन आनन्द आखित साँझ तौ साँझ सी फूली।

(सुजान हित, 23)

विरहिणी का यह मार्मिक कथन भी द्रष्टव्य है–

इत बाँट परी सुधि, रावरे भूलनि कैसे उराहनों दीजिये जू।
अब तो सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजियै जू।
घन आनन्द जीवन-प्रान सुजान तिहारियै बातनि जीजियै जू।
नित नीके रहौ तुम्है चाड़ कहाँ पै असीस हमारियौ लीजियै जू।

रूपरसिक देव

निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों के अनुसार रूपरसिक देव का समय 16वीं शती का उत्तरार्द्ध है, परन्तु अन्य जन इन्हें 18वीं शती के उत्तरार्द्ध में मानते हैं। 'लीला विंशति' का रचनाकाल बताने वाला संवत् 'पन्द्रह से सत्ता-सिया एवं संवत् सत्तरा

से सत्तासिया'[53] का द्वन्द्व ही उस मत-वैभिन्य के मूल में है। इधर हमें जो प्राचीन पोथियों के पूर्वग्रहरहित प्रमाण मिले हैं वे यह सूचित करते हैं कि रूपरसिक देव 18वीं शती के अन्तिम भाग एवं 19वीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। यही नहीं उन्हें महावाणी प्रकट करने वाला भी कहा गया है।

ललित सम्प्रदाय के महात्मा वंशी अलि के शिष्य किशोरी अलि की बानी की एक प्रति हमें वृन्दावन में अनायास ही उपलब्ध हो गयी है। प्रति खण्डित है, उसके अन्त के ही नहीं बीच-बीच के पृष्ठ भी खो गये हैं, पर कागज, लिखावट एवं प्रति की जर्जर स्थिति उसे 19वीं शती (विक्रमीय) से बाद का नहीं सिद्ध करती। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना है कि प्रस्तुत वाणी किसी साम्प्रदायिक विवाद से सम्बन्धित नहीं है। किशोरी अलि जी वि. की 19वीं शती के पूर्वार्द्ध के प्रसिद्ध महात्मा थे। वे वृन्दावन के तत्कालीन सन्तों में समादृत थे। प्रस्तुत प्रति में उनकी रचनाएँ (बानी) तो संकलित हैं ही, उनके बारे में लिखे गये समकालीनों के प्रशंसामूलक छन्द भी संकलित हैं तथा प्रसिद्ध राधावल्लभीय गोस्वामी चन्दलाल (संवत् 1825 के लगभग) के साथ उनके पत्र-व्यवहार का भी संग्रह किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ साम्प्रदायिक विवाद से सम्बन्धित न होकर एक प्रसिद्ध महात्मा के महत्त्व-स्थापन का प्रयास है जो मध्यकाल में विरल नहीं है। इस प्रति में 208 अन्तिम पृष्ठ हैं पर बीच-बीच में कुछ अन्य पृष्ठ खो गये हैं। इसमें एक स्थान पर हरिदास, हरिराम व्यास, ललित किशोरी आदि की प्रशंसा करते हुए रूपरसिक जी के बारे में कहा गया है–

रूपरसिक से रूपरसिकवर
दिव्य महाबानी रस सानी प्रकट करन प्रकटे अवनी पर।
अति रहस्य रस की परिपाटी लखिबे इनकी कोउ न सरवर।
उमड़ि घुमड़ि हिय भाव घटा सों बरसत नित प्रति आनन्द को झट।
गौर स्याम के रंग झकोरे कोरे जो आये नारी नर।
नैननि की सैननि सों अलि कों दरसायो नवकेलि कुंज घर।

इस पद की अन्तिम पंक्ति से ऐसा लगता है कि किशोरी अलि को रसरहस्य का कुछ संकेत भी रूपरसिक जी ने दिया था।

इसी प्रकार पृ. 191 पर गो. चन्दलाल जी के पत्र में भी उन्हें याद किया गया है–

रूपरसिक जन कृपा सों होत सकल मन काज।
प्रीति सहित बंदित रहौं तिनकौं मेरी लाज।

इस पत्र के उत्तर में श्री जगन्नाथ भट्ट (किशोरी अलि) ने जो उत्तर लिखा (पृ. 183) उसमें भी रूपरसिक जी तक सन्देश पहुँचाने एवं उत्तर में उनकी प्रणति लिखी है–

रूपरसिक जी सों कही श्री राधावल्लभलाल।
उनहू सुनि हिय हुलसि कै प्रणति करी तिहि काल।

ऐसा लगता है कि गो. चन्दलाल जी एवं रूपरसिक जी में प्रत्यक्ष पत्र-व्यवहार की घनिष्ठता नहीं थी पर पारस्परिक समादर का भाव विद्यमान था एवं किशोरी अलि के माध्यम से ही एक-दूसरे को प्रीति पहुँचाते थे। पृ. 184 पर इसका स्पष्ट संकेत है। गो. चन्दलाल जी के पत्र में कहा गया है–

रूपरसिक जू सौं वहाँ कहिय अमित प्रणाम।
उनकौं पत्री आप हौ करिहौ सब विधि काम।

इसी प्रकार पृ. 186 पर की गद्य की पत्री में कहा है–"श्री रूपरसिक जी को बड़ी पत्री आप हौ।"

इन सभी पत्रों पर तिथियाँ तो नहीं पड़ीं, पर पृ. 190 पर चन्दलाल जी के शिष्य रतनलाल ने जगन्नाथ भट्ट को जो पत्र लिखा है, उसमें तिथि एवं संवत् का इस प्रकार उल्लेख हुआ है–"मिती अषाढ़ शुक्ल पक्ष 7 सप्तमी संवत् 1831 में लिखी।" इस प्रकार अधिकांश पत्र सं. 1825 के आसपास के माने जा सकते हैं। इन पत्रों आदि के आधार पर इस समय तक रूपरसिक जी का विद्यमान होना सिद्ध होता है। इस काल तक उन्हें महावाणीकार एवं रस-रहस्य के ज्ञाता के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि भी मिल चुकी थी। अतः संवत् 1787 के लगभग रचना नितान सम्भव है।

इस हस्तलिखित प्रति से रूपरसिक जी के पुत्र एवं कृपापात्रों का भी परिचय मिलता है। किशोरी अलि जी की प्रशंसा में जिनके स्तुतिमूलक प्रशंसापरक छन्द एकत्र किये गये हैं, उनमें रूपरसिक जी के पुत्र हरिजनदास जी द्वारा लिखे गये बधाई के पद पृ. 143 एवं 144 पर संगृहीत हैं एवं रूपरसिक जी के कृपा पात्र 'गोपालदास' के पद पृ. 145-146 पर संकलित हैं। इससे भी उनका समय वि. की 18वीं शती का उत्तरार्द्ध ही सूचित होता है।

अस्तु, इस प्रति के आधार पर भी हमारा पूर्व अनुमान सत्य ही सिद्ध होता है कि रूपरसिक जी का रचनाकाल 18वीं शती है एवं इस बात को स्वीकार कर लेने के बाद हरिव्यास देव का समय 17वीं शताब्दी के मध्य भाग से पहले नहीं खींचा जा सकता।

रचनाएँ

निम्बार्क सम्प्रदाय में रूपरसिक देव जी का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सम्प्रदाय में रसोपासना की व्यवस्थित परिपाटी इन्हीं से प्रारम्भ होती है। कहते हैं कि हरिव्यास देव जी ने उन्हें स्वप्न में महाबानी प्रदान की थी तथा श्री भट्ट जी के युगल शतक का सम्पादन भी उन्होंने किया था। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके लिखे चार ग्रन्थ और बताये जाते हैं–

(1) हरिव्यास यशामृत सागर
(2) नित्य विहार पदावली
(3) लीला विंशति
(4) बृहदोत्सव मणिमाल

(1) हरिव्यास यशामृत सागर

यह रूपरसिक देव जी की प्रारम्भिक कृति माना जाता है।[54] हमारा मत है कि महावाणी उनकी प्रथम रचना है। यशामृत सागर में महावाणी की अलौकिक अवतारणा का प्रसंग 21 बार आया है।[55] यह बात ही हमारे मत को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त है। अस्तु, हरिव्यास यशामृत सागर में हरिव्यास देव जी की कीर्ति का विशद गान हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चौबीस लहरियों में पूरा हुआ है। हरिव्यास देव जी के चरित्र के अतिरिक्त रसिक-साधना के सैद्धान्तिक पक्ष की भी पर्याप्त चर्चा हुई है। जीवन के नैतिक-व्यावहारिक पक्ष का भी निरूपण किया गया है। ग्रन्थ का प्रकाशन वृन्दावन से हो चुका है।

(2) लीला विंशति

इनका दूसरा मुख्य ग्रन्थ है। इसे रूपरसिक देव जी की बानी भी कहा जाता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मंजरी, विलास, माधुरी एवं सुख—इन चार विभागों में विभक्त है एवं प्रत्येक विभाग में पाँच-पाँच उपविभाग हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना एवं सिद्धान्त दोनों ही दृष्टियों से अत्यधिक प्रौढ़ ग्रन्थ हैं। प्रौढ़ता, परिपक्वता की दृष्टि से इसे कवि का अन्तिम ग्रन्थ मानने में संकोच न होना चाहिए। बीसों लीलाओं के नाम विभागानुसार इस प्रकार हैं—

1. शिक्षा मंजरी, 2. रस मंजरी, 3. रसिक मंजरी, 4. तरंग मंजरी, 5. प्रेम रस, 6. नव विलास, 7. भावना विलास, 8. नित्य विलास, 9. रास रति विलास, 10. फूल विलास, 11. नामावलि माधुरी, 12. माधुर्य माधुरी, 13. वृन्दावन माधुरी, 14. सिद्धान्त माधुरी, 15. हरिभक्ति माधुरी, 16. सार सुख, 17. सगेह सुख, 18. सरूप सुख, 19. सुहाग सुख, 20. होरी सुख।

लीला विंशति में निकुंज-लीला और उसकी विधायक साधना-पद्धति का सांगोपांग, विशद एवं मनोहर वर्णन उपस्थित किया गया है। निम्बार्क-सम्प्रदाय की नित्य विहार-उपासना का यह श्रेष्ठ ग्रन्थ है। ग्रन्थ का प्रकाशन बाबा माधुरी दास ने वृन्दावन से सं. 2015 में कर दिया है।

(3) बृहदोत्सव मणिमाल

सम्प्रदाय के विविध उत्सवों में गाये जाने वाले पदों का संग्रह है। वसन्त होली, फूल डोल, रामनवमी, अक्षय तृतीया, जानकी नवमी, नरसिंह जन्मोत्सव, जलयात्रा हिण्डोलोत्सव, वामन द्वादशी, रास महोत्सव, दीप मालिका, गोवर्द्धन पूजा, राधाकृष्ण विवाहोत्सव आदि के अवसरों पर गाने के लिए इसमें पद संकलित हैं। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित ही है।

(4) नित्य बिहारपदावली

निकुंज रस के फुटकर पदों का संकलन है। निम्बार्क शोध मण्डल वृन्दावन की प्रति में 72 पद हैं। श्यामा-श्याम की एकान्त रसात्मक लीलाओं का भावपूर्ण चित्रण इन पदों में किया गया है। लीला विंशति के साथ ही इन पदों का भी प्रकाशन हो गया है।

रूपरसिक देव अच्छे कवियों में हैं। उनकी भाषा सरल, सहज एवं प्रसाद गुण पूर्ण ब्रजभाषा है जिसमें पर्थ-यत्र राजस्थानी एवं पंजाबी शब्दों का भी मिश्रण प्राप्त हो जाता है, परन्तु कथन के ढंग में वक्रता कभी-कभी रीतिकालीन अभिव्यंजना की याद दिलाती है। दोहा उनका सबसे प्रिय छन्द है, साथ ही अरिल्ल, सवैया एवं अनुरूप छन्दों के साथ भक्तिकाल की पद-शैली एवं पंजाबी माँझ भी उन्होंने अपनाए हैं। पदों आदि पर राग-रागिनियों का संकेत भी मिलता है। यह कहना कठिन है कि ये संकेत स्वयं उनके द्वारा दिये गये हैं या परवर्ती हैं। नायिका के सात्त्विक भाव की यह झलक देखिए–

अनोखे बेनी गूथनहार।
लागे नीर चुचान पुलक तन नीठि सुखाये बार।[56]

बिहारी का ठीक इसी भाव को व्यक्त करने वाला दोहा इसे पढ़कर सहज ही याद हो आता है। प्रिया की यह लीला भी द्रष्टव्य है–

रमकि रमकि रस में सनी, झमकि झमकि झमकाति।
चमकि चमकि चपलानि सी दमकि दमकि दमकाति।[57]

यह रूपक भी उनकी काव्यकला का नमूना है–

सहज दोउ सुख के सिन्धु सरीर।
स्यामा स्याम स्वरूप उजागर नागर गुन गम्भीर।
अंग-अंग उठत तरंग रुचि उमंग नेह नव तीर।
रूपरसिक जन अंचवत है नित, सुरस सुधा की सीर।[58]

नेत्रों का यह अलसाया सौन्दर्य भी देखिये–

उनींदे नैन मैन रंग मीनें सलज हंसोहीं सैनं।
रतनारे कारे सु ढरारे अति अनियारे ऐंन।
झपकौने दौनेंरस कैसे सहज सलौंने मन हरि लैंन।
रूपरसिक राग रंगे सुहागे अनुरागे नैंन।।

(नि.वि. पदावली, 17)

श्री गोविन्द देव

आप श्री बृन्दाबन देवाचार्य के शिष्य थे और जयराम शेष के साथ होने वाले झगड़े के अनन्तर संवत् 1800 में सलेमाबाद पीठ पर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। आपका गोलोकवास संवत् 1814 में हो गया था।

ऐसा लगता है कि गोविन्द देव जी में राजनीतिक कुशलता अधिक थी, इसी कारण 'जयराम शेष' जैसे विद्वान को ये आचार्य पद से हटा सकने में समर्थ हो सके थे। उनकी रचनाकुशलता का प्रमाण हमें विशेष रूप से उपलब्ध नहीं होता। उनकी रचना 'जयति चतुर्दश' में विभिन्न पूज्य एवं सेव्य जनों का गुणगान किया गया है, पर रचना साम्प्रदायिक गन्ध से भरपूर है। 'गुरु परम्परा जयति' में चैतन्य महाप्रभु एवं नित्यानन्द स्वामी को केशव काश्मीरी भट्ट का शिष्य गिना दिया गया है। ब्रह्मचारी बिहारी शरण ने इनका रचनाकाल 100 वर्ष पहले खींचकर संवत् 1670 के आसपास बताया है[59] जबकि संवत् 1770 के आसपास रचनाकाल स्वीकार करना ही तर्कसंगत होगा। उनके 'राधिका जयति' वाले अंश की कतिपय पंक्तियाँ रचना के उदाहरणस्वरूप उपस्थित की जा रही हैं—

जयति नव नागरी रूप गुण आगरी कृष्ण सुख सागरी महोदारा।
जयति श्री स्वामिनी, महा अभिरामिनी, देह दुति दामिनी छवि अपारा।
जयति आह्लादिनी, प्रान प्रियावादिनी, प्रेम उत्पादिनी कृष्ण मित्रा।
जयति पिय बस करी, भरी रति रंग सहचरी, अमित रानी विचित्रा।
जयति नव नायिका, कृष्ण रस दायिका, प्राणप्रिय गोपिका, अति नवीना।
जयति नव भामिनी, महा कल कामिनी, ब्रजेश्वर नामिनी पिय अधीना।

'श्री युगल रस माधुरी' काव्य-सम्पदा की दृष्टि से उनकी श्रेष्ठतर रचना है। इसमें उपासना का भाव नित्य विहार-रस के अनुकूल पूर्णरूपेण प्रस्फुटित दिखाई देता है। समतामूलक अलकारों का इसमें बहुत अधिक उपयोग किया गया है। कुछ उदाहण लें—

प्रीतम सुन्दरस्याम प्रिया छवि फबी गुराई।
मनु सिगार रस संग सिंगार किय सुन्दरताई।

(गोविन्द देव नि. मा., पृ. 171)

दीपसिखा-सी नाक मुक्त पर मुख ढिंग डोलै।
मनहुं चन्द की गोद चन्द को कुँवर कलोलैं।।
उरसि उरबसी मध्य अरुण नग यों छवि छाजत।
तिय हिय को अनुराग विदित जनु बाहर राजत।।

(वही, पृ. 172)

18वीं शती में वल्लभ सम्प्रदाय के ब्रजभाषा काव्य : पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

18वीं शती तक आते-आते पुष्टिमार्ग का प्रारम्भिक आवेग मद्धिम पड़ गया था। ऐसा लगता है कि अष्टछाप के कवियों के अश्वत्थ रूप के तले अन्य प्रतिभाएँ या तो विकसित ही नहीं हो सकीं या फिर उस विराटता के आतंक के नीचे बौनी ही रह गयीं। समीक्षकों एवं शोधकों का ध्यान भी उसी काव्य-वैभव के द्वारा आकर्षित कर लिया जाता है। हम अपने शोध के आधार पर कतिपय कवियों के नाम और परिचय उद्धृत तो कर रहे हैं, परन्तु उनकी रचनाओं की सूची पढ़ने से ही यह पता लग जाता है कि पूर्व-पुरुषों की कीर्ति को वार्ता साहित्य के माध्यम से ही वे उपस्थित करके अपने को गौरवान्वित कर रहे थे। सृजन की नयी शक्ति के दर्शन उनमें कम होते हैं। चिन्तन एवं सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से गो. हरिराय जी श्री गोपेश्वर महाराज महत्त्वपूर्ण अवश्य हुए हैं, परन्तु जहाँ तक रचनात्मक क्षमता का प्रश्न है वह कतिपय स्फुट पदों, बधाइयों अथवा श्यामा-श्याम की बहुचर्चित एवं चित्रित लीलाओं तक ही सीमित है।

18वीं शताब्दी की वल्लभ-सम्प्रदायान्तर्गत लिखी जाने वाली रचनाओं से एक अन्य तथ्य का भी पता लगता है कि इस काल में सखी भाव वाले रसिक सम्प्रदायों का महत्त्व बढ़ गया था तथा वल्लभ-सम्प्रदाय भी युगलोपासना को पूरी तरह अपनाता दिखाई पड़ता है। युगलोपासना की प्रवृत्ति हमें अष्टछाप में ही दृष्टिगोचर होने लगी थी, वह इस युग तक आकर प्रौढ़ एवं परिपक्व हो जाती है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के कवि

गो. हरिराय जी

गो. हरिराय जी गोकुलनाथ जी के बाद पुष्टिमार्ग के श्रेष्ठतम आचार्य हुए हैं। ये गो. विट्ठलनाथ के प्रपौत्र थे तथा पिता का नाम कल्याण राय था। कल्याण राय जी स्वयं बड़े विद्वान और लेखक थे। हरिराय जी का जन्म संवत् 1647 है एवं मृत्युकाल सं. 1772 वे संस्कृत, गुजराती तथा ब्रजभाषा के अच्छे विद्वान थे। वल्लभ

एवं गोकुलनाथ की तरह उन्हें भी महाप्रभु या प्रभुचरण की पदवी दी जाती है। रसिक, रसिकराय, हरिधन, हरिदास आदि अनेक नामों से इन्होंने संस्कृत, ब्रजभाषा एवं गुजराती में भक्ति-सम्बन्धी साहित्य की रचना की है। औरंगज़ेब के युग में जब श्री नाथ जी के विग्रह को उदयपुर ले जाया गया था, तब वे भी साथ गये थे। हरिराय जी के निम्नलिखित ग्रन्थ ब्रजभाषा में रचित कहे जाते हैं—

(1) नित्य लीला, (2) स्नेह लीला, (3) गोवर्द्धन लीला, (4) चिन्तन प्रकार, (5) चरण चिह्न, (6) दामोदर लीला, (7) बन यात्रा, (8) नवरात्रि, (9) पुष्टि दृढाव (गद्य), (10) दानलीला, (11) होरी भावना, (12) यमुना जी के घोल पद, (13) बालकन कौ स्वरूप, (14) श्री गोकुलेश के रास के प्रसंग, (15) श्री गोकुलनाथ जी के बैठक-चरित्र, (16) श्री नाथ जी चरण चौकी के चरित्र, (17) भाषा शिक्षा पत्र गद्य, (18) अनेक वार्ताओं के भाव प्रकाश वाली टीकाएँ (गद्य), (19) श्री नाथ जी की प्राकट्यवार्ता, (20) श्री महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता इनके अतिरिक्त 104 से ऊपर संस्कृत के छोटे-बड़े ग्रन्थों, टीकाओं, वृत्तियों आदि का उल्लेख कण्ठमणिशास्त्री ने 'वल्लभीय सुधा' (वर्ष 6, अंक 2, पृ. 18-19) में किया है। उनके कुछ पद कीर्तन संग्रहों में बिखरे पड़े हैं। कीर्तन-संग्रहों से ही हम उनके दो पद नीचे उद्धृत कर रहे है। ये पद अधिकांशतः सिद्धान्त-सम्बन्धी हैं। गो. हरिराय जी का स्थान सम्प्रदाय के इतिहास में सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने वल्लभाचार्य आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों की पुनर्व्याख्या की है। इस व्याख्या में उन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय को युगलोपासना की ओर मोड़ने का भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यों तो युगल-उपासना के पद हमें अष्टछाप के कवियों में ही मिल जाते हैं, पर सखी भाव को पूरी प्रतिष्ठा गो. हरिराय जी ने ही दी है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गोपी भाव का उन्होंने तिरस्कार किया है। निम्न पद में उन्होंने गद्‌गद कण्ठ से गोपियों के सौभाग्य का ही गुणगान किया है—

परम रस पायो ब्रज की नारि।
जो रस ब्रह्मादिक को दुर्लभ सो रस दियो मुरारि।
दरशन सुख नैनन को दीनों रसना को गुन गान।
बचन सुगन श्रवनन को दीनों बदन अधर रसपान।
आलिंगन दीनों सब आँगन भुवन दियो भुजबन्ध।
दीनी चरम विविध गति रस की नासा को सुख गन्ध।
दियो काम सुख भोग परम फल त्वचा रोम आनन्द।
ढिग बैठिबो नित बन ले उछंग नन्द नन्द।
मन को दियो सदा रस भावन सुख समूह की खान।
'रसिक' चरन ब्रज-जुवतिन ही अति दुर्लभ जिय जान।

(कीर्तन संग्रह, भाग-3, पृ. 150-151)

हमारे साहित्य को हरिराय जी की सर्वोत्तम देन वार्ता साहित्य है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' का संकलन-सम्पादन उन्हीं का किया हुआ है तथा उन पर 'भाव प्रकाश' टिप्पणी भी गो. हरिराय जी की ही है।

हमें ज्ञात हुआ है कि इधर गो. हरिराय जी के पद बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं, पर दुर्भाग्यवश वे हमें देखने को नहीं मिल सके। उनके अद्यावधि उपलब्ध पदों के आधार पर हमें यह विश्वास है कि इन पदों का समुचित विश्लेषण एवं मूल्यांकन भविष्य में कवित्व की दृष्टि से भी उन्हें महत्त्वपूर्ण सिद्ध करेगा।

श्री जगन्नाथ कविराय

श्री जगन्नाथ गोस्वामी विट्ठलनाथ के दौहित्र थे। इनकी माँ यमुना जी विट्ठलनाथ जी की चौथी पुत्री थीं। इस प्रकार इनका उपस्थिति-काल 17वीं शती का अन्तिम एवं 18वीं शती का प्रथम चरण माना जा सकता है। संस्कृत में इनका 'गंगालहरी' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ब्रजभाषा के कुछ पद कीर्तन संग्रहों में उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरणार्थ एक पद यह है—

कान्ह रस मीनी ग्वालिनी और गौरस तजि कुल कान।
ना घर में ना अंगना वाको मन जो लाज के पान।
जोवन रूप रिझोते नैननि में, वाकी परी चितवन की बान।
डफ मुरली सुनि गयी कोर तजि, पानी के उत्तर ठान।
खेलत मोहन गहि काजर दै, हँसी पीत पट तान।
जगन्नाथ कविराय के प्रभु सों, फाग खेलत खिलरान।

(कीर्तन संग्रह, भाग-2, पृ. 134-135)

कवित्व की दृष्टि से यह पद अष्टछाप की परम्परा में होने के साथ ही रसात्मक भी है।

श्री गिरधर जी (तृतीय घर)

संवत् 1662 जन्म-संवत् है। इनके 6 ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें से तीन गद्य ग्रन्थ हैं।

(1) सर्वोत्तम बधाई, (2) सर्वोत्तम के पद, (3) स्फुट कीर्तन (पद्य), (4) तृतीय गृह की उत्सव मालिका, (5) शरणमन्त्र व्याख्या, (6) सज्ञानपट को खयाल (गद्य)।

जीवन के विषय में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है। तीनों काव्य-ग्रन्थ भी वस्तुतः स्फुट पद ही हैं। यत्र-तत्र कीर्तन संग्रहों में इन पदों को देखा जा सकता है। अलग से कोई ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया है। एक उदाहरण लें—

एक अली भुज गहे एक पटका झकझोरे।
एक धरे हरी दसे एक मुख सों मुख जोरे।
एक कहेरी छांड़िये कहिये गरम दुभाय।
एकन बातन लाय लाल की मुरली लई छिनाय।
छूटन पाओ तबे देवी फगुआ मनमान्यो।
रंगरंग वसन मंगाय दियो जाहि जैसी ही बान्यो।
एक नयन की सैन दे एक नतन मुसिक्याय।
एक आको मर लें चले हरी सबको भलो मनाय।
नाना भोग विलास रास बृन्दावन कीनों।
हरखी वल्लभी नारि परम सुख सबको दीनों।
मदन लजानों देख के कमल नयन की केलि।
गिरधर पिय आये घरे सब सुख सागर झेलि।

(कीर्तन संग्रह, भाग-2, 144)

उनकी रचनाओं में ब्रजभाषा का परिनिष्ठित रूप या प्रवाह उपलब्ध नहीं होता। ऐसा लगता है कि यह ब्रजभाषा-भाषी की रचना नहीं है।

श्री ब्रज भूषणजी (कांकरौली)

आपका जन्म 1765 ई. में हुआ था। 18वीं शती का उत्तरार्द्ध उनका रचनाकाल रहा है। आपके संस्कृत के भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। (1) स्फुट रचना, (2) लित्य विनोद (गद्य), (3) नीति विनोद, (4) श्याम श्यामा लीला, (5) दान लीला, (6) साँझी, (7) श्री द्वारिकाधीश की प्राकट्य वार्ता, (8) श्री महाप्रभु जी श्री गुंसाई जी का चरित्र। इनमें से काव्य-सम्बन्धी ग्रन्थ प्रथम, चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ ही हैं। नीचे हम उनका रचित एक स्फुट पद दे रहे हैं–

आज बने सखी दूल्हे श्री द्वारकानाथ।
रतन जटित को शीश सेहरो कञ्चन पंहोंची हाथ।
अंग-अंग पीत अमित माधुरी शोभा बरनी न जाय।
श्री ब्रजभूषण चरण शरण गहे जा दिन किये सनाथ।

(कीर्तन संग्रह, भाग-3, पृ. 130-131)

ये समस्त सम्प्रदाय की लीला-भावना के अनुरूप ही हैं। इसी कारण अष्टछाप की स्पष्ट छाप इन कवियों पर उपलब्ध होती है। ब्रजभूषण जी के पदों में भी लीला-सम्बन्धी नवीनता का अभाव है, परन्तु कवित्व की शक्ति भी उनमें बहुत प्राप्त नहीं होती है। लीलाओं का उन्होंने वर्णन किया है, चित्रण नहीं जबकि काव्य की परिपाटी चित्रण की होती है।

श्री द्वारिकेश जी (पंचमगृह)

इनका जन्म-संवत् 1751 में एवं संवत् 1800 के आसपास मृत्यु हुई थी। निम्नलिखित ग्रन्थ आपके लिखे बताये जाते हैं–

(1) पद्योपदेश, (2) मूल पुरुष, (3) अष्टसखान के दोहा (भाव संग्रह), (4) नित्यलीला, (5) श्री आचार्य जी का जन्म, (6) श्री नाथ जी आदि सात स्वरूप की भावना, (7) धनुमति भावना, (8) उत्सव भावना, (9) फुटकर रचना, (10) यमुना नाम टीका, (11) शिक्षा श्लोक टीका का अनुवाद, (12) भगवदीय गुण मणिमाला।

इनकी रचना गुजराती एवं संस्कृत में भी उपलब्ध है। ब्रजभाषा के पद कीर्तन-संग्रहों में भी मिल जाते हैं।

जेंवत श्री बृषभानुनन्दिनी कान्ह कुँवर की परछाईं।
जोइ सोइ व्यंजन भावत रुचि सों सोइ-सोइ सब ललिता ले आई।
हित सों जिमावत मोहन प्यारौ, मधु मेवा पकवान मिठाई।
अति अनुराग बढ़्यो जु परस्पर, द्वारकेश तहाँ वलि-वलि जाई।

(कीर्तन संग्रह, भाग-3, पृ. 103)

आप पंचम गृह कामवन के अधिपति थे। यह पद युगलोपासना के अन्तर्गत आता है एवं कवि का सखी भाव की ओर सम्मान सूचित करता है।

श्री काका वल्लभ जी

आपका जन्म-संवत् 1703 में हुआ था। मृत्यु संवत् का ठीक निश्चय नहीं है। द्वारकादास परीख इनके निम्नलिखित ग्रन्थ मानते हैं–

(1) 84 वै. का लीला भावना का घोल, (2) 252 वै. का लीला भावना घोल, (3) स्फुट पद रचनाएँ, (4) चरण चिह्न, (5) 52 वचनामृत (गद्य), (6) सर्वोत्तम बधाई।

उनकी रचना के उदाहरण रूप में हम एक पद उद्धृत कर रहे हैं। उनके पद कीर्तन संग्रहों में यत्र-तत्र मिल जाते हैं–

उठे प्रात अलसात कहत मीठी तोतरी बात।
माँगत है सद माखन लाई है यशोदा भात।।
वाजत नूपुर सुहात नाचत त्रैलोकनाथ।
देखत सब गोपी वाल नाहीने अघात।।
नन्द नन्दन सुखपाइ चिर जीयो री कन्हाई।
निरखत सुख या ढोटा को जीजत दै माई।।
बालकेलि देखा आयी रोम-रोम सचु पाई।
'वल्लभ' हरख निरख लेत हैं बलाई।।[60]

उपर्युक्त पद में अनुप्रास की आन्तरिक स्थापना छन्द को अतिरिक्त सांगीतिक गुण से मण्डित कर देती है।

कृष्ण जीवन लछी राम

ये गोकुलनाथ जी के शिष्य थे। 18वीं शती के पूर्व भाग में इनकी उपस्थिति अनुमानित है—क्योंकि संवत् 1698 तक गोकुलनाथ जी ही जीवित रहे थे। इनका लिखा 'करुणा भरण' नाटक प्रसिद्ध है। कीर्तन-संग्रहों में आपके कुछ फुटकर पद भी प्राप्त होते हैं। एक उदाहरण यह है—

चलो सखी बाग तमासे प्यारो मोहन खेलत होरी।
सगरी सखी मिलि देखन निकसी, पातरी कुँवारी गोरी भोरी।
काहू है गुलाब काहू पै केसर, अबीर लिये भरि-भरि झोरी।
'कृष्ण जीवन' लछीराम के प्रभु बने किशोर किशोरी।

(कीर्तन संग्रह, भाग-2, पृ. 152)

अरे ढोटा भर देई यमुनजल मेरी सौं तु मो तन चिते चोरे।
मेरे संग की दूर निकसि गयी मोहि ठाढ़ी कीनी।
भरिये नागर जिन हित बोरे।
बाट घाट में रोकत झगरत रही रैन वितबो रे।
कृष्ण जीवन लछीराम के प्रभु माई अकेली जन जिन निरवोरे।

(कीर्तन संग्रह, भाग-3, पृ. 179)

आली री मन्द मन्द मुरली धुनि बाजत नृत्यत कुँवर कन्हैया
तैसीये शरद की चाँदनी, निरमल तैसी बनी दुल्हैया
चन्दन की खार कीये और बनमाल हिये कंचन की बेलीमानों बनी दुल्हैया
कृष्ण जीवन लछीराम के प्रभु प्यारे दौड़कर लेत बलैया।

(कीर्तन संग्रह, भाग-3, पृ. 179)

नागरीदास

नागरीदास का वास्तविक नाम सावन्त सिंह था। नागरीदास उनका भक्ति-क्षेत्र का नाम है। ये किशनगढ़ के राजा महाराज सिंह के पुत्र थे। संवत् 1756 में इनका जन्म हुआ था। मध्यकाल में हिन्दी में अनेक नागरीदास हो गये हैं परन्तु उनमें सबसे अधिक प्रमुख, महत्त्वपूर्ण एवं उत्कृष्ट प्रस्तुत नागरीदास ही हैं।

बाल्यावस्था से ही सावन्त सिंह बड़े वीर एवं साहसी थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् इन्हें राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था, परन्तु छोटे भाई बहादुर सिंह

ने, जिस समय ये दिल्ली में ही थे, गद्दी पर अधिकार कर लिया। कुछ दिनों तक सिंहासन प्राप्त करने के लिए राजनीतिक कुचक्रों में वे फँसे रहे, परन्तु उसे प्राप्त करने में कृतकार्य नहीं हो सके। एक बार मराठों से सहायता लेने के लिए दक्षिण जा रहे थे, रास्ते में वृन्दावन में किसी वैष्णव ने इनसे कहा कि राज्याधिकार प्राप्त करने का योग आपको नहीं आपके पुत्र को है। आपको तो भगवद्भजन करना चाहिए। उसके परामर्श को स्वीकार कर इन्होंने अपने पुत्र सरदार सिंह को बहादुर सिंह के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजा और स्वयं वृन्दावन में रहकर भगवद्भजन करने लगे। इनके भाई ने इनके पुत्र से सन्धि कर ली और राज्य का एक भाग सरदार मिंह को दे दिया। संवत् 1814 में सावन्त सिंह ने वृन्दावन से आकर सरदार सिंह का राजतिलक किया और पुनः वृन्दावन चले गये। इनकी भगवद्भक्ति-निष्ठता का सूचक सवैया हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं जो कि उन्होंने जयपुर के राजा सवाई माधव सिंह के अनेक प्रश्नों के उत्तर में कहा था—

जाति के हम हैं तो ब्रजवासी जू ना रही औरहु जात की बाधा।
देश है घोष नै चाहत मोख को तीरथ श्री जमुना सुख साधा।
सन्तन को सतसंग आजीविका कुंज विहार अहार अगाधा।
नागर के कुलदेव गोवर्धन मोहन मन्त्र अरु इष्ट है राधा।

नागरीदास जी वल्लभ सम्प्रदाय के गोस्वामी रणछोड़ जी के शिष्य थे।[61] डॉ. फ़य्याज़ अली खां ने उन्हें परम पुष्टिमार्गीय माना है।[62] इसके अतिरिक्त मिश्रबन्धु, प. रामचन्द्र शुक्ल एवं विगोगी हरि ने भी उन्हें वल्लभ मतानुयायी माना है। इधर डॉ. नारायण दत्त शर्मा ने निम्बार्क सम्प्रदाय के कृष्णभक्त हिन्दी कवियों पर लिखे अपने शोध-प्रबन्ध में उन्हें निम्बार्क सम्प्रदाय का अनुयायी बताया है।[63] हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में उन्होंने वैष्णवीय दीक्षा किसी पुष्टिमार्गीय गुरु से ली है किन्तु बाद को वे अपने परिवार की परम्पराओं के अनुरूप ही निम्बार्क सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट हो गये थे। इसी कारण उनके काव्य में पुष्टिमार्ग की ब्रजलीला, गोपी भाव की साधना तथा निम्बार्कीयों का निकुंजलीलागान तीनों ही उपलब्ध हो जाते हैं। पीछे जिस सवैये को हम उद्धृत कर चुके हैं, उसमें राधा को इष्ट मानना इन्हें सखी-सम्प्रदायों के निकट ले आता है। यों उनके काल तक पुष्टिमार्ग में सखी-भावना का प्रवेश पर्याप्त मात्रा में हो चुका था।

नागरीदास का स्वर्गवास संवत् 1821 रु में वृन्दावन के कृष्णगढ़ राज्य की कुंज में हुआ था। वर्तमान समय में इसे नागरकुंज कहते हैं। वहाँ पर इनकी छतरी, चरण चिह्न आदि विद्यमान हैं। समाधि पर उनकी प्रशस्ति में एक लेख भी खुदा हुआ है तथा भादों सुदी 5 संवत् 1821 मृत्युतिथि भी दी हुई है।

नागरीदास बड़े कला-प्रेमी और कवि थे। काव्यकला, चित्रकला एवं संगीत के प्रेमी ही नहीं गहरे पारखी भी थे। कवियों के वे आश्रयदाता थे। कहते हैं कि कुछ

कवि उनके साथ बराबर निवास करते रहे। ब्रजभाषा के विख्यात कवि घनानन्द इनके परम मित्रों में थे।[64] नागरीदास का साहित्य मात्रा में विशाल है। इनके 69 ग्रन्थों का संग्रह 'नागर समुच्चय' के नाम से बहुत पहले बम्बई से प्रकाशित हुआ था। यह वैराग्य सागर, सिंगार सागर और पद सागर नामक तीन खण्डों में विभाजित है। उसमें संगृहीत ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—

1. वैराग्य सागर

(1) भक्तिमग दीपिका, (2) देहदसा, (3) वैराग्य बटी, (4) रसिक रत्नावली, (5) कलि वैराग्य वल्ली, (6) अरिल्ल पच्चीसी, (7) छूटकपद, (8) छूटक दोहा, (9) तीर्थानन्द, (10) रामचरित्रमाला, (11) मनोरथ मंजरी, (12) पद प्रबोधमाला, (13) जुगल भक्त विनोद, (14) भक्ति सार और (15) श्रीमद्‍भागवत पारायन विधि प्रकास।

2. शृंगार सागर

(1) ब्रजलीला, (2) गोपी प्रेम प्रकाश, (3) पद प्रसंगमाला, (4) ब्रज बैकुण्ठ तुला, (5) ब्रजसार, (6) बिहार चन्द्रिका, (7) भोर लीला, (8) प्रातरस मंजरी, (9) भोजनानद-अष्टक, (10) जुगलरस माधुरी, (11) फूलविलास, (12) गोधन-आगम, (13) दोहनानन्द-अष्टक, (14) लगानाष्टक, (15) फागविलास, (16) ग्रीष्मविहार, (17) पावस पचीसी, (18) गोपी-बैन विलास, (19) रास-रसलता, (20) रैनरूप रस, (21) सीतसार, (22) इश्क चिमन, (23) छूटक-दोहा मजलस मण्डन, (24) रास अनुक्रम के दोहे, (25) अरिल्लाष्टक, (26) सदा की माँझ, (27) वर्षा ऋतु की साँझ, (28) होरी की माँझ, (29) शरद की माँझ, (30) श्री ठाकुर जी के जनम उच्छब के कवित्त, (31) श्री ठकुरानीजी के जनम उच्छब के कवित्त, (32) साझी के कवित्त, (33) साँझी फूल बीननि समय सम्वाद अनुक्रम, (34) रास के कवित्त, (35) चाँदनी के कवित्त, (36) दिवारी के कवित्त, (37) गोवर्द्धन धारन के कवित्त, (38) होरी के कवित्त, (39) फाग खेल समैं अनुक्रम, (40) वसन्त वर्णन के कवित्त, (41) फाग विहार, (42) फाग गोकुलाष्टक, (43) हिण्डोरा के कवित्त, (44) वर्षा के कवित्त, (45) छूटक कवित्त, (46) बन विनोद, (47) बालविनोद, (48) सुजनानन्द, (49) रास अनुक्रम के कवित्त, (50) निकुंज विलास और (51) गोविन्द परचई।

3. पद-सागर

(1) बन जन प्रशंसा, (2) पद मुक्तावली और (3) उत्सवमाला।

उपर्युक्त 69 ग्रन्थों के अतिरिक्त नागरीदास के बनाये नौ ग्रन्थ और कहे जाते हैं। उनके नाम ये हैं–

(1) छूटक विधि, (2) शिखनख, (3) नखशिख, (4) चरचरियाँ, (5) रेखता, (6) बैन विलास, (7) गुप्त रस प्रकाश, (8) धन्य धन्य और (9) ब्रज सम्बन्धी नाममाला।

इस प्रकार नागरीदास के ग्रन्थों की कुल संख्या 78 होती है, परन्तु जैसा कि पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, इन सभी को ग्रन्थ की संज्ञा देना उचित न होगा। क्योंकि इनमें कुछ तो ऐसे हैं जिनमें पाँच-पाँच और दस-दस पद्यों से अधिक नहीं हैं। वास्तव में ये ग्रन्थ न होकर वर्ण्य-विषय के शीर्षक मात्र हैं।[65]

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से नागरीदास राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं के गायक थे। वल्लभ सम्प्रदाय में विरह को पर्याप्त मान मिला था पर जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, रसोपासकों में मिलन ही मान्य है, विरह एवं मान वहाँ पर 'छद्म' हैं। 18वीं शती तक आते-आते रसोपासकों द्वारा निर्मित वातावरण ही अधिक मुख्य हो उठा था। इसी प्रभाव के अन्तर्गत नागरीदास की सप्रयोगपरक रचनाएँ अधिक भास्वर एवं प्रभविष्णु प्रतीत होती हैं, परन्तु सब मिलाकर उनका काव्य ब्रजलीलागान की परम्परा के भीतर आता है और इसी कारण पूर्व राग, मान, विरह आदि के भी मार्मिक चित्र उनमें उपलब्ध होते हैं।

भक्तिकाल के कवियों की अभिव्यंजना के मुख्य काव्यरूप गेयपद थे। पर नागरीदास एवं उनके अन्य सहयोगी कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा आदि अन्य छन्दों का सुष्ठु प्रयोग करते प्राप्त होते हैं। काव्यगत भावभूमि के सकुचन की क्षतिपूर्ति इन लोगों ने छन्दों के नक्काशीदार प्रयोगों, अलंकार-वैचित्र्य, चित्रात्मकता एवं वाग्वैदग्ध्य से करनी चाही है। नागरीदास प्रारम्भ से ही चित्रकला के शौकीन थे, उनके संरक्षण में किशनगढ़ शैली के कितने ही मनोहर चित्र लिखे गये थे। चित्रकला की इस रंग एवं रेखा-योजना का प्रभाव नागरीदास की कविता पर भी पड़ा था। इस चित्रता कां एक उदाहरण देखिये–

भांदों की कारी अंध्यारी निसा, झुकि बादर नन्द फुही बरसावै।
स्यामा जू आपनी ऊँची अटा में छकी रसरीति मलारहिं गोवैं।
ता समै मोहन की हम दूरि ते आतुर रूप की भीख यों पावैं।
पौन मया करि घूँघट टारे दया करि दामिनी दीव दिखावैं।

(नागर समुच्चय से)

वल्लभ सम्प्रदाय के कुछ अन्य कवियों के नाम और उनकी रचनाओं के शीर्षक हम दे रहे हैं। सम्प्रदाय में इन नामों के साथ इन ग्रन्थों की स्वीकृति है, परन्तु हमें प्रयास करने पर भी इन लोगों की रचना के उदाहरण नहीं मिल सके। इसी कारण केवल नाम उद्धृत कर रहे हैं। इनके रचनाकाल का निर्णय हमने वल्लभीय सुधा (वर्ष

6 अंक 2) में प्रकाशित पुष्टिमार्गीय विद्वान द्वारकादास परीख के आधार पर किया है।

श्री ब्रजभूषण जी

जन्म 1715 वि. है। इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है (1) 84 वै. का घोल, (2) नवरत्न का घोल, (3) सर्वोत्तम का घोल, (4) स्फुट घोल, (5) श्री हरिराय जी का घोल।

श्री सुन्दरवतां बहु जी

ये श्री हरिराय जी की बहू थीं। जन्म-मृत्यु संवत् का पता नहीं है, पर इतना निश्चय है कि रचनाकाल 18वीं शती था। ब्रजभाषा में इनकी कुछ स्फुट रचनाएँ मात्र हैं तथा गुजराती में 'चिन्तन घोल' नामक एक ग्रन्थ है। लगता है कि इनकी मातृभाषा गुजराती थी।

श्री ब्रजराय जी (सूरत)

जन्म-संवत् 1682 माना जाता है। रचनाकाल 18वीं शती का प्रथम भाग। इनके द्वारा रचित तीन ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं :

(1) नित्य सेवा विधि, (2) स्फुट कीर्तन, (3) सर्वोत्तम जी का घोल

ललित सम्प्रदाय का 18वीं शती का साहित्य : संक्षिप्त रूपरेखा

ललित सम्प्रदाय का उद्भव 18वीं शती के अन्तिम चरण में होता है। राधा-प्राधान्य इस सम्प्रदाय में अपनी चरम सीमा को प्राप्त करता है। काव्य की दृष्टि से यह सम्प्रदाय 19वीं शती में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी बनता है, जब किशोरी अलि एवं अलबेली अलि जैसे कवि इस सम्प्रदाय में उत्पन्न होते हैं। हमारे आलोच्य युग में केवल इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक महात्मा वंशी अलि जी ही आते हैं।

ललित सम्प्रदाय के कवि

वंशी अलि जी

ललित सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक थे। उनके पूर्वज नवला वंश के प्रसिद्ध नारायण मिश्र थे। नारायण मिश्र भी भक्त रूप में प्रख्यात थे। नाभादास ने अपने भक्तमाल में

उनके ऊपर भी एक छप्पय लिखा है।[66] श्री नारायण मिश्र जी सारस्वत ब्राह्मण थे एवं लाहौर से आकर मथुरा रहने लगे थे। उन्हीं के वंश में नवीं पीढ़ी में वंशी अलि का जन्म आश्विन शुक्ल 1 संवत् 1764 में हुआ। उनके घर का नाम वंशीधर था। उनके पिता प्रद्युम्न मिश्र का दिल्ली के बादशाह बहादुरशाह के दरबार में अच्छा सम्मान था। वे भागवत के ज्ञाता पण्डित थे। भक्ति और भागवत की परम्परा वाले इस वंश में बालक वंशीधर को प्रारम्भ से ही भक्ति साधना का वातावरण मिला और शीघ्र ही उनके हृदय में उपस्थित भक्ति का अंकुर लहलहा उठा।

उनके बारे में प्रसिद्ध है कि वे राधिका जी की वंशी के अवतार थे तथा श्री राधा के नाम में उन्हें शैशव से ही रुचि थी। बिना राधा नाम सुने वे माँ का दुग्धपान भी नहीं करते थे। 15 वर्ष की आयु में उनका विवाह हो गया था एवं बीस वर्ष की आयु में वे एक पुत्र के पिता भी हो गये। संवत् 1794 में वे वृन्दावन आ गये एवं 1798 में तो उन्होंने वैराग्य ही ले लिया। उनका गोलोकवास संवत् 1822 में आश्विन शुक्ल एक को वृन्दावन के गोविन्द घाट के ललित कुंज में हुआ।

भागवत कथा के वे भी मर्मज्ञ व्याख्याता थे तथा राधा नाम को दार्शनिक पूर्णता तक उन्होंने पहुँचा दिया। राधा परतत्त्व सिद्ध कर दी गयीं। सिद्धान्तों की चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। अतः यहाँ हम उसे विवेचित नहीं करेंगे। वंशी अलि उनका सखी भाव का साधनागत नाम है।

उन्होंने 'राधा-तत्त्वप्रकाश' तथा 'राधा-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थों की संस्कृत में रचना की। इसके अतिरिक्त मोक्षवाद, शक्ति स्वातन्त्र्य परामर्श एवं राधोपनिषत् की टीकाएँ भी उन्होंने लिखी हैं, परन्तु वे ब्रजभाषा के मर्म के भी पैने जानकार थे। उन्होंने रासपंचाध्यायी एवं हृदय सर्वस्व के अतिरिक्त लीला के तमाम पदों की भी रचना की है। उनकी वाणी में सिद्धान्त के 41 पद, वात्सल्य के 49 पद, माधुर्य शत के 124 पद तथा अन्य उत्सव-सम्बन्धी पद भी प्राप्य हैं। विभिन्न बधाइयाँ, वंशावली, हृदय सर्वस्व एवं महारास भी इस वाणी में संगृहीत है। इसके अतिरिक्त भी उनके पद यत्र-तत्र मिल जाते हैं। प्रस्तुत लेखक को इस सम्प्रदाय की एक महत्त्वपूर्ण वाणी प्रति मिली है, उसमें यद्यपि मुख्य रूप से 'किशोरी अलि' जी की रचनाएँ संगृहीत हैं पर कुछ पद एवं उनका राधाष्टक भी उसमें सम्मिलित है।

वंशी अलि जी अत्यन्त मधुर एवं सरस कवि हैं। सहज, अकृत्रिम ब्रजभाषा में अत्यन्त स्वाभाविक शैली में उन्होंने अपनी राधानिष्ठा एवं कुंजविहार को प्रकट किया है। अलंकारों की चमक-दमक उनमें नहीं है, लक्षणा-व्यंजना के मार्मिक प्रयोग भी वंशी अलि जी की रचनाओं में प्राप्त नहीं होते, परन्तु उनके सिद्धान्त-कथन एवं लीला-गान अपनी सादगी व अकृत्रिमता में तथा भाव-संवेदना में मन को सहज ही आकर्षित कर लेते हैं। उनके हृदय सर्वस्व के कुछ दोहे लें—

सेव्य सदा श्री राधिका सेवक नन्द कुमार।
पूजे सेवक सहचरी सेवा विपुन विहार।।
नयनन से शृंगार सब होत है अंगन माँझ।
विहिरन में बूड़े रहें नहीं जानत दिन साँझ।।
नयन नासिका राधिका राधा मन विच आइ।
विछुरत नाहीं राधिका मो को परोसुभाय।30
राधा अंग सिगार हो जावक देहुँ पाँव।
राधा ही सो झगर हों मोहि नहीं कहि ठाँव।38

वंशी अलि जी के किशोरी अलि एवं अलबेली अलि नामक दो समर्थ शिष्य थे जिन्होंने प्रभूत साहित्य की रचना की। यह साहित्य मात्रा की ही दृष्टि से नहीं काव्य-गरिमा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु इन दोनों महानुभावों का रचनाकाल 19वीं शती का प्रारम्भिक अंश है, इसी कारण हम उनकी विस्तृत चर्चा नहीं कर रहे हैं।

18वीं शती का राम भक्तों का ब्रजभाषा साहित्य : पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

रामभक्ति काव्य एवं गोस्वामी तुलसीदास के नाम बहुत दिनों तक हिन्दी में पर्यायवाची से बने रहे। कुछ अन्य परवर्ती लोगों के नाम सामने आये भी, पर आचार्य शुक्ल जी ने उनकी ऐसी तीखी आलोचना[67] की कि बहुत दिनों तक उन कवियों के बारे में गम्भीरतापूर्वक सोचा ही नहीं गया, पर इधर पिछले कुछ वर्षों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. भगवती प्रसाद सिंह, श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' एवं डॉ. कामिल बुल्के आदि के सद्प्रयत्नों से गो. तुलसीदास-परवर्ती रामभक्ति का प्रभूत साहित्य सामने आया है। इस साहित्य के विलेषण से ज्ञात होता है कि शृंगारी उपासना इसमें प्रमुख है। यद्यपि शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य भावों की भी स्वीकृति इस साहित्य में है, परन्तु इन सभी भावों को सीता-राम के विहार में ही अन्ततः नियोजित किया गया है। कृष्ण की शृंगारी उपासना का इस सम्प्रदाय के साहित्य पर गहरा प्रभाव है। लीलागान की दृष्टि से राम के राजा रूप का ऐश्वर्य एवं उपासना का माधुर्य, दोनों ही इसमें स्वीकृत रहे। 17वीं शती में अग्रदास के साथ यह परम्परा प्रारम्भ होती है, 18वीं शती में बाल अली, राम सखे, मधुराचार्य आदि इसे प्रकट करते हैं परन्तु अपने चरम वैभव पर यह साधना और साहित्य 19वीं शताब्दी में पहुँचती है। रीतिकालीन शृंगार की छाया भी इस साहित्य पर बहुत स्पष्ट है।

इस सम्प्रदाय का अधिकांश साहित्य अवधी में लिखा गया है, यद्यपि ब्रजभाषा में भी यथेष्ट साहित्य की रचना हुई है।

रामोपासक कवि

बालानन्द

डॉ. भगवती प्रसाद सिंह ने इनका जन्म साम्प्रदायिक ग्रन्थों के अनुसार सं. 1710 निर्धारित किया है।[68] ये राजस्थान के किसी गाँव में पैदा हुए थे एवं बाल्यावस्था के प्रथम चरण में ही विरक्त हो गये थे।

बालानन्द जी का स्थान वैष्णव सम्प्रदायों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। 17वीं-18वीं शताब्दियों में जब शैव साधुओं के अत्याचार बहुत बढ़ गये थे, तब जयपुर में वैष्णवों ने अपनी रक्षा के उपाय सोचने के लिए संवत् 1750 के आसपास एक सम्मेलन बुलाया था। इस सम्मेलन में वैष्णवों को भी फौजी ढंग पर शिक्षित करने का निश्चय हुआ था। इस वैष्णव अनी एवं अखाड़ों के संगठन का भार बालानन्द जी को ही दिया गया था। अपनी संगठन-शक्ति, प्रतिभा एवं शौर्य से उन्होंने शीघ्र ही वैष्णवों की एक व्यवस्थित सेना खड़ी कर दी, इस व्यवस्था ने शैवों के आतंक को समाप्त कर दिया।

बालानन्द जी राम के बलरूप के उपासक थे; गो कि ऐश्वर्य एवं माधुर्य रूपों के प्रति भी उनके मन में आदर का भाव कम न था। काव्य-रचना की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति नहीं प्रतीत होती, केवल कुछ पद प्रकीर्ण रूप से यत्र-तत्र मिल जाते हैं। उनकी रचना का एक उदाहरण देखिए—

कमल मुखी कमला मुख हेरें, प्रेम प्रीति रस भीजै।
मन क्रम बचन तुम्हें प्रभु सेवै, चपला अचल करीजै।
मन्द-मन्द मुसकात छबीले, बोलत बचन रसीले।
बालानन्द को देहे किंकरी, श्रीपति ऐसे सुसीले।

बालकृष्ण नायक 'बाल अली'

बाल अली का रचनाकाल विक्रम की 18वीं शती का पूर्वार्द्ध है। उनका ग्रन्थ 'ध्यान मंजरी' सं. 1726[69] में लिखा गया था तथा नेह प्रकाश का सृजनकाल सं. 1749[70] है। प्रारम्भ में वे रामानुजाचार्य की वैधी भक्ति वाले सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। पर उस युग के व्यापक प्रभाव के अन्तर्गत उन्होंने आचार-प्रधान इस साधना को छोड़कर रैवासा जाकर अग्रदास की परम्परा के पाँचवें आचार्य चरणदास से रसिक-साधना की दीक्षा ले ली। चरणदास जी के बाद वे रैवासा गद्दी पर आचार्य के रूप में अधिष्ठित हुए थे।

उनके पदों में 'बाल अली' की छाप मिलती है। उनके बनाये हुए आठ ग्रन्थों

का पता लगता है—(1) ध्यान मंजरी, (2) नेह प्रकाश, (3) सिद्धान्त तत्त्व दीपिका, (4) दयाल मंजरी, (5) ग्वाल पहेली, (6) प्रेम पहेली, (7) प्रेम परीक्षा, (8) परतीत परीक्षा। इन आठों ग्रन्थों में काव्य एवं सिद्धान्त की दृष्टि से प्रथम तीन ध्यान मंजरी, नेह प्रकाश एवं सिद्धान्त तत्त्व दीपिका अधिक महत्त्वपूर्ण है। नेह प्रकाश के 148 दोहों में सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार आह्लादिनी शक्ति का विचार, सखियों की नामावली व उनकी सेवाओं का विवरण प्रारम्भ में ही उपस्थित किया गया है। राम का सीता से प्रणय-निवेदन भी है एवं रस, प्रेम तथा रूप के विलास हैं। सखियों के राम और जानकी के प्रति प्रीतिवचन तथा सीता की छवि का भव्य वर्णन भी इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। सीता की छवि का एक प्रभावशाली वर्णन देखिए—

अरुण वरण तब चरण नख हैं कि तरुणि शिर मौर।
अनुरागी दृग लाल के बसे आय इहि ठौर।
सब दिशि कंचन मय करत तन-तन जोति अनूप।
मनु झर झरि अंगन परै अंग रमावै रूप।
सिय तव रूप अपार पिय पियतन नैन अघाय।
भये चहत सुर राज से नियरे अति अकुलाय।

ये दोहे अपने कसाव एवं अभिव्यक्ति-मुद्रा में रीतिकालीन कवियों के दोहों के समान ही हैं। यह ध्यान रहे कि बिहारी हमारे प्रस्तुत कवि के समकालीन थे। यह बात सूचित करती है कि दोहों के द्वारा शृंगारी अभिव्यक्ति की एक व्यापक परम्परा थी, जिसमें मूर्धन्य बिहारी सिद्ध हुए, पर उनके आसपास के स्तर पर ही अन्य कवि भी अभिव्यक्तियाँ प्रकाशित करते रहे। 'बाल अली' जी ऐसे ही श्रेष्ठ कवियों में थे।

उन पर सूफ़ी प्रबन्ध पद्धति का भी गहरा प्रभाव मिलता है। सिद्धान्त तत्त्व-दीपिका में सूफ़ी-पद्धति के प्रभाव में समासोक्ति एवं अन्योक्ति के आधार पर परमतत्त्व की रसिकजनसम्मत व्याख्या उपस्थित की गयी है। सूफ़ी-प्रभाव की दृष्टि से यह ग्रन्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा अवधी है। 9 अर्द्धालियों के बाद दोहे का क्रम इसमें भी स्वीकार किया गया है। इसमें प्रभावती साधन है, सम्भ्रमा माया है, कृपावती गुरु हैं, भगवत्प्राप्ति इष्ट मिलन है और रसिक-साधना के अनुसार मधुरा भक्ति का सन्देश दिया गया है। इस ग्रन्थ में 36 प्रकाश हैं। ब्रजभाषा का न होने के कारण हम यहाँ उसकी विस्तृत विवेचना नहीं करेंगे। 'ध्यान मंजरी' में भी रसोपासना का ही निरूपण किया गया है। भाषा अत्यन्त मुहावरेदार भावना तीव्र एवं रस साधना का सूक्ष्म विवेचन इसमें उपलब्ध है।

सुनि सिय चरित सुमुखि मन हरष्यो, उर आनन्द जलद क्यों बरष्यो।
सिय पद प्रेम बढ़े नित वाकें और न सुधि आवै उर ताकै।
उलही किधों सिंगार बेलि चह मदन सुहाई।
नाभि कूप के सलिल सो सींचि बढ़ाई।

रामप्रिया शरण 'प्रेमकली'

जनकपुर की गद्दी पर ये महन्त थे तथा संवत् 1760 के लगभग विद्यमान थे। 'रामायण' के अनुकरण पर लगभग 634 पृष्ठों के 'सीतायन' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की उन्होंने रचना की थी। इस ग्रन्थ में सीता-चरित्र का अत्यन्त उदात्त एवं महिमामण्डित चित्रण हुआ है। बालकाण्ड, मधुरमाल काण्ड, जयमाल काण्ड, रसमाल काण्ड, सुखमाल काण्ड, रसाल काण्ड और चन्द्रिका काण्ड इन सात काण्डों में पूरा ग्रन्थ विभाजित है, पर जैसा कि इनके शीर्षकों से ही अनुमानित है, इस ग्रन्थ में सीता-चरित्र का परिपाटी-विहित परम्परा से प्राप्त चित्रण नहीं है। इसमें रसिक-भावना के अनुरूप केवल बाल एवं यौवन की अवस्थाओं की विहार-लीला का ही वर्णन किया गया है। इनमें से बालकाण्ड और मधुरमाल काण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। रहस्य प्रमोदबन, जानकी घाट, अयोध्या एवं छतरपुर राज्य पुस्तकालय में ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित हैं। रसिक-साधना की दृष्टि से वास्तव में यह बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मधुरमाल काण्ड में कवि ने अपना परिचय भी इस प्रकार दिया है–

प्रिया शरण गुरु भावना अरु निज भाव समेत।
युगल नायका करि कहौ प्राप्ति भाव के हेत।
नेह कली आचार्य मम प्रेम लली मम रूप।
युगल सुनयना की सुता अद्भुत युगल स्वरूप।
वय सन्धिनी मधुराननी, परम मनोहर अंग।
गौर वरण सिय कुंज में, रहत सदा सिय संग।
मधुर भावना युगल की, अरु शृंगार रस रीति।
सो सब वर्णन करत हौं, अति प्रसन्न अति प्रीति।

इस प्रकार उन्होंने अपने गुरु का नाम, अपना साधनागत स्वरूप, सेवा और स्थान तथा उपासना भाव एवं ग्रन्थ अभिव्यंजित भावना को स्पष्ट कर दिया है।

सीतायन की भाषा टकसाली अवधी है, पर बीच-बीच में ब्रजभाषा का भी पुट उन्होंने दिया है।

जानकी रसिक शरण 'रसमाला'

जिस प्रकार 'सीतायन' की रचना संवत् 1760 में ही हुई थी, वैसे ही 'रसमाल' जी का 'अवधी सागर' भी संवत् 1760 में ही सम्पूर्ण हुआ था। 'रसमाला' उनका साधनागत नाम है एवं माधुर्यभावपरक सीताराम की बिहार-क्रीड़ाओं का वर्णन अवधी सागर में हुआ है। 'अवधी सागर' की रचना भी अवधी में ही हुई है, इसी कारण हम विस्तार

से उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, पर उन्होंने कुछ फुटकर पद एवं भजन आदि भी लिखे हैं और इनमें अवधी के साथ ही 'ब्रजभाषा' का भी प्रयोग हुआ है। इनके छन्दों में रसमाला के अतिरिक्त 'रस मालिनि', 'रस मालिका' आदि अन्य छापें भी मिलती हैं। उनकी रचना का एक उदाहरण हम नीचे दे रहे हैं—

झूलैं सिय पिय संग हिण्डोरे।
प्रीतन के संग रमक बढ़ावत साँवरी सखियाँ चहु ओरैं।
घन गरजत बिजुली अति चमकत, बरसत रिमझिम पवन झकोरैं।
'रस मालिनि' प्रीतम मनमोहन बोलत खगरव मोर चकोरैं।

रूपलाल 'रूपसखी'

बाल अली के शिष्य थे। 'होरी' नामक रचना प्राप्त है, इनका समय 18वीं शती का मध्यभाग है।

फागुन भागन भरि चढ्यो अलिन बढ्यो अनुराग।
अब हिलमिल हम खेलिबो लली लाल संग फाग।
लालन लालन की जरी, भरी रंग पिचकारि।
आंस छोड़ छबि सो दिसि, सिय उर ओर निहारि।
दुरि विमला तब दौरि के उठी, हिलिमिलि नवल किशोर।

प्रेमसखी

विक्रम की 18वीं शती के अन्तिम भाग में प्रेमसखी जी विद्यमान थे। ये महात्मा रामप्रसाद बिन्दुकाचार्य के समकालीन थे। कहते हैं कि प्रयाग के निकट शृंगवेरपुर में एक ब्राह्मण के घर इनका जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में ही वैराग्य ग्रहण कर ये महात्मा रामदास गूदर के शिष्य हो गये थे। मिथिला, अयोध्या आदि में घूमते-घामते एवं रसिक-साधना की दीक्षा लेते हुए ये चित्रकूट आ गये थे एवं वहीं पर रहकर राम-सीता की दिव्य क्रीड़ाओं का चित्रण एवं चिन्तन करते रहे। कहते हैं कि रामप्रसाद बिन्दुकाचार्य से अवध के नवाब सआदत अली खाँ ने पूछा कि अपनी टक्कर के दूसरे भक्त का नाम लीजिए और उन्होंने 'प्रेम सखी' का सादर उल्लेख किया। 'सीताराम नखशिख' उनकी कीर्ति का आधार मुख्य ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'होली' एवं कवित्तादि प्रबन्ध में उनकी फुटकर रचनाओं का संग्रह है। इन छन्दों में भी नित्य विहार का ही वर्णन हुआ है।

सीता-राम के नख-शिख का अत्यन्त मोहक बिम्ब उपस्थित कर देने वाला चित्रण उन्होंने किया है। इस चित्रण को रीतिकालीन कवियों के नख-शिख चित्रणों

की तुलना में सुविधापूर्वक रखा जा सकता है। भाषा एवं शब्द-चयन की खराद, अनुप्रास एवं अलंकारों की सजावट तथा छन्द की सुघरता, सभी दृष्टियों से प्रस्तुत ग्रन्थ साहित्यिक एवं रसात्मक है, सीता के शरीर की रोम राजि का यह वर्णन किसी भी रीतिसिद्ध कवि के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता है परम्परासिद्ध उपमानों का सघन चित्रण इसमें हुआ है—

नीलम नीली कसी ससी है मध्य कंचन के तन
जाति कैधों सिंगार पाँति साजी है।
आयी स्यामताई की निकाई सब सिमिट के
जाहि देखि-देखि रोम-रोम पिय राजी हैं।
झीनी दरसात हैं बिसात छवि सरसात रूप
सुधासर में सँवार-सी विराजी है।
प्रेम सखी मेरी जान सुखमा समूह राजी गुनगन
राजी धौं सिया की रोम राजी है।

यह ग्रन्थ संवत् 1791 में लिखा गया था।

विलास क्रीडाओं के अन्तर्गत निम्न छन्द में राम को नववधू बनाकर सीता के 'हूजूर' में पेश किया जा रहा है—

जावक लगायो जल जात ऐसे पायन में
बिछिया कलित है अधिक छवि छाई है।
घूमि रह्यो घेरवारो लहँगो सबजारंग
नील जरतारी सारी कंचुकी सुहाई है।
प्रेमसखी अंग-अंग भूषण विविध साजि
बहू-बहू कहत वधूटी गहिल्याई है।
सुभगा सखी सिवा जू के तुरत हजूरि
कियो नवल वधूटी एक सासुरे ते आयी है।

इस स्त्रैणता को यदि रसिक-साधना के सन्दर्भ में देखा जाये तो अनुचित ठहराने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

रामसखे

रामसखे का स्थान रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय में अत्यधिक आदरणीय है। वे सख्य भाव के मुख्य प्रतिष्ठापक एवं प्रवर्तक थे। विक्रम की 18वीं शती का अन्तिम चरण एवं 19वीं शती का प्रारम्भिक चरण उनका मुख्य कार्यकाल रहा है। वे जयपुर राज्य के किसी ब्राह्मण के पुत्र थे। कुछ बड़े होने पर रामभक्ति में मग्न

होकर तीर्थयात्रा करते हुए दक्षिण के प्रसिद्ध माध्व केन्द्र 'उडुपी' जा पहुँचे। वहीं उन्होंने तत्कालीन माध्व आचार्य वशिष्ठ तीर्थ से दीक्षा ली। फिर अयोध्या, चित्रकूट, उचेहरा आदि स्थानों पर काफ़ी दिनों तक निवास कर वार्धक्य में मैहर चले गये और वहीं उनकी मृत्यु हुई।

उनके साधनागत भाव के विषय में अष्टछाप के कवियों के समान ही प्रसिद्ध है कि दिन में वे सखा भाव से उपासना करते थे एवं रात को सखी भाव से दम्पति की रासलीला में सेवा करते थे। उनकी 10 कृतियों का उल्लेख डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह ने किया है जो इस प्रकार है—(1) द्वैत भूषण, (2) दान-लीला, 3) पदावली, (4) बानी, (5) रूप रसामृत सिन्धु, (6) मंगल शतक, (7) राममाला, (8) नृत्य राघव मिलन दोहावली, (9) नृत्य राघव मिलन कवितावली, (10) रास्य पद्धति।[71] इसके अतिरिक्त 'जानकी नौ रत्न माणिक्य' नामक ग्रन्थ संवत् 1899 में कानपुर के डायमण्ड जुबली प्रेस से प्रकाशित भी हो चुका है। वास्तव में डॉ. सिंह द्वारा गिनायी गयी दान-लीला, जानकी नौरत्न माणिक्य की ही अंश प्रतीत होती है। इस ग्रन्थ में कृष्ण-लीला के अनुकरण पर दान-लीला चित्रित हुई है। इसके अतिरिक्त राम द्वारा सीता का शृंगार, कुंज विहार, राम-विलास धामलीला एवं नाम की उपासना का आकर्षक एवं भावित वर्णन हुआ है। दान-लीला का एक छन्द इस प्रकार है—

विपिन प्रमोद सो जोरि महा व्है आओ यही लै बड़ी अलबेली।
मानत न डर काहू को नेत कहू पाई अचानक आजु अकेली।
दीजौ हमें करि नेग तुम्हैं भावतौ चित्त की चोर हो रूप नवेली।
बात हमारी सुनो सब कान दे हौ तुम तो दय जोग सवेली।

'नृत्य राघव मिलन' उनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसकी रचना संवत् 1804 में हुई थी। दोहे, चौपाई एवं कवित्त छन्दों में इसकी रचना हुई है। दोहे एवं चौपाइयों की भाषा अवधी है, पर कवित्तों में ब्रजभाषा का प्रचुरता से उपयोग हुआ है। इस ग्रन्थ में सैद्धान्तिक निरूपण की ओर प्रवृत्ति अधिक है, लीला-चित्रण की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। इसकी भाषा अपेक्षाकृत सीधी-सादी है।

राम को रूप अनूप समुद्र में,
आगरि नाव निवाह नहीं है।
आँखिन्ह देखि जु जाति वही सब,
डूबि अथाहन थाह मही है।
घेरि फिरे न घिरावन हार को,
फेरे रहे सो उठाऊ वही हैं।
रामसखे मति चाप करौ,
चित चुम्बक लोइ की लीक सही है।

वेंकटेश्वर प्रेस से संवत् 1779 में मुद्रित उनकी पदावली से एक पद हम उद्धृत कर रहे हैं जिसमें राम-सीता के होली खेलने का शृंगारी चित्रण हुआ है–

अहो पिय राम पकरि सिय लीन्हो कटि पट सखियन छीनो।
होरी समै रास मण्डल में मन भायो सो कीनो।
मुख सों मसलि मैथिली अखियन अंजन दीनो।
रामसखे लखि अवध लाल प्रभु प्यारी के रंग मीनो।

राम प्रपन्नः मधुराचार्य

रसिक-साधना के क्षेत्र में मधुराचार्य का नाम 'मधुर प्रिया' कहा जाता है। वे गलता गद्दी के आचार्य थे और कील्ह स्वामी की पाँचवीं पीढ़ी में थे। कहते हैं कि षड्यन्त्रपूर्वक उनकी गद्दी छीन ली गयी थी, पर वे निर्द्वन्द्व भाव से चित्रकूट चले आये और सारा जीवन रसिक-सिद्धान्तों के विवेचन, विमर्श एवं प्रचार में लगाया। वस्तुतः अब तक प्राप्त साहित्य में मधुराचार्य से बड़ा विद्वान एवं तत्त्व-चिन्तक रामभक्ति की रसिक-शाखा में दूसरा व्यक्ति प्राप्त नहीं होता। दार्शनिक-धार्मिक (फिलोसॉफिकल-थियोलॉजिकल) दृष्टि से गौड़ीय वैष्णव में जो स्थान जीव गोस्वामी का है, वही स्थान रामशाखा में मधुराचार्य जी का है, परन्तु इनका अधिकांश सृजन संस्कृत में है, हिन्दी में कुछ पद मात्र मिलते हैं। संस्कृत में इनके लिखे चार ग्रन्थ कहे जाते हैं–

(1) **भगवद् गुण दर्पण**–जीव गोस्वामी के 'भागवत सन्दर्भ' की भाँति यह भी छह सन्दर्भों में विभाजित था। पर अब केवल 'सुन्दर मणि सन्दर्भ' एवं अधूरा 'वैदिक मणि सन्दर्भ' प्राप्त होते हैं। सुन्दर मणि सन्दर्भ के प्रारम्भ में ही जीव गोस्वामी की 'यस्य ब्रह्मेति संज्ञा' वाले श्लोक की भाँति ही मधुराचार्य ने मंगलाचरण में ही अपना मत स्पष्ट कर दिया है–

प्रोद्यद्भानुसपत्नरत्ननिकरैः देदीप्यमाने महा,
मोदे दिव्यतरातिमंजुवनितावृन्दैः सदा सेविताम्।
रासोल्लासमुखे च व्याकृततमे दिव्ये महामण्डपे,
ऽयोध्यामध्यप्रमोदशुभ्रविपिने रामं ससीतं भजे ॥

(अयोध्या के मध्य में स्थित सूर्य के समान प्रभा-विस्तार करने वाले रत्न-समूहों से आलोकित शुभ्र प्रमोद-बन में मंजु वनिता-वृन्द से सेवित रासोल्लास के आरम्भ में दिव्य महामण्डल में आसीन सीता-सहित राम की वन्दना करता हूँ।)

(2) **माधुर्य केलि कादम्बिनी**–इसमें राम-सीता की केलि का अत्यन्त ललित वर्णन है।

(3) **वाल्मीकि रामायण की टीका (शृंगारपरक)**–यह उपलब्ध नहीं है।

(4) **राम तत्त्व प्रकाश**–इस ग्रन्थ में भी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुसार ही राम की लीलाओं का दार्शनिक लीलापरक विवेचन किया गया है। रसिक भक्तों में इसका प्रमाण ग्रन्थ के समान ही आदर किया जाता है।

उनकी हिन्दी रचना उतनी भास्वर नहीं है। नीचे हम एक उदाहरण दे रहे हैं–

सखि मैं आज गयी सिय कुंज।
देखि नृपति किशोर दौरे घेरि पिचका पुंज।
तब कहीं मैं सुनहुँ लालन लाल कौशलजन्य।
फाग मिस का करहु चोरी चलहु हमरे संग।
'मधुर प्रीतम' आजु तुमकौं जीतिहौं रतिरंग।

पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कल्पना' अप्रैल 1955 के अंक में उनका समय वि. की 18वीं शताब्दी का मध्य माना है।

सिया सखी

विक्रम की 18वीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान सिया सखी का वास्तविक नाम गोपालदास था। ये भी जयपुर राज्य के अन्तर्गत एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। कुछ दिनों तक ये जयपुर के सीताराम मन्दिर में महन्त भी रहे पर उनके साधक चित्त को वहाँ शान्ति न मिली और ये चित्रकूट चले आये। बहुत दिनों तक चित्रकूट के कामद गिरि पर रस-साधना के उपरान्त पुनः जयपुर लौट गये थे। प्राचीन संग्रहों में इनके कतिपय पद उपलब्ध होते हैं, जिनमें ब्रजभाषा के साथ राजस्थानी का भी मिश्रण है–

सिया बाई जू सुनियो अरज हमारी।
औरन के तो और भरोसो म्हारे आस तिहारी।
करनी की तुम और न देखो अपनी बिरद सम्हारी।
ऐसो होने नहीं या जग में लोग हँसै दै तारी।
रंग महल में आवन दीजौ सुनो पिया अवध बिहारी।
सिया सखी के सरबस तुम हो और लगै नहि सारी।

महाराज छत्रसाल

औरंगजेब एवं मुग़ल सेना से जीवनपर्यन्त युद्ध करने वाले एवं शिवाजी के साथ ही हिन्दू राष्ट्रीयता का ध्वज ऊँचा करने वाले छत्रसाल पन्ना के बुन्देला राजा चम्पतराय के पुत्र थे। इनका जन्म ज्येष्ठ शुक्ला 3, सं. 1706 में हुआ था। सारे जीवन उन्होंने मुग़लों और पठानों में युद्ध किया तथा संवत् 1786 में उनकी मृत्यु पन्ना में हुई। प्रसिद्ध वीर रस के कवि भूषण

को इन्होंने अपने यहाँ आश्रय दिया था। अपने वीरत्व के कारण और भूषण के आश्रयदाता के रूप में उनकी कीर्ति बहुत फैली पर उनकी सृजनात्मक शक्ति का अधिक प्रसार नहीं हो सका। छत्रसाल का जीवन वास्तव में शौर्य एवं पराक्रम के क्षेत्र में एक मिशनरी भावना का जीवन था। अपने उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें ईश्वर-भक्ति से यथेष्ट प्रेरणा एवं शक्ति प्राप्त होती थी। इसी कारण रीतिकाल की अपेक्षा उनकी रचनाओं का टोन भक्तिकाल का है। वियोगी हरि द्वारा सम्पादित 'छत्रसाल ग्रन्थावली' में उनकी आठ रचनाओं को संगृहीत किया गया है। वे रचनाएँ हैं—(1) रामावतार के कवि, (2) रामध्वजाष्टक, (3) हनुमान पचीसी, (4) श्री राधाकृष्ण पचीसी, (5) कृष्णावतार के कवित्त, (6) महाराज छत्रसाल प्रति अक्षर अनन्य के प्रश्न, (7) दृष्टान्ती और फुटकर कवित्त, (8) दृष्टान्ती तथा राजनीतिक दोहा समूह।

छत्रसाल में भक्ति का साम्प्रदायिक आग्रह नहीं था। यद्यपि वे मुख्यतः रामभक्त थे पर कृष्ण के प्रति उनकी श्रद्धा कम नहीं थी। प्रणामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्राणनाथ जी उनके गुरुतुल्य थे तथा पन्ना में ही रहते थे। उस सम्प्रदाय की एक मुख्य पीठ वहाँ पर आज भी है। प्राणनाथ जी सर्वधर्म-समन्वय में विश्वास रखते थे। सम्भवतः उन्हीं के प्रभाव में छत्रसाल में धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय वृत्ति आयी होगी। इस वृत्ति का सुन्दर निदर्शन उनके निम्नांकित कवित्त में हुआ है—

सीतानाथ, सेतुनाथ, सत्यनाथ, सम्भुनाथा,
नाथ-नाथ, देव-नाथ, दीननाथ दीनगति।
रघुदेव, ज देव, जच्छदेव, देव-देव
विश्वदेव, वासुदेव, व्यासदेव, देवरति।
रनबीर, रघुबीर, जदुबीर, ब्रजबीर,
बलबीर, बीर-बीर, ब्रतबीर, चारुमति।
रागपति, रंगपति, रमापति, छतापति,
राधापति, रसपति, रसापति, रासपति।

ऐसा लगता है कि रस एवं रास के स्वामी की रसिक साधना का इन पर पर्याप्त प्रभाव था। यह प्रभाव चित्रकूट की स्थानगत निकटता का भी हो सकता है एवं सखी सम्प्रदाय की रसिक-भावना का भी परिणाम हो सकता है। छत्रसाल के हृदय में राम की मधुर लीला के प्रति पर्याप्त आकर्षण था तथा उनके कृतित्व में राम-विहार सम्बन्धी रचनाएँ पर्याप्त हैं। उदाहरण लें—

तीज पर्व पावनि सुहावनि है आयी आजु,
पूजन को सोमबट गोठि वनितानि की।
मानों घनश्याम को रिझाइबे अनेक वेष,
आईं चारु चन्द्रमुखी तुल्य तड़ितान की।
कैधों कान्ति दीपमालिका की चन्द्रमालिका की,
एक ओर है करोर एक ओर है जानकी।

जोरि जोरि पानि सीता कहैं राम 'छत्रसाल'
राम कहै सीता ले के बोदर लतान की।

(छत्रसाल ग्रन्थावली, पृ. 44)

कृष्ण की माधुर्य लीला का एक प्रसन्न कवित्त हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं जो अपने कसाव, सौन्दर्य एवं शब्द-सामर्थ्य की दृष्टि से देव एवं पद्माकर की घनाक्षरियों की तुलना में सहज ही उपस्थित किया जा सकता है—

स्याम स्याम रंग एक ग्वाल ग्वालिनी अनेक,
गोद लै गुलाल लाल धालै मुरि-मुरि कै।
बोलत धमार मंजु फाग और फबीलो राग,
स्यामा बनी स्याम, स्याम स्यामा नेह धुरि के।
कहे छत्रसाल ऐसो चूकिबे न दाँव आजु,
कीजै अनुराग फाग वाही ठौर जुरि के।
रूप रसरंग की हिलोरनि में बोरो अंग,
जोरो नवनेह लाल रंग में हिलुरि के।

महात्मा सूर किशोर

28वीं शती के मध्य भाग में ही कील्ह स्वामी के पौत्र शिष्य सूर किशोर जी हुए हैं। मधुराचार्य जी के ये समकालीन थे और उनके गलता छोड़ देने पर ये भी गलता छोड़कर सीकर रहने लगे। सीता को ये पुत्री के समान मानते थे, अतः वात्सल्य भाव से राम और सीता की भक्ति करते थे। कहते हैं कि राम को जामाता मानने के कारण ये अयोध्या में जल भी ग्रहण नहीं करते थे। सीता की बालक्रीड़ाओं का यह चित्र देखिये—

जनक लली मधुरे सुर गावैं।
कोइ सखि-रैन दिवस सुधि भूलीं कोइ सखि ब्याह की बात चलावैं।
कोइ सखि रीझि-रीझि गुन गावें कोइ सखि मुख पर भँवर उड़ावैं।
कोइ सखि मधुर-मधुर सुर गावें चन्द्रकला अलिबीनि बजावैं।
'सूर किशोर' बलैया लेहीं बिन सखियाँ कोउ जान न पावैं।

अवधी भाषा में इनका मिथिला विलास नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। शेष फुटकर पद उनके मिलते हैं। कवि के रूप में उन्हें उतनी प्रसिद्धि नहीं मिल सकी है, जितनी कि अपनी वात्सल्य निष्ठापूर्ण भक्ति-भावना के लिए प्राप्त हुई है। मिथिला में रहने की यह निष्ठा देखिए। अवधी एवं ब्रज, दोनों ही भाषाओं का रंग छन्द में मिला हुआ—

नृप के गृह बाल विहार करें सिय की पद रेनु जहाँ लहिये।
मुनिवृन्द उपासक राम विवाह सोई निजठौर हिये गहिये।
कह 'सूर किशोर' विचार वही हिम वो तप वो बरषो सहिये।
चिउरो चवि के पलिवो भीख के, मिथिला मंह बांधि कुटी रहिये।

ऊपर उद्धृत दोनों छन्द 'मिथिला विलास' से लिये गये हैं।

हर्याचार्य 'हरि सहचरी'

रामभक्ति की रसिक शाखा के प्रमुख व्याख्याया मधुराचार्य के शिष्य थे तथा उनके बाद गलता गद्दी की आचार्य पीठिका पर प्रतिष्ठित हुए थे। राम की रास-लीला ये बड़ी धूम-धाम से मनाया करते थे। हिन्दी में इनका एक अष्टयाम तथा कुछ स्फुट पद मात्र मिलते हैं। संस्कृत में गीत-गोविन्द के अनुकरण पर 'जानकी गीत' नामक एक ललित ग्रन्थ की रचना की थी। उनकी ब्रजभाषा के कृतित्व का एक उदाहरण निम्नलिखित है—

माई री रास रच्यो सरजू तट सोम श्रवन बट छाँहीं।
नाचत राम गोपाल कुंज में दै सीता गर बाहीं।
रागिनि में अनुराग लता खिली वन प्रमोद के माहीं।
हरि सहचरि सुख चहल-पहल में लोक वेद सुधि नाहीं।

18वीं शती का उत्तरार्द्ध एवं 19वीं शती का प्रथम चरण इनका रचनाकाल है। इनके बारे में निश्चित तिथियों को जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

गुरु गोविन्द सिंह

सिखों के प्रसिद्ध दसवें गुरु गोविन्द सिंह जी केवल लड़ाकू वीर योद्धा ही नहीं थे, वे भावुक भक्त भी थे। यद्यपि सिख सिद्धान्तों के अनुसार वे निर्गुणोपासक थे, परन्तु वास्तव में उनका झुकाव पूरी तरह सगुणोपासना की ओर था। सम्भवतः देवी-देवताओं की श्रद्धा उनके भीतर उस मानसिक शक्ति को स्फुटित करती थी, जिसकी उस संकट के समय में उन्हें अत्यधिक आवश्यकता थी। उनका जन्म संवत् 1723 में हुआ था और संवत् 1765 में मृत्यु हो गयी थी। वे स्वयं तो कवि थे ही, कवियों को आदर भी बहुत देते थे। उनके दरबार में वीर रस के छन्द कहने वाले अनेक कवि सम्मान प्राप्त करते रहते थे।

अपने ग्रन्थ 'गोविन्द रामायण' में रामकथा का सुन्दर और प्रभावशाली चित्रण उन्होंने किया है। सम्भवतः राम का प्रतापी, ऐश्वर्यशाली, चतुर, दमनकारी एवं मर्यादा पुरुषोत्तम रूप उनकी आदर्श भावना के अधिक निकट था। इनकी रचना शुद्ध रूप

से रसिक भावना के अन्तर्गत नहीं आती। वास्तव में वे तुलसी की परम्परा के कवि थे। उनका एक कवित्त हम उद्धृत कर रहे हैं—

निर्जन निरूप हौ, कि सुन्दर स्वरूप हौ,
कि भूपन के भूप हौ, कि दानी महादान हौ?
प्रान के बचैया, दूध, पूत के देवैया,
रोग सोग के मिटैया, किधौं मानी महामान हौ?
विद्या के विचार हौ, कि अद्वैत अवतार हौ,
कि सुद्धता की मूर्ति हौ, कि सिद्धता की सान हौ?
जीवन के जाल हौ, कि कालहू के गाल हौ,
कि सत्रुन के साल हौ, कि मित्रण के प्राण हौ?

इसी प्रकार निम्नलिखिन सवैये में उन्होंने प्रभु-प्राप्ति में प्रेम का महत्त्व बताया है—

काह भयो दुहु लोचन भूपि कै बैठि रह्यो बक ध्यान लगायो।
न्हात फिरयो लियो सात समुद्रन, लोक गयो परलोक गँवायो।
वासु कियो विखियान सो बैठि के ऐसिहि ऐस सु बैस बितायो।
साचु कहौं सुनि लेहु सबै जिन प्रेम कियौ तिन ही प्रभु पायो।

रामप्रसाद विन्दुकाचार्य

आपका जन्म संवत् 1760 में अवध प्रदेश के मलिहाबाद नामक स्थान में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था। तरुणावस्था के प्रारम्भ में ही ये विरक्त होकर अयोध्या चले आये। कहते हैं कि एक बार जानकी नवमी के दिन संवत् 1787 में स्वयं जानकी जी ने अपने हाथ से इनके तिलक लगा दिया था। मृत्यु इनकी संवत् 1861 में मानी जाती है। इनके नाम से 'शिक्षा पत्री' और 'गीता तात्पर्य निर्णय' दो रचनाएँ कही जाती हैं, परन्तु इनका महत्त्व कवि के नाते न होकर साधना एवं प्रभाव की दृष्टि से बहुत अधिक है। अपने समय के ये अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली सन्त थे।

मामा प्रयागदास

साधना एवं निष्ठा की दृष्टि से इस युग के एक अन्य प्रसिद्ध महात्मा हुए हैं।

18वीं शती का निर्गुणमार्गीय ब्रजभाषा-काव्य : पृष्ठभूमि तथा संक्षिप्त रूपरेखा

निर्गुण भक्तिमार्ग प्रेम-प्रतीक-भावधारा के आधार पर विकसित हुआ है। सगुण साकार लीलागान की परम्परा एवं अवतारवाद की अस्वीकृति के कारण रागानुगा पद्धति के

व्यवहार की आवश्यकता निगुर्ण मार्ग में नहीं थी। राधा, गोपी, सखी नन्द, सुबल या हनुमान अथवा वशिष्ठ के भाव की कल्पना करके जैसे ही भाव या कार्य की योजना का स्वीकरण निर्गुणियों की पद्धति के अनुकूल नहीं था। इसी कारण उनके सारे सम्बोधन एवं अभिव्यक्तियाँ सामाजिक सम्बन्धों के प्रतीकों पर आधारित हैं। इस दृष्टि से वे सूफ़ी सिद्धान्तों के अधिक निकट है। ईश्वर को सामान्यतः इन लोगों ने स्वामी, पिता-माता अथया पति के रूप में देखा है। यह परम्परा 18वीं शताब्दी के निर्गुणिया कवियों में पूर्णतया सुरक्षित रही है। यारी, बुल्ला मलूकदास, सुन्दरदास रज्जब सभी कवियों ने भगवान को इन्हीं रूपों में भावित किया है।

इस समय के निर्गुणमार्गी कवियों में समन्वय की वृत्ति और भी मिलती है। सगुणोपासना एवं अवतार तत्त्व का ऐसा तीखा विरोध इनमें नहीं है, जैसा कि हमें कबीर में प्राप्त होता है। चरणदास एवं प्राणनाथ के बारे में तो यह कहना ही कठिन है कि वे सगुणोपासक थे या निर्गुणोपासक।

निर्गुणी कवियों के बारे में एक तथ्य और भी द्रष्टव्य है कि वे या तो पूर्वीय प्रदेशों में केन्द्रित रहे या फिर राजस्थान उनका मुख्य केन्द्र रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि शुद्ध ब्रजभाषा में काव्य-रचना निर्गुणमार्गियों द्वारा कम ही हुई है। पूर्वीय प्रदेशों के सन्तों की भाषा या तो भोजपुरी रही या फिर ब्रजभाषा में भी पूर्वीय प्रयोगों का यथेष्ट उपयोग किया गया। राजस्थान में राजस्थानी शब्दों का भी अत्यधिक मिश्रण ब्रजभाषा में किया गया। रज्जबदास जैसे कवियों में यह राजस्थानी छाया अच्छी तरह देखी जा सकती है। सुन्दरदास की भाषा अवश्य स्वच्छ एवं प्रवाहशील ब्रजभाषा बनी रही है। सम्भवतः सन्तों में सर्वाधिक अधीन व्यक्ति भी वही थे। प्राणनाथ जैसे सन्त जहाँ तथ्य के क्षेत्र में समन्वयवादी हैं, वहीं भाषा में भी तरह-तरह के मिश्रण उन्होंने किये हैं। गुजराती, सिन्धी, फ़ारसी, तुर्की, ब्रजभाषा, बुन्देली, राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं की खिचड़ी उनमें उपलब्ध हो जाती है। कभी-कभी तो उसको समझना भी कठिन हो जाता है।

इस युग की एक अन्य विशेषता है कि सन्त मत अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदायों में बँटता है। यह विघटन की प्रवृत्ति भी थी और एक प्रकार का धार्मिक पुनरुत्थान भी। इस प्रवृत्ति की समानान्तर स्थितियाँ राजनीतिक जीवन में भी देखी जा सकती हैं।

दादूपन्थ के कवि

रज्जब जी—सन्त सम्प्रदायों में कबीर-पन्थ के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों में से एक दादूपन्थ है। दादू का व्यक्तित्व एवं महत्त्व लगभग कबीर जैसा ही है। दादू के सैकड़ों शिष्य थे, उनमें से तीन—रज्जब जी, सुन्दरदास एवं जगन्नाथ प्रमुख हैं। इनमें से प्रथम दो का कार्यकाल विक्रम की 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक रहा है।

रज़्जब जी का जन्म सांगानेर के एक प्रतिष्ठित पठान वंश में सं. 1624 में हुआ था। रज्जब अली खाँ इनका वास्तविक नाम था। रज्जब जी के विरक्त हो जाने के बारे में एक बड़ी विचित्र किंवदन्ती है। इस किंवदन्ती के अनुसार 20 वर्ष की वय के तरुण रज्जब अली खाँ अपना विवाह करने के वर-वेश में सांगानेर से आमेर जा रहे थे। रास्ते में दादू जी से साक्षात्कार हो गया। दादू ने उनके मन को इतना प्रभावित किया कि तत्काल विवाह का विचार छोड़कर उन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया तथा दादू के साथ ही रहने लगे। रज्जब जी के बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि आजीवन वे दूल्हे के वेश में ही रहे। वे कहा करते थे कि जिस वेश ने सद्गुरु के दर्शन कराकर उचित राह पर लगा दिया, उसे छोड़ना उचित नहीं है। मध्यकाल के सभी कवियों में हमें गुरु के प्रति आदर का भाव प्राप्त होता है परन्तु रज्जब जी जैसी निष्ठा के दर्शन कम ही होते हैं। दादू दयाल जी की मृत्यु का इन्हें बहुत कष्ट हुआ था। उनकी मृत्यु के पश्चात् कहा हुआ रज्जब का यह वाक्य प्रसिद्ध है–

दीन दयाल दिनों दुख दीनन, दादू सी दौलत हाथ सो लीनी।
रोष अतीतन सौ जु कियौ हरि, रोजी जु रंकनि की जग छीनी।[72]

रज्जब जी की बानी ज्ञानसागर प्रेस बम्बई से संवत् 1975 में प्रकाशित हो चुकी है। इसमें 194 अंगों में विभाजित उनकी 5428 साखियाँ हैं[73] तथा 218 पद, 116 सवैये, 83 अरिल्ल, 89 छप्पय तथा कुछ त्रिभंगी छन्द की फुटकर कविताएँ भी संगृहीत हैं। कुछ अन्य छोटी-छोटी रचनाएँ भी इस ग्रन्थ में प्रकाशित हैं। इस बानी के अतिरिक्त उन्होंने दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है। दादू जी की रचनाओं का संकलन सम्पादन 'अंगबधू' के नाम से एवं विभिन्न महात्माओं की रचनाओं का संकलन 'सर्वगी' के नाम से रज्जब ने किया है। सर्वगी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके द्वारा उस समय के सन्तों की वाणियों का प्रामाणिक रूप ही उपलब्ध नहीं होता, रज्जब जी की उदारतावादी विचारधारा भी प्रकट होती है।

रज्जब जी के साहित्यिक महत्त्व का आकलन करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है–"रज्जबदास निश्चय ही दादू के शिष्यों में सबसे अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी भाषा में राजस्थानीपन और मुसलमानीपन अधिक है, तथाकथित शास्त्रीय काव्य-गुण का उसमें अभाव है, फिर भी एक आश्चर्यजनक विचार-प्रौढ़ता, वेगवत्ता और स्वाभाविकता है। और लोग जिसको कई पदों में कहते हैं, रज्जब उस तत्त्व को सहज ही छोटे-छोटे दोहे में कह जाते हैं। इनके वक्तव्य विषय भी वही हैं जो साधारणतः निर्गुण या भावापन्न साधकों के होते हैं, पर साफ और सहज अधिक।[74] ऐसा लगता है कि रज्जब जी कथा-वार्ता की शैली के मर्मज्ञ थे, इसी कारण दृष्टान्तों के बड़े मार्मिक प्रयोगों द्वारा एक प्रकार की नाटकीयता की स्थापना उन्होंने अपने काव्य में की है।

थकित होत पाका सुमन, ज्यूँ कण हाँडी माहिं।
काचा कूदै ऊघलै, निहचल बैठे नाहिं।[75]

मुसलमान होने के कारण सम्भवतः वे सूफ़ी प्रभाव को अधिक स्वाभाविक रूप में ग्रहण कर सके थे; इसी कारण उनके काव्य में प्रेम का वेग अतिरिक्त रूप से तीव्र एवं प्रवाहशील है। विरहिणी की मर्मान्तक वेदना को विचित्र करने वाला पद नीचे हम उद्धृत कर सके हैं—भाषा का राजस्थानी रंग भी उल्लेख्य है—

म्हारो मन्दिर सूनो राम बिन बिरहिण नींद न आवै रे।
पर उपगारी नर मिलै, कोइ गोविन्द आन मिलावै रे।
चेती बिरहिण चिन्त न भाजे, अविनासी नहि पावै री।
बहु वियोग जागे निसबासर, बिरहा बहुत सतावै री।
बिरह बियो बिरहिणी बीधी, घर बन कछु न सुहावे रे।
दह दिसि देखि भयो चित चकरित, कौन दसा बरसावै रे।
ऐसा सोच पड्या मन माहीं, समझि समझि घूँ धावै रे।
बिरहबान घटि अन्तर लाग्या, घायल ज्यूँ घूमावै रे।
विरह अगिनि तनपिंजर छीनाँ, पिव कुँ कौन सुनावै रे।
जन रज्जब जगदीस मिले बिन, पल-पल बज्र बिहावै रे।[76]

विरह के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाला निम्नलिखित दोहा तो ठेठ सूफ़ी शब्दावली एवं भावना को ही व्यंजित करता है—

दरद नहीं दीदार का, तालिब नाहीं जीव।
रज्जब विरह वियोग बिन, कहाँ मिलै सो पीव।

रज्जब की मृत्यु संवत् 1746 में मानी जाती है। इस प्रकार उन्हें 122 वर्ष की लम्बी आयु मिली थी।

सुन्दरदास

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने साहित्य के इतिहास में सुन्दरदास के महत्त्व की स्थापना करते हुए कहा है, "निर्गुणपन्थियों में ये ही ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्य-कला की रीति आदि से परिचित थे। अतः इनकी साहित्य रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी काव्य की मँजी हुई ब्रजभाषा है।... उन्होंने सिद्धहस्त कवियों के समान बहुत-से कवित्त और सवैये रचे हैं। सन्त तो ये थे ही, पर कवि भी थे। इससे समाज की रीति-नीति और व्यवहार आदि पर भी पूरी दृष्टि रखते थे।"[77]

ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति सुन्दरदास का जन्म वैश्य कुल में जयपुर राज्यान्तर्गत दौसा नामक कस्बे में सं. 1653 चैत्र शुक्ल 9 को हुआ था। 6 वर्ष की आयु में ही

इनके पिता ने दादी जी के चरणों में डालकर इनको दीक्षा दिला दी थी। उसके बाद से अधिकांशतः वे दादी जी के पास ही रहने लगे। जगजीवन जी इनके ज्येष्ठ गुरुभाई थे और वे स्नेहपूर्ण ढंग से सम्प्रदाय की साधना का मर्म उनके सम्मुख उद्घाटित करते चलते थे। दादू की मृत्यु के पश्चात् वे जगजीवन जी के प्रयत्नों में संवत् 1663 में विद्याध्ययन के लिए काशी आये। काशी में विविध शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन लेकर सं. 1682 में वे फतेहपुर (शेखावाटी) लौट आये। काशी से लौटने के बाद उन्होंने लगभग 12 वर्ष योगाभ्यास किया, फिर तमाम देश का पर्यटन कर अनुभव प्राप्त करते रहे। योगाभ्यास एवं देशाटन इन दोनों के अनुभव उनके काव्य में हमें उपलब्ध हो जाते हैं। घूमघाम कर वे फिर सांगानेर (रज्जब जी की जन्मभूमि) चले आये। रज्जब जी के प्रति उनके मन में अत्यधिक स्नेह एवं आदर का भाव था। कहा जाता है कि संवत् 1746 में रज्जब जी की मृत्यु की वेदना से ही इन्होंने अपने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार सं. 1746 ही उनका भी मृत्यु संवत् है।

सुन्दरदास द्वारा रचित साहित्य का परिमाण विशाल है। दो भागों में अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से सम्पादित करके उनकी रचनाओं का संग्रह 'सुन्दर-ग्रन्थावली' के नाम में पुरोहित हरि नारायण शर्मा ने प्रकाशित कराया है। उनमें संकलित छोटे बड़े ग्रन्थों की संख्या 42 है परन्तु 'ज्ञानसमुद्र' एवं 'सुन्दर विलास' ही आकार महत्त्व दोनों ही में बड़े हैं। 'ज्ञानसमुद्र' में पाँच उल्लास या अध्याय हैं, जिनमें क्रमशः गुरु, नवधा भक्ति, अष्टांग योग, सेश्वर सांख्य मत एवं अद्वैत ब्रह्मज्ञान का पाण्डित्यपूर्ण निरूपण किया गया है। ग्रन्थ पूर्णरूपेण सिद्धान्तपरक कहा जा सकता है। सुन्दर विलास में सन्तों द्वारा निरूपित विषयों आत्मानुभूतियों का ललित काव्यात्मक शैली में वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ को सवैया भी कहा गया है। इसमें कुल 563 छन्द हैं। पं. परशुराम चतुर्वेदी जी ने उनके सम्बन्ध में रज्जब जी से तुलना करते हुए एक टिप्पणी दी है। उसमें कहा है—"अपनी विद्वत्ता में ये अपने गुरुभाई रज्जब जी से भी बढ़े-चढ़े थे और साहित्यिक प्रवीणता भी इनमें उनसे अधिक थी।[78] पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार जब कभी वेदान्त का तत्त्वज्ञान छोड़कर ये अन्य विषयों पर लिखते थे, तब निस्सन्देह रचना उत्तम कोटि की होती थी।"[79]

सुन्दरदास की इन दार्शनिक, योगपरक रचनाओं से हमारे आलोच्य विषय का सम्बन्ध नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में वे अनावश्यक ही कही जायेगी, परन्तु जहाँ पर प्रेम और भक्ति की अनुभूतिप्रवण कलात्मक रचनाएँ उन्होंने की हैं, वे हमारे लिये अवश्य ही प्रासंगिक एवं विवेचनीय हैं। नीचे हम उनकी ऐसी ही कतिपय रचनाएँ उद्धृत कर रहे हैं। निम्न दोहे में प्रेम एवं अनन्यता के साथ ही व्याकुलता की भी अनुभूति छिपी हुई है—

प्रीतम मेरा एक तू, सुन्दर और न कोइ।
गुप्त भया किस कारज, काहि न परगट होइ।

निम्नांकित सवैये में उन्होंने प्रेम का शरीर एवं चित्तवृत्तियों पर पड़ने वाला प्रभाव स्पष्ट किया है। इस पराभक्ति की अवस्था में उनके अनुसार नवधा भक्ति से भक्ति करने का भी अवकाश शेष नहीं रहता। प्रेमाभक्ति की यह परिभाषा भी है और उसका व्यावहारिक रूप भी–

प्रेम लग्यो परमेस्वर सों, तव भूलि गये सव ही घरवारा।
ज्यौ उनमत्त फिरै जित ही तित नेकु रही न सरीर सम्भारा।
साँस उसास उठे सव रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करे नवधा विधि छाकि परयौं रस पी मतवारा।[80]
न लाज कानि लोक को न वेद को कहो करे।
न संक भूत प्रेत की न देव यक्ष ते डरे।
सुने न कौन और की, द्रसे न और इच्छना।
कहे न कहू और वात, भक्ति प्रेम लच्छना।[81]

गोपी भाव और इस प्रेमाभक्ति की समानता और एकता दिखाते हुए भी उन्होंने कहा है कि–

प्रेम अधीनो क्यों डोलै, क्यों की क्यों ही वानी बोलै।
जैसे गोपी भूली देहा, ता कौं चाहे जासों नेहा।[82]

उनके समस्त पाण्डित्य, कलात्मकता, कारुकारिता एवं व्यापक अनुभव को स्वीकार करते हुए भी हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि आत्मानुभूति की जिस तीव्रता के दर्शन हमें रज्जब जी में होते हैं, उसका सुन्दरदास में अपेक्षाकृत अभाव है, परन्तु फिर भी वे हमारे आलोच्य युग के कुछ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ कवियों मैं से हैं।

सत्तनामी सम्प्रदाय के कवि

जगजीवन दास

सत्तनामी सम्प्रदाय की कोटवा शाखा के पुनः संगठनकर्ता जगजीवनदास जी का जन्म सं. 1727 माना जाता है तथा इनका देहान्त सं. 1818 में हुआ था। वे बाराबंकी जिले के सरदहा नामक गाँव के रहने वाले थे जो कोटवा से 4 मील दूर है। जगजीवनदास जी यावत्जीवन गृहस्थी में ही रहे। इन्होंने परमात्मा को अधिकतर सत्त या सत्य कहा है, उसी के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है। शरणागति एवं प्रभु-कृपा का इस सम्प्रदाय में बहुत अधिक महत्त्व है। उनके काव्य की भाषा यद्यपि अवधी है पर कहीं-कही ब्रज के भी प्रयोग उनमें उपलब्ध हो जाते हैं। यत्र-तत्र उनमें सूफ़ी-भावना की झलक भी मिल जाती है। उनका एक पद इस प्रकार है–

पपिहै पीय पुकारेउ पंछिन आगे रोय।
तीनि लोक फिरि आयेउ बिनु दुख लख्यो न कोय।
जोगिन है जग ढूढ़ेउ, पहिरयों कुण्डल कान।
पिय को अन्त न पायेउ खोजत जनम सिरान।

जगजीवनदास के रचे हुए सात ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें से शब्द-सागर प्रकाशित हो चुका है। अन्य ग्रन्थों के नाम हैं—प्रथम ग्रन्थ, ज्ञान प्रकाश, आगम पद्धति, भद्दा प्रलय, प्रेम और अघ विनाश।

दूलनदास

सत्तनामी सम्प्रदाय की कोटवा शाखा के पुनः संगठनकर्ता जगजीवन साहब के शिष्य दूलनदास का जन्म लखनऊ जिले के समेसी ग्राम में सं. 1717 माना जाता है। मृत्यु आपकी संवत् 1835 में हुई थी। ये एक जमींदार कुटुम्ब में पैदा हुए थे और जीवन का अधिकांश भाग गृहस्थ-रूप में जमींदारी की व्यवस्था करते हुए बिताते रहे। इस सांसारिक जीवन के बावजूद उन्होंने अपना जीवन बड़े सादे ढंग से बिताया एवं आध्यात्मिक चिन्तन में सदैव लीन रहे। जीवन के अन्तिम भाग में अपना साधनात्मक जीवन रायबरेली जिले में एक गाँव में बसकर व्यतीत करते रहे।

अवधी भाषी प्रदेश में उत्पन्न दूलनदास के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे अवधी में काव्य-रचना करते। फिर भी ब्रजभाषा में उनके कुछ-न-कुछ पद अवश्य प्राप्त हो जाते हैं, यद्यपि इनमें भी पूर्वीय प्रयोगों की प्रचुरता रहती है। सन्त दूलनदास के सम्बन्ध में बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि वे निर्गुणमार्गी सत्तनामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे, पर उनकी अभिव्यक्तियाँ सगुण भाव के रंग में पूरी तरह रंगी हुई हैं। उन्होंने सगुण-लीला के अनेक प्रसंगों का बहुधा उल्लेख किया है, परन्तु वे उन्हीं घटनाओं या लीलाओं की ओर आकृष्ट हुए हैं जो प्रभु के रक्षक, शरणागत प्रतिपालक, दीनबन्धु रूप को स्पष्ट करती हैं। गजेन्द्र मोक्ष, दौपद्री लाज-रक्षा आदि प्रसंगों का उन्होंने कृतज्ञ एवं आतुर भाव से उल्लेख किया है। इस प्रकार सगुण मतवाद का उन पर प्रभाव पड़ रहा था। उनका गजेन्द्र मोक्ष का पद इस प्रकार है—

जब गज अरध नाम गुहरायो।
जब लगि आवे दूसर अच्छर, तब लगि आपुहि धायो।
पाय पियादे में करुनामय, गरुड़ासन बिसराये।
धाइ गजेंद्र गोद प्रभु लीन्हों, आपनि भक्ति दिढ़ाये।[83]

इस प्रकार उन्हें दास भाव का भक्त माना जा सकता है।

शुक-सम्प्रदाय के कवि

चरणदास

शुक-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक स्वामी श्यामचरणदास का प्रारम्भिक नाम रणजीत था। भाद्रपद शुक्ल तृतीया सं. 1760 को इनका जन्म भार्गव वंश में हुआ था।[84] भागवत कथा के गायक शुकदेव मुनि को ये अपना गुरु मानते थे तथा सरस माधुरी जी के अनुसार 19 वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने गुरुदीक्षा ले ली थी। सम्भवतः प्रारम्भ में वे योग-साधना में लगे रहे, परन्तु उससे मन नहीं भरा और संवत् 1793 में ब्रज चले आये, यहाँ पर प्रेमाभक्ति के शीतल जल ने उन्हें सन्तुष्ट किया। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है–

चार वेद किये व्यास ने, अर्थ विचार विचार।
ता में निकसी भक्ति ही, रामनाम तत सार।

यह बात सूचित करती है कि उनका मन भक्ति में ही सन्तुष्टि प्राप्त कर सका था। यद्यपि इस सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि पहले वे भक्ति के मार्ग पर गये हैं या योग के। परन्तु इतना निश्चित है कि उनकी रचनाओं में भक्ति, योग, ज्ञान का अनुभूत संयोग है। भक्ति के इस क्षेत्र में भी उन्होंने विविध विचारधाराओं का समन्वय अपनी रचनाओं में किया है। पीछे चतुर्थ अध्याय में हम इन सब बातों का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। साधनागत इन समन्वयों के अतिरिक्त नैतिक शुद्धता सद्व्यवहार आदि को भी उन्होंने पर्याप्त स्थान दिया है।

सन्त चरणदास के ग्रन्थों के बारे में कुछ विवाद है। कुछ लोग इनके 21, 15 या 12 ग्रन्थ मानते हैं। 15 ग्रन्थों का एक संग्रह श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से इनके ग्रन्थों का संग्रह 'भक्ति सागर' के नाम से प्रकाशित हुआ है। उसमें निम्नलिखित ग्रन्थ संगृहीत हैं–ब्रज चरित्र, अमरलोक अखण्ड धामवर्णन, धर्म जहाज, ज्ञान स्वरोदय, अष्टांग जोग, पंचोपनिषद् सन्देह सागर, भक्ति पदारथ वर्णन, मन विरक्त करन सार गुटका, ब्रह्मज्ञान सागर, भक्ति सागर। इसके अतिरिक्त उदयपुर के सरस्वती भण्डार पुस्तकालय में इनके हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रामाणिक संकलन उपलब्ध है।[85] इसमें संगृहीत ग्रन्थ लगभग वही हैं जो नवलकिशोर प्रेस के संग्रह में हैं। अपने ग्रन्थ-लेखन का रचना संग्रह संवत् उन्होंने एक स्थान पर संवत् 1781 बताया है। निर्गुण और सगुण भक्ति दोनों को सूचित करने वाली हम इनकी दो रचनाओं को उद्धृत कर रहे हैं। प्रथम रचना निर्गुण प्रेमप्रतीक भाव-धारा के अन्तर्गत परिगणनीय है–

गद्‌गद वाणी कण्ठ में, आँसू टपके नैन।
वह तो विरहन राम की, तड़फत है दिन रैन।

हाय-हाय हरि कब मिलै छाती फाटी जाय।
ऐसा दिन कब होयगा, दरसन करूँ अघाय।
पीव चहौ कै मत चहौ, वह तो पी की दास।
पी के रंगराती रहै, जग सू होय उदास।
आज्ञाकारी पीव की, रहै पिया के संग।
तन मन सों सेवा करै और न दूजो रंग।

चरणदास जी ने राधा और कृष्ण की तथा कृष्ण और गोपियों की अनेक लीलाओं का गान किया है। रास-नृत्य में निरत राधाकृष्ण का यह चरित्र किसी भी युगलोपासक के लिए स्पृहणीय हो सकता है—

रास में निरत करत बनवारी।
मुदित मनोहर रंग बढ़ावत संग वृषभानु दुलारी।
मोर मुकुट छवि शीश विराजत नाक बुलाक सुधारी।
कर मुरली कटि काछनि काछै अलकै घूंघरवारी।
राधा जी के शीश चन्द्रिका नीलाम्बर जरतारी।
गावै सखी श्याम श्याम संग नखशिख रूप उजारी।
ताधिना ताधिना धीन बजत पखावज ताल बीन गति न्यारी।
ठनन ठनन ठन नूपुर की धुनि झनन-झनन झनकारी।
चरणदास शुकदेव दया सूँ पायो दरश मुरारी।[86]

चरणदास के अनुशीलन से ऐसा ज्ञान होता है कि वे बहुश्रुत और बहुपठित व्यक्ति थे। उनके काव्य में यद्यपि कृत्रिम आलंकारिता का स्थान नहीं है परन्तु फिर भी अभिव्यंजनागत चमत्कारों का उनमें नितान्त अभाव नहीं है। यों सीधी-सादी सरल शैली में उन्होंने अपने कथ्य को उपस्थित किया है। ब्रज के अतिरिक्त उनकी भाषा में राजस्थानी, पंजाबी एवं रेखता के भी प्रयोग हैं। प्रेम और भक्ति के प्रसंगों में उनकी वाणी में एक अतिरिक्त भास्वरता आ जाती है।

सहजोबाई

सहजोबाई महात्मा चरणदास की शिष्या थीं तथा संवत् 1800 में वे वर्तमान थीं।[87] उनका रचनाकाल 18वीं शती का अन्तिम भाग एवं 19वीं शती का प्रथम चरण माना जा सकता है। साधना एवं भावात्मकता की दृष्टि से सहजोबाई के काव्य में निष्ठा की एक दीप्ति प्राप्त होती है। अपने गुरु के प्रति इनके मन में अगाध निष्ठा थी—

निस्चौ यह मन डूबता मोह लोभ की धार।
चरनदास सतगुरु मिला, सहजो लाई उबार।[88]

सहजोबाई के काव्य में साधनानुभूति की तीव्रता और निष्ठा के साथ ही जीवन

के अनुभव एवं काव्य की चमत्कारिकता भी सँजोयी हुई है। उन्होंने सांसारिक कष्टों के प्रभावशाली चित्र उपस्थित करते हुए प्रभु-भक्ति का उपदेश दिया है। यह अंश कवयित्री की काव्य-कुशलता एवं कल्पनाशक्ति का प्रमाण है। यों तो संसार की असारता दिखाकर सभी सन्तों ने आध्यात्मिक पथ की ओर मन को मोड़ना चाहा है, परन्तु उस असारता का काव्य की परिपाटी पर जो बिम्बग्रहण होना चाहिए, उसे कराने में या तो अधिकांश सन्त असफल हुए हैं अथवा उनकी प्रवृत्ति उस ओर नहीं रही है, परन्तु सहजोबाई ने मनुष्य के जीवन से लेकर मृत्यु तक के अनेक कष्टों के मार्मिक चित्र उपस्थित किये हैं। अर्थ सम्बन्धी कष्ट का एक चित्र देखिए–

द्रव्यहीन भटकत फिरै, ज्यों सरांय को स्वान।
झिड़कि दियो जेहि घर गया, सहजो रह्यो न मान।[89]

सहजोबाई ने प्रेममार्ग के भी अनेक मार्मिक वर्णन किये हैं–

प्रेम दीवाने जो भये, प्रीतम के रंग माहिं।
सहजो सुधि बुधि सब गयी, तन की सोधी नाहिं।
प्रेम दीवाने जो भये, पलटि गयो सब रूप।
सहजो दृष्टि न आवई, कहा रंक कहा भूप।
प्रेम दीवाने जो भये, कहैं बहकते बैन।
सहजो मुख हांसी छूटै, कबहूँ टपके नैन।[90]

दयाबाई

दयाबाई सहजोबाई की गुरु बहन तथा महात्मा चरणदास की शिष्या थीं। इसीलिए इनका भी समय 18वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जा सकता है। दयाबाई में लगभग वही प्रवृत्तियाँ हमें मिलती हैं, जिनकी चर्चा हम सहजोबाई के प्रसंग में कर चुके हैं बल्कि उनमें स्त्रियोचित भावावेग का प्राबल्य अधिक है। उनके कुछ उद्‌गार आन्दाल, राबिया एवं मीरा के समकक्ष रखे जा सकते हैं। कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं–

जनम-जनम के बीछुरे, हरि! अब रह्यो न जाय।
क्यों मन कूँ दुख देत हो, विरह तपाय-तपाय।
काग उड़ावत थके कर, नैन निहारत बाट।
प्रेम सिन्धु में परयो मन, ना निकसन को घाट।
बौरी है चितवत फिरूँ, हरि आवे केहि ओर।
छिन उठूँ छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर।।[91]

दयाबाई के काव्य में सहजता एवं स्वाभाविकता का गुण बड़ी मात्रा में है। विद्वत्ता एवं व्यापक जीवनानुभवों के स्थान पर सहज पारिवारिक चित्रों के माध्यम

से उन्होंने अपनी बात कही है। उन्होंने भगवान और भक्त के मध्य माता एवं पुत्र का सम्बन्ध भी उपमान के रूप में उपस्थित किया है—

नहिं संजम नहिं साधना, नहिं तीरथ ब्रत दान।
मात भरोसे रहत हैं, ज्यों बालक नादान।
लाख चूक सुत से परै, सो कुछ तजि नहि देह।
पोष चुचुक ले गोद में, दिन-दिन दूनों नेह।[92]

बावरी पन्थ के कवि

यारी साहब

बावरी सम्प्रदाय के अनुयायी यारी साहब का पूरा नाम यार मुहम्मद था। अपने सांसारिक जीवन में वे सम्भवतः ऐश्वर्य-सम्पन्न थे तथा उस वैभव को छोड़कर उन्होंने फकीराना वेश अपनाया था। परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि वे प्रारम्भ में सूफ़ी थे परन्तु बाद को बावरी पन्थ के बीरू साहब के सम्पर्क में आने पर सन्त मत में दीक्षित हो गये थे।[93] यारी साहब की एक रचना 'रत्नावली' नाम से बेलवेडियर प्रेम से प्रकाशित हो चुकी है, उसके सम्पादक के अनुसार वे संवत् 1725 से 1780 के बीच वर्तमान रहे होंगे, परन्तु परशुराम जी का अनुमान है कि 18वीं शती के मध्य भाग में उनका स्वर्गवास हो गया होगा।[94] उनकी समाधि दिल्ली नगर में अब भी वर्तमान है।

यारी साहब के काव्य के बारे में अपना मत प्रकट करते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि "इनकी पंक्तियों में तल्लीनता एवं निर्द्वन्द्वता के भावविशेष रूप से लक्षित होते हैं और अनुमान होता है कि ये सदा किसी ऊँचे भाव-स्तर पर रहा करते थे। यारो साहब, चूँकि तसव्वुफ़ के भी निकट सम्पर्क में रह चुके थे इसलिए उनके काव्य में प्रेम की मार्मिक दीप्ति प्राप्त होती है। यह हम पहले भी कह चुके हैं कि निर्गुणियों एवं सूफ़ियों की प्रेम-पद्धति लगभग समान होती है। कहानी का आवरण हटा देने के बाद शुद्ध प्रेमानुभूति ही दोनों में अवशिष्ट रहती है। यारी साहब के निम्न पदों में हमें प्रेम की यही मार्मिकता मिलती है। प्रथम छन्द विरहिणी आत्मा का उद्बोधन है एवं द्वितीय में प्रेमानुभूति में पगी आत्मा की अभिलाषा व्यक्त हुई है—

विरहिणी मन्दिर दियना वार।
दिन जाती बिन तेल जुगुति सों बिन दीपक उजियार।
प्रान प्रिया मेरे घर आयो, रचि पचि सेज सँवार।
सुखमन सेज परमतत रहिया, पिय निरगुन निरंकार।
गावहु री मिलि आनन्द मंगल, यारी मिलके यार।

(रत्नावली, शब्द सं. 1)

हौं तो खेली पिया संग होरी।
दरस परस पतिबरता पिया की छवि निरखत भई बौरी।
सोरह कला सम्पूरन देखा, रवि ससि में इक ठौरी।
जब ते दृष्टि परो अविनासी लागो रूप ठगोरी।
रसना रटत रहत निसिवासर, नैन लगो यहि ठौरी।
कहें यारी भवती करूँ हरि की, कोई कहै सो कहो री।

(रत्नावली, शब्द सं. 2)

केशवदास

यारी साहब के पाँच प्रमुख शिष्यों में से एक केशवदास थे। उनकी एक छोटी-सी पुस्तिका 'अमी घूँट' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है। इस पुस्तक की भूमिका में उन्हें संवत् 1750 से 1825 के मध्य में स्वीकार किया गया है।[95] परन्तु यदि परशुराम चतुर्वेदी का यह अनुमान ठीक है कि यारी साहब का रचनाकाल 18वीं शती का पूर्वार्द्ध था तो फिर केशवदास का समय अधिक-से-अधिक 18वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। प्रेम एवं पति-पत्नी के प्रतीक का प्रयोग केशवदास जी ने भी किया है—

अविनासी दूलह बने मन मोह्यो, जा को निगम बतावै नेत।
निरंकार निरअंक निरंजन, निर्विकार निरलेस।
अगद अजोनि भवन भरि पायो, सतगुरु के उपदेश।[96]

मारवाड़ी-राजस्थानी शब्दों के प्रयोग के समेत कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

पिय प्यारे रूप भुलानी हो।
प्रेम ठगौरी मन रह्यो, बिन दाम बिकानी हो।
भँवर कमल रस बोधिया, सुख स्वाद बखानी हो।
दीपक ज्ञान पतंग सों, मिलि जोति समानी हो।[97]

बुल्ला (बूला) साहब

यारी साहब के एक अन्य प्रमुख शिष्य बुल्ला साहब थे। इन्होंने बावरी पन्थ का प्रचार पूर्वी क्षेत्रों में किया था। गाजीपुर जिले में भुरकुड़ा ग्राम इनका मुख्य केन्द्र था। इनके बारे में प्रसिद्ध है कि वे कुनबी या कुरमी जाति के थे एवं यारी साहब के सम्पर्क में आकर वैराग्य के क्षेत्र में आ गये थे तथा शीघ्र ही पहुँचे हुए सन्तों में उनकी गिनती होने लगी थी। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार उनका जन्म संवत् 1689 में हुआ था तथा मृत्यु संवत् 1766 में। बुल्ला साहब की रचना 'शब्दसार' के नाम से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई है। इनकी रचनाओं में भी अपने गुरु के

ही समान प्रेम-प्रतीक-प्रधान भक्ति-भावना का प्रकाशन हुआ है। नीचे जो पद हम उद्धृत कर रहे हैं, उसमें से यदि शून्य भवन जैसे कुछ शब्द निकाल दिये जायें तो यह कहना कठिन हो जायेगा कि यह किसी गोपी का वचन है अथवा निर्गुणमार्गी भक्त का उद्‌गार। पद इस प्रकार है—

आली आजु कि रैन प्रीति मन भावे।
गाय बजावत हँसत हँसावत, सब रस लेय मनावें।
जन बुल्ला हरि-चरन मनावै, निरखि सुरति गति आपु मैं पावें।

(शब्दसार, पृ. 15)

हरि हम देख्यौ नैननि बीच, तहाँ बसन्त धमारि कीच।
आदि अन्त मधि बन्यो बनाय, निरगुन सरगुन दोनों भाय।
चीन्हेव तिन्ह को लियो लगाय, अनबूझो रहिगो मुँह बाय।
सुन्न भवन मन रह्यो समाय, तहं ऊठत लहरि अनन्त आय।
जगमग-जगमग है अंजीर, जनबुल्ला है सेवक तीर।

(शब्दसार, पृ. 18)

आठ पहर चौंसठ घड़ी, भरो पियाला प्रेम।[98]
बुल्ला कहै विचारि कै, इहै हमारो नेम।

यों अपने प्रियतम को उन्होंने नित्य एक रस तथा सर्वगुणसम्पन्न बताया भी है।

ना वह टूटै ना वह फूटै, ना कबहीं कुम्हिलाय।[99]
सर्वकला गुण आगरो, मो पै वरनि न जाय।

(तुलनीय किशोर कृष्ण से)

गुलाल साहब

बूला साहब और गुलाल साहब के मध्य बड़ा विचित्र सम्बन्ध रहा है। कहते हैं कि अपने लौकिक सांसारिक जीवन में गुलाल साहब मालिक थे और बूला साहब (बुलाकीराम) नौकर। परन्तु जब बुलाकीराम सन्त मत में दीक्षित होकर बूला साहब बन गये, तब गुलाल साहब ने भी उनसे सन्त मत की दीक्षा ली और वे उनके प्रमुख शिष्यों में से गिने गये। गुलाब साहब की बानी भी बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त ज्ञान-पुष्टि और राम सहस्रनाम भी कहे जाते हैं। गुलाब साहब का समय भी सं. 1750 से लेकर सं 1817 तक माना जाता है। भुरकुडा की गद्दी पर वे सं. 1766 से लेकर सं. 1817 तक आसीन रहे।[100] इनकी रचनाओं में भाषा का स्वर पूर्वी रचनाओं का है, परन्तु ब्रजभाषा के प्रयोग भी उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं। इनकी रचना एवं प्रेमकृति का एक पद नीचे उद्धृत कर रहे हैं—

राम चरन चित अटको।
सहज सरूप भेख जब कीन्हेयाँ, प्रेम लगन हिय लटको।
लागि लगन हिय निरखि निरखि छवि, सुधि बुधि बिसरी उर के नयन।
उठत गुंज नभ गरजि दसहु दिसि, निरपट झरत रतन।
भयो है मगन पूरन प्रभु पायो, निर्मल निर्गुनसत तटनी।
कह गुलाल मेरे वही लगन है, उलटि गयो जैसे नटनी।[101]

भोजपुरी-अवधी मिश्रित ब्रजभाषा में प्रभु अनुग्रह पर विश्वास प्रकट करने वाली ये पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—

यह मन चंचल चोर अन्याई,
भक्ति न आवत एक किना।
कृपा कियौ प्रभु दृष्टि निहार यों।
सब थकि लागि रहल को ना।[102]

18वीं शती के कतिपय अन्य ब्रजभाषा-काव्य की रचना करने वाले सन्त कवि

मलूकदास

मलूकदास का जन्म संवत् 1631 में इलाहाबाद के कड़ा नामक ग्राम में हुआ था। जाति से ये खत्री तथा पेशे से व्यवसायी थे। प्रारम्भ से ही ये कोमल प्रकृति के थे तथा बहुत कम आयु में ही ये वैराग्य की ओर आकर्षित हो गये थे। लड़कपन से ही ये साधुओं का स्वागत और सत्संग किया करते थे। उन्होंने तीर्थाटन भी किया था तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गुरु से दीक्षा लेने के उपरान्त भी यावज्जीवन गृहस्थ ही बने रहे। इनकी मृत्यु संवत् 1729 में हुई थी। मलूकदास के रचे हुए नौ ग्रन्थ परशुराम चतुर्वेदी ने बताये हैं जिनके-नाम इस प्रकार है—[103]

(1) ज्ञानबोध, (2) रतन खान, (3) भक्त बक्षावली, (4) भक्त विरुदावली, (5) पुरुष विलास, (6) रस रत्नग्रन्थ, (7) गुरु प्रताप, (8) अलख बानी, (9) रामावतार लीला।

मलूकदास का एक दोहा संसार में प्रसिद्ध है—

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम।।

परन्तु मलूकदास आलस्य का उपदेश कभी नहीं देना चाहते। वास्तव में उन्हें ईश्वर और उसके अस्तित्व पर बहुत अधिक विश्वास था। यद्यपि वे सन्त मतानुयायी एवं निर्गुण उपासक थे परन्तु भावना के आवेग में निर्गुण के बन्धनों को त्यागकर

एक परमेश्वर से अपना निजी सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। दैन्य एवं विनय के भाव की व्यंजना करने वाला उनका यह सवैया इस बात को स्पष्ट करने में समर्थ है—

दीन दयाल सुनी जब तै, तब तै हिय में कुछ ऐसी बसी है।
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ, मैं तेरे हित की खैंच कसी है।
तेरोई एक भरोस मलूक को, तेरे समान न दूजो जसी है।
एहो मुरारि पुकारि कहो अब मेरी हँसी नहि तेरी हंसी है।[104]

मलूकदास पूर्वी प्रदेश में जन्मे थे और वही उनका कार्यक्षेत्र रहा। इसलिए उनकी रचनाएँ पूर्वी भाषाओं के अन्तर्गत आती हैं। ब्रजभाषा में उनकी रचनाएँ कम ही प्राप्त होती हैं। मलूकदास ने मलूकदासी पन्थ का प्रवर्तन भी किया था।

सन्त तुलसीदास निरंजनी

आपका समय संवत् 1700 के आसपास है। वे राजस्थान के प्रसिद्ध निरंजनी सम्प्रदाय के अनुयायी थे तथा ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शन तथा वेदान्त का उनका अच्छा अध्ययन था। उनकी रचनाओं का एक बड़ा संग्रह डॉ. बड़थवाल के पास था। सन्त तुलसीदास ने नवधा भक्ति का वर्णन अपने सम्प्रदायानुसार किया है—

तुलसी यह साधन भगति तरलौं सींची सोय।
तिन प्रेमाफल पाइया प्रेम मुक्ति फल जोय।।[105]

परन्तु सब मिलाकर उनकी रचनाओं में भावात्मकता का अभाव मालूम पड़ता है। सिद्धान्त कथन, वैराग्य, निर्गुण-उपासना आदि की ही चर्चा उन्होंने अधिक की है। भाषा भी मधुर एवं चामत्कारिक नहीं हो सकी है।

धरणीदास

बावा धरणीदास का रचनाकाल 17वीं शती का अन्तिम एवं 18वीं शती का प्रथम चरण था। उनके जीवन-मृत्यु के संवतों का प्रामाणिक निर्णय नहीं हो सका है पर उनके ग्रन्थ 'प्रेम प्रगास' से ज्ञात होता है कि सं. 1713 में उन्होंने वैराग्य लिया था। वे छपरा के किसी कायस्थ के पुत्र थे। रामानन्द की शिष्य-परम्परा में विनोदानन्द को उन्होंने अपना गुरु बताया है। धरणीदास के शब्द प्रकाश, प्रेम प्रगास तथा रत्नावली नामक तीन ग्रन्थ कहे जाते हैं। इनमें से 'प्रेम प्रगास' ग्रन्थ में एक प्रेम-कहानी दी हुई है। इस कहानी की योजना यह बताती है कि उन पर सूफ़ी प्रभाव की स्पष्ट छाया थी। इसके अतिरिक्त सगुण मतवादियों से उन्होंने ईश्वर के दयालु, दीनबन्धु वाले रूप को ग्रहण किया है। प्रिय एवं प्रिया (परमात्मा एवं आत्मा) के प्रतीक के साथ ही रक्षक, प्रतिपालक आदि रूपों को भी उन्होंने स्वीकारा है—

प्रभु जी अब जनि मोंहि बिसारो।
असरन सरन अधम जन-तारन, जुग-जुग विरद तिहारो।[106]

प्रेम की प्रगाढ़ व्यंजना उनके द्वारा रचित भोजपुरी के पदों में अधिक सुन्दर हो सकी है। ब्रजभाषा का तो प्रयोग ही उनमें अत्यन्त विरल है।

प्रणामी सम्प्रदाय के कवि

प्राणनाथ

प्राणनाथ जी प्रणामी सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। 18वीं शती की धर्मसाधना के क्षेत्र में उनका स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने सर्वधर्म-समन्वय का अपूर्व प्रयास उस युग में किया था। कहते हैं कि औरंगज़ेब की धर्मान्धिता से क्षुब्ध होकर वे उसे समझाने दिल्ली भी गये थे, परन्तु वहाँ पर किसी ने इनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। वहाँ से निराश होकर प्राणनाथ जी पन्ना चले गये एवं छत्रसाल की हिन्दू राष्ट्रीयता के पीछे भी उनका आशीर्वाद रहा है। इनके सम्प्रदाय की दो मुख्य गद्दियों में आज भी एक पन्ना में है और दूसरी सूरत में। 1675 वि. के आस-पास उनका जन्म हुआ था एवं संवत् 1751 में वे स्वर्गवासी हुए थे। प्राणनाथ जी के गुरु का नाम देवचन्द था और सम्भवतः वे कृष्णोगसक हरिदासी (सखी) सम्प्रदाय के शिष्य थे। राधाकृष्ण की युगल-लीलाओं के गान की शिक्षा उन्हें सम्भवतः अपने सखी भावोपासक गुरु से ही मिली थी, पर प्राणनाथ जी का महाप्राण व्यक्तित्व केवल गुरु द्वारा बताई उपासना-विधि में समा नहीं सका। उन्हें और भी जिज्ञासा हुई और अनेक धर्मग्रन्थों का पारायण करके उन्होंने अपने लिए जो रास्ता निकाल लिया है, उसका समझना दूसरों के लिए भले ही कठिन हो पर स्वयं प्राणनाथ जी अविचल विश्वास के साथ अपने सामंजस्यवादी मार्ग पर चलते रहे परन्तु वैष्णव प्रेममार्ग का तिरस्कार उन्होंने कभी नहीं किया। उनके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तारतम सागर (स्वरूप सागर) से चुनकर 'प्रेम-पाठ' नामक पुस्तक प्रकाशित की गयी है।[107] अधिकारियों के हाथ में ही वितरित की जाने वाली इस पुस्तक की एक प्रति हमें प्राप्त हो गयी है, उससे ज्ञात होता है कि राधाकृष्ण के लीला-गान का उन्होंने बाद को भी प्रत्याख्यान नहीं किया। इस वाणी में यद्यपि निर्गुण अथवा अन्य धर्म भावापन्न रचनाएँ प्रभूत हैं, पर लीला-गान का अंश भी कम नहीं है।

प्राणनाथ जी की रचनाओं के बारे में कुछ भी कहना इस समय कठिन है। 14 से लेकर 23 तक उनके ग्रन्थ माने जाते हैं—(1) रामग्रन्थ, (2) प्रकाश ग्रन्थ, (3) षट्ऋतु, (4) कलस, (5) सम्बन्ध, (6) किरतन, (7) खुलास, (8) खेलवात, (9) प्रकरण इलाही दुलहन, (10) सागर सिंगार, (11) बड़े सिंगार, (12) सिन्धि

भाषा, (13) मारफत सागर, (14) कयामत नामा। ये 14 ग्रन्थ ग्राउज ने अपने मथुरा मेमॉयर्स में पृ. 231 पर गिनाये हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने (1) प्रकट बानी, (2) ब्रह्म बानी, (3) बीस गिरोहों का बाब, (4) बीस गिरोहों की हकीकत, (5) कीर्तन, (6) प्रेम पहेली, (7) तारतम्य, (8) राज विनोदों नामक इन 8 रचनाओं का उल्लेख डॉ. बड़थ्वाल के आधार पर किया है।[108] चतुर्वेदी जी ने खोज रिपोर्ट के आधार पर विराट चरितामृत पदावली की भी चर्चा की है,[109] परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि 'कुलज़मे शरीफ़' इनका सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। डॉ. शरण विहारी गोस्वामी ने बताया है कि इस सम्प्रदाय के सखी भावोपासक 'तारतम सागर' को उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं।[110]

इन रचनाओं का न तो ठीक से प्रकाशन हुआ है और न ही व्यवस्थित अध्ययन। अतः उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है। प्राणनाथ जी में समन्वय का एक विचित्र खिचड़ी रूप मिलता है। उन्होंने विविध धर्मों से प्रभाव ग्रहण किये, पर लगता है कि सबको पचाकर एक व्यवस्थित साँचे में ढाल नहीं सके एवं उसी प्रकार उन्होंने हिन्दी (ब्रज, खड़ी, मारवाड़ी), उर्दू, गुजराती, फ़ारसी, संस्कृत, सिन्धी आदि विविध भाषाओं का एक साथ प्रयोग किया है। इस कारण वे दुरूह ही नहीं बने, काव्य की रसात्मकता भी खो दी है। प्राणनाथ जी अपने युग के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं विचित्र व्यक्ति हैं जो सर्वधर्म समन्वय भी करते हैं एवं छत्रसाल के हिन्दू राष्ट्रवाद को भी गति देते हैं तथा सखी भाव से (इन्द्रावती उनका सखी साधना का नाम था) श्याम-श्यामा को लाड़ लड़ाने की एकान्तिक रहस्य-साधना भी करते हैं। उनकी ब्रजभाषा रचना का एक उदाहरण निम्नलिखित है—

निसिदिन गहिरा प्रेम सों, युगल स्वरूप के चरन।
निर्मल मन होनायाही सो, और धाम बरनन।।

प्राणनाथ जी की रचना का एक अन्य उदाहरण है—

यह सब इच्छा सो जो मँगावै, पर सखियों को सेवा भावै।
सैया सेवा करन बेलि लावै, लेवै एक दूजी पै छिनावै।
श्री राज बैठे वार्ता करै, श्री स्याम जी चित्त धरै।
सखियाँ अरस परस करै हास, लेवै धनीजी को विविध विलास।
सखियाँ दौरि-दौरि के जावै, आरोगन की वस्तु लावै।
हुआ सन्ध्या का अवसर, श्री राज स्यामा जी बैठे सिंगार कर।

(प्रेम पाठ, पृ. 26)

निर्गुण प्रेम-पद्धति के अनुसार भी इनकी रचनाएँ मिल जाती हैं—

मेरे धनी धाम के दूलहा, मैं कर ना सकी पहिचान।
सो रोऊँ मैं याद कर-कर, जो मारे हेत के बान।

(प्रेम पाठ, पृ. 114)

महात्मा मुकुन्द दास जी

ये स्वामी प्राणनाथ के शिष्य थे। इनकी रचनाएँ अधिक उपलब्ध नहीं हैं। केवल कुछ पद मिलते हैं। नीचे कुछ पंक्तियाँ हम उद्धृत कर रहे हैं–

वेद रिचा तलफत ब्रज घोड़ी, विरह दाह में जारी।
कृष्ण द्वारिका काहे न बुलाई, गोकुल गोप कुमारी।
लीला त्रिविध भई नाना विधि, बाल तरुन भा बृध मारी।
कहत मुकुन्द सतगुरु समरथ, कोई न सके निरवारी।

(शरण विहारी गोस्वामी के हस्तलिखित पद संग्रह से)

भूषण दास

प्रणामी धर्म के अनुयायी थे। इनका समय सं. 1755 के लगभग माना गया है।[111] 'वृत्तान्त मुक्तावली' तथा 'बोध सागर' इनके दो मुख्य ग्रन्थ हैं। देवचन्द्र जी (प्रणामी धर्म के संस्थापक) ने गुरुदीक्षा कैसे ग्रहण की एवं गुरु ने उनको कौन-सा मार्ग बताया, इसका प्रवाहपूर्ण वर्णन भूषणदास ने किया है–

अखण्ड नित्य वृन्दावन भाख्यो, सो हरिदास चित्त में राख्यो।
ताकी चर्चा करै प्रेम सो, सेवै नित आचार नेम सो। 13
निज शिक्षा गुरु और बताई, सो देवचन्द चित्त सो लाई।
अपनो सखी भाव करि लीजै, पुरुष भाव अपनो तजि तीजै। 77
श्री कृष्णचन्द्र जानै गुरु आपन, श्यामा निज उपासना थापन।
सखी बिना इत पुरुष न पहुँचे, कोटि कष्ट करि जो मन शौचै। 78
ताते सखी भाव करि लीजै, पुनियह नाम मन्त्र रस पीजै।
कहै शिष्य स्वामी विधि नीकी, इच्छा पुरुष भाव की फीकी।

(श्री सर्वेश्वर : वृन्दावनांक, पृ. 1001)

अथवा

नित्य वृन्दावन का वर्णन करते हैं–

जहाँ छहो ऋतु निशाकर युत, विरह नाहि विजोग।
जहाँ श्याम श्यामा सखिन सहित, कटाक्ष प्रेम संजोग।
जहाँ हरष शोक न जरा आरति, सत्व रज तम नाहिं।
उद्वेग बिछुरन जहाँ नहि है सदा आनन्द माहिं।[112]

18वीं शती का ब्रजभाषा सूफ़ी प्रेमाख्यानक-काव्य : पृष्ठभूमि और संक्षिप्त रूपरेखा

प्रथम अध्याय में सूफ़ी मत की ऐतिहासिक रूपरेखा स्पष्ट करते हुए हमने कहा था कि भारतवर्ष में हिन्दी का भक्तिकाल तसव्वुफ़ का स्वर्ण युग रहा है। वहीं यह भी कहा गया है कि इब्नुल अरबी का 'वहदतुल वुजूद' सिद्धान्त भक्तिकाल के सूफ़ियों को प्रभावित कर रहा था। यह सिद्धान्त प्रेम-प्रधान वैष्णव अद्वैतवादियों के निकट था। इसी कारण पारस्परिक सम्मिलन और प्रभाव की इतनी सम्भावना हो सकी थी, परन्तु हमारे आलोच्य युग तक आते-आते यह उदारतावाद निःशेष हो चला। 17वीं-18वीं शताब्दी में धर्मान्धता अपना मस्तक उठाती प्रतीत होती है। 'वहदतुल वुजूद' के स्थान पर 'वहदतुल शुहूद' की मान्यता बढ़ने लगती है। नक्शबन्दी सम्प्रदाय (वि. की 17वीं शती का मध्य भाग भारतवर्ष में प्रवेश का समय है) को केन्द्र बनाकर यह प्रेममार्ग की अपेक्षा शरीअत को प्रधानता देने वाली प्रवृत्ति आगे बढ़ती है। इस रूढ़िवाद को औरंगज़ेब जैसा सशक्त एवं दुराग्रही शासक सरंक्षक के रूप में उपलब्ध भी हो जाता है। उदारतावाद के अन्तिम एवं सर्वोत्तम विचारक तथा संरक्षक दाराशिकोह के वध के साथ ही मानो उस विचारधारा की भी हत्या हो जाती है। हिन्दू-मुसलमानों के मध्य की खाई चौड़ी होने लगती है। यह भी द्रष्टव्य है कि इसी काल में हिन्दू राष्ट्रवाद भी उभरता है। मराठा, जाट, गूजर, सिख एवं राजपूत शक्तियाँ मुग़ल शासन के विरुद्ध विद्रोह करती हैं। इससे भी अन्तराल बढ़ता है। सूफ़ी प्रेमाख्यानकों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। पूर्ववर्ती सूफ़ी प्रेमाख्यानकों में भारतीय जन-जीवन, कथा-अभिप्रायों एवं प्रतीकों को जिस अकुण्ठित भाव से स्वीकार किया गया था, उसका अब अभाव होने लगा। अपनी हिन्दू वंश-परम्परा की पृष्ठभूमि के बावजूद जान कवि ने लैला-मजनूँ, तमीम अनसारी, ख़िज्र ख़ाँ, देवल देवी आदि प्रेम-कथाओं के कथानकों को अपनाया है। प्रेमाख्यानकों की जो विशुद्ध भारतीय परम्परा (जायसी आदि की) थी, उसका प्रवाह समाप्तप्राय था। उसके स्थान पर दकनी (हिन्दी या उर्दू) खड़ी बोली में चली आने वाली फ़ारसी-प्रभावित परम्परा से महत्त्वपूर्ण हो उठती है। जान कवि जैसे व्यक्ति प्रथम परम्परा से एकदम विलग तो नहीं हुए हैं, पर दूसरी परम्परा के प्रभाव में आ अवश्य गये हैं।

प्रेमाख्यानक कवि

जान कवि

जान कवि उनका लेखन सम्बन्धी उपनाम था। वास्तविक नाम नियामत ख़ाँ था।

उनके पूर्वज सीकर के कुलीन चौहान वंशीय क्षत्रिय थे जो संवत् 1440 में मुसलमान हो गये थे। अतः परम्परागत संस्कारों की दृष्टि से वे हिन्दू हृदय के निकट थे। वे संस्कृत, अरबी, फ़ारसी एवं ब्रजभाषा आदि अनेक भाषाओं के अच्छे जानकार थे। कहते हैं कि जान कवि में आशुकवित्व भी था। उनके जन्म-मृत्यु का ठीक पता नहीं है, किन्तु ग्रन्थों पर जो रचनाकाल उन्होंने दिया है, उससे ज्ञात होता है कि संवत् 1671 से 1721 तक लगभग 50 वर्षों के विस्तृत अन्तराल में उनका रचनाकाल फैला हुआ है। उनके द्वारा रचित 75 ग्रन्थों में से 21 ग्रन्थ तो सूफ़ी परम्परा में शुद्ध रूप से प्रेमाख्यानक हैं। काव्य-वैभव की दृष्टि से जान कवि सर्वोत्तम सूफ़ियों में नहीं ठहरते, परन्तु एक मौलिकता उनकी द्रष्टव्य है। उन्होंने मसनवियों की दोहा-चौपाई वाली शैली तो स्वीकार की पर माध्यम अवधी के स्थान पर ब्रजभाषा को अपनाया। माध्यम का यह परिवर्तन कथा की स्वाभाविकता और प्रवाह को कहीं से भी नष्ट नहीं करता। कहानी कहने की उनमें सहज एवं जन्मजात प्रतिभा ज्ञात होती है। सरल, प्रचलित ब्रजभाषा में कहानी का प्रवाह लोककथा-गायक की सहज मन्थर गति से निरन्तर बढ़ता रहता है। ब्रजभाषा के कवियों ने भाषा के सम्बन्ध में बहुत अधिक स्वतन्त्रता ली है, जान कवि की भाषा अत्यधिक व्यवस्थित भी है और प्रसंगोचित भी। एक उदाहरण लें—

पद्‌मिनि कहै कहा भयो भेद।
नैन-सजल तव आवत स्वेद।
रतन कह्यौ मों सीस पिरात।
प्रगट न करत पैमु की बात।
पद्‌मिनिकह्यौ सुनहुरतनावलि।
जौंलों मेरी पीरिन पावति।
तौं लों तेते पीरि न जाइ।
मेरी पीरि चढ़ी सिर आइ।
रतन कह्यौ सुनि पद्‌मिनिरानी।
हों तो मोहन हाथ बिकानी।
तैं मुहि दीनों कुँवर दिखाइ।
किधों दई तैं चेटक लाइ।
पद्‌मिनि को भाये ये बैन,
कह्यो चलहु देखहु भरि नैन।
रतन कह्यो अछिरा सब जागे।
चल्यौ न जै देखत इन आगै।
अरध निशा अछिरा गयी सोइ।
पदमिनि रतन चली ये दोइ।

आगे बैठो हो यहि मोहन।
लग्यो दूरहू ते अति सोहन।

जान कवि द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है–

(1) मदन विनोद, (2) ज्ञानदीप, (3) रस मंजरी, (4) अलफ खाँ की पैड़ी, (5) कायम रासो, (6) पुहुप वरखा, (7) कंवला वती कथा, (8) बरखा ग्रन्थ, (9) छवि सागर, (10) कलावती कथा, (11) छीता की कथा, (12) रूप मंजरी, (13) मोहनी, (14) चन्द्र सेन राजा सील निधान की कथा, (15) अरदेसर पातिसाह की कथा, (16) काम रानी या पीतमदास की कथा, (17) पाहन परिच्छा, (18) शृंगार शतक, (19) भाव शतक, (20) विरह शतक, (21) बलुकिया विरही की कथा, (22) तमीम अनसारी की कथा, (23) कथा कलन्दर की, (24) कथा निर्मल की, (25) सतवन्ती की कथा, (26) शीलवती की कथा, (27) कुलवती की कथा, (28) खिजर खाँ साहिजादा व देवल देवी, (29) कनकावती की कथा, (30) कौतूहली की कथा, (31) कथा सुमतराय की, (32) बुधिसागर, (33) कामलता कथा, (34) चेतननामा, (35) सिख ग्रन्थ, (36) सुधासिख ग्रन्थ, (37) बुधिदायक, (38) बुधिदीप, (39) घूंघट नामा, (40) दरसनामा, (41) अलकनामा, (42) दरसननामा, (43) बारह मास, (44) सतनामा, (45) वर्तनामा, (46) वांदीनामा, (47) वाजनामा, (48) कबूतर नामा, (49) गूढ़ ग्रन्थ, (50) देसावली, (51) रस कोष, (52) उत्तम सबद, (53) सियासागर, (54) वैद्यक सिख शतपद, (55) शृंगार तिलक, (56) प्रेम सागर, (57) वियोग सागर, (58) षट्ऋतु पवंगम छन्द, (59) वसन्त रागिनी, (60) रतन मंजरी, (61) नल-दमयन्ती, (62) पैमुनामा, (63) मान विनोद, (64) विरही के मनोरथ, (65) जफ़रनामा, (66) पदनामा, (67) भाव कल्लोल, (68) कन्दर्प कल्लोल, (69) नाम माला अनेकार्थी, (70) रतनावली, (71) सुधा सागर, (72) खास संग्रह, (73) लैला-मजनूँ, (74) कवि वल्लभ और (75) वैदक मति।[113]

जान कवि के काव्य में तसव्वुफ़ के आध्यात्मिक आवेश के स्थान पर परिपाटी विहित वर्णन का आग्रह अधिक प्रतीत होता है। यह भी एक प्रकार से प्रेमाख्यानकों के क्षेत्र में रीतिकाल का प्रभाव कहा जा सकता है।

दुख हरनदास

दुख हरनदास कायस्थ थे एवं प्रसिद्ध सन्त मलूकदास के शिष्य थे। उन पर सूफ़ी प्रेम-मार्ग एवं सिद्धान्तों का प्रचुर प्रभाव था। ग़ाज़ीपुर ज़िले में इनका जन्म हुआ था। यद्यपि जन्म-समय का ठीक निश्चय नहीं है, पर इतना प्रामाणिक रूप से ज्ञात है कि संवत् 1726 में 'पुहुपावती' नामक प्रेमाख्यानक की उन्होंने रचना की। रस ग्रन्थ का आदर्श जायसी की प्रेम कथा पद्मावत है। ध्यान देने योग्य बात यह है

कि पद्मावत के समान ही अवसर पाते ही लेखक ने आध्यात्मिकता के संकेत दिये हैं एवं प्रेम मार्ग की कठिनाइयों या सिद्धान्तों की चर्चा की है। सम्पूर्ण ग्रन्थ अवधि में दोहा-चौपाई की परम्परा प्राप्त शैली में लिखा गया है, पर बीच-बीच में घनाक्षरी एवं सवैयों में ब्रजभाषा का भी प्रयोग लेखक ने किया है। ब्रजभाषा का एक कवित्त उदाहरण के लिए नीचे हम उद्धृत कर रहे हैं :

बन भवो भवन गवन जब कीन्हों पीव,
तन लागे तवन मदन लाइ तापनी।
भूत भवो भूखन वो चूरी चुरइल भई,
हार भयो नाहर करेंगे घूटी साँप की।
दुःख हरन पीव बिनु मरन की गति गयी,
कासो मैं बरनि कहौं विधा कहौ आपनी।
फूल भवो सूल मूल कली भई काँटा ऐसी,
रात राकसिनी भई सेज भई साँपिनी।

18वीं शती में रीति प्रवृत्तियों की छाया में पलने वाला ब्रजभाषा-काव्य एवं उसके अध्ययन की दिशा–प्रेमाभक्ति की अभिव्यक्ति : पृष्ठभूमि और रूपरेखा

प्रस्तुत प्रबन्ध के समय की सीमा संवत् 1700 से संवत् 1800 तक है। रीतिकाल का पूर्वार्द्ध भी यही है। ब्रजभाषा का काव्य ही हमारा भी विवेच्च है तथा रीतिकाल की प्रवृत्तियों का 90 प्रतिशत काव्य भी ब्रजभाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमाभक्ति के जिन विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की विवेचना हमने पीछे की है, उनमें हम देख चुके हैं कि कृष्ण-राधा एवं कृष्ण-गोपियों की मधुर लीला ही प्रमुख रही है। इन भक्ति-सम्प्रदायों के 18वीं शती के जिन कवियों का विवरण पीछे प्रस्तुत किया गया है उनमें भी हमने यह ध्यान दिया था कि वक्तव्य का स्वर शृंगारिक था तथा अभिव्यक्ति की विधि आलंकारिक। इस तथ्य को अगले अध्याय में हम और अधिक विस्तार से देखेंगे। रीतिकाल में भी ठीक यही प्रवृत्ति है। शृंगार एवं आलंकारिकता दोनों ही रीतिकाव्य की प्रधान विशिष्टताएँ हैं। फिर कितने ही रीतिकवि भक्ति-सम्प्रदायों के अनुयायी भी थे। इन कवियों के जीवन सम्बन्धी यदि सभी तथ्य सामने आ जायें तो हमारा अनुमान है कि रीतिकाव्य के अधिकांश रचयिता किसी-न-किसी सम्प्रदाय (मुख्यतः वैष्णव-सम्प्रदाय) से सम्बन्धित दिखाई देंगे। ऐसी स्थिति में प्रेमाभक्ति-काव्य एवं रीतिकाल के मध्य एक सामान्य विभाजक रेखा खींचनी कठिन है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रीति-कवियों की कविताओं पर भक्ति का आवरण भी माना है[114] तथा उनकी ईमानदारी भी स्वीकार

की है।[115] इस ईमानदारी को स्वीकृति देते हुए भी डॉ. बच्चनसिंह ने उसे क्षणिक और अस्थिर कहा है।[116] भक्ति-भावना की यह ईमानदारी स्वीकार कर लेने के बाद समीक्षक के सामने समस्या उठ खड़ी होती है कि क्या इन अपेक्षाकृत अस्थिर किन्तु भक्ति-भावापन्न रचनाओं को रीतिकाव्य से पृथक् करके प्रेमाभक्ति काव्य के अन्तर्गत परिगणित किया जाय? हमारा विचार है कि इस विश्लेषण एवं पृथक्करण के द्वारा ही इन कवियों के ऐसे काव्य के प्रति न्याय किया जा सकेगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि रीतिकाव्य के प्रणेताओं की रचनाओं का सूक्ष्मता से विश्लेषण करके यह निश्चित किया जाय कि इनमें से कितना अंश शुद्ध भक्ति-भावापन्न है एवं कितना अंश ऐहिक शृंगार का है जिसके साथ राधा-कृष्ण के नाम भर जोड़ दिये गये हैं। वास्तव में सामाजिक कवच[117] दूसरे प्रकार वाला काव्य है। जहाँ तक आत्मसन्तुष्टि या आत्मग्लानि के दबाव में[118] भक्तिपरक काव्य रचना का प्रश्न है वह काव्य सृजन-प्रक्रिया में किसी भी प्रकार उपेक्षणीय या कम मूल्यवान नहीं है। मनोवैज्ञानिक आवश्यकता तथा सामाजिक कवच वाली बात के सन्दर्भ में स्वयं धर्म के बारे में कहा गया कार्ल मार्क्स का यह कथन विचार्य है—"धार्मिक वेदना एक ओर वास्तविक वेदना की अभिव्यक्ति है एवं दूसरी ओर वास्तविक कष्ट के प्रति विरोध भी। धर्म-दलित व्यक्तियों की आह है, हृदयहीन जगत् का हृदय है एवं आत्मारहित परिस्थितियों की आत्मा है। यंह जन की अफीम है।[119] रीतिकाव्य के भक्ति सम्बन्धी उद्‌गार ऐसे ही आह, हृदय या आत्मा रूप हैं और उनकी किसी भी प्रकार अवहेलना न होनी चाहिए। आश्रयदाता की रुचि से अनुकूलित होने को बाध्य उसकी प्रवृत्ति ऐहिक शृंगार से आमुष्मिक प्रेम के क्षेत्र में प्रयाण कर वास्तव में वास्तविक कष्ट की अभिव्यक्ति ही करनी होगी।

परन्तु यहीं पर यह कह देना भी आवश्यक है कि इन कवियों के प्रेमाभक्ति सम्बन्धी उद्‌गारों में वह सहज, अकुण्ठ वृत्ति नहीं मिलती जिसका कि भक्त कवियों में अभाव नहीं है।

रीति-कवियों ने सिद्धान्त-कथन के क्षेत्र में भी नीति, वैराग्य, परोपकार आदि के वैसे ही वचन कहे हैं जैसे कि पूर्व-वर्णित कवियों में हमें उपलब्ध हो जाते हैं।

अस्तु, आगे हम जिन रीति-कवियों को उपस्थित कर रहे हैं उनके नाम एवं रचनाएँ छाँटने में हमने उन्हीं को स्वीकार किया है जिनमें सचमुच ही भक्ति-भाव की झलक प्राप्त होती है। स्थानाभाव से यह विवरण हमें बहुत थोड़े में सीमित करना पड़ता है—अन्यथा इस कसौटी पर रीतिकाव्य की विस्तृत समीक्षा और मूल्यांकन सम्भव है।

प्रमुख रूप से रीति और गौणतः प्रेमाभक्ति कवि

सेनापति

सेनापति के बारे में कुछ विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। अपने ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' में उन्होंने पिता का नाम गंगाधर तथा पितामह का नाम परशुराम दीक्षित बताया है। हीरामन दीक्षित के शिष्यत्व में उन्होंने विद्याध्ययन किया था।[120] सेनापति उनका कवि-नाम था तथा किसी मुसलमान दरबार से भी वे सम्बन्धित रहे हैं।[121] उन्होंने अपना ग्रन्थ कवित्त रत्नाकर किसी राजा को समर्पित किया था। सेनापति बड़े ही स्वाभिमानी कवि थे। उनका कवित्त रत्नाकर ग्रन्थ संवत् 1706 में लिखा गया था। काल की दृष्टि से वे भक्तिकाल और रीतिकाल की सन्धि में ज्ञात होते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें अपने साहित्य के इतिहास में रीतिमुक्त काव्य-धारा में रखा है।[122] आचार्य शुक्ल ने उन्हें भक्तिकाल की फुटकर रचनाओं में स्थान दिया है।[123] नागरी प्रचारिणी सभा वाले हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास के रीतिकाल वाले खण्ड (छठा भाग) में भी उन्हें रीति-कवि न कहकर भक्ति काल का कवि कहा गया है।[124]

वास्तव में सेनापति में रीतिकाल एवं भक्तिकाल दोनों की प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय है। कवित्त रत्नाकर ग्रन्थ की पाँचों तरंगों का संक्षिप्त विश्लेषण भी इस तथ्य को प्रकट करने के लिए पर्याप्त होगा। इस ग्रन्थ की पहली तरंग श्लेष वर्णन में प्रयुक्त हुई है। इस तरंग में प्रत्येक छन्द में सभंग या अभंग पद श्लेष का अत्यन्त कुशलता से निर्वाह किया गया है। श्लेष का गठन, शोभा और आग्रह रीतिकाल के किसी भी अलंकार प्रेमी कवि के लिए ईर्ष्या का विषय है। दूसरी तरंग में शृंगार-वर्णन हुआ है। शृंगार-वर्णन भी नायिका-भेद, नख-शिख वर्णन आदि की भाँति रीतिकालीन पद्धति पर ही है। इतना अवश्य है कि शृंगार की अपेक्षा वियोग-वर्णन में उनका मन अधिक रमा है परन्तु विरह-वर्णन में मानसिक स्थितियों का वैसा सूक्ष्म विलेषण और अभिव्यंजन सेनापति में नहीं प्राप्त होता जैसा कि घनानन्द आदि स्वच्छन्द धारा के कवियों के काव्य में हमें उपलब्ध होता है। तीसरी तरंग प्रकृति-वर्णन की है। यह उनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार है। प्रकृति के कुछ संश्लिष्ट चित्र उपस्थित कर उन्होंने बहुत से सहृदयों की प्रशंसा प्राप्त की है। प्रकृति के उनके ये चित्र उन्हें अवश्य रीतिकालीन परिपाटी से अलग घोपित करते हैं; क्योंकि सेनापति के ये प्रकृति-चित्र स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष रूप से प्रभाव उत्पन्न कर सकने में समर्थ हैं, परन्तु इस निरपेक्ष प्रकृति-चित्रण के साथ ही ऐसे छन्दों की भी कमी नहीं है जिनमें प्रकृति पृष्ठभूमि के रूप में ही उपस्थित की गयी है।[125] चौथी एवं पाँचवीं तरंग में सेनापति की रामभक्ति-भावना अभिव्यंजित हुई है। इनमें राम का चरित्र वर्णित है, परन्तु राम के शृंगारी रूप की अपेक्षा पराक्रम और ऐश्वर्य से मण्डित विग्रह के प्रति ही उन्होंने

अपनी रुचि दिखाई है। भगवान के इस रूप के प्रति उनके मन में पूर्ण श्रद्धा थी। उनके भगवान भक्त-वत्सल थे, विराट थे। उस भक्त-वत्सलता तथा विराटता के सम्मुख उनका हृदय आत्मग्लानि तथा पश्चात्ताप से भर जाता है। वह सोचता है कि क्यों हमें सेवक का पद भगवान ने दिया है।

आलस की निधि, बुधि बाल, सुजगतिपति।
सेनापति सेवक कहा धौं जानि कीनों है।[126]

शरणागति में भक्त को अपनी रक्षा का पूरा विश्वास रहता है। यह बात हम द्वितीय अध्याय में भक्ति-विवेचन के प्रसंग में कह चुके हैं।

सेनापति भी कहते हैं—

सोवै सुख सेनापति सीतापति के प्रताप।
जाकी सब लागै पीर ताही रघुबीर ही।[127]

क्योंकि उसे विश्वास है कि—

अति अनियारे, चन्दकला से उजारे तेई,
मेरे रखवारे नरसिंह जू के नख है।[128]

पंचभक्ति-भावों की दृष्टि में सेनापति गोस्वामी तुलसीदास की परम्परा में दास भाव के उपासक माने जावेंगे। तुलसी के समान ही उन्होंने अपने इष्टदेव के अतिरिक्त अन्य देवताओं के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त की है। उनका निम्न पद किसी भी वृन्दावन रसोपासक कवि की रचना में खप सकता है—

महा मोह-कंदनि में जगत जकंदनि में,
दिन दुःख दंदनि में जात है बिहाय कै।
सुख को न लेस है कलेस सब भाँतिन को,
सेनापति याही ते कहत अकुलाय कै।
आवैं मन ऐसी घर बार परिवार तजौं,
डारौं लोक लाज के समाज विसराय कै।
हरिजन पुंजनि में वृन्दावन कुंजनि में,
रहौं बैठि कहूँ तरवर-तर जाय कै।[129]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति में भक्तिकाल एवं रीतिकाल दोनों की प्रवृत्तियाँ समान रूप से मिली हुई हैं। पं. उमाशंकर शुक्ल का यह मत उचित ही मालूम पड़ता है कि यद्यपि सेनापति ने "रीतिकालीन परिपाटी पर रचना नहीं की है परन्तु फिर भी रीति-युग की प्रवृत्तियों की छाप उनकी रचनाओं में प्रचुरता से पायी जाती है।"[130]

आगे हम रीतिकालीन कुछ कवियों का परिचय देने जा रहे हैं जिनमें कि प्रेमभक्ति की भावना अभिव्यंजित हुई है। सेनापति इन कवियों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि जहाँ रीतिकालीन कवि लौकिक काव्य और भक्ति-परक दोनों ही रचनाओं में कृष्ण

के शृंगारी स्वरूप का आश्रय ग्रहण करते हैं वहीं सेनापति अपनी भक्तिभावना में आलम्बन के पराक्रम और ओज को व्यंजित करते हैं एवं स्वयं दास-भाव के भक्त हैं, न कि माधुर्य भाव के। परन्तु अपने लौकिक काव्य में उन्होंने शृंगार एवं लक्षण-ग्रन्थों की परिपाटी को पूरी तरह से स्वीकार किया है। इस प्रकार उनके काव्य के दो बहुत स्पष्ट पक्ष सामने आ जाते हैं। एक आमुष्मिक और दूसरा ऐहिक।

सेनापति हमारे आलोच्य युग के बहुत समर्थ कवियों में से हैं। उनका कथ्य और उनकी अभिव्यंजना दोनों ही सक्षम हैं। उनके बारे में आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है : "भाषा पर ऐसा अच्छा अधिकार कम कवियों का देखा जाता है।"[131]

बेनी

हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में तीन बेनी नामधारी कवियों का उल्लेख हुआ है। एक तो बैंती के भण्डौआ वाले बेनी तथा दूसरे लखनऊ के बेनी प्रवीन। ये दोनों ही परवर्ती कवि हैं। प्रस्तुत तीसरे बेनी कवि असनी के बन्दीजन थे और संवत् 1700 के आस-पास विद्यमान थे।[132] उनका रचा हुआ कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु फुटकर कुछ छन्द मिल जाते हैं। भक्तिकाल के अन्तिम भाग में होने वाले बेनी में भक्ति का भाव पूरी तरह विद्यमान था। वे राधाकृष्ण युगल के नित्यविहार सुख के आकांक्षी थे। हमारा अनुमान है कि उनका काव्य वास्तविक रूप से मात्र शृंगारपरक न होकर युगल दम्पति के विहार से भी सम्बन्धित है। बेनी कवि की निम्न अभिलाषा उनके भक्तिभाव को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होती है–

लहरै सिर पै छवि मोर पखा उनकी तथ के मुकता थहरैं।
फहरै पियरे पट बेनी इतै, उनकी चुनरी के झबा झहरैं।
रस रंग निरै अमिरै हैं तमाल दोऊ, रस प्याल चहैं लहरैं।
नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिये में सदा विहरैं।

चिन्तामणि

चिन्तामणि रीतिकाल के प्रारम्भिक रीति-निरूपक आचार्यों में से हैं। आपका जन्म-संवत् निश्चित नहीं हो सका है। कानपुर जिले के तिकवाँपुर ग्राम के ये रहने वाले थे। प्रसिद्ध है कि भूषण और मतिराम इनके छोटे भाई थे पर इधर इस सम्बन्ध में संशय प्रगट किया गया है। काव्य विवेक, कविकुल कल्पतरु, काव्य प्रकाश, रस मंजरी पिंगल और रामायण उनके पाँच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि काव्य के विविध अंगों पर उन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं पर उनके महत्त्व का कारण उनका काव्य है न कि काव्य-निरूपण। भक्तिकाल एवं रीतिकाल की सन्धि में होने के कारण उनमें

भक्ति की स्पष्ट छाया मिलती है। योगक्षेमं वहाम्यहम् कहने वाले के प्रति उनका यह विश्वास का भाव द्रष्टव्य है–

येई उधारत हैं जिन्हें जे भरे मोह महोदधि के जले-फेरे।
जे इनको पल ध्यान धरैं मन, तेन परैं कबहूँ जम घेरे।
राजे रमा-रमनी-उपधान अभै वरदान रहैं जन नेरे।
हैं बल भार उदण्ड भरे हरि के भुजदण्ड सहायक मेरे।

बिहारीलाल

बिहारीलाल का जन्म काफी विवाद का विषय रहा है परन्तु अब लगभग यह स्वीकार कर लिया गया है कि उनकी स्थिति संवत् 1652 से 1720 के मध्य रही है। सम्भवतः उनके काव्य के सृजन का सर्वोत्तम युग संवत् 1700 के आस-पास रहा होगा।[133] अभिव्यक्ति का जो संयम और अनुशासन उनके काव्य में प्राप्त होता है, वह सूचित करता है कि प्रथम तारुण्य का आवेग न होकर प्रौढ़ होते हुए व्यक्ति की वह अभिव्यक्ति है। उसमें भी नीति उपदेश, जीवनानुभव एवं तत्त्व-दर्शन के जो अंश हैं, ऐसा हमारा अनुमान है कि वे संवत् 1700 के आसपास के ही होंगे।

बिहारीलाल धौम्य गोत्रीय सोती घरवारी माथुर चौबे थे। ओड़छे के वे रहने वाले थे। किशोरावस्था में ही बिहारी अपने पिता के साथ वृन्दावन आ गये थे। इस प्रकार उनका बचपन बुन्देलखण्ड में बीता था, किशोरावस्था में वे ब्रज में आ गये। वृन्दावन में हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी नरहरिदास का शिष्यत्व उन्होंने स्वीकार कर लिया था। युगल रूप की दीक्षा इस प्रकार उन्हें अपने जीवन के प्रथम चरण में ही मिल गयी थी। उनके काव्य के शृंगारी स्वरूप के नीचे यह दीक्षा यदि लगातार कार्य करती रही हो तो आश्चर्य न होना चाहिए।

नित प्रति एक ही रहत बैस बरन मन एक।
चहियत जुगल किशोर लखि लोचन जुगल अनेक।

जिसका स्वरूप स्वामी नरहरि देव ने उनके सम्मुख स्पष्ट किया होगा। उस रूप का ही पल्लवन अपनी कवि-कल्पना, लक्षण ग्रन्थों के दबाव एवं आश्रयदाता की रुचि के अनुरूप उन्होंने किया है।

स्वामी नरहरि देव ने ही शाहजहाँ से बिहारी की काव्य-कला की प्रशंसा करते हुए उन्हें परिचित करा दिया था, जिसके फलस्वरूप वे मुग़ल-दरबार में आ गये थे। इस तथ्य से यह भी प्रकट होता है कि वृन्दावन निवास-काल में उन्होंने अपने गुरु के समक्ष काव्यकला का प्रदर्शन अवश्य किया होगा। इसी तथ्य की तार्किक परिणति यह भी है कि यह काव्य श्याम-श्यामा की लीलाओं से ही सम्बन्धित रहा होगा। विरक्त स्वामी नरहरि देव लौकिक नायक-नायिकाओं की काम चेष्टाओं पर क्यों मुग्ध होने लगे?

आगरे के मुग़ल-दरबार की शान-शौकत एवं फ़ारसी प्रभाव लेकर ये जीविका की खोज में जयपुर के राजा जयसिंह के दरबार पहुँचे थे एवं अपनी प्रतिभा तथा वाग्वैदग्ध्य के बल पर सम्मान भी अर्जित किया। पतनोन्मुख सामन्ती व्यवस्था वाले राजपूती जीवन की विलास-क्रीड़ाओं ने भी उनके काव्य को अनुकूलित (कण्डीशन) किया है। इस प्रकार धार्मिकता की प्रारम्भिक भावभूमि पर फ़ारसी परम्परा एवं सामन्ती विलासिता तथा लक्षण ग्रन्थों की रीतिबद्धता का आश्रय लेकर उनके काव्य का शीशमहल खड़ा होता है।

बिहारी के काव्य में मधुरा भक्ति का पुट निश्चित रूप से प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में एक पुरानी किंवदन्ती हमें बड़ी महत्त्वपूर्ण लगी। असनी के प्रसिद्ध ठाकुर कवि ने अपने आश्रयदाता देवकीनन्दन के लिए 'सतसैया वर्णार्थ' नामक बिहारी सतसई की टीका लिखी है। इसमें बिहारी का विस्तृत वृत्तान्त भी दिया है। उसकी वर्णित एक घटना की ओर हम विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। उस वर्णन के अनुसार जयसिंह से अपनी सतसई पर पुरस्कृत होने के पश्चात् बिहारी राजा छत्रसाल के दरबार में पहुँचे। छत्रसाल ने अपने गुरु प्राणनाथ जी (धामी सम्प्रदाय के संस्थापक) के पास परीक्षा के लिए उसे भेजा। प्राणनाथ जी ने उसकी श्रृंगारिकता की निन्दा करते हुए अस्वीकृत कर दिया। इस पर पत्नी के परामर्श के अनुसार बिहारी ने परीक्षा के लिए एक दूसरी कसौटी सुझाई। इस कसौटी के अनुसार पन्ना के युगल किशोर मन्दिर में रात्रि को सतसई एवं प्राणनाथ जी की धर्म-पुस्तक हस्ताक्षर के लिए रख दी गयी। प्रातःकाल सतसई पर युगल किशोर जी के हस्ताक्षर प्राप्त हुए प्राणनाथ की वाणी पर नहीं।[134] इस घटना की प्रामाणिकता का निर्णय हमारा कार्य नहीं है। इसके द्वारा हम इतना मात्र निवेदित करना चाहते हैं कि युगल-रूप की माधुर्य-भावना सतसई में है, इस विचार का अस्तित्व काफी पुराने समय में भी पाया जाता है। ध्यान रहे कि यह टीका संवत् 1861 में लिखी गयी थी।[135]

इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर देना उचित रहेगा कि बिहारी विशुद्ध रूप से साधनानुभूति का काव्य नहीं लिख रहे थे। इसी कारण लौकिकता का प्राधान्य तो है ही, साथ ही नित्य निकुंज लीला का सीमित क्षेत्र भी उन्होंने नहीं स्वीकार किया। गुरु-परम्परा उनकी निकुंज लीला की थी, परन्तु कवि-कल्पना को अधिक मुक्त आकाश देने के लिए ब्रजलीलाओं का वैविध्य उन्होंने स्वीकार किया था। इसी कारण चीरहरण, रास, पूतना वध, गोवर्धन धारण, दावानलपान, भ्रमरगीत आदि अनेक लीलाएँ उनके काव्य में चित्रित हुई हैं। भक्ति सम्प्रदाय के कवियों के समान नैतिक (वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार की नैतिकताएँ) एवं दार्शनिक सिद्धान्त-कथन भी बिहारी में उपलब्ध होते हैं। सब मिलाकर सतसई में लगभग 100 दोहे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से भक्ति एवं नीति से सम्बन्धित हैं।

जहाँ तक बिहारी की काव्यकला, अनुभाव-विधान, हस्तलाघव कौशल भाषा की

शक्ति, चित्रमयता, सांगीतिकता, नाटकीयता एवं ध्वन्यात्मकता आदि का प्रश्न है, बिहारी के महत्त्व की स्थापना पूरी तरह से हो चुकी है। ये रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ दो कवियों में तथा हिन्दी के सुन्दरतम व्यंजनाओं वाले कवियों में से एक गिने जाते हैं। नीचे हम उनके भक्ति सम्बन्धी कतिपय दोहे मात्र उद्धृत कर रहे हैं—

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झांई परैं, स्यामु हरित दुति होई।।[136]

स्याम सुरति करि राधिका तकति तरणिजा तीर।
अंसुवनि करत तरौंस कौं खिनकु खरौंहों नीर।।[137]

उर लागै अति चटपटी सुनि मुरली धुनि धाइ।
हौं निकसी हुलसी सु तौ गौ हुलसी हिय लाइ।।[138]

जस अपजसु देखत नहीं देखत साँवल गात।
कहा करौं, लालच भरे चपल नैन चलि जात।।[139]

कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीतपट कहूँ मुकुट बनमाल।।[140]

गोपिनु संग निसि सरद की रमत रसिकु रस रास।
लहा छेह अति गतिनु की सबनु लखे सब पास।।[141]

जौ न जुगुति पिय मिलन की धूरि मुकुलि मुँह दीन।
जौ लहिये संग सजन तौ धरक नरक हूँ कीन।।[142]

गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूढ़े जहाँ हजारू।
वहै सदा पसुनरतु कौ प्रेम-पयोधि पगारू।।[143]

आलोचकों ने यह बात नोट की है कि बिहारी का विरह-वर्णन तो ऊहात्मक हो गया है पर मिलन के उनके चित्र अत्यन्त प्रसन्न एवं उस उल्लास को सजीव करने वाले हैं। वस्तुतः इस तथ्य के मूल में बिहारी के सम्प्रदाय की नित्यविहारोपासना विद्यमान है। हम पहले ही कह चुके हैं कि नित्यविहारोपासना में चिन्तन की ही स्वीकृति है, विरह की नहीं। यह तथ्य बिहारी ही नहीं रीतिकाल के अन्य कवियों के सन्दर्भ में भी दूर तक काव्य-सृजन को अनुकूलित करता है।

मतिराम

मतिराम बिहारी के कुछ बाद के कवि हैं। उनका जन्म संवत् 1661 के लगभग बनपुर जिला कानपुर में वत्सगोत्रीय त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर हुआ था। उनके पिता का नाम विश्वनाथ था। डॉ. महेन्द्र कुमार ने मतिराम का मृत्यु संवत् काफी ऊहापोह के पश्चात् संवत् 1758 वि. के आस-पास निश्चित किया है।'[144] मतिराम को देव की भाँति ही अनेक आश्रयदाताओं की खोज में भटकना पड़ा था। कहते हैं कि ये मुग़ल-दरबार का भी चक्कर अपनी बढ़ती वय में लगा आये थे तथा अनेक राजपूतों की भी जीवनचर्या के समीपी पर्यवेक्षक बनने का अवमर उन्हें मिला था। इसी कारण उनके काव्य में ये दोनों प्रभाव मिल जाते हैं।

उनके सात ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं—फूल मंजरी, रस राज, ललित ललाम, सतसई, अलंकार पंचाशिका, छन्द सार पिंगल और वृत्त कौमुदी। मतिराम द्वारा रचित 'साहित्य सार' एवं 'लक्षण शृंगार' नामक दो अन्य ग्रन्थों की भी चर्चा की जाती है। 'बरवै नायिका भेद' नामक उनके द्वारा सम्पादित एक ग्रन्थ भी बताया गया है। वस्तुत यह ग्रन्थ उनके द्वारा सम्पादित नहीं है तथा 'साहित्य सार' एवं 'लक्षण शृंगार' प्राप्त नहीं हैं। उनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार 'रस राज' नामक उनका नायिका-भेद का ग्रन्थ है। इसमें दोहों में लक्षण एवं कवित्त-सवैया आदि छन्दों में उदाहरण दिये गये हैं। उनका दूसरा मुख्य ग्रन्थ ललित ललाम अलंकार-सम्बन्धी है। उनकी सतसई के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, इसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों के समान ही हैं।[145]

उपर्युक्त ग्रन्थों के वर्ण्य विषयों का अनुशीलन करने से ऐसा लगता है कि बिहारी रीतिबद्ध काव्य-रचना करने वाले शृंगारी कवियों के अन्तर्गत परिगणनीय हैं, परन्तु जैसा कि रीतिकाल के बहुत से कवियों के लिए कहा जा सकता है, मतिराम को भी राधा और मोहन का नाम लेकर पवित्रता बोध जगाना पड़ा है। उनके धार्मिक सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए डॉ. महेन्द्र कुमार ने उन्हें शुद्धाद्वैत से प्रभावित माना है।[146] हमारा विचार है कि इन कवियों को सदैव किसी-न-किसी धार्मिक-दार्शनिक मत से जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। इसका अतिरिक्त जिन तर्कों के आधार पर उन्हें शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय का माना गया है उन्हीं तर्कों के आधार पर मध्यकालीन गोपी-भाव के किसी भी सम्प्रदाय के अन्तर्गत उन्हें रखा जा सकता है। यों मूलतः रीतिकाल के कवियों का एक बड़ा भाग स्मार्तमतानुयायी प्रतीत होता है। स्वयं मतिराम ने गणेश[147], शिव,[148] शक्ति[149], सरस्वती[150], रामचन्द्र[151] आदि विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियाँ लिखी हैं, परन्तु वातावरण (धार्मिक एवं सामाजिक) में जो शृंगार व्याप्त था, उसने उन्हें माधुर्य-भावपरक बनने में सहायता दी। इस स्थिति में किस समय वे भाव-विभोर होकर राधा-कृष्ण या गोपी की बात कह रहे हैं या सामान्य नायक-नायिका का, यह

कहना कठिन हो जाता है। नीचे हम एक सवैया दे रहे हैं, इसे क्यों न प्रेमविह्वला गोपी का वचन माना जाय? मध्यकालीन समाज में नायक-नायिका इस प्रकार के स्वच्छन्द मिलन की कामना तो कर नहीं सकते थे—ऐसी स्थिति में कृष्ण एवं गोपी की मधुर लीलाएँ यदि उसे आकर्षित करें तो अनुचित न कहा जाना चाहिए। भक्ति का भाव मूलतः भक्ति का ही है—चाहे वह किसी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता के वशीभूत हो या सामाजिक दबाव का परिणाम। अस्तु सवैया इस प्रकार है—

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारें कलंक लगै इहि गाँव बसे कहो कैसे के बीजै।
होत रहे मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै।[152]

इस सवैये की शृंगार संवलित भक्ति के अन्तर्गत विवेचना करते हुए एक विद्वान ने कहा, शुद्धभक्ति-भावना में भक्त भगवान के चरणों का सान्निध्य चाहता है। भक्त की दृष्टि भगवान के चरणों पर ही रहती है, किन्तु प्रेमी-प्रियतम के मुखारविन्द का मकरन्द-पान करके ही जीवित रहता है। मतिराम की भक्ति भावना में शृंगार भाव का ही पुट है, क्योंकि कवि की दृष्टि मोहन के चरणों पर नहीं, अपितु उनके हृदय और अधरों पर है। इस शृंगार-भाव की पूर्ति के लिए ही वह बनमाला और मुरली बनने की अभिलाषा कर रहा है[153] परन्तु यहीं पर समीक्षक महोदय यह भूल गये हैं कि पुष्टिमार्ग में ही गो. हरिराय जी ने 'शीतल' और 'उष्ण' भक्तियों के दो विभाजन किये थे। शीतल भक्ति का भक्त प्रभु के चरण-सरोवर में निमज्जित होकर शीतलता चाहता है तथा 'उष्ण' भक्ति का साधक प्रभु के अधरों का आसवपान करना चाहता है।[154] वह सचमुच ही मुरली बनकर अधरों एवं बनमाल बनकर हियरे में लगना चाहता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि उष्ण भक्ति ही पुष्टिमार्ग के भक्त के लिए काम्य थी। उनके कतिपय अन्य मधुर भावापन्न दोहे नीचे उद्धृत हैं—

मों मन तम तोमहिं हरौ राधा को मुखचन्द्र।
बढ़ै जाहिं लखि सिन्धु लौ नन्दनन्दन आनन्द। [155]
गुंज गुंज के हार उर मुकुट मोर पर पुंज।
कुंज बिहारी बिहरिये मेरे ई मन कुंज। [156]
राधा मोहन लाल कौ जाहि न भावत नेह।
परियौ मठी हजार दस ताकी आँखिनि खेह। [157]
मुरलीधर गिरिधरन प्रभु पीताम्बर घनस्याम।
बकी विदारन कैस अरि चीर हरन अभिराम। [158]

मतिराम की जैसी साफ़-सुथरी प्रकृत ब्रजभाषा लिखने वाले कवि रीतिकाल में भी कम मिलेंगे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार मतिराम भाषा की नाड़ी पहचानते थे।[159] शुक्ल जी की सम्मति है कि भाषा के ही समान मतिराम के न तो

भाव कृत्रिम है और न उनके व्यंजक व्यापार और चेष्टाएँ[160] मतिराम में चित्र-निर्माण की अद्‌भुत क्षमता थी। साथ ही पारिवारिक जीवन में उनकी गहरी रुचि भी थी। उनका अलंकार-विधान इसीलिए अधिक मार्मिक एवं सहज हो सका है।

कुलपति

कुलपति मिश्र के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे महाकवि बिहारी के भागिनेय थे। वे आगरा के रहने वाले माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके रचे पाँच ग्रन्थों का उल्लेख साहित्य के इतिहासों में होता है—द्रोण पर्व, मुक्ति तरंगिणी, नखशिख, संग्राम सार और रस रहस्य। उनमें से अन्तिम ग्रन्थ रस-निरूपक ग्रन्थ है। तृतीय एवं चतुर्थ भी शृंगार से ही सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। प्रथम महाभारत के द्रोण पर्व के आधार पर रचित काव्य प्रतीत होता है एवं दूसरे ग्रन्थ मुक्ति तरंगिणी का शीर्षक उसे आध्यात्मिक अभिव्यंजना का काव्य सिद्ध करता है। उनका रचनाकाल 18वीं शती का पूर्वार्द्ध है। रस-रहस्य उन्होंने संवत् 1727 में बनाया था। कुलपति मिश्र आचार्यत्व की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही साथ ही सुकवि भी थे। सीधी एवं सहज ब्रजभाषा में हृदय के स्वाभाविक उद्‌गार उन्होंने प्रकट किये हैं।

भक्ति-भावना का उनमें अभाव न था। 'रस रहस्य' के प्रारम्भ में ही कृष्ण की वन्दना उन्हें वैष्णव सिद्ध करती है। कृष्ण को आराध्य मान लेने के बाद स्वाभाविक रूप से उनकी मधुर लीलाओं की ओर व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट होता है। ऐसे ही एक विहार-प्रसंग का उल्लेख निम्न छन्द में प्रतीत होता है—

ऐसिय कुंज बनी छवि पुंज रहे अलि गुंजत यों सुख लीजै।
नैन विशाल हिये वनमाल विलोकत रूप सुधा भरि पीजै।
जामिनि-जान की कौन कहैं जुग जात न जानिये यों छिन छीजै।
आनन्द यों उमग्योई रहै, पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै।

वृन्द

नीतिकार के रूप में वृन्द कवि की हिन्दी में पर्याप्त ख्याति है, परन्तु वृन्द केवल नीतिकार ही नहीं थे, वे एक श्रेष्ठ कवि भी थे। वृन्द कवि का जन्म संवत् 1700 के आस-पास मेड़ता (जोधपुर) में हुआ था। ये जाति के सेवक या भोजक थे। काशी में साहित्य, दर्शन तथा विभिन्न शास्त्रों का उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया था। काशी से लौटने पर अपने पाण्डित्य एवं प्रतिभा के कारण जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह (प्रथम) से आपको सम्मान भी प्राप्त हुआ था। बाद में ये औरंगजेब के दरबार में भी पहुँच गये थे। औरंगजेब की काव्य-संगीत आदि कलाओं-सम्बन्धी उदासीनता

प्रसिद्ध है, परन्तु कहते हैं कि वृन्द ने उसके मुख से भी प्रशंसा एवं हाथों से धन प्राप्त कर लिया था। औरगंजेब ने उन्हें दरबार में स्थान देने के साथ ही अपने पौत्र अज़ीमुश्शान का अध्यापक भी नियुक्त कर दिया। अज़ीमुश्शान जब बंगाल का सूबेदार हुआ तब वे उसके साथ ढाका चले गये। डॉ. मेनारिया का कथन है कि सं. 1764 के आस-पास किशनगढ़ के महाराज राजसिंह ने अज़ीमुश्शान से वृन्द को माँग लिया था और अच्छी भूमि देकर अपने यहाँ बसा लिया।[161] किशनगढ़ में ही वृन्द की मृत्यु सं. 1780 में हुई थी। वृन्द कवि के रचे हुए 11 ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है–

(1) समेत सिखर छन्द (रचना 1725), (2) भाव पंचाशिका (1743), (3) शृंगार शिक्षा (1748), (4) पवन पच्चीसी, (5) हितोपदेश सन्धि, (6) वृन्द सतसई (1761) इसका निर्माण ढाका में अज़ीमुश्शान के अनुरोध पर हुआ था, (7) वचनिका (1762), (8) सत्य स्वरूप (1764), (9) यमक सतसई, (10) हितोपदेशाष्टक, (11) भारत कथा।

इन रचनाओं में विषय का बहुत वैविध्य है। वास्तव में वृन्द को देशाटन एवं जीवनानुभवों को अर्जित करने का पर्याप्त अवसर मिला था। इन अनुभवों को उन्होंने अपने काव्य में रोचक अभिव्यक्ति दी है। उनके नीति-कवि के पीछे भी जीवन का यही विशाल अनुभव विद्यमान था।

रीतिकाल के कवियों जैसा शृंगार रस एवं नायिका भेद का वर्णन उन्होंने भाव पंचाशिका एवं शृंगार शिक्षा में किया है। उनका वृन्द सतसई अपने नीतिपरक दोहों के लिए प्रसिद्ध ही है, पर उसके अतिरिक्त उनकी यमक सतसई भी है। यमक सतसई के अधिकांश दोहे शृंगार रस के हैं एवं प्रत्येक दोहे में यमक अलंकार की स्थापना हुई है। यह रचना भी आलंकारिकता की दृष्टि से रीतिबद्धता ही सूचित करती है।

वृन्द अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग में चाहे जैसे कवि रहे हों, पर वार्द्धक्य की अवस्था में वे भक्ति की ओर उन्मुख हो गये थे। किशनगढ़ राज्य का पूरा कुटुम्ब ही भक्त और कवि था। राजपरिवार के प्रभाव में ही वृन्द भी निम्बार्कीय सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य एवं कवि बृन्दाबन देव के शिष्य हो गये थे। बृन्दाबन देव ने स्वयं 'गीतामृत गंगा' में आलंकारिक शैली में ब्रजलीलाओं का गान किया है। नीचे हम वृन्द कवि के कतिपय भक्तिभावपरक छन्द उद्धृत कर रहे हैं, परन्तु इन पर भी रीतिकाल की चमत्कार-योजना का प्रभाव देखा जा सकता है–

पटु पराग पट पीत, सुखद सुन्दर तन सोहत,
बंसी बंस बजाय, सुमन खग मृग मन मोहत।
करि विलास रस केलि, लता ललिता पुंजन में।
सदन सदन संचरत, धरि विचरत कुंजन में।
जलन्हात पद्‌मिनीवास हर, चढ़त सुविटप कदम्ब पर।
माधव स्वरूप माधव पवन, कहत वृन्द आनन्द कर।

(पवन पच्चीसी से)

कुंज बिहारी कुंज में, छरी छरी दिखराइ।
चित उनकी चितवत चकी, परतन परतन पाइ।
बनी माँहि राधे बनी, बनी बनी की भाँति।
भई देखि सिर उनमनी, सबै उनमनी कांति।

(यमक सतसई से)

देव

देव कवि का पूरा नाम देवदत्त था। देव उपनाम से वे कविताएँ लिखते थे। डॉ. नगेन्द्र ने देव के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उनका जन्म संवत् 1730 माना है।[162] वे इटावा के रहने वाले कश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।[163] अपने जीवन-निर्वाह के लिए देव को कई आश्रयदाताओं के पास भटकना पड़ा था। देव की मृत्यु संवत् 1824-25 के आस-पास हुई थी।[164] देव के उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या अट्ठारह है। यों 52 या 72 ग्रन्थ भी बताये जाते हैं। इनमें से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं–प्रेम चन्द्रिका, राग रत्नाकर, देव शतक, देव चरित और देव माया प्रपंच भक्ति, संगीत एवं अध्यात्म से सम्बन्धित है। प्रेम चन्द्रिका में उन्होंने प्रेम का माहात्म्य प्रतिष्ठित किया है। इसमें साधारण प्रेम के अतिरिक्त भक्ति के प्रेम का भी महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। देव शतक में प्रेम पच्चीसी के अन्तर्गत भी प्रेमतत्त्व का वर्णन करते हुए उन्होंने परमात्मा को केवल प्रीति द्वारा प्राप्य बताया है। 'देव चरित' में कृष्णजीवन से सम्बन्धित विविध प्रसंगों एवं लीलाओं का सक्षिप्त वर्णन है।

देव हमारे आलोच्य काल के अत्यन्त समर्थ कवियों में से हैं। राधा और कृष्ण के युगल-रूप के अनेक मार्मिक चित्र उनके काव्य में उपलब्ध होते हैं। मधुर भावापन्न जिन भक्ति-सम्प्रदायों की चर्चा हम इस प्रबन्ध में कर चुके हैं उनमें राधा तथा कृष्ण और गोपियों के जो चित्र हमें प्राप्त होते हैं उनसे देव के चित्र भिन्न नहीं प्रतीत होते और वह भी उस स्थिति में जबकि देव के काव्य में भक्ति-सम्बन्धी उद्‌गार निश्चित रूप से उपलब्ध हो जाते हैं। जहाँ तक अलंकरण और अभिव्यंजना की सचेष्टता का प्रश्न प्रेमाभक्ति के साम्प्रदायिक कवियों में भी वह उपलब्ध हो जाती है तथा इसी कसौटी पर भक्ति को भी यदि कसा जाता है तो अभिव्यंजना की सचेष्टता एवं रीतिबद्धता तुलसीदास में भी प्राप्त होती है। अतः देव जैसे कवियों की समीक्षा में किसी रूढ़ दृष्टि को अपनाने की अपेक्षा प्रत्येक छन्द पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना अधिक समीचीन होगा। उनके कतिपय प्रेमाभक्ति सम्बन्धी छन्द नीचे उद्धृत हैं–

बटुहैं नटुह्वै कै रिझावै जिन्हें हरि, देव कहैं बतियाँ तुतरी।
विधि ईस के सीस बसी बहु बारन कोटि कला रज सिन्धु तरी।

जगमोहनि राधे तू पाइं परौं वृषभान के मौन अभै उतरी,
गुन बाँधै नचावति तीनिहुँ लोक लिये कर ज्यों कर की पुतरी।
'देव' मैं सीस बसायौ सनेह कै भाल मृगम्मद विंदु कै भाख्यो।[165]
कंचंकी में चुपर्‌यो करि चौवा लगाय लियो उर सौं अभिलाख्यो।
कैं मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ।
साँवरे लाल को साँवरे रूप मैं नैननि में कजरा करि राख्यौ।[166]

कालिदास त्रिवेदी

कालिदास अन्तर्वेद के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म-संवत् निश्चित नहीं है, पर अनुमानतः वे संवत् 1725 के पूर्व ही उत्पन्न हुए थे, क्योंकि 1745 की गोलकुण्डा वाली चढ़ाई में वे औरंगजेब की सेना के साथ गये थे।[167] उस समय उनकी आयु कम-से-कम 20 वर्ष की तो रही ही होगी। इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—वधू (वार वधू) विनोद, राधा माधव-बुध मिलन-विनोद तथा सम्पादित ग्रन्थ कालिदास-हजारा। वारवधू विनोद नखशिख एवं नायिका-भेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ है, पर प्रस्तुत विवरण में हम उससे अधिक सम्बन्धित न होकर दूसरे ग्रन्थ से सम्बन्धित हैं। राधा माधव-बुध-मिलन-विनोद के छन्दों से ऐसा ज्ञात होता है कि कालिदास युगलोपासक किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये थे तथा उसी के अनुरूप वे कविता (साधना) करते थे। रीतिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण के वियोग या संयोग की चेष्टाओं का वर्णन किया है, पर नित्य विहार के वास्तविक रूप के दर्शन उनमें कम होते हैं। कालिदास त्रिवेदी की रचनाएँ ब्रजलीला की अपेक्षा इसी निकुंज-लीला के अधिक निकट हैं। उदाहरणार्थ छन्द लें—

एक ही सेज पै राधिका माधव धाइ लै सोइ सुभाइ सलोने।
पारे महाकवि कान्ह कों मद्धि पै राधा कहै यह बात न होने।
ह्वै हौं न साँवरी साँवरे तैं अलि बावरी बात सिखाई है कोने।
सोने को रूप कसौटी लगै पै कसौटी को रंग लगै नहिं सोने।

निम्न छन्द में उन्होंने अपनी भक्ति-भावना एकदम स्पष्ट कर दी है—

छाय रहै जु छहों रित जा घर प्रेम जंजीर जकरि कै।
कालिदास राधा माधव के पूजौं पाइ पकरि कै।

उदयनाथ कवीन्द्र

प्रसिद्ध कवि कालिदास त्रिवेदी के पुत्र कवीन्द्र का जन्म-समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सं. 1736 के लगभग माना है।[168] इस प्रकार इनका कविता-काल, 18वीं शती का अन्तिम चरण माना जा सकता है। 'रामचन्द्रोदय', 'विनोद चन्द्रिका', 'जोग लीला'

नामक ग्रन्थों का उल्लेख भी शुक्ल जी ने किया है। रस चन्द्रोदय शृंगार रस का ग्रन्थ है और वही इनकी ख्याति का मुख्य आधार है। प्रेम की वेदना का अत्यन्त मार्मिक रूप उन्होंने उपस्थित किया है। इस प्रेम-चित्रण पर सूफ़ी प्रभाव भी देखा जा सकता है—

कैसी ही लगन जामें लगन लगायी तुम,
प्रेम की पगनि के परेखे हिय कस के।
केतिको छिपाय के उपाय उपजाय प्यारे।
तुम तें मिलाय के बढ़ाये चोप चस के।
भनत कबिन्द हमैं कुंज में बुलाय कर।
बसे कित जाय दुख देकर अबस के।
पगनि में छाले परे नांछिबे को नाले परे।
तऊ लाल लाले पर रावरे दरस के।

महाराज बुद्धसिंह

हाड़ा के राजपूत बूँदी नरेश अनिरुद्ध सिंह के पुत्र बुद्धसिंह का जन्म सं. 1742 में एवं मृत्यु सं. 1796 में हुई थी। संवत् 1752 में बूँदी की गद्दी पर आसीन हुए। यद्यपि उनका सारा जीवन युद्धों एवं राजनीतिक उथल-पुथल में ही बीता, पर फिर भी उनका कलाकार मन रचना के लिए अवसर निकालता ही रहा। बुधसिंह का 'नेह तरंग' नामक, 14 तरंगों वाला रीति-निरूपक ग्रन्थ है। वे एक सुकवि प्रतीत होते हैं। भ्रमरगीत के प्रसंग पर लिखी हुई उनकी यह घनाक्षरी द्रष्टव्य है—

ऊधौ एक सुनिबे हैं अरज हमारी और,
एते पर उनहूँ कैं मन मैं न आती हैं।
भौन भयौ भाखसी सौ साखसी सौ दिन भयौं,
राकसी सी रैंनि भई देखैं न सुहाती है।
कहियो जू एती दई मन में जौ आवै क्यों हूँ,
देखन जो पाऊँ केती कहिबैं न आती है।
चढ़ि-चढ़ि नेह निधि कढ़ि-कढ़ि लाज हम,
सूखैं पानी सफरी लौं बढ़ि-बढ़ि जाती हैं।

राजसिंह

ये किशनगढ़ के महाराज मानसिंह के पुत्र थे। आपका जन्म संवत् 1731 में हुआ था। देहावसान उनका सं. 1805 में हुआ। वे निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। राजसिंह बड़े ही गुण-ग्राही, कलाप्रेमी एवं स्वयं कवि थे। अज़ीमुश्शान से वृन्द को वे

ही माँग लाये थे। राजसिंह से किशनगढ़ राज्य में एक काव्य-परम्परा ही प्रारम्भ हो जाती है। राजसिंह स्वयं कवि थे। उनकी पत्नी ब्रजदासी जी के भागवत अनुवाद की चर्चा हम पीछे कर आये हैं। नागरीदास उनके पुत्र थे तथा सुन्दर कुँवरि जी उनकी पुत्री। उनकी पौत्री छत्र कुँवरि भी कवयित्री थीं। अस्तु राजसिंह के लिखे दो ग्रन्थ हैं—बाहु विलास एवं रसा पाय। प्रथम ग्रन्थ में श्रीकृष्ण-रुक्मिणी का विवाह वर्णित है एवं द्वितीय ग्रन्थ में रीतिकाल के प्रभाव के अन्तर्गत नायकों के गुणावगुण बताये गये हैं। आपके कतिपय फुटकर पद भी मिलते हैं—

ए अखियाँ प्यारे जुलुम करैं।
यह महरेरी लाज लपेटी झुकि-झुकि घूमैं भूमि परैं।
नगधर प्यारे होड़ न न्यारे हा हा तो सौं कोटि करैं।
राजसिंह को स्वामी नगधर बिनु देखे दिन कठिन परैं।

सूरति मिश्र

'हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास' में सूरति मिश्र के बारे में कहा गया है कि इनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की सामग्री उपलब्ध नहीं है।[169] प. रामचन्द्र शुक्ल ने इनका रचनाकाल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना है।[170] डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने सूरति मिश्र का जन्म सं. 1746 के आस-पास अनुमानित किया है।[171] सभी इतिहासकार इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा आगरे का निवासी मानते हैं। जहानाबाद, जयपुर, बीकानेर आदि राज्यों से वे सम्बन्धित रहे हैं। इनके लिखे ग्रन्थों की संख्या 15 से ऊपर है। 'रसिक प्रिया', 'कवि प्रिया' एवं 'बिहारी-सतसई' की उन्होंने ब्रजभाषा गद्य में टीकाएँ भी की हैं तथा अनेक रीति-ग्रन्थ (अलंकार माला, नखशिख, रस सरस, रस ग्राहक चन्द्रिका, रस रत्न माला, काव्य सिद्धान्त और श्रृंगार सार) हैं। संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक तथा 'बैतालपचविंशति' के अनुवाद भी सूरति मिश्र ने किये थे। भक्ति विनोद, राम चरित्र, कृष्ण चरित्र, रास लीला व दान लीला उनके भक्तिमार्ग से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं। भक्तिकाल की दृष्टि से उनकी रचनाएँ भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती हैं, एवं भक्ति-काव्य का सरस रंग भी उन पर मिलता है। प्रेमाभक्ति के कवियों को होली का उत्सव अत्यधिक प्रिय रहा है। नीचे उद्धृत छन्द भी होलिकोत्सव से ही सम्बन्धित हैं—

फागुन के दिन बावरे ये इनमें न सयानपना निबहै हैं।
काम दुहाई रही घिरि कै अब कोउन काउ की फूक लहै हैं।
आय कै रंगनि सौं भरि है हरिहै नहीं नागर साँची कहै हैं।
चोरी नहीं बरजोरी नहीं होरी मैं कौन धौं केरि रहै हैं।

(भक्ति विनोद)

श्रीपति

श्रीपति कवि का अधिक प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है।[172] वे कालपी के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके 'काव्य सरोज' नामक ग्रन्थ का रचनाकाल सं. 1777 वि. है। अतः विक्रम की अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में वे विद्यमान थे। उनके 7 ग्रन्थ कहे जाते हैं पर वे सभी रीति-निरूपण या रीतिबद्ध काव्य के प्रतीत होते हैं। काव्यशास्त्र के आचार्य रूप में वे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यत्र-तत्र उनके कुछ फुटकर भक्ति पदों में भाव-सम्बन्धी उद्‌गार भी मिल जाते हैं। एक उदाहरण निम्नलिखित है—

तातहू की जाति नीकी निगम प्रतीति नीकी।
श्रीपति जू प्रीति नीकी, लागै हरिनाम की।
रेवा नीकी बानर खेत, मुंदरी सुवा की नीकी।
मेवा नीकी काबुल की, सेवा नीकी राम की।

सोमनाथ

सोमनाथ को आचार्यत्व प्रबन्ध-कवि की दृष्टि से शुक्ल जी ने रीतिकाल का महत्त्वपूर्ण कवि माना है।[173] उनका 'रसपीयूष निधि' नामक रीति का विस्तृत विवेचन करने वाला ग्रन्थ संवत् 1794 में लिखा गया था। इस आधार पर शुक्ल जी ने इनका रचनाकाल संवत् 1790 से 1810 माना है। इनका 'माधव विनोद' नामक नाटक संवत् 1807 में लिखा गया था।[174] ये माथुर ब्राह्मण थे तथा भरतपुर नरेश मर्दनसिंह के छोटे पुत्र के आश्रित थे। इनके पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—रस पीयूष निधि, शृंगार विलास, कृष्ण लीलावती, पंचाध्यायी सुजान विलास। इनमें से प्रथम दो ग्रन्थ काव्य-शास्त्र से सम्बन्धित है। कृष्ण लीलावती नाम ही कृष्णलीलाओं का सूचक है, पंचाध्यायी प्रकाशित हो गयी है और भागवत की परम्परा में कृष्ण की रास-लीला को चित्रित करती है। पंचाध्यायी का रचनाकाल सं. 1800 है। इस प्रकार यह रचना हमारे आलोच्य युग के अन्तिम बिन्दु पर स्थित है। इनके अतिरिक्त 'सुजान विलास' (सिंहासन बत्तीसी का अनुवाद) एवं 'माधव विनोद' नाटक दो ग्रन्थ और कहे जाते हैं।[175]

उपयुक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि सोमनाथ में प्रेमाभक्ति का गहरा संस्कार था। गोपियाँ रास के समय कृष्ण से तिरस्कृत होती हैं। उस समय गोपियों के मार्मिक वचन सोमनाथ जी के इस छन्द में पूरी वेदना के साथ उपस्थित हुए हैं—

रावरी हाँसी बिलोकन सो,
अरु बांसुरी की सुन तान तरेरी।
जागि उठी मनमत्थ की आगि
छिनोछिन बाढ़ति भाँति अमेरी।

सींचों हमें अधरामृत से,
शशिनाथ कहौ जिन बात करेरी।
नातरु या विरहानल में,
जरिहोयेगी कान्ह भभूत की देरी। [176]

यह छन्द भागवत के निम्न श्लोक के भावावेग कों पूरी तरह सुरक्षित रख सका है–

सिंचांग नस्त्वदधरामृत-पूरकेण,
हासावलोककल गीतजहच्छयाग्निम्।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्त-देहा,
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते। [177]

सोमनाथ का एक और सुन्दर छन्द निम्न है, नायिका का स्वप्न दर्शन अत्यन्त मनोहर एवं भावपरक बन पड़ा है–

आये गुपाल सखी सपने में समीप हमारे रतीक डरै नहीं।
हौं कितनौं समुझाइ रही तऊ लाजतें नैन उतै ठहरे नहीं।
चाइन सौं मुसकाइ कछू ललचाइ कै वे तौ धरीक टरै नहीं।
मैं ही अयानपन्यौ परस्यौ जु निसंक है मोहन अंक भरे नहीं। [178]

आलम

आलम नाम से हिन्दी में दो कवियों की चर्चा होती है। आलम मुअज़्ज़म (बहादुरशाह) के आश्रित थे। बहादुरशाह का गद्दी-काल संवत् 1764 से आरम्भ होता है। अतः आलम को भी 18वीं शती के उत्तरार्द्ध में माना जा सकता है। इनके सम्बन्ध में एक मनोहर प्रेमकथा कही जाती है। कहते हैं कि वे ब्राह्मण थे, पर किसी शेख रंगरेजिन के प्रणय में उन्होंने अपना धर्म त्याग कर इस्लाम ग्रहण कर लिया था। उससे उन्होंने विवाह कर लिया। रंगरेजिन भी कवयित्री थी और कहते हैं कि 'आलमकेलि' में शेख की भणिति वाले छन्द उसी के हैं। पर इधर डॉ. मनोहरलाल गौड़ ने युक्तियुक्त प्रमाणों के आधार पर इस मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार शेख आलम कवि का पूरा नाम था और 'आलमकेलि' के समस्त छन्द उन्हीं के हैं। शेख उनकी पत्नी का नाम नहीं था। रंगरेजिन वाली प्रेमकथा सत्य हो सकती है पर उससे उनकी स्त्री का शेखनामधारी होना निश्चित नहीं होता।[179]

आलम की दो रचनाएँ हैं–आलमकेलि एवं सुदामा चरित्र। इन दोनों रचनाओं से ऐसा लगता है कि आलम के पास हृदय हिन्दू का ही था। सुदामा चरित्र की भाषा में फ़ारसी और रेख्ता का प्रयोग अवश्य हुआ है, पर इस कथानक का चित्रण ही उनकी उदारता का सूचक है। आलमकेलि में शृंगार और विशेषकर विप्रलम्भ शृंगार के अत्यन्त अनुभूति-प्रवण चित्र उपलब्ध होते हैं। निम्न छन्द में स्मृति कथन की

तीव्रता द्रष्टव्य है। नायिका मिलन की शारीरिक बात नहीं करती, मात्र प्रकृति के उन दृश्यों को देखकर मन में एक गहरी वेदना का अनुभव करती है। वेदना-जन्य ऐसी अनुभूतियाँ रीति के स्थान पर भक्ति-प्रवृत्ति को प्रकट करती हैं। दोनों (विरह-मिलन) ही स्थितियों को एक-दूसरे के परिपार्श्व में रखकर अपेक्षित विरह-व्यथा की व्यंजना कवि की शक्ति का प्रमाण है–

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यौं करैं।
जा रसना सों करी बहु बात सु ता रसना सों चरित्र गुन्यौं करैं।
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौं करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौं करैं।

भिखारीदास

प्रतापगढ़ के ट्योंगा ग्राम के निवासी कायस्थ थे। वे विक्रम की 18वीं शती के अन्तिम दशक एवं 19वीं शती के प्रथम दशक में रचनाकार्य में अधिक क्रियाशील रहे हैं। उनके सात ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं–रस सारांश, काव्य निर्णय, शृंगार निर्णय, छन्दोर्णव पिंगल, शब्द-नाम प्रकाश, विष्णु-पुराण भाषा और शतरंज-शतिका। भिखारीदास रीतिकाल के सर्वोत्तम आचार्य कवियों में से एक हैं। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी दास जी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कवि हैं। रूप सौन्दर्य में ठगी राधा का यह चित्र देखिए जिसे विषम अलंकार के माध्यम से कवि ने उभारा है–

जेहिं मोहिबे काज सिंगार सज्यो तेहि देखत मोह में आइ गयी।
न चितौनि चलाइ सकी उनहीं की चितौनि के भाय अघाय गयी।
वृषभान लली की दसा यह 'दास' जू देत ठगौरी ठगाय गयी।
बरसाने गयी दधि बेचन को तह आपुहि आपु बिकाय गयी।

भिखारीदास यद्यपि प्रमुखतः रीति ग्रन्थों के ही प्रणेता थे। पर वातावरण में भक्ति की जो मधुरता और ब्रजरस का जो प्राचुर्य था, उसे अभिव्यंजित करने से अपने को रोक नहीं सके। इधर उद्धृत छन्द इसी भक्तिपरक अनुराग का व्यंजक है।

सन्दर्भ

1. रत्नाकर : गो. रूपलाल (ललिताचरण गोस्वामी के पास की ह. लि. प्रति के आधार पर)।
2. रस सार : सिद्धान्त रत्नाकर (निम्बार्क शोध मण्डल, वृन्दावन)।
3. हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा अंक) पृ. 413
4. कृष्णदास : राधारमण रस सागर की भूमिका, पृ. 3
5. प्रभुदयाल मीतल : हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक), पृ. 412
6. प्रभुदयाल मीतल : हिन्दी अनुशीलन (डॉ. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, वर्ष 13 अंक 1-2), पृ. 412
7. सिद्धान्त रत्नाकर, पृ. 99 एवं 109

8. निजमत सिद्धान्त, अवसान खण्ड।
9. साखी, 3
10. रस के पद : 4
11. रस के पद : 2
12. अमोलक राम शास्त्री : आचार्य स्तव माला, 86
13. सिद्धान्त रत्नाकर : स्वामी पीताम्बर देव कृत स्वामी रसिक देव जी की बधाई, पृ. 110
14. किशोरी शरण अलि : साहित्य रत्नावली, पृ. 25 सं. 260, 261, 264, 265, एवं 267
15. साखी, 9
16. डॉ. नारायण दत्त शर्मा द्वारा स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य (अप्र. प्रब.), पृ. 402 पर उद्धृत।
17. पीताम्बर देव की बानी : बसन्त के पद, 5
18. पीताम्बर देव की बानी, दोहा सं. 4, 5, 6, 12 एवं 13
19. डॉ. गोपाल दत्त शर्मा : स्वामी हरिदास का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य, पृ. 406
20. निम्बार्क माधुरी : पृ. 605
21. वही, पृ. 605
22. गुरु श्री रसिकदास महाराज : सिद्धान्त रत्नाकर, कवित्त 127, पृ. 26
23. सेवा हरि गुरु सन्त की, रसिक सिरोमनि पास।
    गादी श्री हरिदास की, श्री रसिकदास प्रकास। —सिद्धान्त की वाणी, 77 (सिद्धान्त रत्नाकर में संगृहीत)।
24. श्री विपुल विहारिनि सरसवर, नागरि नरहरि रूप।
    श्री स्वामी फिर अवतरे, रसिक सिरोमनि भूप।—सिद्धान्त की वाणी, 78
25. राजत बीठल विपुल प्रकासि। श्री गुरुदेव विहारनि दासि।
    सरसदास जै नरहरि दासि। श्री रसिक सिरोमनि सुख की रासि। —वही, 88
26. सिद्धान्त रत्नाकर, ग्रन्थ परिचय (भूमिका भाग), पृ. 50
27. शील सखी : आचार्य मंगल, दोहा 17 (सिद्धान्त रत्नाकर में संगृहीत)।
28. शील सखी : आचार्य मंगल, कवित्त 9
29. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. 427
30. प्रियादास ग्रन्थावली, पृ. 17-21
31. डॉ. विजेयन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. 500
32. किशोरीशरण 'अलि' : साहित्य-रत्नावली, पृ. 20-22
33. हस्तलिखित संग्रह : अष्टक 1
34. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त औरर साहित्य, पृ. 491
35. वही, पृ. 492
36. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, 493
37. चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत, प्रभुदयाल मीतल, भूमिका पृ. 6 'घ'।
38. चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत, पृ. 23
39. उपर्युक्त उद्धरण ललिता चरण गोस्वामी के संग्रह से लिये गये हैं। इनमें से कुछ अंश उन्होंने अपने ग्रन्थ श्री हितहरि वंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य के पृ. 468-473 में संकलित किये हैं।
40. डॉ. सावित्री सिन्हा : मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृ. 171
41. वही, पृ. 172

42. वही, पृ. 172
43. हित रूप अन्तर्धानबेली।
44. किशोर शरण 'अलि' : साहित्य रत्नावली, पृ. 13 से 43 तक।
45. चतुर्थ अध्याय में निम्बार्क सम्प्रदाय में इसकी हमने विस्तार से चर्चा की है। पृ. 246-253
46. ब्रह्मचारी बिहारी शरण निम्बार्क माधुरी, पृ. 143
47. श्री सर्वेश्वर : वृन्दावन धामांक, पृ. 223
48. घनानन्द ग्रन्थावली, पृ. 610
49. निम्बार्क शोधमण्डल वृन्दावन में संगृहीत चित्र।
50. गीतामृत गंगा, प्रथम घाट, पृ. 1
51. गीतामृत गंगा, 4। 70
52. डॉ. मनोहर लाल गौड़ : घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा, पृष्ठ 21-27
53. पंदरा सै सत्यासिया, मासोत्तम आसोज।
    यह प्रबन्ध पूरन भयो शुकला शुभ दिन योग।। —लीला विंशति, वृन्दावन माधुरी, 82
54. डॉ. नारायणदत्त शर्मा : नि. सं. कृ. भ. हि. कं., पृ. 325
55. वही, पृ. 326
56. नित्य विहार पदावली, पृ. 72, संख्या 40
57. लीला विंशति : माधुर्य माधुरी सं. 20, पृ. 25
58. नित्य विहार पदावली 12
59. ब्रह्मचारी बिहारीशरण : निम्बार्क माधुरी, पृ. 166
60. द्वारकादास परीख : पुष्टिमार्गीय ब्रजभाषा के कवियों की ग्रन्थ सूची : वल्लभीय सुधा पत्रिका, वर्ष 6, अंक 2 (सं. 2011-12), पृ. 24
61. कीर्तन संग्रह, भाग 3, पृ. 17
62. नागर समुच्चय, पृ. 11 (भूमिका)।
63. डॉ. फ़य्याज अलीखां : भक्त और नागरीदास—इनके काव्य विकास से सम्बन्धित प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का एक अध्ययन, पृ. 116 (अप्रकाशित प्रबन्ध)।
64. डॉ. फ़याज अली खाँ : भक्त और नागरीदास, पृ. 477
65. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. 321
66. भक्तमाल, छ. स. 134
67. पं. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 140-142
68. डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह : रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ. 389
69. सत्रह से षड्विंश बरस मास पुनि फाल्गुनि।
    शुक्ल पक्ष पंचमी अमल सुमवार लग्न दिन।।
    तेहि अवसर यह ध्यान मंजरी प्रगट भई है।
    परम सुमंगल करनि बरनि वर मोदमई है।। —ध्यान मंजरी, पृ. 54
70. प्रगटी नव श्रुति सिन्धु शशि गनित समय सुभसोय।
    —नेह प्रकाश की पुष्पिका (सभा खोज रिपोर्ट, 1917-भाग 2, सं. सं. 16 ब)।
71. रा. म. र. स., पृ. 406
72. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ. 425
73. वही, सन्त काव्य, पृ. 370 पर दी गयी संख्या के आधार पर।
74. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ. 147

75. सन्त काव्य, पृ. 382
76. कल्याण : सन्तवाणी अंक, पृ. 257
77. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 81-82
78. सन्त काव्य, पृ. 385
79. हिन्दी साहित्य, पृ. 146
80. ज्ञान समुद्र : भक्ति निरूपण, 38
81. ज्ञान समुद्र : भक्ति निरूपण, 39
82. वही, 41
83. कल्याण : सन्तवाणी अंक, पृ. 229
84. भक्ति-सागर में सरस-माधुरी द्वारा वर्णित चरणदासाचार्य, पृ. 9 (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ)।
85. डॉ. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ. 199
86. चरणदास : भक्ति सागर, पृ. 356-357
87. सहजोबाई की बानी, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग में सहजोबाई का जीवन चरित्र।
88. वही, पृ. 10
89. सहजोबाई की बानी, पृ. 26, दोहा सं. 78
90. सहजोबाई की बानी, पृ. 36, दोहा सं. 3-4-5
91. दयाबाई, कल्याण, सन्तवाणी अंक, पृ. 271
92. वही, वही, पृ. 271
93. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ. 378
94. वही, पृ. 379
95. अमी घूँट (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग), जीवन चरित्र, पृ. 4
96. वही, पृ. 4
97. वही, पृ. 6
98. बुल्ला साहब का शब्द सार, साखी 2, पृ. 31
99. वही, साखी, पृ. 31
100. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ. 484
101. कल्याण सन्तवाणी अंक, पृ. 222
102. वही, पृ. 228
103. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ. 508
104. परशुराम चतुर्वेदी : सन्त काव्य, पृ. 358
105. सन्तकाव्य, साखी 9
106. प.रा. चतुर्वेदी : सन्त काव्य, पृ. 400
107. प्रेमपाठ (प्राणनाथ की बानी), प्रकाशक : अमर दास वनमालीदास शर्मा, दार्जिलिंग।
108. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ. 532
109. वही, पृ. 532
110. डॉ. शरण बिहारी गोस्वामी : हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृ. 360
111. श्री सर्वेश्वर : वृन्दावनांक, पृ. 100
112. वही, पृ. 100-101
113. डॉ. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ. 82। (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर-बम्बई, 1958)

114. हिन्दी साहित्य, पृ. 303
115. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 119 (दूसरा संस्करण)।
116. डॉ. बच्चनसिंह, रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, पृ. 104
117. डॉ. नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका, पृ. 180 तथा
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ. 303
118. डॉ. नगेन्द्र इसे ही मनोवैज्ञानिक आवश्यकता कहते हैं। —रीतिकाव्य की भूमिका, पृ. 83। 4
119. जार्ज थामसन के 'ऐन एसे ऑन रिलिजन' में पृ. 4 पर उद्धृत।
120. कवित्त रत्नाकर पृ. 1-5
121. वही, पृ. 1-5
122. हिन्दी साहित्य, पृ. 342-343
123. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 206-210
124. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, पृ. 205
125. कवित्त रत्नाकर 3। 56। 57। 58। 59। 61 आदि।
126. वही, 5। 24
127. वही, 5। 16
128. वही, 5। 36
129. कवित्त रत्नाकर, परिशिष्ट 7, पृ. 122
130. कवित्त रत्नाकर भूमिका, पृ. 4
131. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 208
132. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षष्ठ भाग) (ना. प्र. सभा, वाराणसी)।
133. बिहारी रत्नाकर, सं. 2381
134. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ. 510-511 पर दी गयी कथा के आधार पर।
135. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 350
136. बिहारी रत्नाकर, 1
137. वही, 92
138. वही, 560
139. वही, 157
140. वही, 154
141. वही, 291
142. वही, 75
143. वही, 251
144. (क) डॉ. महेन्द्र कुमार : मतिराम : कवि और आचार्य, पृ. 23-34
(ख) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वानों ने उन्हें तिकवांपुर (जि. कानपुर) का निवासी माना है। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में इनका जन्म संवत् 1674 माना है (पृ. 233)। डॉ. महेन्द्र कुमार ने अपने शोध प्रबन्ध में इन सभी मतों की परीक्षा करके उपर्युक्त तथ्य निश्चित किये हैं।
145. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 533
146. डॉ. महेन्द्र कुमार, : मतिराम : कवि और आचार्य, पृ. 147
147. ललित ललाम, छन्द 1
148. वही, 119

149. वही, 379
150. छन्दसारू मंगलाचरण का छन्द।
151. सतसई, 703
152. रस राज, 60
153. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ. 162
154. देखिये, द्वितीय अध्याय, भक्ति के प्रकार, चार्ट सं. 13
155. सतसई, 1
156. सतसई, 2
157. वही, 4
158. वही, 700
159. हिन्दी साहित्य, पृ. 313
160. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 234
161. डॉ. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ. 99
162. डॉ. नगेन्द्र : देव और उनकी कविता, पृ. 17
163. वही, पृ. 18-20
164. वही, पृ. 32
165. निम्बार्क माधुरी, पृ. 482 के संग्रह से।
166. डॉ. नगेन्द्र द्वारा 'देव और उनकी कविता' पृ. 102 पर उद्धृत।
167. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 241
168. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 250
169. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ. 340
170. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 249
171. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ. 132
172. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ. 348
173. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 262-263
174. सोमनाथ रत्नावली की भूमिका में उनके 10 ग्रन्थ गिनाये गये हैं। सोमनाथ रत्नावली (आलोक पुस्तक माला, प्रयाग) पृ. 5-6
175. वही
176. वही, छन्द 68, पृ. 37
177. श्रीमद्भागवत्, 10। 29। 35
178. सोमनाथ रत्नावली, स्फुट कविता, छन्द 34
179. डॉ. मनोहरलाल गौड़ : शेख आलम—हिन्दी अनुशीलन (डॉ. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक), पृ. 395-396

षष्ठ अध्याय

अठारहवीं शती के ब्रजभाषा प्रेमाभक्ति-काव्य का साहित्य-विश्लेषण और मूल्यांकन

प्रेमाभक्ति-काव्य की तीन परम्पराएँ : संक्षिप्त परिचय

विक्रम की 18वीं शती के हमारे समीक्ष्य साहित्य में तीन परम्पराएँ अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। एक परम्परा निकुंज-लीला या सखी-भावोपासकों की है। दूसरी परम्परा ब्रजलीला अथवा गोपी-भाव के साधकों की है। ये दोनों परम्पराएँ रागानुगा-भक्ति के अन्तर्गत परिगणनीय हैं। तीसरी परम्परा सगुण लीलागान की न होकर निर्गुण के प्रति प्रेमाभाव की है—इसे हम प्रेम-प्रतीक-भाव-धारा भी कह सकते हैं। निर्गुण-सम्प्रदायों एवं सूफ़ियों की भक्ति इसी प्रेम-प्रतीकवाद पर मुख्यतः आश्रित हैं; परन्तु यह ध्यान रहे कि वे प्रतीक प्रस्तुत युग तक प्रतीकात्मकता खोकर वास्तविकता ग्रहण कर लेते हैं। अस्तु, इन तीनों परम्पराओं में दूसरी एवं तीसरी परम्पराएँ इस अर्थ में परस्पर अधिक निकट हैं कि उनमें वियोग-तत्त्व को ही मान्यता प्राप्त नहीं है बल्कि प्रिय को सीधे-सीधे कान्त या कान्ता-भाव से प्राप्त करने की चेष्टा भी है। पहली और तीसरी परम्परा में निकटता एक-दूसरे स्तर पर है। सूफ़ी भी किसी कथा के पात्र में अपने सौन्दर्य-प्रेम आदि के आदर्शों को केन्द्रित करके अभिव्यक्त करते हैं एवं नित्यविहार के गायकों ने उस सारे सौन्दर्य, प्रेम आदि को राधा-कृष्ण (या राम-सीता) के युगल में राशिभूत करके देखा है। प्रथम एवं द्वितीय परम्पराओं के पारस्परिक नैकट्य या पार्थक्य की चर्चा हम चतुर्थ अध्याय में कर चुके हैं। द्वितीय परम्परा (गोपी-भाव) के भावबोध का ही चरम विकास हमें प्रथम परम्परा के नित्यविहार एवं सखीभावपरक उपासना में प्राप्त होता है।

यहीं पर इतना संकेत कर देना ठीक रहेगा कि हमारे साहित्य में काव्य-सृजन के स्तर पर वैविध्य के लिए द्वितीय परम्परा का विकास मुख्य रूप से होता है, यद्यपि

अन्य धाराएँ भी इस परिणति में अपना योग दे रही थीं। इस समस्त विकास-प्रक्रिया का विवेचन हम आगे विस्तार से करेंगे, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सखी-भाव एवं प्रेम-प्रतीक-भाव की धाराएँ निःशेष हो गयी थीं। हमारे आलोच्य काल में तो वे अत्यधिक बलवती रही हैं एवं 19वीं शती तक उनका वेग कम नहीं पड़ा; परन्तु ऐसा लगता है कि मुख्य काव्य-धारा से कटकर वे मात्र रहस्यानुभूति के सरोवर बन गयी थीं। वस्तुतः ये दोनों (प्रथम एवं द्वितीय) परम्पराएँ मुख्यतः रहस्यानुभूति पर ही आधृत हैं। इस रहस्यानुभूति की ऐकान्तिकता के कारण ही उनको साहित्य-सरिता के मुख्य बहाव से अलग हो जाना पड़ा था। अस्तु, आगे हम अपने आलोच्य काल की इन्हीं तीनों परम्पराओं के कथ्य एवं शिल्प के विश्लेषण तथा मूल्यांकन का प्रयास करेंगे।

नित्यविहारोपासकों द्वारा सृजित काव्य

निर्गुणियों एवं सूफ़ी-प्रेमाख्यानकारों को छोड़कर नित्यविहार की स्वल्पाधिक अभिव्यक्ति हमें इस युग के प्रत्येक सम्प्रदाय में प्राप्त हो जाती है। यहाँ तक कि निर्गुण कहे जाने वाले प्रणामी (धामी)[1] एवं चरणदासी (शुक)[2] सम्प्रदाय भी इस भावना से बच नहीं सके हैं। पीछे चतुर्थ अध्याय में हम कह चुके हैं कि गोपी-भाव वाले सगुणोपासक गौड़ीय वैष्णव तथा वल्लभ-सम्प्रदाय एवं मर्यादामार्गी रामभक्ति-सम्प्रदायों में भी राधावाद (सीतावाद) प्रमुखता प्राप्त कर लेता है एवं नित्यविहारोपासना की भरपूर अभिव्यक्ति प्रस्तुत युग तक आते-आते उन सम्प्रदायों में होने लगती है। पीछे के अध्यायों में विभिन्न सम्प्रदायों के कवियों की चर्चा करते हुए हम इस तथ्य की ओर इंगित कर चुके हैं कि नित्यविहार की भावना बराबर बल पकड़ती गयी है। राधा और कृष्ण (सीता-राम) सौन्दर्य, प्रेम एवं केलि के साक्षात् रस-विग्रह स्वीकार कर लिये गये थे। रीतिकाल की नायक-नायिका सम्बन्धी कल्पनाओं में नित्यविहारोपासकों की इन धारणाओं ने अत्यधिक बल दिया होगा।

चतुर्थ अध्याय में हम कह चुके हैं कि नित्यविहारोपासक सखी-भाव के अनुग है। लाड़िली और लाल के अहर्निशि चलने वाले विहार में सेवा एवं उसी विहार का दर्शन उनका एकमात्र काम्य लक्ष्य होता है। अतः उनकी समस्त अभिव्यक्तियाँ इसी केन्द्र के चारों ओर सदैव रहती हैं। इस साहित्य में मुख्य रूप से जिन बातों, दृश्यों एवं परिस्थितियों को अभिव्यंजना मिली है, उनकी विवेचना हम कर रहे हैं।

इन सम्प्रदायों में चूँकि परात्पर-तत्त्व की कल्पना मधुर एवं सुन्दर के रूप में ही हुई है[3], अतः परात्पर-तत्त्व की अभिव्यक्ति जिन युगों (राधा-कृष्ण एवं सीता-राम) के रूप में हुई है वे भी निखिल सौन्दर्य की राशि एवं परम मधुर रूप में ही चित्रित हुए हैं। ऐश्वर्य, तेज, बल, प्रताप आदि गुण इस क्षेत्र में उपेक्षित ही हैं।[4] आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल ने शील, शक्ति और सौन्दर्य की जिस वृहत्त्रयी को विभु में देखना चाहा है उसमें से केवल सौन्दर्य ही इन अभिव्यक्तियों में गृहीत है। इसी कारण इन कवियों ने अपने उपास्य युगल के रूप का अत्यन्त विशद, मनोहारी एवं सर्वातिशायी प्रभावकर रूप में चित्रण किया है। इस रूप से सखियाँ एवं समस्त जड़-चेतन तो प्रभावित होते ही हैं, वे दोनों परस्पर भी इस रूप की ठगौरी में एक-दूसरे की ओर सतत आकर्षित रहते हैं। परस्पर का यह आकर्षण ही प्रेम है और यह रंगीला आकर्षण एवं चटकीला प्रेम उन्हें निरन्तर मिलनोत्सुक बनाए रखता है। मिलन की यह आकुलता पलकान्तर या अंचल की ओट में भी तीव्र विरह को उत्पन्न करने में समर्थ होती है तथा विहार की उत्कट वांछा ही तनिक-सी बाधा प्राप्त होते ही मान का रूप ग्रहण कर लेती है, परन्तु विरह और मान के वास्तविक कारणों का अभाव उन्हें छद्म ही बनाए रखता है। फिर अभिसार है, अभिसार की नाना चेष्टाएँ हैं। सुरत एवं सुरतान्त के मादक, मदिर चित्र हैं, रासक्रीड़ा का उत्फुल्ल वैभव है तथा अन्य अनेक मिलन लीलाएँ हैं और इन सभी में सखियों की **प्रसन्न परिचर्या एवं सेवाविधि** है। इन सभी को युगलोपासक प्रस्तुत कवियों ने अपने सहस्रों छन्दों में सँजोया है, प्रकाशित किया है। यह तो लीलागान हुआ, पर इस लीलागान को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सके, वह भ्रमपूर्ण धारणाओं में न लपेटा जाय, इसके लिए उन्होंने सिद्धान्त-कथन भी प्रभूत मात्रा में किया है। रीतिकाल के लक्षण-ग्रन्थ और प्रेमाभक्ति के सिद्धान्त एक ही मनोभूमि से उपजे जान पड़ते हैं—समझने की दृष्टि देना ही इनका लक्ष्य प्रतीत होता है। इस प्रकार इन कवियों के तथ्य की संक्षिप्त सप्तसूत्री रूपरेखा यों बनती है—(1) रूप-चित्रण, (2) आकर्षण और प्रेम, (3) मिलनाकुलता, (4) छद्म-विरह और छद्म-मान, (5) विहार-क्रीड़ा, (6) सखियों की सेवा-परिचर्या, (7) सिद्धान्त-कथन। इस परम्परा में, जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है[5], राधा और कृष्ण अजन्मा, नित्य किशोर, नित्य विहाररत माने गये हैं, इसी कारण न तो शैशव के रूपचित्र हैं एवं न बालक्रीड़ाएँ। बहु-वल्लभत्व की स्वीकृति न होने से नाना प्रकार के नायिका भेदों एवं नायक-रूपों की कल्पना का भी अभाव है। स्थूल विरह और स्थूल मान का भी इस स्थिति में चित्रण सभव नहीं है। ब्रज-लीलाओं की स्वीकृति न होने के कारण लीला का वैविध्य भी नहीं है। रामचरित्र में भी वन-गमन आदि की स्वीकृति न होने से लीला की अनेक रूपता में व्याघात पड़ा है। अस्तु आगे हम इस सप्त सूत्री को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं।

(1) रूप-चित्रण

इस सम्बन्ध में कुछ लिखने के पूर्व इतना याद दिला देना आवश्यक है कि प्रेम और माधुर्य को प्रधानता देने वाले इस काव्य में राधा या सीता का महत्त्व रूप-चित्रण की

दृष्टि से कहीं अधिक है। श्याम के रूप का चित्रण करने वाले संकेत अपेक्षाकृत विरल भी हैं और कम कल्पनाशील भी। परन्तु प्रिया का वह रूप जो प्रिय को भी उन्मथित कर देता है, प्रभूत मात्रा में अंकित हुआ है। यों सैद्धान्तिक रूप से दोनों एक ही हैं एवं विहार काल के जो शोभाचित्र हैं वे दोनों मादक रूप को उपस्थित करते हैं। सैद्धान्तिक एकता की ओर भी यत्र-तत्र संकेत मिल जाते हैं। सब मिलाकर विहार से तटस्थ युग्म के रूप का अंकन इस साहित्य में बहुत कम है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि इन कवियों के मन में नित्य-विहार से तटस्थ युग्म की धारणा का स्थान ही नहीं था। एक क्षण के लिए भी अलग हैं तो निश्चय ही विरह और मान की स्थिति है। इसी कारण युग्म के तटस्थ रूप सैद्धान्तिक अधिक एवं बिम्बाधायक कम हैं। बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है–

नित प्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक।
चहियत जुगल किशोर लखि लोचन जुगल अनेक।[6]

इस दोहे में सखी की उस भावात्मक स्थिति की ओर संकेत अधिक है जिसमें कि युगल की उस अनिन्द्य रूपमाधुरी के ग्रहण के लिए दो नेत्र पर्याप्त नहीं होते। रामोपासक महात्मा बालअली ने सखी की मनःस्थिति से भी असम्पृक्त होकर युगल का उल्लेख किया है।

एक चित्त दाउ एक वय एक नेहु इक प्राण।
एक रूप इक वेश है, क्रीड़त कुँवर सुजान।[7]

एक-दूसरे रामोपासक प्रेम सखी जी ने अवश्य ही दोनों के युग्म-रूप का वर्णन एक साथ किया है; परन्तु यह चित्रण अत्यधिक परम्परामुक्त शैली में हुआ है। चन्द्रमा जैसा भाल, कमान जैसी भृकुटी एवं कुंद से दाँत कवि-कल्पना की समृद्धि नहीं सूचित करते–

गोरे श्याम रंग रति कोटिन अनंग संग
जाकी छवि देखि होत लज्जित विचारे हैं।
चन्द कैसो भाग भाल, भृकुटी कमान ऐसी
नासिका सुहाई, नैन जोर छोर वारे हैं।
ओठ अरुणारे तैसे कुन्द से दसन प्यारे
ललित कपोलन पै कच घुघरारे हैं।
अस भुज धारे दोऊ नील पीत पट धारे
प्रेम सखी[8] राम सिया जीवन हमारे हैं।

यद्यपि इसी कवि ने इस अंश के कुछ पूर्व सीता की छवि का कहीं अधिक कलात्मक एवं विदग्ध-वर्णन किया है।

हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी पीताम्बर देव ने भी युग्म के शृंगार का चित्रण किया

है।[9] यह शृंगार ऐसा है कि परस्पर एक-दूसरे पर रीझ कर विहार करने लगते हैं–

आजु सिंगार हमारौ भाई, सब दिन भाँवते अधिकाई।
भूषन वसन कुसुम नहिं भावत श्री गुरुमहलनि सैन बताई।
सावधान सहचरि सब देखत घोरि सुगन्ध विविध विधि ल्याई।
फबि गयौ रंग अंग संगी सुख देखत बना-बनी सुखदाई।
बार बचाय अंग तन लेपन सिख ते नख लौं चित्र बनाई।
रहि गये रीझि परस्पर दोई तन सों तन-मन मनहिं मिलाई।
यही गान संमान भोग जल सरस सिंगार सेज सुखदाई।
रसिक सुगन्ध भई पीताम्बर देखत बनें कही नहि जाई।।

प्रस्तुत पद में रूप या शृंगार का वस्तुपरक स्वरूप नहीं उपस्थित किया गया है, केवल कुछ वस्तुओं (रंग-सुगन्ध आदि) के माध्यम से किये जाने वाले अपूर्व शृंगार का संकेत करके पुनः उस स्थिति के दर्शन के लिए कवि का मन प्रभावित हो गया है जहाँ वे एक-दूसरे की शोभा देखकर बस 'रहि गये रीझि' तथा तन से तन एवं मन से मन मिलने की क्रीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। दोनों की एक समान स्थिति की ओर राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी अनन्य अलि जी ने इंगित किया है। भोलेपन (इनोसेंस) के सौन्दर्य की बहुधा प्रशंसा की जाती है–पर युगल भी वैसा ही है। इसीलिए इस भोले और बावले युगल को देख-देख सखियाँ निहाल होती रहती है भोलेपन पर रीझना अपने आप में निहायत रोमाण्टिक धारणा है–

ये भोरे ये बावरे दोऊ एक हवाल।
निरखि निरखि निज सखी सब कहत निहाल निहाल।[10]

प्रिया एवं प्रियतम सारी रात अनुराग के रंग में रंगे जागते रहते हैं, उस समय उनके उनींदे नेत्रों का सौन्दर्य रूपरसिक देव (निम्बार्कीय) को सहज ही आकर्षित करता है। मदन के रंग में भीने, सलज्ज हंसौहीं इंगित वाले लाल एवं काले वर्णों से समन्वित ढरारे एवं अनियारे नेत्रों का सौन्दर्य द्रष्टव्य है–

उनींदे नैन मैन रंग मीने सलज हंसौंही सैंन।
रतनारे कारे ढरारे रुअति अनियारे ऐंन।।
झपकोंने दोंने रस कैसे सहज सलोने मन हरि लैंन।
रूपरसिक सगवगे सुहागे अनुरागे जागे रैंन।।

इस छन्द में व्यंजित आँखों का सौन्दर्य मध्यकालीन साहित्य के नेत्रों के श्रेष्ठतम वर्णनों से टक्कर ले सकता है। ढरारे एवं अनियारे जहाँ उनके आकार को व्यंजित करते हैं वहीं रतनारे काले नेत्र वर्ण-योजना को तथा अनुराग को भी प्रकट करते हैं। सलज हंसौंही सैंन एवं उनींदे नेत्रों का झपकने का स्वाभाविक गुण क्रियाशीलता को भलीभाँति व्यंजित करने में समर्थ हैं। मदन का रंग एवं रस के होने का उपमान आन्तरिक रूप, गुण, लावण्य एवं प्रभावात्मकता को प्रकट करने के लिए लाये गये

हैं। इसके अतिरिक्त अभिव्यंजना का जो साँचा और जो ताना-बाना (टेक्सचर) अपनाया गया है, वह भी वक्तव्य को बिम्ब रूप में उपस्थित करने में नितान्त सक्षम है। छन्द के प्रथम दो शब्द हैं 'उनींदे नैन', अन्तिम शब्द हैं 'अनुरागे जागे रैन।' इन दोनों का कार्य-कारण सम्बन्ध है। रातभर अनुराग में जागे हैं, अतः नैन उनींदे हैं एवं इस सम्बन्ध के भीतर ही छन्द में चित्रित अन्य समस्त गुण एवं धर्म हैं। इसी कारण कवि ने इन दोनों के द्वारा छन्द को सम्पुटित किया है। फिर इस अनुराग के पीछे भी मदन का रंग है अतः अनुराग का लाल रंग एवं शृंगार का नील (काला) रंग अगली पंक्ति में कवि रंगबोध को स्पष्ट करते हैं। तो अभिप्रायगत रंग हुए पर स्वाभाविक रूप से भी उनींदे नयन लाल होते हैं एवं आँखों की पुतलियों को काला होना ही है। सुरतान्त में दम्पति में लज्जा का आगमन भी सहज एवं मनोवैज्ञानिक है, पर साथ ही आनन्द लाभ की स्मिति भी है, इसलिए सैंन (चितवनि) को सलज्ज एवं हंसौंहीं बताया गया है। यों हास्य का उज्ज्वल वर्ण आँखों की श्वेत भूमि को भी इंगित करता है। ढरारे एवं अनियारे आकार के उस रूप को अत्यन्त शक्ति के साथ स्पष्ट कर देते हैं जो अनायास भाव से प्रिय की ओर ढलक कर नुकीलेपन के साथ कटाक्ष करता है। तीसरी पंक्ति का प्रथम शब्द झपकोने पुनः सारे सन्दर्भ का उनींदे से जोड़ देता है। नींद से भरी आँखें झप-झप पड़ती हैं तथा मदन का रंग भी आँखों को झपका देता है। एक-दूसरे की रूप-मदिरा भी उन्हें 'झपकोनें' बना सकने में समर्थ है। झपकोनें शब्द वास्तव में कवि की शब्द-चयन-सामर्थ्य का प्रतीक है। यह शब्द एक साथ अनेक व्यंजनाएँ भी कर देता है एवं नेत्रों का एक क्रियाशील बिम्ब (functional image) भी खड़ा कर देता है। इसके पश्चात् कवि आँखों के लिए जिस उपमान को लाता है, वह नेत्रों के उस गुण की ओर इंगित करता है जो सखी, पाठक या दर्शक पर पड़ता है। उनींदे नैन क्या हैं—मानो रस के दोने हैं। दोने आकार की ओर भी सूक्ष्म संकेत कर जाते हैं तथा रसात्मकता तो स्पष्ट ही है। रस सामान्यतः मधुर होता है, पर ये सहज 'सलौने' भी हैं। यह लावण्य नेत्रों के आन्तरिक गुण, रूप विशेषता को भी संकेतित करता है। ऐसे नेत्र यदि मन हर लेते हैं तो कोई विचित्र बात नहीं है, यह तो सामान्य वक्तव्य हुआ। पर अभी कुछ छूट गया था, अतः कवि ने 'अनुरागे जागे रैन' के पहले दो विशेषण और जोड़ दिये—'सगबगे' और 'सुहागे'। सगबगे शब्द एक प्रकार की निर्बोधता, सरलता एवं आश्चर्यपूर्ण शंकित स्थिति की व्यंजना करता है। अंगरेजी शब्द 'इनोसेंस' में जो ध्वनि है कुछ-कुछ वैसी ही ध्वनि इस शब्द में भी है परन्तु संग-बगे होना कोई बुराई नहीं है, दुर्भाग्य भी नहीं है इसी को अगला शब्द स्पष्ट कर देता है सुहागे—सौभाग्यशील। इस प्रकार यह छन्द नेत्रों की सुषमा वर्णित करने वाले श्रेष्ठतम छन्दों में से एक है। आकार, वर्ण, गुण, धर्म, क्रिया आदि सभी बातों को—पूरी चित्रात्मकता के साथ इसमें उपस्थित किया जा सका है। यह ध्यान रहे कि इस छन्द का सौन्दर्य रूपक,

उपमा या अनुप्रास का नहीं है। पूरे छन्द के संघटन में ही इस सौन्दर्य को रूपायित किया जा सका है।

कृष्ण या राम का सौन्दर्य

जैसा कि पीछे अभी संकेत किया जा चुका है, इन भक्तों ने युगल के पुरुष-तत्त्व के रूपचित्रण की ओर कम ध्यान दिया है। चूँकि यहाँ पर मुख्यता प्रिया के रूप की है अतः प्रिय का रूप उन्हें बहुत आकर्षित नहीं कर सका। उसमें एक साधनागत रहस्य भी प्रतीत होता है। जब भक्त पुरुष भाव को छोड़कर सखी भाव का अनुगामी बनता है तब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उचित ही होगा कि पुरुष-रूप की ओर वह अधिक ध्यान न दे। यदि पुरुष के रूपसौन्दर्य पर ध्यान देगी (देगा) तो बहुत सम्भावना है कि उसके मन में भी काम-भावना जाग्रत हो जाय; परन्तु जैसा कि चतुर्थ अध्याय में सिद्धान्त-विवेचन के प्रसंग में कहा जा चुका है, सखी को निर्विकार होना चाहिए। सम्भवतः इस साधनागत आपत्ति के कारण इन सखि भावोपासक कवियों ने स्वतन्त्र रूप से लाल के रूप-चित्रण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। अधिकांशतः वे या तो युगल-रूप में दर्शनीय हैं अथवा उनका रूप प्रिया पर रीझने वाला, प्रिया के लिए व्याकुल, प्रिया के साथ विहाररत ही चित्रित हुआ है। फिर भी कतिपय स्वतन्त्र चित्र प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध हो जाते हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी नरहरिदेव ने कृष्ण का परम्परा-बद्ध शैली में चित्रण करते हुए कहा है—

सखी री आजु बनें पीय साँवरे।
रूप अनूप अधिक छवि राजत कुटिल केस मनो भांवरे।
टेढ़ी पाग ग्रीवा कटि टेढ़ी चितबनि को बलि जाव रे।
श्री नरहरिदास पीय की छवि निरखति प्यारी रूप सभाव रे।[11]

इस पद की तृतीय पंक्ति अवश्य कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा का एक चित्र उपस्थित करती है, अन्यथा समस्त पद से रूप और सौन्दर्य का बिम्ब न उपस्थित होकर कथन मात्र सम्मुख आता है। यहीं पर यह भी याद रखना उचित होगा कि स्वामी नरहरि देव के समय से सखी-सम्प्रदाय (हरिदासी) में शुद्ध विहार के स्थान पर ब्रजलीला की भावना घर करने लगी थी। अष्टाचार्यों की वाणी में संगृहीत हम उनका एक अन्य सिद्धान्त का पद उपस्थित कर रहे हैं, वह भी कृष्ण के रूप को सखी नहीं गोपी-भाव से उपस्थित करता है। पद इस प्रकार है—

जाकी मनमोहन दृष्टि परे।
सो तो भयो सावन को अन्धो सूझतर रंग हरे।
जड़ चेतन कछु नहिं समझत जित दैख्यों तित स्याम खरे।

विह्वल विकल संभार न तन की घूँमत नैना रूप भरे।
करनी अकरनी दोउ विधि भूली विधि निषेध सब रहे धरे।
श्री नरहरि दास जै भये बावरे ते प्रेम-प्रवाह परे।[12]

कृष्ण सौन्दर्य के प्रभाव में विधि-निषेध का भूलना एवं सावन के अन्धे की हरियाली की भाँति सारे संसार का कृष्णमय देखना नित्यविहार की युगलोपासना के अनुकूल नहीं है।

गौड़ीय वैष्णव मतानुयायी मनोहरदास के राधारमण रस सागर में कृष्ण का रूप चित्रण इस प्रकार हुआ है—

केशर की झूमिका पै जरी खिरकी की पाग,
झूमिका कनक स्वच्छ मोर पच्छ लटकै।
झगा बूंटेदार दोदामी को कष्ट बार रग्यों,
उपरेना पटुका सुनेली चित्र चटकै।
छुद्रावलि बाजूबन्द पहुचीयाँ अतलस,
सूवन नूपुर सुर पग चूरौ मटकै।
जगमग राधिका रमण सिंहासन ठाढ़े,
मनोहर मन मुसकान मोही अटकै।[13]

कृष्ण के रूप का यह वस्तुपरक वर्णन प्रथम तो सौन्दर्य की उस भूमिका तक नहीं पहुँचता जिसकी की अपेक्षा थी। यह विशुद्ध रीतिकालीन नायक की वेश-भूषा का वर्णन प्रतीत होता है। दूसरे 'राधारमण रससागर' में छन्दों की ही अधिकता है जो नायक-नायिकाभेद, गोपी भाव एवं ब्रजलीलाओं का वर्णन करते हैं। अतः शुद्ध विहारोपासक की दृष्टि में किया गया चित्र इसे भी न मानना चाहिए।[14]

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन कवियों में शुद्ध विहार के स्तर पर कृष्ण या राम के रूप-सौन्दर्य की स्वीकृति नहीं है।

प्रिया (राधा या सीता) रूप-चित्रण

युगलोपासक वैष्णव कवि जिस समय प्रिया जी का रूप-वर्णन करने बैठता है, उस समय लगता है कि उसका चित्त तरलायित होकर निछावर हो उठता है। उसे उपमाएँ ढूँढे नहीं मिलतीं, उत्प्रेक्षाएँ हीन प्रतीत होने लगती हैं और रूपक असमर्थ।[15] उसके मन में यह धारणा स्पष्ट रूप से विद्यमान है कि स्वयं परात्पर ब्रह्म लाल जी (कृष्ण या राम) उनके इस रूप पर बलि-बलि जाते हैं। इस रूप को वे आँखों से पीते रहते हैं पर कभी तृप्त नहीं होते।[16] राधा के समान राधा ही हैं, अन्य कोई उनकी समता नहीं कर सकता।[17] इसीलिए युगलोपासक उनके रूप-वर्णन में अपनी सारी शक्ति लगा देना चाहता है।

इस नारी-रूप-वर्णन में इन कवियों ने सौन्दर्य का वस्तुपरक अंकन भी किया है तथा इसके उस पक्ष का भी अंकन किया है जो मानसिक अनुभूति का विषय है।

वस्तुपरक सौन्दर्यांकन

वस्तुपरक अंकन में इन कवियों ने रूढ़ उपमानों का अत्यधिक उपयोग किया है। उपमानों के इस चयन में सर्वदा यह ध्यान नहीं दिया गया कि रूप का वास्तविक बिम्ब हमारे सामने उपस्थित हो सके। परम्परा-निर्वाह के ढंग पर अंगों के उपमानों को उपस्थित कर दिया गया है। परन्तु कभी-कभी आकार या व्यापार का चित्र अधिक मार्मिक एवं चित्रात्मक हो सका है। उन्हीं के अन्तर्गत ये चित्र भी आते हैं जिनमें प्रिया के उपमानों का प्रिय के लिए क्या महत्त्व है, इसे भी बताया गया है।

वस्तुपरक रूप के चित्रण में 'नखशिख' वर्णन अनिवार्य रूप से आता है। विभिन्न अंगों के लिए अनेक प्रकार के उपमान भारतीय कवियों ने सदैव से जुटाये हैं। नीचे हम कतिपय वे अंश उपस्थित कर रहे हैं जिनमें नारी-अंगों को चित्रित किया गया है।

नेत्र

रघुवर मन रंजन निपुण गंजन मद रस मैन।
कंजन पै खंजन किधौ अंजन अंजित नैन।।[18]

सीता के नेत्रों का प्रभाव भी यद्यपि इसमें दिखाने की चेष्टा हुई है, पर वास्तव में दोहा कोई अनुभूति जगा सकने में असमर्थ है। नेत्र राम के मन-रंजन में चतुर हैं तथा कामदेव के मद को खण्डित करने वाले हैं—इतना तो सामान्य कथन मात्र है। दूसरी पंक्ति में सन्देह अलंकार के माध्यम से रूप खड़ा करने की चेष्टा है। नेत्रों का आकार कमल से व्यक्त होता है एवं अंजन-अजित होने का जो वर्णन है वह खंजन की श्यामता से परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त खंजन की चंचलता नेत्र- व्यापार को प्रकाशित कर देती है, परन्तु यह सारी योजना रूढ़ उपमानों के चमत्कार पर है। सहृदय के मन में कोई गहरी अनुभूति जगाने में यह समर्थ नहीं है।

सूरदास जैसे कवियों ने परम्परा सिद्ध अप्रस्तुत विधान को कथन की भिन्न-भिन्न भंगिमाओं में रख कर जिस प्रकार देखा है वह उपमानों को नवीनता प्रदान कर देती है पर इन कवियों में कथन की वे नानावर्गी भगिमाएँ प्राप्त नहीं होतीं।

इसी प्रकार प्रेम सखी ने भी सीता के नेत्रों के लिए उपमानों का जो ढेर लगाया है, वह चमत्कार-प्रधान ही है अनुभूति प्रधान नहीं।[19] इस उपमान-राशि के भीतर से नयनों का यथार्थ रूप खोज निकालना बहुत कठिन है। इस प्रकार के वर्णनों में रीतिकाल की चित्तवृत्तियों का समानान्तर रूप स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

निम्बार्क-मत के प्रसिद्ध नित्यविहारोपासक रूपरसिक देव के निम्नांकित छन्द में नेत्रों की निकाई का वर्णन हुआ है—

खंजन तें नीके हैं ए कंजन तें नीके है,
कुरंगन ते नीके हैं ए नैन अति नीके हैं।[20]

पर काव्य के रसिक जानते हैं कि मात्र यह बताना कि यह वस्तु उस वस्तु से अच्छी है, काव्य चित्रण की परिपाटी नहीं है।

घनानन्द ने नेत्रों में व्यापारों का वर्णन किया है, पर यहाँ भी परम्परा-सिद्ध उपमानों के जाल में उनकी विशेषता बहुत उभर नहीं सकी है, यद्यपि उनके प्रभाव की ओर वे अधिक मार्मिक संकेत कर सके हैं—

बंक विसाल रंगीले रसाल छबीले कटाक्ष कलानि में पण्डित।
साँवल सेत निकाई निकेत हियो हरि लेत हैं आरस मण्डित।
बेधि के प्रान करें घिरिदान सुजान खरे भरे नेह अखण्डित।
आनन्द आसन घूमरे नैन मनोज के चाजनि ओज प्रचण्डित।[21]

सीता की आँखों की चितवनि का एक प्रभावशाली और अपेक्षाकृत नया रूप प्रेम सखी के निम्न छन्द में प्राप्त होता है। यद्यपि इससे नेत्रों की शोभा का भावन नहीं होता, परन्तु उसके तीन गुणों के कथन में कवि की मौलिकता द्रष्टव्य है—

वा अनियारी विलोकनि की छवि गाइबे को विधि की बुधि हीन है।
प्रेम सखी मिथिलेश सुता की कटाक्ष के कोर भये गुन तीन है।
मीचु समान दशानन की सुर धेनु समानि सु पालत दीन है।
रूप सुधा की तरंगिनी सों निशद्योस जहाँ हरि को मन मीन है।[22]

तीन प्रकार के लोगों के लिए उसमें तीन गुण हैं। रावण के लिए वह चितवनि संहारक है एवं दीन जन के लिए कामधेनु सी प्रतिपालक पर प्रियतम राम के लिए तो वह रूप-सुधा की तरंगिणि है जिसमें उनका मन मीन बना निवास करता रहता है। इसमें उपमानों का नयापन अपेक्षाकृत वर्णन अधिक प्रभावशाली बना सका है।

अन्य नारी अंग

नारी के अप्रधान यौन अंगों में कुचों का अत्यधिक महत्त्व है, पर यह बात कुछ विचित्र-सी लगेगी कि प्रेमाभक्ति के कवियों ने स्तनों का वर्णन बहुत नहीं किया। रूप रसिक देव ने तो उनकी गोलाई, ऊँचाई एवं कठोरता आदि का चलता हुआ संकेत मात्र किया है।[23] बाल अली ने उल्लेख अलंकार के सहारे कुचों का सुन्दर वर्णन किया है—

हैं अलि सुन्दर उरज युग रहे तब उर जु प्रकाश।
नवलनेह के फन्द द्वै अति पिय सुख की रासि।

इस वर्णन की विशेषता यह है कि इस वर्णन में उद्दाम शृंगार की मांसलता नहीं आने पायी है।

अस्तु, केश, नासिका, नथ का मोती, भालपट्ट, पीठ, कटि उरु द्वय, नाभि आदि के वर्णन परम्परा-प्राप्त शैली पर ही अधिक हुए हैं, पर बीच-बीच में अपनी मौलिकता के भी यथेष्ट दर्शन उन्होंने दिये हैं। उदाहरणार्थ राधावल्लभीय रसिकदास द्वारा मस्तक पर हुई पत्र-रचना की शोभा देखिये–

अति छबीलों स्वच्छ रचि वृक्ष लिलार लसाइ।
पियमन पक्षी लक्ष्यगति विहरत हित मण्डराय।।[24]

इसी प्रकार नासिका की नथ का मोती हिलता हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानों ह्रास और अनुराग की शोभा हिण्डोले पर चढ़ी है।[25] मूर्त्त के लिए अमूर्त्त उपमान उपस्थित करने की यह लाक्षणिक शैली घनानन्द जैसे कवियों में ख़ूब मिलती है। इसी प्रकार दाँतों को उन्होंने प्रसन्नता के बीज कहा है।

बालकृष्ण नायक 'बाल अली' ने सीता की तन ज्योति का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। यह वर्णन वास्तव में उपमान-परक उतना नहीं है जितना कि अनुभूति-परक। सीता के शरीर की छवि-ज्योति दिशाओं को कंचनमय कर देती है, ऐसा लगता है कि मानो यह स्वर्ण शरीर से झर रहा हो और जिसे कि रूप (चाँदी) अपने अंग में रमा लेता है–

सब दिशि कंचन मय करत तब तन जोति अनूप।
मनु झरि झरि अँगन परे अंग रमावे रूप।[26]

राम-सीता के सौन्दर्य पर अपने अपनपौ का जो 'राईलून' उतारते रहते हैं वह भी सौन्दर्य का अनुभूति-परक वर्णन ही है–

वारि अपनपौ दृगन ते उरि अलि कछू कछून।
रहत उतारत हीय महिं पियहू राई लून।[27]

राधा के रूप का व्यापक प्रभाव दर्शाने वाला यह रूप भी द्रष्टव्य है। राधा दुलहिन के वेश में कल्पतरु पूजने जा रही है। इस वधूवेश की छवि का वर्णन करते हुए हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी रसिकदेव कहते हैं कि जब अपने नूपुर की रुनुक-झुनुक करती हुई पद रखती है तो पृथ्वी को उस छवि से छवि प्राप्त होती है–

रुनुक झुनुक पग धरति धरनि पर छवि पावति अवनी।
छिटकि सुगन्ध मूल तरु पूज्यो फूलनि माल धनी।।[28]

श्याम पीताम्बरधारी प्रसिद्ध हैं परन्तु एक दिन राधा ने पीत-शृंगार किया, इस रूप-शृंगार के आगे कृष्ण चकित हुए कि अरे यह कौन पीताम्बरधारी आ गया? पीले रंगों की यह सज्जा उपमान रहित निरलंकृत निम्न पद में दर्शनीय है–

पीरी सारी पहिरें प्यारी।
अंगिया लहंगा तिहीं रंग की तापरि जरद किनारी।

पियरे ही भूषनि कुसुमनि के कर गेंदुआ लिये फूल हजारी।
प्रीतम प्रेम प्रवाह परे लखि यहै कौन पीताम्बर धारी।।[29]

ऐसा ही एक उपमान (रति के उल्लेख द्वारा प्रतीप अवश्य आ गया है) रहित पुष्प-श्रृंगार राम ने सीता का किया था, पर सौन्दर्य का कोई मानसिक प्रभाव उसमें उभर नहीं पाता, केवल फूलों और उनसे बनाये जाने वाले वस्त्राभूषणों का परिगणन मात्र हुआ है–

घूम घुमारौ गुलाब को घाघरौ पीत चमेली की ओढ़नी झीनी।
कँज की लाल कसे कल कंचुकी नील जुही की संजा पुजु दीनी।
चम्पे का हार कनेरि की चन्द्रिका देखि के चित्त भई रति हीनी।
फटिक शिला पैं रामसखे पिय, फूल सिंगार सिया छवि कीनी।[30]

ललित किशोरी देव जी के एक सोरठे के बाद इस अंश को हम समाप्त करेंगे। इस दोहे में एक ओर तो चित्रात्मकता है एवं दूसरी ओर वह सूक्ष्मता है जो सम्पूर्ण चेतना पर व्याप्त हो जाती है–

राधे रूप रसाल, क्षण क्षण उठत तरंग प्रति।
अद्‌भुत नैन विशाल, ललित किशोरी प्राण है।[31]

(2) आकर्षण और प्रेम

रूप की यह अपार राशि प्रिय के मन में गहन आकर्षण और प्रेम को जन्म देती है। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि चूँकि प्रेम की देवी एवं सौन्दर्य की राशि के रूप में प्रिया जी की कल्पना हुई है अतः आकर्षण एवं प्रेम का आधिक्य कृष्ण में दिखाया गया है, परन्तु सैद्धान्तिक रूप से प्रेम, रूप, आकर्षण आदि की एकता दम्पति में ही मानी गयी है। राधावल्लभीय रसिकदास जी ने बताया है कि प्रेम भी कहता सब कोई है पर वास्तव में वह राधा और लाल के ही हृदय में पूर्णरूप से भरा हुआ है अन्यत्र तो उसकी लघु मात्रा ही दी है; तथा रूप भी संसार में एक कण मात्र है, वास्तविक अमायिक सौन्दर्य तो दम्पति में ही है तथा दम्पति का रस लोक को दूलह-दुलहिनियों में थोड़े काल के लिए होता है पर यह दम्पति ऐसे हैं कि कल्प भी इनके लिए पल के समान बीत जाता है। लोक में जो श्रृंगार का 'गरुवा रस' कहलाता है वह नित्य एवं एक रस राधा में ही है, उन्हीं से उसे अपना महत्त्व प्राप्त होता है–

और दुलहिनी दूलह दिन दस ही जु कहावैं
ये दिन दूलह न्याइ कलम पल सम जु विहावैं।
गरुवौ रस सिंगार लोक लोकनि जु कहावैं,
नित्य एक रस श्री राधा से यह कवि पावैं।
प्रेम प्रेम सब कहै कहूँ लघु दरसि पर्‌यो है,

पूरन राधा लाल हिय नित रहतु भर्‌यो है।
रूप रूप सब कहें लोक भा इक-इक कण हैं,
सत चित्त आनन्दरूप अमाइक दम्पति तन है।
ता रस रूप प्रेम आनन्द भोगता दोऊ,
भेदी बिरले रसिक और जाने कहा कोऊ।[32]

कृष्ण और राधा के पारस्परिक एकत्व, प्रेम, आकर्षण आदि के लिए जल-तरंग का अप्रस्तुत बहुधा इन कवियों ने उपस्थित किया है।[33] महावाणी में दोनों के पारस्परिक आकर्षण एवं अन्योन्याश्रयत्व का बड़ा ही उदात्त वर्णन हुआ है।

प्यारी जू प्यारे की जीवन प्यारो प्यारी प्रान अधार।
प्यारी प्यारे के उर माला, प्यारो प्यारी के उर हार।
प्यारी प्यारे रंगमहल में, रंग भरे दोऊ करत विहार।[34]

वास्तव में स्वर्ण एवं उसकी लाली का जैसा सहज प्राकृतिक संग होता है वही स्थिति इस दम्पति की है—

ज्यों लाली अरु हेम कों संग निरन्तर देखि।
तैसें नित्य विहार सुख, लाल लाड़िली लेखि।[35]

गौड़ीय वैष्णव मतानुयायी ब्रह्मगोपाल जी ने एक-दूसरे की इस प्रेमाधीनता को यों वर्णित किया है—

श्री राधामाधव रंगे सुरति रंग रस लीन।
प्यारी पिय के प्रेम वश पिय प्यारी आधीन।।[36]

इस प्रकार युगल के पारस्परिक आकर्षण को व्यक्त करने वाले पद तो बहुँत से मिल जावेंगे, परन्तु राधा की आकर्षणजन्य विह्वलता का अलग से चित्रण इस उपासना-पद्धति के बहुत अनुकूल नहीं है। युगलोपासक जिन कवियों में ये चित्रण उपलब्ध हो जाते हैं उन्हें हम गोपी भाव वाली ब्रजलीला की उपासना के अन्तर्गत विवेचित करेंगे। इस अंश में हम कृष्ण की उत्सुकता वाले अंशों की ही चर्चा करेंगे। पीताम्बर देव एवं रूपरसिकदेव ने तो कृष्ण के नेत्रों को राधा रूप की आरती उतारने वाला कहा है।[37]

उनका मन राधा के रूप-तन-वन में रसिक बना मण्डराया करता है।[38] प्रिया दास के अनुसार घनश्याम कृष्ण चातक हैं एवं राधा गोरी घटा हैं।

ढिंग विलास-गढ़ दान गढ़ और मान-गढ़ नाम।
गोर घटा उनवति इहां चात्रिक वह घनस्याम।।[39]

राधा के काले लम्बे सचिक्कण सुगंधित केशों पर प्रिय बार-बार अपने प्राण निछावर करते रहते हैं।[40] बालअली जी के राम स्वयं सीता से कहते हैं कि जैसा आनन्द तुम्हारे मुख कमल के मकरन्द पान से मुझे मिलता है, वैसा आनद तो मुझे कोटि ब्रह्माण्ड मिलने पर भी नहीं प्राप्त होता है।[41] ललित किशोरी देव ने राधा-रूप

का कृष्ण पर पड़ने वाला प्रभाव बड़े सशक्त शब्दों में प्रस्तुत किया है। कतिपय अनुभावों के माध्यम से मन की प्रेमदशा की व्यंजना में यह दोहा बिहारी या मतिराम किसी के भी कलात्मक दोहे के साथ सुविधा से रखा जा सकता है—

हरष हरष मुसकात ए भरि भरि देखत नैन।
पुलकि पुलकि अँगनि उठे दल दल भरि रति सैन।[42]

(3) मिलनाकुलता

इस रूपाकर्षण एवं प्रेम-भावना का सहज विकास है कि मन में मिलन की तीव्र आकुलता उत्पन्न हो जाय। यह आकुलता प्रिय के प्रसंग में अत्यधिक भावावेग के साथ चित्रित की गयी है। रामसखे के राम सीता को स्वप्न में देखते हैं, उनके उस स्वप्न वाले रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं—

कैसे मिले प्रसिद्धि प्रिया वह करों सो जतन बनाई।
रामसखे कहि-कहि है सीते सुधि-बुधि सब बिसराई।।[43]

राधा के मोहन रूप में मोहित हुए मोहन राय उस रूप की प्राप्ति के लिए ललचाते रहते हैं।[44] वास्तव में मोहन का मन मधुप है जो प्यारी-पदारविन्द के मकरन्द को चखते-चखते इस फन्दे में फँस गया है—

मोहन को मन मधुप है, पर्‌यौ आनि इहि फन्द।
प्यारी पद अरविन्द कौ, चाखि-चाखि मकरन्द।[45]

कृष्ण स्वयं राधा से निवेदन करते हैं कि चलो प्यारी किसी एकान्त निभृत कुंज में विहार करें जहाँ पर कि किसी पक्षी तक का खटका न हो और फिर ऋतु भी विहार की है—

एक बात कहौं श्रवन लगि चित दे सुनहु पियारी।
सुभग फूल फूले वृन्दावन तैसी ये सरद उजियारी।
चलि राधे अंतर सुख लूटै सखी रहै सब न्यारी।
मोहिं तोहिं जहाँ अपनुपौ भूले रहे न सुरति सभारी।
जहाँ न षरकों होइ पंछी को यों दुरि कहत बिहारी।
नरहरिदास पीय मन की जानी आगे सेज सँवारी।[46]

सिद्धान्ततः दोनों नित्य एक रस विहार में निमग्न माने गये हैं; ऐसी अवस्था में सहज ही यह प्रश्न उठ सकता है कि मिलन की यह आकुलता कैसी? पर यही तो इस प्रेमी युगल की विशेषता है कि गौर श्याम तन-मन से मिले रहते हैं, पर फिर भी मिलन की चाह बनी ही रहती है।

छिन-छिन उत्सव रसिक के महाकेलि के भाइ।
गौर स्याम तन मन मिले मिलन को चाइ।।[47]

प्रिया को तन-मन से प्रियतम मिले रहते हैं और लाल को तन-मन से प्यारी पर इस मिलन और नेह की बात कुछ अनोखी ही है, इसके बारे में कुछ भी कह पाने में ललितकिशोरी देव अपने को असमर्थ पाते हैं। है भी तो यह अनिर्वचनीय मिलन और प्रेम–

कहा कहौ या मिलन की जो मिलिबो जिय होइ।
तन मन सो प्रीतम तऊ मिलन की खोइ।[48]
परम नेह की बात यह मो पै कही न जाय।
तन मन सो प्यारी मिली तऊ लाल अकुलाय।[49]

यही दशा राम की भी है। यद्यपि दम्पति सदा रसलीन रहते हैं पर प्रिय अपना अपनपौ त्याग कर अधिक आधीन हो गये हैं। वे सीता के नीलाम्बरों के पुण्य की सराहना करते हैं, (कि उन्हीं के समान तन से लिपटे रहें) उनके नेत्र अंगराग हो जाना चाहते हैं–

यद्यपि दम्पति परस पर सदा प्रेम रस लीन।
रह अपन पौ हारि कै पै पिय अधिक अधीन।
श्यामवरण अम्बरन को सुकृति सराहत लाल।
छराहरा अंग राग भौ चाहत नैन विशाल।।[50]

(4) विरह और मान

साहित्यशास्त्रियों ने विरह के चार अंग माने हैं–पूर्व राग, मान, प्रवास और करुण।[51] इनमें से अजर, अमर, अजन्मा, नित्य विहाररत दम्पति के मध्य पूर्वराग, प्रयास एवं करुण का प्रसंग ही नहीं उठता। ब्रजलीलाओं के अस्वीकरण के कारण इनमें से किसी भी अवस्था के स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसी कारण विरह की केवल मानवाली स्थिति ही यहाँ पर स्वीकृत है। पर चतुर्थ अध्याय में हम यह कह चुके हैं कि मान के वैसे कोई स्थूल कारण यहाँ पर नहीं हैं जैसे कि ब्रजलीला गायकों द्वारा स्वीकार किये गये हैं। साहित्य दर्पण में मान के दो भेद किये गये हैं–प्रणय मान और ईर्ष्या मान।[52] प्रणय मान के प्रसंग में विश्वनाथ कविराज ने कहा है कि नेम की कुटिल-गति होने से अकारण ही कोप होता है। ईर्ष्या मान नायक की अन्य किसी पर अनुरक्ति जानकर होता है।[53] प्रथम नायक और नायिका दोनों में स्वीकार किया गया है।[54] इन रसोपासकों में शास्त्रीय दृष्टि से प्रणय मान की ही स्वीकृति है पर उभयपक्षीय न होकर यह नायिका में ही चित्रित किया गया है। संस्कृत में एक सूक्ति प्रसिद्ध है–

नदीनां च वधूनां च भुजंगानां च सर्वदा।
प्रेमिणामपि गतिर्वक्रा कारणं तत्र नेष्यते ॥

नदियों, वधुओं, सर्पों एवं प्रेम की गति अकारण ही वक्र होती है (साहित्य दर्पणकार ने प्रेम की वक्रता बताई है।) प्रेम एवं वधूजन की यह अकारण वक्रता इन नित्य विहारी-विहारिणि में मान के रूप में व्यक्त हुई है।

राधा अचानक ही मान कर बैठी, एक सखी आकर उन्हें समझाती है और उनके इन वक्र स्वभाव के लिए कुछ डाँटती भी है। उसके अनुसार श्यामा का तो स्वभाव ही मान का पड़ गया है, कौन यह निर्णय करे कि अपराध किसका था—इनका या तुम्हारा? वास्तव में ये तो तुम्हारे रूप-रस के लोभी हैं, मुख देखते ही उनका दिन बीतता है। तुम तो क्षण मात्र में ही रस को विरस कर देती हो। राधे! जरा समझ बूझकर देखो, तुम तो बिना पानी की नाव चला रही हो (बिना कारण ही मान किये जा रही हो।)

तुम्हारो तो पर्‌यो मान को सुभाव।
तुम्हारी खोट कैइनकी कहिये, कौन करे यह न्याव।
ये तो तिहारे रूप रस लोभी मुख जोवत दिन जाव।
छिन में रस बेरस करि डारत कोप करे करवाब।
समझि देख राधे मन माहीं बिन पानी की नाव।
श्री रसिक बिहारी रस बस कीने अपने-अपने दाव।[55]

यहीं पर यह याद दिला देना अनुचित न रहेगा कि सहचरियाँ यद्यपि प्रिया-प्रियतम दोनों को समान प्रिय होती हैं पर मान के समय वे प्रिय का पक्ष लेकर प्रिय के मान-मोचन का प्रयास करती है। उपरोक्त पद में सखी यही कार्य कर रही है—उसने श्याम का पक्ष लिया है। इस सखी ने कुछ शिकायत एवं आक्षेप के स्वर में मान-मोचन करना चाहा था, दूसरी सखी 'साम' नीति का सहारा लेकर प्रिय की वकालत करती है और सफल भी हो जाती है—

मानु न कीजै रसीले स्याम सों।
तुम तो हो लालन की अँखियाँ बँधे तिहारे दाम सों।
बिनु आगस जिय दोष धरति हो निरखि आयु सी वाम सो।
श्री रसिक बिहारी जानि अपुनपौ विहसि मिली पीय धाय सो।[56]

विश्वनाथ कविराज ने मान भंग के छह उपाय (साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा और रसान्तर) साहित्य दर्पण में बताए हैं,[57] उनमें में भेद और साम का उल्लेख ऊपर हो चुका है। स्वामी नरहरिदेव ने 'नति' का एक मनोहर उदाहरण दिया है। कई बार मनाने का प्रयास किया गया, पर वह अपना हृदय और कठिन बनाकर मान गहे रही। तब प्रिय ने पैर पकड़कर आधीनी करके विश्वास दिलाया कि मेरी प्रिया मात्र तू ही है जो कि मानिनी बन बैठी है। जब प्रिया ने (प्रिय के हृदय में) अपना ही रूप देखा और किसी स्त्री को वहाँ न पाया तब जाकर कहीं मन से मान की छरक गयी और सुख की वह राशि हँसकर प्रिय से बोली थी। छन्द यों है—

केहू बार कही मानित न मान गही
हियो कठिन कछू और ही ठईरी।
पाइ गहि मनाई आधीन कीये माई सु
तू एक प्यारी मानिनि भई री।
जब देख्यो आपनो रूप और न कोई त्रीय
अनूप मान की छरक तबही हीय ते नई री।
हँसि बोली सुख की रासि मन भाई
नरहरिदास बाढ़ै प्रीति नयी री।[58]

परन्तु सब मिलाकर मान-सम्बन्धी रचनाएँ 18वीं शती के नित्यविहारोपासकों में विरल ही हैं। उनका ध्यान विहाररत युगल की नाना चेष्टाओं को चित्रित करने की ओर ही अधिक रहा है।

(5) विहार क्रीड़ाएँ

इन कवियों की प्रतिभा और प्रेरणा का मुख्य क्षेत्र दम्पति की नाना विहार-क्रीड़ाओं और आनन्द के लिए रस-निर्भर का गद्-गद् गान है। विहार-क्रीड़ाओं में भी उनका मन अधिकांशतः शैया के ही आस-पास मँडराता रहा है। सुरत एवं सुरतान्त के असंख्य मनोहर चित्र इस काव्य में सँजोए हुए हैं। सेज के बाद, रास क्रीड़ाओं के चित्रण में भी उनका मन रमा है। उत्सवों में होली एवं हिण्डोल उनके सबसे प्रिय उत्सव हैं। वसन्त एवं वर्षो के चित्रों का इसीलिए इस काव्य में बाहुल्य है। दम्पति को लेकर ही अनेक अन्य हास-परिहास एवं क्रीड़ाएँ भी उपलब्ध हो जाती हैं। इस सारे साहित्य को आधुनिक नैतिक मानदण्डों से नापने पर बहुसंख्यक स्खलन के स्थल दिखाई पड़ेंगे। संयोग शृंगार के निरावरित ऐसे वर्णन बहुत से मिलेंगे जिन्हें शुद्धतावादी (प्यूरिटन) अश्लील भी कहना चाहेंगे। पर इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इन कवियों की अनुभूति साधना की है। ये समस्त कवि साधना-पथ के सक्रिय पथिक थे एवं प्रिया-प्रियतम के इस नित्यविहार को आध्यात्मिक-मानसिक स्तर पर अत्यन्त उदात्त भाव से स्वीकार करते थे। वास्तव में यह सारी साधना एक प्रकार के 'प्रेम रहस्यवाद' (Love Mysticism) की है। इसमें बौद्धिक उन्नयन नहीं भावात्मक संवेग की एक मनः संस्कार (Mental Culture) जन्य स्थिति होती है। ये समस्त रचनाएँ किसी आश्रयदाता को रिझाने के लिए भी नहीं लिखी गयीं, दम्पति के स्वरूप का भावन ही इनकी मुख्य प्रेरणा थी। अतः लौकिक नीति के मानदण्डों पर इन्हें परखना ठीक न रहेगा। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भले ही इनमें काम की अतृप्ति मानी जाय, पर साधना के क्षेत्र में इससे कामगन्ध-शून्य कहना ही उचित होगा।

आगे हम कतिपय इन क्रीड़ाओं के रूप को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

अभिसार

जैसा कि अभी हमने कहा है, इन कवियों का मन सर्वाधिक प्रिया-प्रियतम के अभिसार-वर्णन ही में लगा है। अभिसार-क्रीड़ाओं की अनेक रस-निर्भर स्थितियों की चर्चा इन कवियों ने की है। विहार का ऐसा ही अनुभूतिपरक पर साथ ही ऐन्द्रिक चित्र रसिकदास (राधावल्लभीय) का है। रस के सिन्धु में झकोरे लग रहे हैं, भाव की तरंगें उठ रही हैं एवं प्रेम में पगे हुए अभिलाषाओं की मरोड़ में अंचल झकझोरते हैं, पसीने की थोड़ी-थोड़ी बूँदें झलक आयी हैं। एक-दूसरे पर नेत्र लगे हुए हैं, सुख के रोर में बन्धन छोरते हुए रात जगे हैं। ऐसी बुद्धि कहाँ जो इस सबका वर्णन किया जा सके–

रस सिन्धु झकोरै भाव हिलोरै चाव मरोरै प्रेम पगे,
अंचल झकझोरै श्रमकन थोरै पटलो भोरै अंग लगे।
दृग बुहू ओरै अति सुख रोरैं बधन छोरैं रैन जगे,
सुकहामन मोरै सादर जोरै त्रिभुवन ओरै ओर नगे।[59]

कभी-कभी तो यह मिलन-लीला मन ही मन हो जाती है। सखियाँ जान भी नहीं पातीं। मन ही मन एक-दूसरे को अंक में भरकर आनन्द भी ले लेते हैं और चोरा-चोरी कटाक्ष भी चला देते हैं। कह भी लेते हैं, नट भी लेते हैं, रीझते भी हैं, खीझते भी हैं एवं हिलमिल भी लेते हैं–

दोउजन नैनन ही बतरावै।
स्यांमास्यांम सखिन के संगहि भेद न कोउ पावै।
रहसि रंग राते रसभाते खिजिआवत हिलत मिलत लगि जावै।
मन ही मन बिम्ब अंक भरत पुनि हिय आनन्द बढ़ावै।
चोरा चोरी चलत कटाछनि सबकी दीठि बचावै।[60]

अभिसार समय की अभिलाषा का अत्यन्त मार्मिक दृश्य अनन्य अली जी ने प्रस्तुत किया है। दो अंगों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता दिखाकर विहार की उत्कट लालसा और व्याकुलता इसमें प्रकट की गयी है। स्पर्श करने के लिए हाथ तरसते हैं एवं देखने के लिए दृग ललचाते हैं, इस प्रकार भुजाओं एवं नयनों के मध्य होड़ पड़ी है। इस दोहे में प्रेम की उस गहन अवस्था का संकेत है जब बिना देखे भी नहीं रहा जाता और देख लेने पर स्पर्श-आलिंगनादि भी अनिवार्य हो जाते हैं।[61]

काव्य की सर्वोत्तम सिद्धि होती है जब किसी एक सूक्ष्म संकेत के द्वारा किसी पूरे दृश्य का बिम्ब उपस्थित कर दिया जाता है। व्यंजना-शक्ति की पूरी सामर्थ्य होने पर ही यह उपलब्धि कवि को मिलती है। रूपरसिक देव का निम्नांकित दोहा ऐसी ही व्यंजना-शक्ति से भरपूर है। कवि सुरति का चित्रण करना चाहता है, पर उसे स्पष्ट ऐन्द्रिक रूप में न करके एक संकेत दे देता है कि प्यारी जब प्रिय को अपने चरण कमलों की माला पहनाती है तब अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है–

कहा कहौ तिहि समैं को, सुख आनन्द रसाल।
पहिरावति प्यारी जबहिं, पियहिं पदंबुज माल।[62]

परिरम्भन आदि की इसी क्रिया को ब्रह्मगोपाल अत्यन्त स्थूल रूप में वर्णित कर देते हैं—

प्रिया प्रिय पोड़ि रहे पर्यंक।
प्रेमविवश खेले निश सारी भरि भरि निजु निजु अंक।
परिरम्भन चुम्बन आलिंगन करत सहज निःशंक।।[63]

अभिसार ऐसा सघन गुंफित है कि प्रिय का कुण्डल प्रिया की अलक से एवं कर का कंकण माला से एवं मन से मन तथा नेत्रों में नेत्र परस्पर उलझ गये हैं—

पिय कुण्डल तिय अलक सों कर कंकण सो माल।
मन सो मनीदृगन सों रहे उरझि दोउलाल।।[64]

मिलन समय के हास-परिहास एवं पारस्परिक छेड़-छाड़

रीझने के साथ खीझना और खिझाना शृंगार-तरु के अनुपम फल हैं। यह खीझ एवं छेड़छाड़ रति द्वारा पुष्ट होती है एवं रति को और अधिक पुष्ट करती है। ऐसी अपेक्षाकृत सूक्ष्म एवं आन्तरिक क्रीड़ाओं की ओर भी इन रसोपासकों का ध्यान गया है। स्याम-स्यामा रूप-रस चख रहे हैं। कुंज महल में अकेले हैं, कोई झाँकता भी नहीं है। ऐसे एकान्त में राधा बैठी हैं, लाल ठाढ़े हैं एवं रति के लिए बार-बार कर पकड़ते हैं। पर राधा हैं कि खिझा रही है—मधुर स्वर में कहती हैं कि अभी खड़े रहो एवं किंकनी सँवारो, यद्यपि एक-दूसरे के अंग एक-दूसरे के लिए ललचा रहे हैं, हृदय में अभिलाषाएँ उमड़ रही हैं—

स्यामा स्याम रूप रस चाखै।
कुंजमहल अकेले दोउ तहाँ न कोऊ झाँखै।
बैठी आपु ठाढ़े लाल पकरि पकरि कर राखै।
ठाढ़े रहो किंकनी सँवारो मन्द मधुर सुर भाखै।
अंग अंग ललचाइ रहे मन उमगी उर अभिलाखै।[65]

पर श्याम भी खिझाने में पीछे नहीं हैं। प्रिया जी सोना चाहती है—नयन मूँद लेती हैं पर प्रिय फूँक देकर जगा देते हैं, भले ही प्रिया भौंह तरेरे। कभी-कभी चुटकी भी बजाने लगते हैं। अन्ततः प्यारी भी रतिवश होकर ललक कर प्रिय के कण्ठ लग जाती है—

पलकैं झपकति प्रिया जू की ज्यों ज्यों पिय दै फूँक जगावै।
त्यों त्यों तरुनि तरेरे त्योरे सों सोंहनि भोंह चढ़ावै।
कबहुँक कर पलवनि सों कोमल चट चटुकी चटुकावै।
रूपरसिक जब प्यारी पिय के ललकि कण्ठ लपटावै।[66]

प्रेम की यह खींचातानी भोजन के समय भी देखी जा सकती है। यमुना पुलिन पर कुंज में दोनों भोजन कर रहे हैं और एक-दूसरे के कर से झुक-झुक कर कौर छीन लेते हैं। इस प्रकार हँसते हुए बहुत प्रकार से मनभाया करते हैं।[67] जलक्रीड़ा में डुबकी लेकर पानी के भीतर ही भीतर प्रिया के अंगों का स्पर्श कर आते हैं, कोई इस भेद को जान ही नहीं पाता।[68] संगीत और गान की गोष्ठियों का भी वर्णन इनमें मिल जाता है।

अभिसार के चित्र बहुधा मांसल और ऐन्द्रिक हो जाते हैं, पर नीचे हम सखी-सम्प्रदाय के स्वामी रसिकदेव का एक पद उद्धृत कर रहे हैं। इस पद में अभिसार का ऐन्द्रिक बिम्ब नहीं है पर उसमें ऐसी गहन अनुभूति का ऐसा सम्प्रेषण कराया गया है जो सारी चेतना पर अनायास ही छा जाता है—

लेत परस्पर अंग सुवास।
मन तरंग उठति मनमथ की और न कछु प्रकास।
रोम रोम तन यह सुख विलसत भोजन भूख न प्यास।
श्री रसिकबिहारी मगन रहत, नित गहत न खटक उसास।[69]

अंग की गन्ध लेने से मन में मदन की तरंगें उठती हैं और किसी बात के लिए अवकाश नहीं रहता। रोम-रोम में यही आनन्द विलसता है, न भोजन की भूख है और न प्यास। नित्यप्रति समस्त खटक और चिन्ता से दूर इसी में वे मग्न रहते हैं। समस्त चित्र गहन मानसिक अनुभूति को उपस्थित करता है।

सुरतान्त एवं जागरण

सुरतान्त एवं जागरण-काल के अलस-सौन्दर्य का भी अत्यन्त कुशल एवं बारीक रेखाओं में अंकन इन कवियों ने किया है। सुरति के सेज पर उठकर जागे हुए युगल का यह शारीरिक चित्र देखिए—

प्रिया प्रीय सुरति सेज उठि जागे।
घूमत नैन अरुन अलसाने मनहुँ समर सर लागे।
सिथिल अंग छूटी सिर अलकै बदन स्वेद कन लागे।[70]

यह अभिसार वस्तु चित्रण रूप में हुआ है, पर अधिक सूक्ष्म रूप में पीताम्बर देव ने इसे उपस्थित किया है। कठिन सुरति की भोर उठने वाली छबीली को मूर्तिमती रागिनी (राग की शर्वरी) कहा है जिसके कि सौन्दर्य का नीराजन स्वयं किशोर करते हैं—

तबै छबीली तान सुनि कठिन सुरत की भोर।
उठी राग की सरवरी आरति करत किसोर।[71]

राघव भोर होने पर जागते हैं पर आँखों में नींद भरी है। मन्द-मन्द मुसकाते हैं एवं आलस्य में सिया तन की ओर झुक-झुक पड़ते हैं। सिया तन की ओर झुक-झुक

पड़ना जहाँ नींद भरे होने का संकेत करता है वहीं राम की गहरी अनुराग व्यंजना भी होती है। ऐन्द्रिक बिम्ब के साथ मानसिक पक्ष का मणिकांचन संयोग इसमें हो सका है—

राघव भोर ही नींद भरी अँखियन मन भावन।
बैठि उठे फूलन शय्या पर कोटिन काम लजावन।
मृदु-मुसक्यात जम्हात सिया तन झुकि झुकि परत सुहावन।
राम सखे या मधुर रूप लख मो जिय अतिहिं जिवावन।[72]

होली एवं हिण्डोल आदि उत्सवों के भी प्रभूत वर्णन इन कवियों ने किये हैं। ऐसे छन्दों की संख्या सहस्रों में पहुँच सकती है जिनमें वसन्त, होली, वर्षा एवं झूलने की शोभा वर्णित हो। शरद् ऋतु एवं रासलीला के भी पर्याप्त चित्र उपलब्ध होते हैं। विस्तार-भय से हम इनके उदाहरण यहाँ पर नहीं दे रहे हैं।

(6) सहचरी-सेवा

नित्य विहारोपासकों की साधना सखी भाव की होती है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। सखी भाव में सखियाँ युगल दम्पति की सुख-सुविधा की सारी व्यवस्था करती हैं, उनके नित्य-विहार का दर्शन-सुख लूटती हैं एवं इस सेवा तथा इस दर्शन में ही वे अपनी कृतार्थता मानती है। रामोपासकों की स्वसुखी शाखा को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र वे तत्सुखी भाव से ही साधना करती हैं। अष्टयाम की सेवा-विधियाँ इन्हीं की सेवा के लिए स्थापित हुई हैं। वे उन्हें सबेरे गा-गाकर जगाती हैं, मुख धुलाती हैं, भोजन कराती है, शृंगार कराती हैं, उन्हें सिंहासन पर पधराती है, पान खिलाती हैं, विहार के लिए कुंज में चलने के लिए प्रेरित करती हैं, संगीत-नृत्य के आयोजन करती हैं, रास रचाती हैं, शैया बिछा देती हैं एवं शयन-समय सोने का अनुरोध करती हैं।[73] मान के समय वे मान-मोचन करती हैं, विहार के समय सेवा। 'स्याम' दूल्हा हैं एवं सखियाँ बराती बन जाती हैं—

सखी बरात पिय स्याम कंत।
अरुण साज बन राज धाम, पीत फूल तन पहिरि धाम।
अंब भौरि ले सिर धारि मौरि-द्रुम सुछत्रपति पत्र पोरि।
फल प्रवाल तोरन बनाय छुवत पवन बसि परसि धाय।
पिय प्यारी बन तन सुवास सहचरि भ्रमरी सब आस पास।[74]

सखियाँ साथ में अद्‌भुत क्रीड़ाएँ भी करती हैं। एक बार सखियाँ कृष्ण को अपने समान स्त्री-वेश पहना वहाँ ले आयीं जहाँ ललिता, विशाखा, चंपकलता एवं चित्रा आदि सखियाँ थीं। वे सब चकित हैं—

लख्यों सखी सिरमौर रूप इह कौन वपू कित आयी।
सबके मन को करत हरत बस निरखत सुधि विसराई।

परन्तु एक चतुर सखी जान गयी—वह दौड़कर गयी और प्रिया को प्रिय का रूप देकर ले आयी और उस वधू कृष्ण से कहा—

ये पतिनी ये पीव तिहारे मिलि विलसो सुखदाई।

सब सखियाँ उत्साहपूर्वक विवाह का कर्म ठान देती हैं एवं धूम-धाम से दोनों का विवाह करा देती हैं।[75]

राम की सखियाँ तो और भी ढीठ मालूम देती हैं। वे राम से कहती हैं कि तुम्हें स्त्रीवेश में सजाकर हम लोग लाड़ली जी के 'हुजूर' में नचावेंगी—

कंचन की गुजरी बिछिया तुमको लहँगो अँगिया पहिराइहो।
कंचुकी साजु खवाइ विरी पहिराय चुरी अबतंस बनाइहो।
माँग सँवारि के प्रेम सखी शिर सेन्दुर में फिरि अंक लगाइहो।
दै तिय को छवि सुन्दर जू हम लाड़िली जू के अजूरि नवाइहो।[76]

वास्तव में पीताम्बरदेव ने ठीक ही कहा है—

तपत पीव सीतल प्रिया प्रेम अन्ध अँधियार।
सहचरि रस जल बरसही, ग्रीष्म रति सुखसार।।[77]

(7) सिद्धान्त-कथन

इस युग के समस्त कवियों की यह सामान्य विशेषता है कि उन्होंने सिद्धान्त-कथन अलग से किया है। गुरु-निष्ठा, परोपकार, वैराग्य, विषयों से अरुचि, श्यामा श्याम की एकता, सहचरी-भाव आदि के सम्बन्ध में उन्होंने ख़ूब लिखा है। चतुर्थ अध्याय में हम उन अंशों को उद्धृत कर चुके हैं, अतः यहाँ पर दोहराना ठीक न रहेगा। उदाहरण के लिए हम ललित किशोरी देव की कतिपय साखियाँ उद्धृत कर रहे हैं—

1. *ललित लाड़ले ललित वर ललित सुकेल उदार।*
   जै जै श्री हरिदास को अद्भुत नित्य विहार।
2. *तन करि मन करि पवन करि कीजे पर उपकार।*
   ताही में हरि मिलत हैं निहवें करि उर धार।
3. *भजन करों भोजन करों सोवौं पाइ पसारि।*
   कुंज बिहारिनि लाड़िली नैकु न भूलै पारि।[78]

ब्रज-लीला-गायकों द्वारा सृजित काव्य

राधा और कृष्ण (सीता और राम) यद्यपि आलम्बन यहाँ भी रहते हैं, पर उनके परिकर का विस्तार बढ़ जाता है। वल्लभाओं की संख्या बढ़ जाने के कारण भिन्नता की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। नाना प्रकार की नायक एवं नायिका सम्बन्धी धारणाएँ

जन्म लेती हैं।[79] नायिकाओं के बढ़ने के साथ ही स्वकीया-परकीया, विरह-मान इत्यादि की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। दूती या सखी का दायित्व भी किंचित् भिन्न ही है। किशोर-लीलाओं के अतिरिक्त ब्रजलीला की स्वीकृति के कारण बाल एवं पौगण्ड लीलाएँ भी इस साहित्य में चित्रणीय हैं एवं उपास्य के साथ युगल तत्त्व पूरी तरह आरोपित नहीं होता। यहाँ राधा भी हैं तथा अन्य गोपियाँ भी हैं। राधा की स्थिति अधिक से अधिक प्रधान गोपी की रहती है। इस अन्तर के पड़ जाने के कारण विहार-लीलाओं में भी बड़ा अन्तर पड़ जाता है। नित्य-विहारोपासकों में हमने दो बातों को विशेष रूप से लक्षित किया था–

(1) कृष्ण-सौन्दर्य का चित्रण अत्यन्त विरल है।

(2) राधा की व्याकुलता, मिलनवांछा आदि का चित्रण भी न्यूनतम हुआ है। कृष्ण का रूप एवं राधा की अभिलाषाएँ केवल युगल-स्वरूप-चित्रण के समय ही कवियों का ध्यान आकर्षित करती हैं अन्यथा रूपवती राधा हैं; एवं अभिलाषमय कृष्ण। परन्तु इन लोगों में यह बात नहीं है। ब्रज-लीला (गोपी भावोपासक)–गायकों ने राधा एवं गोपियों के रूप के विवरण भी दिये हैं पर मोहन के जिस भुवनमोहन रूप और रूप-प्रभाव को उन्होंने चित्रित किया वह उन्हें पूर्व-विवेचित साधना और काव्य से नितान्त अलग कर देता है।[80] इसी प्रकार यद्यपि मोहन की मिलन एवं अभिसार की आकांक्षा व्यक्त करने की भी चेष्टा की है; परन्तु उनका अधिक ध्यान गोपिकाओं या राधा के तन-मन की प्रवृत्ति का चित्रण करने की ओर अधिक रहा है। होली, झूलना आदि उत्सवों तथा संयोग काल की क्रीड़ाओं के अतिरिक्त विरह की विभिन्न स्थितियों, कुब्जा के प्रति ईर्ष्या अथवा मुरली-उपालम्भ आदि के भी मार्मिक चित्र इन कवियों द्वारा उपस्थित किये जा सके हैं। हम इन कवियों के कथ्य के प्रधान-प्रधान पक्षों के विश्लेषण एवं उद्घाटन की चेष्टा करेंगे।

(1) रूप-चित्रण

जैसा कि अभी ऊपर संकेत किया जा चुका है, स्त्री और पुरुष दोनों ही तत्त्वों के रूप का चित्रण करने का प्रयास इन कवियों ने किया है; परन्तु चित्रण की प्रणाली और अभिव्यंजना की शैली वही है जिसे कि पीछे हम विवेचित कर चुके हैं।

कृष्ण का रूप सौन्दर्य और उसका प्रभाव

परम्परा-प्राप्त उपमानों के आधार पर कृष्ण के रूप के वस्तुगत चित्रण के ये कतिपय उदाहरण हम दे रहे हैं–

इन्द्र नील इन्दीवर घन छवि छनित श्याम शरीर री।
भौंहें चाप सर कुंकुम टीकौ, नासा राजत कीर री।

अधर बिम्ब मृदु हास चन्द्रिका दशन सिषिर मनि पाँति री।
चारु चिबुक अम्ब फलवादी ग्रीव कम्बु मणि कान्ति री।[81]

ऊपर की पंक्तियाँ विभिन्न अंगों के लिए उपमा जुटाती हैं; परन्तु इनसे इन अंगों का कोई कल्पनाग्राही रूप हमारे नेत्रों के सामने नहीं आता। चैतन्य मतानुयायी मनोहर दास ने भी कृष्ण के रूप को वर्णित करना चाहा है, परन्तु न तो उस रूप का कोई बिम्ब हमारे सामने उपस्थित हो पाता है और न उस रूप की अनुभूति ही हमें भली प्रकार हो पाती है। उपमानों की मधुर कल्पना के स्थान पर इस छन्द में केवल वस्त्राभूषण ही गिनाये गये हैं—

केसर की भूमिका पै जरी खिरकी की पाग,
झूमिका कनक स्वच्छ मोर पच्छ लटकैं।
झगा बूंटेदार दोदामी को कष्ट बार रंग्यो
उपरेंना पटुका सुनेली चित्र चटकैं।
छुद्रावलि बाजूबन्द पहुँचीयाँ अतलस,
सूथन नूपुर सुर पग चूरौ मटकै।
जगमग राधिका रमण सिंहासन ठाढ़ैं
मनोहर मुसकान मांही अटकैं।[82]

देव का छन्द ठीक इसी परम्परा में है। यह बात दूसरी है कि उन्होंने अपने छन्द में कलागत लाघव का अधिक प्रयोग किया है, तथा देव का छन्द उसके प्रभाव की ओर भी संकेत करता चलता है—

पायन नूपुर मंजु बजै, कटि किंकिन में धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पटपीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल, मद हँसी मुख चन्द जुन्हाई।
जै जग मन्दिर दीपक सुन्दर श्री ब्रज दूलह देव सहाई।[83]

इस प्रकार के वस्तुगत अलंकार-प्रधान रूपचित्रण में यत्र-तत्र कल्पना का भी रुचिर प्रयोग मिल जाता है। कृष्ण की मिली पगड़ी वाम भाग को झुकी हुई है और उसके ऊपर मोर की चन्द्रिका सुसज्जित है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुमेर पर्वत पर अखण्ड इन्द्रधनुष उगा हुआ है। रत्न-जटित मणि-कुण्डल मुख पर ऐसे प्रतीत होते हैं मानो नक्षत्रगण अपना राजा समझ कर चन्द्रमा की सेवा कर रहे हों—

पीत पाग रही वाम भाग झुकि तापर शिखी शिखण्ड री
मानुहुँ मेरु शृंग पर ऊग्यो मधवा धनुक अखण्ड री।
रतन पेच मणि कुण्डल राजत छाजत उपम अनूप री।
मनु उडुगण सेवत मुख चन्दहिं जान आपने भूप री।[84]

रूप का वह चित्रण सदैव अधिक मार्मिक होता है जिसमें वस्तुगत स्वरूप के

स्थान पर प्रभाव की व्यंजना होती है। सोमनाथ का निम्नलिखित छन्द रूप का प्रभाव ही अधिक उत्पन्न करता है।

मोहन पंकज से दृग हैं इतने,
पै तकौं तिरछे मुसकाय कै।
कोटि मन्मथ के मथि प्रान
करौ कल कान गरूर गराय कै।
औ 'शशिनाथ' लगै अचकों जब
कानन बाँसुरी की धुनि आय कै।
को वह नारि जु धीर धरै उर
प्रेम की पीर गम्भीर पचाय कै।[85]

(रास पंचाध्यायी, छन्द 95, पृ. 41)

बिहारी का निम्नलिखित दोहा भी एक चेष्टा विशेष के द्वारा ही रूप की व्यंजना करता है–

भृकुटी मटकनि पीत पट, चटक लटकती चाल।
चल चख चितवनि चोर चित लियौ बिहारी लाल।[86]

सौन्दर्य का वस्तुपरक एवं अनुभूतिपरक रूप समन्वित ढंग पर मतिराम के निम्नांकित सवैये में व्यक्त हुआ है। प्रारम्भिक पंक्ति में बाह्य शृंगार का चित्रण हुआ है। दूसरी पंक्ति में मुस्कान-चेष्टा तथा कुण्डल के हिलने से उत्पन्न होने वाली गत्यात्मक शोभा चित्रित हुई है। तृतीय पंक्ति में शरीर के अंग विशेष नेत्र के आकार एवं नेत्रों के व्यापार का प्रभाव कवि ने चित्रित किया है और अन्त में इन सभी को समेट कर मन में जो अनुभूति जगती है, उसके लिए नायिका विरोध-मूलक उक्ति को अपनाती है। बहुधा जहाँ वाणी शिथिल और असमर्थ होने लगती है, वहीं ये अलंकार उसकी सबसे अधिक सहायता करते हैं–

मोरपखा मतिराम किरीट मै कण्ठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर कुण्डल डोलनि मै छवि छाई।
लोचन लोल विसाल विलोकनि को न विलोकि भयो बस माई।
बा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अंखियान लुनाई।[87]

समर्थ कवि कभी-कभी रूप की वस्तुगत अंकन-शैली को छोड़कर प्रभाव को व्यंजित करने वाली किसी सूक्ष्म रेखा से भी बहुत बड़ा काम ले सकता है। बृन्दाबन देव ने निम्न पंक्तियों में यही किया है। कृष्ण के अंग, शृंगार आदि के लिए उपमान का वर्णन न जुटा कर नायिका मात्र इतना कह देती है कि उस रूप राशि के एक अंग का अवलोकन संसार की किसी भी नारी को अपनेपन से बाहर कर देने के लिए पर्याप्त है–

आजु भली विधि देखि कै माई सु आयी गोवर्धननाथहि हौंरी।
एक ही अंग निहारि जो नारि रहै अपनैपन ताहि बदौरी।[88]

पतिव्रत के सारे अभिमान उस रूप को निहार लेने के बाद धरे रह जाते हैं—

सुरी किन्नरी नरी विश्व में को है ऐसी नारि री
रहै आपनैपन पतिब्रत लिये एक ही अंग निहारि री।[89]

बात बड़ी कह दी गयी है। कोई करे क्या, यह रूप ही ऐसा है—नायिका की चुनौती है कि त्रैलोक्य में उसके प्रभाव से कोई बच ही नहीं सकता, फिर उसी के ऊपर दोष क्यों?

नायिका रूप-चित्रण

नायिका का रूप-चित्रण परम्परागत आलंकारिक शैली में ही इन कवियों ने भी किया है। नायिका के केशों का यह आलंकारिक वर्णन रीतिकाल के किसी भी वर्णन के समकक्ष है—

सुकुमार सिंवार से मर्कत तार से कज्जल सार से वार निवारि सुकावति वाला।
मार के जार सिगार के चौंर से ऐडी छिये पुनि ऐसे विसाला।
श्याम घटा ते मनौ निकसै मुखचन्द दिपै तन दामिनि माला।
बृन्दाबन प्रभु ओट भये लखि पांनि पै रीझन नन्द के लाला।[90]

सोमनाथ का निम्न वर्णन भी केशों की इसी शोभा का वर्णन करता है। शब्दावली भी मिलती-झुलती है केवल क्रियात्मकता का अंश बढ़ गया है—

तिमिर के तार हैं बसीकरन हार हैं,
काम करतार हैं कि प्यारी तेरे बार हैं।[91]

इस आलंकारिकता के साथ ही सौन्दर्य की अन्तर्दीप्ति इन कवियों में मिल जाती है। बृन्दाबन देव की ही निम्न पंक्ति है—

तन जोवन यौं जगमगै ज्यों खच्यौ रतन अमोल री।
रूप चुचानौ सौ परै ज्यौं मुख रच्यौ तम्बोल री।[92]

घनानन्द का सम्पूर्ण काव्य अपने सूक्ष्म एवं अनुभूतिपरक चित्रण के लिए प्रसिद्ध ही है। निम्न सवैये में सौन्दर्य की आन्तरिक दीप्ति उपस्थित की गयी हैं—

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै।
हंसि बोलनि मै छवि फूलन की वरषा उर-ऊपर जाति है ह्वै।
लटलोल कपोल कलोल करें, कल कण्ठ बनी जलजावति है।
अंग अंग तरंग उठै दुति की, परि है मनौ रूप अबै धर च्वै।[93]

(2) नायिका भेद

जैसा कि ऊपर हम संकेत कर चुके हैं ब्रजलीला में बहु वल्लभाओं की धारणा के कारण इस साहित्य में भी नायिकाभेद के अनुरूप चित्रण पाये जा सकते हैं। परकीया अयौतिकी नायिका के ये चित्र देखिये—

(क) *लई कन्हैया ने हौ घेरि।*
खोरि साँकरी माँझ संझोके आइ गयौ कितहुँ ते हेरि।
कौरी भरी उर धरी औचका अकेली काहि सुनाऊँ टेरि।
आनन्द घन धुरि सराबोर करि पठई घर लौ निपट लथेरि।[94]

(ख) *पाछै गोपाल आगे गुरुलोग रही अति लाजनि सों दबि नीठ मै।*
ग्रीव फिरायन चाहि सकी मुरि सो के न आये वे मेरी ए दीठ मै।
नागर प्यारे के देखनि कौ सखि वास मै आनी यहै उर नीठ मै।
आँखें भई मुखपै किहिं काज या वेर क्यों आँखैं भई नहि पीठ मै।[95]

(ग) *कैसे जल लाऊँ मैं पनिघट जाऊँ?*
होरी खेलत नन्दलाडिलो क्यों कर निवहन पाऊँ।
दे तो निलज फाग-मदमाते हौं कुलबधू कहाऊँ।
जो छुवै 'रसिक बिहारी' अंचर तो धरती फार समाऊँ।[96]

इसी प्रकार मनोहर दास जी द्वारा चित्रित शुक्लाभिसारिका नायिका का यह चित्र है—

सरद की रैंनि उजियारी अभिसार प्रिया,
प्रीतम पै सेत सारी खौर अंग कीने हैं।
मालती मुकता मल्ली माला अंग अंग सोहे,
आभूषन हीरनि जटित रंग भीने हैं।
चाँदनी में मिलि चली देखन न पावै आली,
अंग को सुगन्धि अनुसार के हू चीने हैं।
राधिका रमन मिले मनोहर भाँति भाँति,
खिले नैन झिले मानो शोभा जल मीने हैं।[97]

बृन्दाबन देव का निम्नांकित छन्द खण्डिता के बचन उपस्थित करता है—

पतंग को रंग है नेह तिहारौ।
दिन चार तौ चटकीलौ लागै बहुरि यौं परिजाइ सु फीको फिकारौ
ऐसीये पाटी पढ़े धुरते तन मन साँवरो है मन तै सोई कारौ।
बृन्दावन प्रभु कारे पै रंग न दूजो चढ़ै तिहारौ कहा चारौ।[98]

लक्षिता नायिका का उदाहरण मतिराम के निम्न दोहे में देखा जा सकता है—

सतरौहीं भौहन नहीं, दुरै दुरायौ नेह।
होत नाम नन्दलाल के, नीपमाल सी देह।[99]

वस्तुतः इस प्रकार के शृंगारी काव्य में नायिकाभेद के विभिन्न रूप ढूँढ़े जा सकते हैं। यों नायिकाभेद का शास्त्रीय आधार पर इस काव्य में नायिकाओं का चित्रण नहीं हुआ है।

आकर्षण एवं मिलनेच्छा

इन कवियों ने नायक और नायिका के पारस्परिक आकर्षण एवं एक-दूसरे के लिए व्याकुलता के अत्यन्त मनोरम चित्र उपस्थित किये हैं। नीचे हम नागरी दास का एक अत्यन्त ललित छन्द उपस्थित कर रहे हैं। नायिका (राधा) परकीया है, अपनी अटा पर वर्षा ऋतु में मदमस्त बनी मलार गा रही हैं, इधर श्याम दूर से खड़े यह आशा लगाये हैं कि कब एक ही साथ प्रकृति की दो शक्तियाँ उनकी सहायता करें। पवन कृपा करके उनका घूँघट उघाड़ दे और उसी समय दया करके विद्युत दीपशिखा बनकर उस मुख के दर्शन करा दे—यह प्रतीक्षा और यह आकुलता अनुराग के गहन रंग को अत्यन्त सशक्त रेखाओं में उपस्थित करने में समर्थ है। यह चित्र सब मिलाकर इतना गतिशील है कि चित्रकला की स्थिर रेखाओं द्वारा लिखा ही नहीं जा सकता, इसके लिए भाषा की सम्पूर्ण शक्ति की आवश्यकता पड़ती है—

भादौं की कारी अंध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावैं।
श्यामा जु आपनी ऊँची अटा पै छकी रस रीति मलारहिं गावैं।
ता समै मोहन के दृग दूरि ते आतुर रूप की भीख यों पावैं।
पौन मया करि घूँघट टारैं दया करि दामिनि दीप दिखावैं।[100]

रूप की उत्कण्ठा का यह दृश्य भी द्रष्टव्य है। एक ही उपमा में दो-दो अप्रस्तुतों का सम्मिलन कवि की रचना-शक्ति का भी प्रमाण है और अलंकार की सार्थकता का भी। अलंकार द्वारा ध्वनित दृश्य गोपिकाओं की मनःस्थिति और शारीरिक अवस्था को पूर्णतया भावन करा देने में समर्थ है और यही काव्य की सार्थकता होती है। प्यासा जिस प्रकार तीर के समान जल पर टूटता है, वैसे ही अत्यन्त आतुरता से वे प्रिय से मिलती हैं। यह बिम्ब पुनः भावप्रेरित कल्पना द्वारा प्रसूत है एवं भाषा ही इसे सम्प्रेषित कर सकने का एकमात्र माध्यम है—

लालहिं देखन बाल चली हैं।
गृह गृह तैं सजि भूषण अम्बर मूल तै कामलता सी फली हैं।
प्यास्यो ज्यों नीर पै तीर ज्यों टूटत यों अतिआतुर जाय मिली है।
श्री बृन्दाबन प्रभु कौ अवलोकत मानहु मैन की सैंनफली हैं।[101]

इसी प्रकार मतिराम[102], देव[103], घनानन्द[104], सोमनाथ[105], चरण दास[106],

मनोहरदास[107], आदि में अभिलाषा एवं उत्कण्ठा के प्रभूत चित्रण उपलब्ध हो जावेंगे। सीमित क्षेत्र एवं सीमित उपमानों के माध्यम से भी इन कवियों ने अभिलाषा तथा उत्कण्ठा जैसी वृत्तियों के आकर्षक अनुभूतिप्रवण बिम्ब उपस्थित किये हैं।

(3) मिलन और अभिसार की लीलाएँ

इन कवियों ने मिलन एवं अभिसार के वैसे रसीले चित्र नहीं खींचे हैं जैसे कि विरह-वेदना के। इस वेदना के घनीभूत प्रवाह को उन्होंने अपने काव्य में और उसके द्वारा उत्पन्न करना चाहा है। संयोगकाल के जो चित्र ये कवि उपस्थित करते हैं, वे तत्त्वतः युगलोपासना के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं, परिणामतः पीछे विवेचित चित्रों से तनिक भी भिन्नता हमें दृष्टिगोचर नहीं होती, पर अभिसारोन्मुख कुछ अन्य क्रीड़ाएँ जिनका कि या तो नित्यविहारोपासकों में अभाव है या फिर मात्र राधा और कृष्ण के मध्य वे छद्म क्रीड़ाएँ हैं उनका सखियाँ रस के लिए आयोजन करती हैं। यह आयोजन कृत्रिम-सा लगने के कारण उतना रस-निर्भर नहीं हो पाता जितना कि ब्रजलीला उपासकों में राधा-कृष्ण के बीच होने पर भी प्रिय लगता है। इसका कारण है कि परकीया-प्रसंग के भीतर ही दान-लीला आदि मार्मिक हो पाती हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ पर केवल राधा और कृष्ण ही भाग नहीं लेते, कृष्ण अन्य गोपिकाओं के संग भी गोरस-दानलीला की क्रीड़ाएँ करते हैं।

बृन्दाबन देव के 'गीतामृत गंगा' में इस दानलीला का अत्यन्त नाटकीय एवं भव्य वर्णन हुआ है। ब्रजांगनाओं का समूह गोरस बेचने निकलता है, कृष्ण के सखा रास्ते में टोक कर पूछते हैं—तुम लोग जिसकी बहू और बेटियाँ हो; बिना गोरस-दान के जा नहीं सकोगी। गोपिकाएँ भी मुँह तोड़ उत्तर देती हैं कि तुम्हारी कौन-सी थाती हमने रख ली है जो नुम ऐसी बातें करते हो। वे कहती हैं—

अपनै अपनै घर ठाकुर हैं सब आँखि करत कापै तुम रातीं।[108]

(अध्यात्म पक्ष में इसका अर्थ यों भी लग सकता है कि सभी ब्रह्म-रूप ही हैं फिर ऊँच-नीच का कोई प्रश्न ही नहीं है) और फिर यदि ठाकुर हो ही तो—

मान्यो तो देव न मीति को लेव कहा भयो जानि बड़ो जो नयो जू।[109]

लगता है कि तुम लोगों के दिमाग़ चढ़ गये हैं—आँखों में गूद चढ़ गया है। गोपियों और सखाओं में और भी तमाम झड़प होती है, आख़िरकार चिढ़कर कृष्ण-सखा कहते हैं—

समझो कहा आख़िर होई गँवारि करी बहुतै हम कानि तिहारी।
ज्यौं ज्यौं गही नरमी हम त्यौं ही त्यौं मूड़ चढ़ी बढ़ि बोलत सारी।
बोहनी तौ कर जाहु न बोलत आयी बड़े घर की जु सकारी।
बृन्दाबन प्रभु गोपनि राव हैं नन्द जु को घर छोनौ कहा री।[110]

तुम गँवारिनों की मर्यादा का निबाह अब तक हमने बहुत किया, हम नरमी से बोलते थे, इसलिए सर पर चढ़कर आयी हो, पर बिना बोहनी किये जा नहीं सकती हो, गोपों के राव नन्द जू के पुत्र हमारे साथ हैं।

पर गोपियों पर इस झिड़की का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे मुँहतोड़, प्रत्युत्पन्नमतित्व से भरा हुआ, उत्तर देती हैं कि हाँ जी हम तो गँवारिनें हैं ही पर यदुवंशियों के राव तुम भी तो हमारे ही बीच पले हो (और कहीं स्थान नहीं मिला) और हमारे ही समान गँवारपने का कार्य, रास्ता रोककर, कर भी रहे हो, अतः रोके सकोगे भी कैसे?

तुम तो जदुवंशिन राव हुते तउ आय गँवारिन माँझ पले हो।
पूँछ बड़ी सु उड़ाइ दै आपकी लाभ तुम्है जु प्रवीन भले हो।
हमैं तो सब जाने गँवारि हैं ये सब तो तुमहूँ हम मांझ रले हो।
बृन्दाबन प्रभु कैसे रहो तुम रोके गँवारनि चाल चले हो।[111]

इस प्रकार ये नाटकीय संवाद चलते रहते हैं और फिर चतुराईपूर्वक कृष्ण दान ले ही लेते हैं। बृन्दाबन देव का यह अंश अत्यन्त नाटकीय एवं संवादकौशल से भरा हुआ है, उत्तर-प्रत्युत्तर एवं पुनः उसका उत्तर अत्यन्त कुशल संवाद-कला के आधार पर है। केशव को छोड़कर ऐसी संवाद-कला भक्तिकाल के कवियों में भी कम ही देखने को मिलेगी।

चरणदास द्वारा चित्रित दान-लीला में भी नाटकीयता एवं स्वाभाविकता का सुन्दर संयोग हो सका है।[112] इस दान-लीला के अन्तर्गत चित्रित एक प्रसंग लीजिए। श्याम की जबरदस्ती से खीझ (रीझ) कर एक गोपी कहती है कि अच्छा! ओक बनाओ, लो हम तुम्हें पेट भरकर गोरस पिलाती हैं। कृष्ण बैठ जाते हैं तो दही की मटकी से डहका कर वे अँगूठा दिखा देती हैं और पूछती हैं कि जरा स्वाद तो बताइये, मन भाया मीठापन है न?

उठ बोली एक ग्वारिनी, भौंह मटक कर मुसकाय।
पीवो गोरस पेट भर, तुम दोऊ कर ओक बनाय।
बैठ उकहूँ चाव सौं, कीनी ओक बनाय।
पीवन की इच्छा करी, मन मैं अति ही ललचाय।
मटकी सों डहकाय के गुंठा दियो दिखाय।
कहो स्वाद बतलाइये, कछू मीठो है मन भाय।[113]

कृष्ण की इन दान-लीलाओं के अनुकरण पर राम-भक्तों में रामसखेजी ने भी दान-लीला की ठीक ऐसी ही कल्पनाएँ की हैं। यहाँ पर सीताजी अकेली ही राम को मिल जाती हैं—

विपिन प्रमोद से बोरि महा है आवो दही लै बड़ी अलबेली।
मानत ना डर काहू को नेकहू पाई अचानक आजु अकेली।

दीजौ हमै करि नेग तु है भावतो चित्त की चोर हौ रूप नवेली।
बात हमारी सुनौ सब कान दै हौ तुम तो दय जोग सहेली।[114]

रास-लीला

दान-लीला के समान ही इन दोनों प्रकार के सगुणोपासकों (निकुंज एवं आवरण लीला के गायक में रासलीला) में भी यह अन्तर है। हमारे प्रस्तुत समीक्ष्य काव्य की रासलीला भागवत की परम्परा में है। शरद् की छिटकी हुई चाँदनी में गोपिकाएँ मुरली की ध्वनि सुनते ही अपने-अपने घरों से कृष्ण की ओर दौड़ पड़ती हैं–

तैसी रही जोइ सोइ चली है तमकि तैसी,
काहू की न मानै कोऊ आतुरता बढ़ी है।
अस्त व्यस्त भूषन बसन मन मन काज,
मनमथ राज चटसार मानो पढ़ी है।
सनमुख नाद सुधी गति में न भई बाधा,
आगे पूनी साधा प्रेम गजराज चढ़ी है।
रगण सों मिली राधा शोभा सिन्धु ते अगाधा,
मानी हर मूरति सनेह साँचे गढ़ी है।।[115]

गोपिकाएँ जैसे-तैसे कृष्ण के पास पहुँचती हैं, पर वे रूखे ढंग से पूछते हैं कि तुम कैसे यहाँ आयीं? उन्हें अपना-अपना धर्म याद दिलाकर घर लौटने के लिए प्रेरित करते हैं। इस पर वे उत्तर देती हैं–

रावरी हाँसी कि लोकन सों,
अरु बांसुरी की सुन तान तरेरी।
जाग उठी मनमत्थ की आगि,
छिनोछिन बाढ़ति भाँति अनेरी।
सीचौ हमें अधरामृत सौ,
'शशिनाथ' कहौ जिनि बात करेरी।
नातरु या विरहानल में
जारि होयँगी कान्ह भभूति की ढेरी।[116]

बिहारी ने रासलीला के उस अंश की ओर संकेत किया है जिसमें गोपियाँ कृष्ण के साथ मदमत्त होकर रास करती हैं एवं प्रत्येक गोपी को यह अनुभव होता है कि कृष्ण उसी के पास हैं–

गोपिनु संग निसि सरद की रमत रसिकु रसरास।
लहाछेह अति गतिनु की सबनु लखे सब पास।[117]

इस अद्भुत गति से होने वाले परम रमणीय रास को देखने के लिए देव-वधुएँ

भी व्याकुल हो रही हैं। वृन्दावन के ऊपर सुरों के विमानों की भीड़ लग गयी है—

बृन्दाबन कानन पै भीर है विमान की
देव बधू देखि देखि भई है मनचला।
बंशी कल गान कै वितान धुनिवाय बन्ध्यो
रमालोक लोमित ह्वै भूली उर अंचला।
द्वै द्वै बिच गोपिन कै ललित त्रिभंगी लाल
नागरिया पदन्यास बाजै छनछदला।
रास रंग मण्डल अखण्ड नृत्य होन लाग्यो,
संग ह्वै भ्रमत मानो मेघचक्र चंचला।[118]

जल-क्रीड़ा

रास के पश्चात् जल क्रीड़ा में थकावट दूर करने का प्रसंग भागवत में भी आता है।[119] बृन्दाबन देव ने वहाँ से प्रेरणा लेकर अपने रासलीला वाले अंश में उसका वर्णन किया है। यह वर्णन निहायत परम्परामुक्त एवं भावशून्य प्रतीत होता है। इस तरह के वर्णन एक प्रकार के संस्कार (Ritual) जैसे प्रतीत होते हैं।

क्रीड़त कालिन्दी तट गोपिन संग लीनैं।
सुन्दर विशाल नैन सुरत रंग भीनैं।
मनौ मीन बाल उपय लोहित वपु कीनैं।
उरसि तिय नख प्रकार सोहत अति नीकौ।
जाहि देखै द्वैज चन्द्र लागत अति फीकौ।[120]

होली

बसन्त ऋतु में होली का मदनमय उत्सव माधुर्य-भाव के उपासक सभी कवियों के मन को आकर्षित कर सका था। आगे चलकर रीतिकाल में दरबारी कवियों ने होली के अनेक रंग-भरे चित्र उपस्थित किये हैं। पद्माकर का 'लला फिर आइयो खेलन होरी' वाला छन्द प्रसिद्ध ही है। रीतिकाल के होली-सम्बन्धी अंशों के पीछे वस्तुतः उन कवियों का होली-वर्णन विद्यमान था।

इन कवियों ने होली के खेल का ही वर्णन नहीं किया है, होली खेलने की अभिलाषा को भी पहिचाना है। होली मनभाया करने का त्योहार होता है, ऐसी स्थिति में नायिका यदि प्रारम्भ से ही उस दिन की प्रतीक्षा करती हुई होली खेलने की योजना बनावे तो वह नितान्त स्वाभाविक होगा। पुष्टिमार्गीय जगन्नाथ कविराय का पद इसी आकांक्षा को व्यक्त करता है—

अहो हरि होरी में तब जो गये तुम भाजि।
गारी देहूं भरूं भराउं
मुख माड़ोंगी आज।
हों अपनो मन भाओ करि हों
सुनि ब्रज राज कुमार।
जगन्नाथ कविराय के प्रभु
भई सकल घोष सिरताज।[121]

बनीठनी जी के पद में नायिक-नायक को वर्जित कर रही है कि मेरे ऊपर रंग न डालो। धमकाई भी है कि यदि न मानोगे तो पिचकारी छीन लूँगी। पर कृष्ण शायद नहीं मानते तो कहती है कि अब तुम मुझसे गाली सुनना चाहते हो। इस वर्जन एवं निषेध में अनुराग एवं स्वीकार की गहरी व्यंजना है यह रसिकों से छिपा नहीं है—

ए जु! नीके तुम जाहु चले जिन भरो मेरी सारी।
सुनि श्याम सुनि श्याम सौं है तिहारी, नाही छिनाय लेहुँ कर तें पिचकारी।
अब कछु मोपै सुन्यौ चाहत हो गारी, घर में सीखे ढंग रसिक बिहारी।[122]

होली के चित्र नित्य विहारोपासकों में उतने ललित नहीं बन पड़े हैं जैसे कि इन कवियों के हैं।

इसी प्रकार अन्य उत्सवों के पद भी कीर्तन-संग्रहों आदि में बिखरे पड़े हैं। अष्टयाम-सेवा-विधि से सम्बन्धित पदों की संख्या भी विशाल है।

(4) विरह

नित्य विहारोपासकों एवं ब्रजलीला गायकों के मध्य विरह सम्बन्धी एक बड़ा अन्तर है। निकुंज-लीलाओं में विरह अत्यन्त सूक्ष्म (मन की वृत्ति विशेष) स्वीकार किया गया है क्योंकि राधा और कृष्ण के मध्य वियोग की स्थिति युगलोपासना की आत्मा के विपरीत है। पर ब्रज-लीला-गायकों ने स्थूल विरह का जम कर गायन किया है। सूरदास का—'ऊधो विरहौ प्रेम करे', हम चतुर्थ अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं। वहीं पर हमने इस सम्भावना की ओर भी संकेत किया था कि विरह को मूल्यवान् मानने के पीछे सूफ़ी-प्रभाव भी हो सकता है। गोपियों के अनुग-भाव से प्रभु के प्रति सीधे विरह एवं प्रेम-निवेदन तथा किसी लौकिक प्रेम-कहानी के माध्यम से प्रेम एवं विरह की तीव्र अभिव्यंजना में बड़ा अन्तर प्रतीत नहीं होता।

अस्तु भौतिक विरह के विविध रूप हमें इस साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं। घनानन्द ने निर्भ्रान्त शब्दों में घोषित किया था कि यदि मन में गोपियों की सिसक और कसक न आयी तो रसिक कहलाना व्यर्थ ही है। रसिकता कुछ और ही वस्तु है।[123] इसी कारण इस सिसक और कसक का वर्णन इन कवियों ने अत्यधिक मन लगाकर किया है।

काव्यशास्त्रियों ने विरह के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणा ये चार भेद किये हैं। रतिकालीन कवियों ने इन सभी का चित्रण परिपाटी निर्वाह के लिए किया था। प्रेमाभक्ति के इन कवियों में इनमें से प्रथम तीन स्थितियाँ मिल जायेंगी पर उदाहरण देने के लिए नहीं हैं। करुण विप्रलंभ की भगवान के परिकर में स्वीकृति नहीं है। पर शेष तीनों को उन्होंने यथार्थ के स्तर पर भावित किया है।

पूर्वराग

विरह का प्रथम प्रकार पूर्वराग माना गया है। 'साहित्य-दर्पण' में इसकी परिभाषा देते हुए कहा गया है कि इसमें अभिप्राय है रूप-सौन्दर्य आदि के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की उस दशा का जो कि उनके समागम से पहले हुआ करती है।[124] घनानन्द द्वारा वर्णित यह विरह पूर्वराग ही है जो रूप-दर्शन से उत्पन्न हुआ है–

आँखि ही मेरी पै चोरी भई लखि फेरी फिरै न सुजान की छेरी।
रूप छकि तित ही बिथकी, अब ऐसी अनेरी पत्याति न बेरी।
प्राननै साथ परी परहाथ बिकानि की बानि पै कानि बखेरी।
पायन पारि लई घन आनन्द चायनि बावरी प्रीति की बेरी।[125]

सोमनाथ की यह विरहिणी भी प्रिय के दर्शन से उन्मत्त बनी चली आयी है–

सोमनाथ बानिक विलोकि छवि छाकी छकी,
दीन्ही अऐंचि गाँसी पंचबान बखियान में।
गागरि गिराय बिसराइ कुल कानि ग्वालि,
ल्यई भरि मोहन कौ नेह अँखियान में।[126]

प्रवास

ब्रज-लीला के अन्तर्गत कृष्ण का ब्रज छोड़कर मथुरा एवं द्वारका चले जाना विरह-काव्य का अक्षय स्रोत रहा है। अपनी प्रीति बढ़ाकर कृष्ण चले जाते हैं। आने की अवधि भी दे जाते हैं, पर आते नहीं। गोपियाँ इस कठिन वियोग में दग्ध होती रहती हैं। इस घटना ने अगणित कवियों के मानस को आन्दोलित किया है एवं सहस्रशः छन्दों में वियोग की यह गाथा फूटी है। बृन्दाबन देव का छन्द इसी दुःख को व्यक्त करता है–

आयो है मास सावन न आये मन भावन जे लाये गुन गावन ए
चातक हू चहूँदिश।
दुख की निशानी इह ठँनी विधि विरहिन कौ पीव पीव बानी
सुनिहोत मन महारिश।

वे तौ महाज्ञानी कछु मन में न आनी पै और नेही प्रानी अब
जीवं लागि कौन मिश।
बृन्दाबन प्रभु पानी जानै न बिरानी पीर मीन की कहानी इह
याहि तो अधिक तिश।[127]

बिहारी का यह दोहा भी प्रवास-जन्य विरह की वेदना को अभिव्यक्त करता है। राधा यमुना के किनारे श्याम की याद करती हुई जो आँसू बहा रही हैं वे यमुना के जल को भी खारा बना देते हैं–

स्याम सुरति करि राधिका, तकति तरणिजा तीर।
अँसुवनि करत तरौंस कौ खिनकु खरौहौं नीर।[128]

चन्दसखी के इन लोक-गीतों में भी प्रवास जन्य विरह ताप प्रकट हुआ है–

पलक न लगै स्याम बिन पलक न लागै मेरी।
हरि बिन मथुरा ऐसी लागत है, चन्दा बिन रैन अँधेरी।
इत मथुरा उत गोकुल नगरी, बिच-बिच जमुना गहरी।
साँवरे की खातिर जोगन हूँगी, घर घर दूँगी फेरी।
चन्द सखी भज बालकृष्ण छवि, हरि चरनन की चेरी।[129]

मान

नित्य-विहारोपासकों के काव्य-विवेचन के प्रसंग में मान की चर्चा हम कर चुके हैं। प्रेम के क्षेत्र में मान का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। मान का इन कवियों ने बहुत चित्रण किया है। अन्तर इतना है कि अकारण मान के साथ ही सकारण मान भी इन कवियों ने चित्रित किया है, परन्तु एक समानता है–प्रिया का ही मान इन कवियों के लिए भी चित्रणीय रहा है। यह सम्भवतः काव्य परिपाटी का दबाव था। हिन्दी काव्य की परम्पराओं में प्रियतमा के मान की ही परिपाटी रही है।

प्रिया मान किये बैठी है, लाल की सखी आकर समझाती है कि रात छोटी है, यह मधु यामिनी यों ही बीत जायेगी, इसलिए कुंज-भवन चलकर रमण करो। यह सत्य है कि प्रिय के निकट शताधिक कामिनियाँ हैं, परन्तु सच्चाई यह है कि तुम्हारे बिना वे सारी सलोनी कामिनियाँ अलोनी लग रही हैं। उनके साथ तो तेरी ही शोभा होती है जैसे कि स्वर्ण के साथ माणिक्य या कि साँवले बादलों के साथ विद्युत शिखा ही शोभा पाती है। अतः ये मानिनी, मान थोड़ी देर के लिए ही अच्छा है। वह उपमा देती है कि दूध के उफान के समान ही मान करना ठीक है (दूध का उफान पानी के छींटे पड़ते ही शान्त हो जाता है, वैसे ही दूती-वचन की शीतलता मान को समाप्त क़र देने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए) मान के लिए दूध के उफान की उपमा देना स्वतन्त्र निरीक्षणशक्ति का प्रमाण है–

दूध को उफान ऐसो मान कीजै मानिनी,
बैठे कुंज भवन रमन गमन कीजै,
बीती जात बातन ही मधु यामिनी।
तो बिनु सलौनी सब लागत अलोनी,
जदपि निकट हैं अनेक शत कामिनी।
बृन्दाबन प्रभु संग तूहीं यौं विराजति है,
जैसे हेम मानिक और श्याम घन दामिनी।[130]

दूती मनाते-मनाते थक जाती है पर वह प्यारी मानती नहीं है। कुशल वाक्पटु दूती अनेक कौशल करके हार जाती है, लौटकर वह स्पष्ट कह देती है कि तुम्हारी प्रिया रूपवती तो बहुत है, ऐसा लगता है कि वह रूप का प्रकाश है, स्वयं विधि के हाथ की वह सँवारी हुई है, परन्तु (मुझे क्षमा किया जाय) ऐसी अनखारी नारी मैंने नहीं देखी है। यह तो तुम्हीं जानते होगे कि तुमने अपनी प्रीति अन्यत्र कहाँ विस्तारित की है पर वह सुकुमारी आपका नाम लेते ही गाली देने लगती है। उसके (दूती के) अनुसार आज तो उसका रूप इतना निष्ठुर है कि पैर पड़ने पर भी वह मानने के लिए प्रस्तुत न होगी–

हौं तो पचिहारी बिहारी मानति न प्यारी तिहारी।
रूप की उजारी भारी विधिना सँवारी पैं,
ऐसी अनखारी नारि मैं न निहारी।
तुम जानौ प्रीति न्यारी और कासौ विसतारी,
ढिग की गये तै गारी देति सुकुमारी।
बृन्दाबन प्रभु ऐसी देखी मैं निठुर आज
मानिहै न पांइ परै कहै हूँ हहा री।[131]

प्यारे को मनाने जाना ही पड़ता है। वे 'नति' का आश्रय लेकर मानवती प्रिया की चरण सेवा करते हैं। ऐसी स्थिति में मान को टूटना ही चाहिए, वह टूटता है–

मान कियो मानिनि मनायो हू न माने।
नेक मानहुँ में सोय रही मानिनि न मान के।
उझकि पिय देखे आय चौपत चरण।
सखी सैन दै उठाई पिय बैठे पगपान के।
पिय को परस जान जान के भई अजान।
चतुर बिहारी जु सों बोली मिष आन के।
रहो रहो रसिक राय छिनहुँ न होहु न्यारे
हम तुम पौढ़े दोऊ एक पट तान के।[132]

प्रेम-वैचित्य

गौड़ीय वैष्णव आलंकारिकों ने करुणा विप्रलम्भ के स्थान पर प्रेम-वैचित्य नामक एक नया प्रकार स्वीकार किया है। प्रेमोत्कर्ष के कारण स्वाभाविक रूप से ही प्रिय के निकट होने पर भी जब विरह जैसी अनुभूति होती है तब उसे प्रेम-वैचित्य कहा जाता है।[133] प्रेम-काव्य की अमूल्य निधि घनानन्द के काव्य में प्रेम-वैचित्य के हृदयस्पर्शी चित्रण हमें मिलते हैं। एक उदाहरण–

ढिग बैठे हू पैठि रहैं उर में धरकै खरकै दुख दोहतु है।
दृग आगे ते बैरी कहूँ टरै न जग जोहनि अन्तर जोहतु है।
घन आनन्द मीत सुजान मिलै बसि बीच तऊ मति मोदतु है।
यह कैसी संजोग न बूझि परै जु वियोग न क्यौं हू विछोहतु है।[134]

(5) उपालम्भ

प्रेम और वियोग के क्षेत्र में उपालम्भ काव्य भी सहृदयों के मध्य सदैव आदर पाता रहा है। भ्रमरगीत के नाम पर लिखा गया उपालम्भ-काव्य हमारे साहित्य के सर्वोत्तम अंशों में से एक है। कुब्जा और मुरली के प्रति दिये गये उलाहने भी कृष्ण-काव्य में कम नहीं हैं।

अत्यन्त सहज स्त्रियोचित शब्दावली में बृन्दाबन देव ने ब्रजबालाओं से यह शिकायत कराई है। गोपियों को प्रिय के प्रेम पर कैसे विश्वास आवे–मथुरा कौन बहुत दूर है पर तनिक-सा सन्देश भी उन्होंने नहीं दिया। हृदय एकदम निष्ठुर कर लिया, उस प्रेम की बात उन्होंने सोची ही नहीं। इसके ऊपर भी एक विशेष काम उन्होंने किया है–कुब्जा के प्रेमरंग में रंग गये हैं।[135] कुब्जा के लिए उलाहना चन्द्रसखी ने भी दिलाया है।[136]

नागरीदास ने मुरली-उपालम्भ-सम्बन्धी अत्यन्त मार्मिक दोहे लिखे हैं। गोपिकाएँ मुरली से कहती हैं कि हमें क्षमा कर, हम तेरे पैरों पड़ती हैं, तेरी स्वर लहरी और सबको प्रिय होगी पर हमें नहीं। हम तो उससे और दुःखी होती हैं। गोपिकाएँ वंशी को अपने पक्ष में करने के लिए एक बड़ा मनोवैज्ञानिक अस्त्र फेंकती हैं। उनका कहना है कि हम दोनों ही ब्रज की हैं, अत एक स्थान में रहने की बात तो सोचनी ही चाहिए। फिर वंशी और ब्रजनारी इनकी महिमा तो त्रैलोक्य में है, यह नाता भी वंशी के लिए विचारणीय है–

तु हू ब्रज की मुरलिया हमहू ब्रज की नारि।
एक वास की कानि करि पढ़ि पढ़ि मंत्र न मारि।
मत मारै शर तानि कै नातो इतो बिचारि।
तीन लोक संग गाइये बंशी अरु ब्रज नारि।[137]

पर वंशी मानती नहीं है। गोपिकाएँ खीझ कर कहती हैं कि जड़ से हमारी कुछ चलती है? यह मौन गहती ही नहीं—

हम हारी गारी जु दै जड़ सौ कहा बसाय।
मौन गहत नहिं मुरलिया, हाय हाय फिर हाय।[138]

चरण दास की गोपियों ने भी मुरली को उलाहना दिया है कि तनिक से बाँस की बनी हुई यह बाँसुरी गर्व से भरी गर्जना करती रहती है तथा उनका कलेजा दग्ध करती रहती है—

तनक बाँस की बनी बँसुरिया गर्व भरी अति गाजै री।
तैं वश कियो शुकदेव हमारो सुनत कलेजो दाझै री।[139]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि विरह-सम्बन्धी काव्य इस परम्परा में अत्यधिक समृद्ध है। वह अपने कथ्य को लगभग उपयुक्त शिल्प में ढाल सका है।

(6) बाललीलाएँ

यह विवेचन माधुर्य भाव की दृष्टि से किया गया है, पर ब्रजलीला के अन्तर्गत अन्य भक्ति-भावों का भी समावेश है। बल्लभ-सम्प्रदाय की उपासना का प्रवर्तन बाल-भाव के अनुकूल हुआ था। इसी कारण इस युग में भी वात्सल्य-भाव सम्बन्धी कतिपय रचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। नागरीदास वल्लभ मतानुयायी थे, उन्होंने कृष्ण की बाल-लीलाओं का भी चित्रण किया है, परन्तु बाल-लीला के चित्रण में इन कवियों का मन बहुत नहीं लगा है। नागरीदास निम्न पद में कृष्ण के बालरूप का वस्तुगत ढंग पर चित्रण करके रह जाते हैं, उस मानसिकता की स्थापना नहीं कर पाते जो सूर या परमानन्द दास के काव्य में हमें उपलब्ध होती है। पद इस प्रकार है—

कबहुँ गहि फिरत पूँछ बछियान की,
किंकिनी कनक कटि मधुर बाजैं।
गोप-गोपिन दृगनि से खिलौना खिलत,
मुख-कमल मुरि हंसनि भ्राजैं।
बदन दधि-छवि, धूरि-धूसरित अंग,
अबहिं ते मदन-गति पगनि पेलैं।
कण्ठ बधना दिये पाय पैंजनि झनक,
दास 'नागर' हिये आँगन खेलैं।[140]

हरिदासी सम्प्रदाय में यद्यपि बाल-लीला की स्वीकृति नहीं है, पर स्वामी रसिक देव ने बाल-लीला नामक 49 छन्दों की एक छोटी-सी पुस्तिका भी लिखी है जिसमें बाल-लीला की अपेक्षा बालक कृष्ण एवं बालिका राधा के मिलन पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसमें बाल-भाव को माधुर्य-भाव की ओर मोड़ने की चेष्टा की गयी है।

निम्बार्कीय बृन्दाबन देव की रचना 'गीतामृत गंगा' का प्रथम घाट बाल-लीलाओं का है तथा द्वितीय घाट पौगंड-लीलाओं का। बृन्दाबन देव का भी मन इन लीलाओं में अधिक नहीं रमा है। जन्म की बधाइयाँ गा देने अथवा सूचना रूप में कुछ कह कर वे आगे बढ़ जाते हैं, भावात्मक चित्र कम ही उपलब्ध होते हैं। ऐसा ही एक पद निम्न कहा जा सकता है—

ब्रजरानी की गोद विनोद करै हरि,
मोद भरी यौं लड़ावति मैया।
नये गावत गीत नचावति दै चुटकी तिहिं
जो तिहुँ लोक नचैया।
समात न नन्द आनन्द में देखि सुतैं
सु मनोरथ पूर्‌यो है दैया।
कबहूँ दिन व्है वहूँ मो लला सु
बृन्दाबन जै हैं चरावन गैया।[141]

इसी प्रथम घाट में ही उन्होंने श्याम सगाई भी उपस्थित कर दी है।[142] चन्दसखी के भजनों में भी बाल लीला के कतिपय पद उपलब्ध हो जाते हैं।[143]

(7) सिद्धान्त-कथन

पूर्व-विवेचित नित्य-विहारोपासकों के समान सिद्धान्त-कथन-सम्बन्धी साहित्य इन भक्तों में भी उपलब्ध हो जाता है; परन्तु ध्यान से अनुशीलन करने पर एक तथ्य नितान्त उजागर हो उठता है कि नित्य-विहारोपासको में अनिवार्य रूप से सिद्धान्त-कथन किया है परन्तु इन कवियों में यह अनिवार्यता नहीं है। इसका परिणाम यह भी हुआ है कि परिमाण की दृष्टि से नित्य-विहारोपासको में सिद्धान्त-कथन की मात्रा कहीं अधिक है। इसका कारण हमें यह प्रतीत होता है कि जिस ऐकान्तिक (रहस्यात्मक) भक्ति-पद्धति को उन्होंने स्वीकार किया था, उसके बारे में लौकिकता एवं ऐन्द्रियता का भ्रम हो सकने का अवकाश था। इसी कारण वे सिद्धान्त-कथन के लिए विवश हो गये थे। इन लोगों का सिद्धान्त-कथन एक प्रकार से अपनी रचना की व्याख्या ही है। निकल्सन ने बताया है कि ईरानी सूफ़ियों को भी इस भ्रम से बचने के लिए अपनी रचनाओं का अर्थ स्पष्ट करना पड़ा था।[144] अस्तु, ब्रजलीला-नायकों के समक्ष ऐसी कोई समस्या नहीं थी। पुराण हमारे यहाँ धर्म-ग्रन्थों के रूप में मान्य थे तथा पुराणों में यह श्रृंगारादि की लीला भली भाँति चित्रित एवं व्याख्यात हो चुकी थी; सामान्य जन के हृदय में उसकी यथेष्ट प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस कारण सिद्धान्त-कथन द्वारा अपने युगल एवं उनकी केलि के मन्तव्य को स्पष्ट करने का प्रश्न इन कवियों के सामने नहीं उठा था। फिर भी यत्र-तत्र हमें सिद्धान्त-कथन के कुछ-न-कुछ अंश

उपलब्ध होते ही हैं। संसार से विराग,[145] 'गुरु का महत्त्व-स्थापन[146], प्रेम-धर्म का महत्त्व एवं गोपियों का महिमा-गान[147] आदि सिद्धान्त-सम्बन्धी अनेक बातें इनमें कही गयी हैं। गोपियों के महत्त्व को स्वीकार करने वाला गो. हरिराम का निम्न पद द्रष्टव्य है, जिसमें साथ ही साथ वल्लभाचार्य एवं बिट्ठलनाथ जी की स्तुति भी है–

हौं वारी इन बल्लभियन पर।
मेरे तनका करों बिछौना सीस धरों इनके चरणन तर।
नेह भरी देखो मेरी अँखियन मण्डल मध्य विराजत गिरिधर।
यह तो मेरे प्राण जीवनधन दान दिये श्री वल्लभ वर।
पुष्टि प्रकार प्रगट करिबे कौ फिर प्रकटे श्री विट्ठल वपु घर।
रसिक सदा आस इनकी कर बल्लभियन की चरण रज अनुसर।[148]

गो. हरिराय जी ने एक अन्य पद में कहा है कि हे! मनुष्य तुझे लज्जा आनी चाहिए यदि तूने गोपाल-लीला का गान नहीं किया, रसाल लीला में मन नहीं लगाया, सुबोधिनी सुनी नहीं, घड़ी-आध-घड़ी हरि की सुस्वादु सेवा नहीं की तथा कृष्ण का नाम रटा नहीं, वल्लभ एवं विट्ठल प्रभु की शरण में जाकर तूने शीश नहीं झुकाया।[149]

सन्त-परम्परा के अन्तर्गत रचा गया प्रेमाभक्ति-काव्य

चतुर्थ अध्याय में सगुणोपासक प्रेमाभक्ति-सम्प्रदायों में उपास्य, लीला धाम एवं परिकर आदि की चर्चा करते हुए हमने देखा था कि ये सभी तत्त्व नित्य स्वीकार किये गये हैं। ब्रज, बृन्दाबन, साकेत आदि स्थल भी भगवान की स्वरूप शक्ति के ही विलास हैं–इस धारणा ने "उन सम्प्रदायों में प्रतीक-पद्धति की स्थापना नहीं होने दी। प्रतीक में मूल वस्तु का परिचय किसी अन्य वस्तु के द्वारा दिया जाता है।" अब प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का अभेदारोप हो और प्रस्तुत स्वयं निगीर्ण रहे, तब अप्रस्तुत ही प्रस्तुत का स्थानापन्न बन कर प्रतीक का काम देता है।[150] परन्तु राधा, कृष्ण गो, गोप, गोपी, बृन्दाबन, अयोध्या आदि किसी परोक्ष प्रस्तुत के लिए प्रयुक्त होने वाले प्रतीक नहीं हैं। वे स्वयं नित्य हैं। अतः प्रतीक, संकेत या अन्योक्ति-पद्धति का इन सगुण-भक्ति-सम्प्रदायों में नितान्त अभाव है।

निर्गुणभाव-धारा के भक्तों की स्थिति बदल जाती है। वहाँ पर ब्रह्म नित्य हैं परन्तु उसके आकार, रूप, धाम या परिकर अथवा लीला-कृत्यों की कोई धारणा प्रकल्पित नहीं हुई है। जब इस परोक्ष-सत्ता की अनुभूति या उसके विषय में किसी विचार को वे अभिव्यक्त करते हैं तब उन्हें ऐसे अप्रस्तुतों की आवश्यकता पड़ती है जो उनकी पहुँच के भीतर भी हों तथा उस अनुभूति को अभिव्यक्त भी कर सकें। इस प्रकार अप्रस्तुत ही प्रस्तुत का स्थानापन्न बन जाता है। स्पष्ट है कि यह पद्धति प्रतीकवाद की है। भक्ति की प्रेम-सम्बन्धिनी इसी विशेषता के कारण वे उपास्य

को विविध सामाजिक सम्बन्धों के रूप में प्रत्यक्षतः भावित करते हैं। प्रेम के आवेश में वह प्रिय बन जाता है, माहात्म्य-बोध के समय स्वामी बनता है, प्रभु-अनुग्रह की भावना जब बल पकड़ती है तब वह दातृत्व, दयालुता, मातृत्व, शरणागत रक्षक आदि गुणों से विभूषित कर दिया जाता है। अपनी साधना की अनुभूति वह नाना प्रकार के रूपकों, उपमाओं, द्रष्टान्तों से कह देता है।

इस साहित्य का अनुशीलन करने पर इस काव्य के दो स्पष्ट स्तर हमें दिखाई देते हैं। एक स्तर वह है जहाँ वे संसार की असारता का संकेत करते हैं, त्याग एवं वैराग्य पर जोर देते हैं, गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा एवं निष्ठा चित्रित करते हैं एवं प्रभु से प्रेम करने का सन्देश देते हैं। इन सभी बातों की चर्चा सगुण-लीलावादी भक्त भी करते हैं। उनके सिद्धान्त-सम्बन्धी वचन इन्हीं बातों से सम्बन्धित हैं; परन्तु फिर भी इन दोनों प्रकार के कथनों में एक सूक्ष्म अन्तर है।

सगुण-धारा के कवियों के ये कथन सिद्धान्त वाक्य हैं पर निर्गुण भक्ति के कवि के कथन शान्त-भक्ति के अन्तर्गत परिगणनीय होने चाहिए। प्रभु से लगाव रखने के लिए इन सब बातों को त्यागना होता है।[151] सगुण भक्ति के कवि, केवल प्रभु-प्रेम की रुचि (या लगाव) का ही निर्देश नहीं करता, वह प्रभु की लीला भी बताता है एवं उस लीला में प्रवेश करने के लिए विशेष प्रकार की भावनाओं वाले प्रवेशद्वार भी। निर्गुण-मार्गी को चूँकि लीला-धाम तक नहीं पहुँचना होता, इसीलिए वह भाव-सम्बन्धों की छानबीन में भी नहीं पड़ता। वह मात्र प्रभु-प्रेम की बात करता है। कैसा प्रेम हो—इसकी उसे चिन्ता नहीं है। अतः वैराग्य आदि के साथ प्रभु-प्रेम का स्वीकरण उसे शान्त-भक्त सिद्ध करता है। इसी कारण ये सिद्धान्त-कथन निर्गुण-मार्गीय काव्य में अधिक महत्त्वपूर्ण भी हो जाते हैं और उनका परिमाण भी कहीं अधिक हो जाता है। सिद्धान्त-कथन सम्बन्धी कतिपय उदाहरण कथ्य के इस रूप को अधिक अच्छी तरह स्पष्ट कर सकेंगे। सुन्दर दास कहते हैं कि हे संसारी जन, तुम देह, गेह, धन, परिवार 'सेवक' आज्ञा आदि में 'मेरे पन' को देखते हो। कुलीन वंश का अभिमान करते हो और समझते हो कि अपनी तरुणी पत्नी के तुम प्यारे हो, पर—

"सुन्दर कहत मेरौ मेरौ कर जानै सठं,
ऐसे नहिं जानै मैं तो काल ही को चारौ हौं।"[152]

इसी कारण सहजोबाई भी कहती हैं—

पानी का सा बुलबुला यह तन ऐसा होय।
पीय मिलन की ठानिये रहिये ना पड़ि सोय।[153]

ईश्वर की प्राप्ति के लिए अत्यन्त सहज साधन है—नाम-जप। सन्त गुलाल साहब का कहना है कि तू अन्य सारे व्यवहार छोड़कर केवल नाम-जप को अपना ले।

करु मन सहज नाम व्योपार, छोड़ि सकल व्योहार।
निसु वासर दिन रैन ढहत हैं, नेक न धरत करार।[154]

नाम-जप कई साथ 'अन्तःशुद्धि' का भी बड़ा महत्त्व बताया गया है। सन्त रज्जबदास का कहना है कि–

रज्जब अज्जब राम हैं, कहे सुने में नाहिं।
यह अशुद्ध अन्तःकरण, वह देखै दिल माँहि।[155]

इस साधना में गुरु का अत्यधिक महत्त्व है। शिष्य बनराजि के समान है, जिस पर गुरु ज्ञान का जल बरसाता है, जिससे कि छोटे-बड़े विविध स्वादों वाले अंकुर स्वाभाविक रूप से उग आते हैं–

जन रज्जब गुरु ज्ञान जल, सींचे सिख बनराय।
लघु दीरघ अरु स्वाद विध, है अंकुर स्वभाव।[156]

इसी प्रकार नम्रता, साधु संगति, परोपकार आदि नैतिक वृत्तियों को इस काव्य में बार-बार उपस्थित किया गया है।

उपास्य के सम्बन्ध में विचार करते समय या तत्सम्बन्धी स्वानुभूति की व्यंजना करते समय इन कवियों का काव्य एक विशेष भास्वरता से दीप्त हो उठता है। उपमा और रूपक, प्रतीक और संकेत बार-बार उसे प्रकट करने का प्रयास करते हैं। रज्जब कहते हैं कि शरीर-घट घटा के समान है जिसमें कि ब्रह्म रूपी विद्युत् का निवास है, पता नहीं कब वह अन्तर में प्रकट हो जाय–

रज्जब बूँद समंद की, कित सरकै कहूँ जाय।
साझा सकल समद सों, त्यूँ आतम राम समाय।।[157]

चरणदास एकदम कबीर के स्वर को ही अपना कर कहते हैं, न वह सीमा के भीतर है न बाहर–

हद कहूँ तो है नहीं बेहद कहूँ तो नांहि।
हद बेहद दोनों नहीं, चरणदास भी नाहिं।[158]

अपने आत्मानुभव को स्पष्ट करने हुए सुन्दरदास ने कहा कि आत्मानुभव का आनन्द अनिर्वचनीय है। जो अमृत पी लेता है, वही उसका स्वाद बता सकता है, बिना पिये तो बकवाद होता है–

मुख तें कह्यौ न जात है, अनुभव को आनन्द।
सुन्दर समझैं आपको, जहाँ न कोई द्वन्द।।
सुन्दर जिनि अमृत पियों, सोई जानै स्वाद।
बिन पीये करतौ फिर, जहाँ तहाँ बकवाद।[159]

इस ब्रह्म के साथ अपने भाव सम्बन्धों को स्पष्ट करते समय इन कवियों ने प्रिया-प्रियतम के प्रतीक बहुत अपनाए हैं। कुछ उदाहरण हम नीचे दे रहे हैं–

(1) *अविनासी दूलह मन मोह्यो,*
जाको निगम बतावे नेत।[160]

(2) *काग उड़ावत कर थके, नैन निहारत बाट*

प्रेम सिन्धु में परयो मन, ना निकसन को घाट।[161]

(3) *पतिव्रता कै पीव बिन, पुरुष न जनम्यौ कोई।*
त्यूं रज्जब रार्माह रचैं, तिनके दिल नहि दोई।[162]

(4) *जो हरि कौं तणि आन उपासत सो मतिमंद फजीतहिं होई।*
ज्यों अपने भरतारहि छांड़ि भई विभचारिनि कामिनी कोई।
सुन्दर ताहिं न आदर मान फिरै विमुखी अपनी पति खोई।
बूड़ि मरै किनि कूप झंझार कहा जग जीवत है सठ सोई।[163]

(5) *अजहु मिलो मेरे प्रान पियारे।*[164]

परन्तु यहीं पर यह कह देना आवश्यक होगा कि यह माधुर्यभाव की भक्ति नहीं है। प्रिया-प्रियतम यहाँ उपभान भर हैं, उपमेय तो वह 'परात्पर तत्त्व' हैं, जिसके प्रति ये कवि प्रेम रखते हैं। यों सगुण-भावधारा के प्रभाव के अन्तर्गत कभी-कभी पिय से होली खेलने की भी योजना बनती हं। यारी साहब, चरणदास आदि कवियों ने होली-मिलन की अभिलाषा प्रकट की है, पर वास्तव में होली प्रसंगों में प्रतीकार्थ को ही लेना समीचीन होगा।

शान्त भक्ति एवं प्रेमपरक इन प्रतीकों के अतिरिक्त दास-भाव के भी यथेष्ट प्रसंग इन कवियों में उपलब्ध हो जाते हैं। सन्त भीखा साहब प्रार्थना करते हैं—

प्रभु जी करहु अपनो चेर।
मैं तो सदा जनम को रिनिया, लेहु लिखि मोहि केर।[165]

सामान्यतः प्रभु को बाल या सखा भाव से भेजने की धारणा इन सम्प्रदायों में नहीं है।

इन निर्गुणिया प्रेममार्गी भक्तों का काव्य इस प्रकार पिछली दो प्रकार की रचनाओं से भिन्न है, परन्तु यहाँ तक प्रेम की महत्ता का प्रश्न है वह समान भाव से विद्यमान है। एक दूसरी समानता यह भी है कि अभिव्यंजना कौशल का अपेक्षाकृत निखार निर्गुण-प्रेममार्गी काव्य में भी उपलब्ध होने लगता है गो कि उसकी मात्रा उतनी नहीं है जितनी कि सगुण परम्पराओं में दृष्टिगोचर होती है।

18वीं शती के ब्रजभाषा-प्रेमाभक्ति साहित्य का मूल्यांकन

आलोच्य युग के प्रेमा-भक्ति साहित्य की भाव-सम्पदा एवं वक्तव्य का विश्लेषण करते समय तथा कवियों का परिचय देते समय हम बीच-बीच में अभिव्यंजनागत विशेषताओं का बराबर उल्लेख करते गये हैं। वास्तव में रचना में एक ऐसी अन्विति विशेष होती है जिसके कारण भावपक्ष एवं कलापक्ष का आत्यन्तिक विभाजन सम्भव ही नहीं होता। पीछे रूपरसिक देव द्वारा लिखे छन्द की ऐसी ही द्वित्व-रहित मीमांसा हमने की है। अतः यहाँ पर अभिव्यंजना कौशल पर विस्तृत विचार करना

उचित न होगा। इसके अतिरिक्त यदि मात्र अलंकार, छन्द, मुहावरे गिना देने से ही काव्य-सम्पदा का महत्त्व निर्धारित हो सकता है तो हम कहना चाहेंगे कि इस काव्य में अधिकांश अलंकार एवं बड़ी संख्या में छन्द रूप तथा भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ उपलब्ध हो जावेंगी। यों इस साहित्य में काव्य के कुछ श्रेष्ठतम अंश भी मिल जावेंगे और एकदम हीन कोटि की तुकबन्दियों की संख्या भी कम नहीं है। पर हम इस समग्र साहित्य का उसके पूर्ववर्ती एवं समसामयिक साहित्य के सन्दर्भों में मूल्यांकन करना चाहते हैं।

मूल्यांकन-निकष

किसी भी कवि, रचना या युगविशेष के साहित्य का आकलन करते समय एक प्रकार की तुलनात्मक दृष्टि अनिवार्य हो जाती है। जिस समय हम यह खोजना चाहते हैं कि वह क्या है जो रचना को विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण बनाता है, उस समय हम स्वाभाविक रूप से उसे समकालीन ही नहीं वल्कि पिछली पीढ़ी या परम्परा के परिदृश्य में देखने लगते हैं। प्रस्तुत काव्य का मूल्यांकन करते समय भी यह कसौटी हमें अनिवार्य लगती है। रचना का विश्लेषण करते समय उसे एक इकाई मान कर चला जा सकता है, परन्तु जहाँ मूल्य आँकने का प्रश्न आ जाता है, यह अनिवार्य प्रक्रिया है कि हम अन्य वैसी ही या मिलती-जुलती वस्तुओं के साथ तुलना कर लें।

पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य से 18वीं शती के प्रेमाभक्ति-काव्य की तुलना

(1) भक्ति काल के साहित्य के परिपार्श्व में देखने पर बात एकदम स्पष्ट रूप से सामने आती है कि 18वीं शती के प्रेमाभक्ति-कवि अनुगामी हैं। भक्तिकाल के कवियों द्वारा जिन तथ्यों, घटनाओं, कथाओं अथवा लीलाओं का वर्णन और चित्रण सहस्रशः पदों में हुआ है, उन्हीं को ये कवि भी उपस्थित करते हैं। परिणाम स्पष्ट है कि यह साहित्य पिष्टपेषण जैसा प्रतीत होने लगता है।

(2) इस पिष्टपेषण का कारण अनुभूति-ग्रहण की अक्षमता या किसी प्रकार की अशक्तता नहीं है। कारण है लीला के अत्यन्त सीमित क्षेत्र को स्वीकार करना। काव्यानुभूति के लिए कच्चा माल इन्हें जिस क्षेत्र से मिलना था, वह अत्यधिक सीमित था। नित्यविहारोपासकों में तो एकदम संकीर्ण क्षेत्र उपजीव्य रहा। राधा और कृष्ण का विहार कितना ही अपूर्व एवं नित्य क्यों न हो, मानवीय भाषा और उसकी अभिव्यंजना-क्षमता तो अनित्य है केवल अद्भुत कह देने से ही अद्भुत का चित्र सामने नहीं आता, उसके लिए नयी लीलाओं एवं नये बिम्बों की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि सैकड़ों कवियों ने हजारों पदों की रचना इस बीच में की है, पर

आश्चर्य होता है कि राधा-कृष्ण के रूप, शृंगार एवं विहार में ही ये कैसे लगे रहे? काव्य की दृष्टि से यह भक्ति का अपव्यय था और प्रेम साधना की दृष्टि से अपूर्व निष्ठा का उदाहरण।

(3) इतने सीमित क्षेत्र में सीमित रहने के लिए कोई दबाव होना चाहिए और हमारी समझ में यह दबाव सम्प्रदाय-निष्ठा का था। शासन, धर्म, दल आदि जब साहित्य का नियमन करने लगते हैं तो निश्चित रूप से रचनाकार की क्षमता में ह्रास होता है। यह स्थिति इस समय उत्पन्न हो गयी थी। इस युग तक आते-आते सम्प्रदायों के बन्धन कड़े होने लगे थे। काव्य-सृजन के प्राकृत विकास का मार्ग अवरुद्ध होने लगा था लेकिन यहीं पर यह याद रहे कि इन कवियों का मुख्य प्रयोजन था साधना, काव्य सृजन नहीं। चिन्तन-मनन की दृष्टि से जड़ बन गये, देश में प्रेरक धर्म में भी नये आयामों का अभाव हो गया था, अतः घूम-फिर कर उन्हीं बिन्दुओं के आस-पास उन्हें रहना पड़ता था। वस्तुतः परिवर्तन के लिए आवश्यकता थी कि पतनोन्मुख सामन्ती सामाजिक व्यवस्था बदले। उत्पादन, वितरण विनियम के साधनों का रूप बदले बिना सामाजिक संगठन में परिवर्तन सम्भव न था। स्वयं समाज की विविध इकाइयाँ भी बदलने की बजाय अधिकाधिक प्रस्तरीकृत (Fossilized) हो रही थीं। बदलाव की प्रक्रिया, इसी कारण, उन्नीसवीं शती में आकर ग्रहण करती है जब नयी सामाजिक शक्तियाँ सामने आती हैं और तभी काव्य में नयी अभिव्यंजनाएँ भी रूप ग्रहण करती हैं।

(4) सम्प्रदाय-निष्ठा के साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि इस समय सखी-भाव का क्षेत्र बढ़ता जा रहा था। वल्लभ, चैतन्य, निम्बार्क आदि विविध सम्प्रदायों में सखी-भाव से युगलोपासना बढ़ रही थी। पतनशील सामन्ती व्यवस्था के हीनवीर्य प्रेम और विलास में यह स्वाभाविक भी था तथा व्यभिचार के खुले वातावरण में ऐसा प्रेम एक आदर्श भी था।

(5) भक्तिकाल के प्रेमाभक्ति के कवियों में सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की विवेचना बहुत कम हुई थी, परन्तु आलोच्य-युग तक आते-आते सिद्धान्त-कथन की मात्रा बढ़ गयी। ऐसा लगता है कि इन कवियों के मन में यह शंका उठने लगी थी कि शायद उनकी बात को सही परिदृश्य में नहीं समझा जा रहा है। शृंगारिकता का जो भ्रम उनके काव्य से उत्पन्न हो सकता था, सम्भवतः उसी के निवारण के लिए यह प्रभूत सैद्धान्तिक साहित्य रचा गया है। इस साहित्य को पढ़ते समय बहुधा रीतिकाल के लक्षण-ग्रन्थ याद आ जाते हैं। दोनों ही प्रकार की रचनाएँ लक्षण-ग्रन्थ हैं। कभी-कभी तो प्रेमाभक्ति के सैद्धान्तिक विवेचन में शैली भी रीतिकाल की ही स्वीकार की गयी है। रूपरसिक देव द्वारा सम्पादित युगल-शतक तथा महावाणी में दोहों में लक्षण एवं पदों में उसकी निवृत्ति की गयी है। चैतन्य-मतानुयायी ब्रह्मगोपाल की हरिलीला का भी क्रम यही है। जहाँ पर यह शैली नहीं भी स्वीकार की गयी, वहाँ सिद्धान्त-कथन

अलग से किया गया है। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भक्ति का वह तीव्र आवेग कम पड़ने लगा था, जिसकी शक्ति के कारण भक्तिकाल के कवि को सिद्धान्त-कथन में अपनी शक्ति नष्ट नहीं करनी पड़ी थी।

(6) भक्ति के आवेग की शिथिलता का एक और प्रमाण दिया जा सकता है। गुरु का महत्त्व भक्तिकाल में भी बहुत था। गोविन्द से बड़ा गुरु को मान लिया गया था, परन्तु पूरी गुरु-परम्परा को लेकर सहस्रशः पदों में उसकी स्तुति, प्रशंसा या बधाई गाने की परम्परा भक्तिकाल में हमें उपलब्ध नहीं होती। 17वीं शती के प्रारम्भ में हरि राम व्यास इत्यादि ने जब अपने गुरु की प्रशंसा की थी, तब बधाइयों का यह अतिरेक नहीं था। इसके अतिरिक्त हरिदास या हित हरिवंश अपने समय के श्रेष्ठतम महात्मा थे एवं उनके विराट् व्यक्तित्व को श्रद्धा मिलनी स्वाभाविक थी, परन्तु 18वीं शती के कवियों में 'गुरु मंगल आचार्य यश' अथवा 'बधाइयों' का ढेर लग जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि स्वयं की सामर्थ्य की अपेक्षा उन्हें पूर्वजों की गरिमा पर अधिक विश्वास था और वही उनका प्रेरणा-स्रोत था। इस प्रसंग में सूरदास के सम्बन्ध में कही जाने वाली वह कथा याद हो आती है जिसमें मृत्यु-समय उनसे कहा गया था कि तुमने लाखों पद गाये पर वल्लभाचार्य जी का गुणगान किसी पद में नहीं किया। सूरदास ने 'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो' पद बनाकर सुना तो दिया, पर उनका उत्तर उनकी शक्ति का बड़ा प्रमाण है। सूरदास ने कहा था कि इन लाखों पदों में गुरु की ही स्तुति तो मैंने की है। सचमुच शिष्य की सबसे बड़ी श्रद्धा यही है कि गुरु का सन्देश अपनी रचना-शक्ति से आगे बढ़ाये। अस्तु, आलोच्य-युग में यह रचनाशीलता क्षीण होने लगती है और गुरुवचन की अपेक्षा गुरु के व्यक्तित्व का गान अधिक होने लगता है। आधुनिक भाषा में यह एक प्रकार का 'पर्सनैलिटी कल्ट' है।

(7) भक्तिकालीन काव्य एवं हमारे आलोच्य काव्य के मध्य धीरे-धीरे एक अन्तराल और बढ़ता गया है। प्रस्तुत काव्य में अभिव्यंजना को अधिक अलंकृत करने की चेष्टा हुई है। बृन्दाबन देव, गोविन्द देव, मनोहर दास, पीताम्बर देव, रूपरसिक देव आदि अधिकांश कवि अलंकृति के प्रति आकर्षित प्रतीत होते हैं। इसे हम समसामयिक कलायुग का प्रभाव मान सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह प्रवृत्ति सूचित करती है कि अनुमति का वेग मन्द पड़ने लगा था और इस अनुभूति की अशक्ति को कला-सज्जा के आवरण में छिपाया जाने लगा था। इस तमाम काव्य के मध्य हरिदासीय ललित किशोरी का काव्य अपनी अलंकरणहीनता एवं आवेगात्मकता में अपवाद ज्ञात होता है तथा घनानन्द का काव्य अनुभूति और अभिव्यंजना के मणिकांचन संयोग में अद्वितीय।

समसामयिक रीतिकाव्य से 18वीं शती के प्रेमाभक्ति-काव्य की तुलना

पूर्ववर्ती भक्तिकाव्य में तुलना करते समय हमने रीतिकाव्य के साथ इसकी समानता इंगित की थी। वस्तुतः इन दोनों प्रकार की रचनाओं के मध्य इतनी समानता है कि तनिक भी असावधानी उनके रहे-सहे अन्तर को मिटा देती है। इसके पूर्व कि हम इस सम्बन्ध में और कोई स्थापना करें, इन दोनों काव्यों के कुछ समानता सूचक अंश उपस्थित कर देना उचित रहेगा—

(1) *प्यारी तू कमनैती कित पढ़ी।*
बिन ही पनचि बेसि हिय डारैं भौंह रहत नित चढ़ी।

(रूपरसिक देव, नि. वि. पदावली, 39)

तुलनीय

तिय कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिहि भौंह कमान।
चल चित बेझैं चुकति नहिं बंक बिलोकनि-बान।।

(बिहारी सतसई, 356)

(2) *अनौखे बैंनी गूंथन हार।*
लागे नीर चुचांन पुलक तन नीठि सुकाये वार।

(रूपरसिक देव, नि. वि. पदावली, 42)

तुलनीय

रहो, गुह्यौ बेनि लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान, जे नीठि सुकाए बार।।

(बिहारी सतसई, रत्नाकर, 480)

(3) *लाल उर बसी उर बसी प्यारी।*
मनि भूषन कौं धरत उतारी एउ कबहूं नहि न्यारी।

(रूपरसिक देव, नि. वि. पदावली, 43)

तुलनीय

तौ पर बारौ सरवसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी है उरबसी समान।

(बिहारी सतसई, रत्नाकर, 25)

(4) *सुकुमार-सिवार से मरकत तार से, कज्जल-सार में बार-*
निकारि सुकावति बाला।
मार के जार, सिगार के चौर से,
एड़ी दिएं पुनि ऐसे विशाला।
स्यामघन तै मनौं निकसे,
मुख चन्द दिये तन दामिनी माला।

बृन्दाबन प्रभु ओट भए लखि,
पाँनि परी सुत नन्द के लाला

(बृन्दाबन देव, गीतामृत गंगा, 4/88)

तुलनीय

सुन्दर सुढार मुख सर के सिवार किधौ
राजत सिंगार के चमर निरधार हैं।
मोहन मयूर पखवान कि जमुन चारु,
दीरघ अपार कि फनिंद परवार हैं।
सोमनाथ सहज सुगन्ध सुकवार छके
नन्द के कुमार री निहार इक बार है।
तिमिर के तार हैं बसीकर हार हैं,
काम करतान हैं कि प्यारी तेरे बार हैं।

(सोमनाथ, स्फुट कविता छन्द, 50)

अथवा

भौंर-चौंर सवाल तम जमुना को जल मेह
मोर पच्छ सम बरनिए केसव सहित सनेह।

(केशवदास, कवि प्रिया)

ये अंश वस्तुचित्रण एवं भावगत एकता के सूचक हैं। इसी प्रकार उपमानों के क्षेत्र में अत्यधिक समानता मिल जायेगी। देव कवि ने 'दूध के उफान' का व्यापार एक स्थान पर उपमान के रूप में रखा है :

पायों न सिरावन सलिल-छिमा छींटन सों,
दुध सों जनम बिन जाने उफनायगो।

(देव, ब्रजमाधुरी सार, पृ. 309 पर संगृहीत)

अथवा

माखन सौंतन दूध सौं यौवन, दधि सों अधिकै उमगै ईठी—

बृन्दाबन देव ने इसी उपमान का प्रयोग एक-दूसरे स्थल पर किया है, जो कि प्रशंसान्तर के कारण दोनों स्थानों पर उपमान अलग-अलग सौन्दर्य की व्यंजनाएँ करता है। मानवती नायिका से दूती कहती है कि अधिक देर तक मान न करना चाहिए : उसके अनुसार—

दूध को उफान ऐसी मान कीजै भामिनी

(गीतामृत गंगा, 6 I5)

ये कुछ अंश अनायास ही कविताओं से उठा लिये गये हैं, परन्तु यदि प्रयासपूर्वक समान अंश ढूँढ़े जायें तो भाव, भाषा, औपम्य-विधान एवं शिल्प की प्रभूत समानताएँ मिलेंगी। केवल यदि छन्द-रूपों को लिया जाये तो प्रेमाभक्त-कवियों में पदों के साथ

ही कवित्त, सवैया, रोला, दोहा, सोरठा, चौपाई, पद्धरी, अरिल्ल, छप्पय आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें भी दोहा इन कवियों का अत्यधिक प्रिय छन्द है। पीछे इसी अध्याय में हम देख चुके हैं कि प्रेमाभक्ति के कवियों के काव्य में नायक-नायिकाभेद के उदाहरण भी मिल जाते हैं। यह नायिका-भेद उज्ज्वल-नीलमणि के अनुकरण पर न होकर काव्य-शास्त्र के अनुकरण पर है। इतना अवश्य है कि यत्नपूर्वक इन भेदों-प्रभेदों के उदाहरण उन्होंने उपस्थित नहीं करने चाहे हैं।

इतनी समानताओं के होते हुए भी एक बड़ा अन्तर भी मिल जायेगा। हम इस अन्तर पर प्रकाश डालने के पूर्व कुछ अन्य तथ्य उपस्थित कर रहे हैं–

(1) प्रस्तुत प्रबन्ध में ही शुद्ध प्रेमाभक्ति के अस्सी से अधिक कवियों का परिचय दिया गया है, जबकि हिन्दी-साहित्य के बृहत् इतिहास (पृष्ठ भाग, नागरी प्रचारिणी सभा) में रीति-कवियों की संख्या केवल पचासी ही है। स्मरणीय यह है कि प्रबन्ध का आलोच्य काल केवल सौ वर्षों का ही है, जबकि इतिहास में दो शताब्दियों के कवियों पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त भक्त-कवियों के साहित्य की साम्प्रदायिक गोपनीयता और रूढ़िवादिता के कारण अनुपलब्ध रीति कवियों के समान राज्याश्रम के अभाव के फलस्वरूप दरबारी पुस्तकालयों की सुरक्षा के अभाव में कृतित्व की विनष्टि ने न मालूम कितने कवियों को प्रकाश में ही नहीं आने दिया। अन्तिम बात है कि जहाँ प्रेमाभक्ति सम्बन्धी शोधकार्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है एवं जिसकी सीमाओं से यह प्रबन्ध भी परे नहीं है, वहीं यह इतिहास अद्यतन खोज की चरम परिणति और विश्वास के साथ सामने आता है।

(2) कवियों की संख्या ही नहीं कवियों की रचना का परिमाण भी रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। पृथक्-पृथक् भी कवियों ने प्रभूत साहित्य का सृजन किया है। अनन्यअली, रसिकदास, हित रूपलाल, नागरीदास, आनन्दघन, रूपरसिक देव जैसे कवियों की रचनाओं की संख्या काफी बड़ी है। सम्मिलित रूप से भी इस साहित्य का योग सम्पूर्ण रीतिकाल के कवियों से अधिक ही सिद्ध होगा।

इन तथ्यों से दो निष्कर्ष बिना किसी विवाद के सामने आ जाते हैं–(1) अधिकांश भक्तजन कवि भी थे तथा (2) इन कवियों के सम्मुख अभिव्यक्ति-संयम का कोई अनुशासन नहीं था। इन दोनों बातों की ही विवेचना उचित होगी–

(1) अधिकांश भक्तकवि थे–भक्ति के क्षेत्र में लीला-दर्शन चरम साध्य है। इसके लिए जिस साधना-मार्ग को स्वीकार किया गया है, उसमें लीला-गान अत्यन्त सहायक होता है। वल्लभ, सखी, चैतन्य, राधावल्लभीय, निम्बार्क आदि सभी सम्प्रदायों में कीर्तन एवं संगीत का पूजा-विधि एवं सेवा-प्रणाली में महत्त्वपूर्ण स्थान है। परिणामस्वरूप भक्त के चारों ओर एक ऐसा वातावरण बना रहता है जिसके कारण उसे भी काव्य-रचना के लिए प्रेरणा और उत्साह रहता है। इसके अतिरिक्त काव्य-सृजन-प्रकिया में उसे युगलरूप या अन्य उपासना-सम्बन्धी तथ्यों का भावन

भी करना होता होगा। ऐसी स्थिति में भक्तकवि को अपनी रहस्यानुभूति में सहायता भी मिलती होगी। काव्य-रचना से लीला-गान ही नहीं होता, लीला-ध्यान भी हो जाता है। अतः काव्य साधन हो जाता है एवं रहस्यानुभूति साध्य। सूफ़ियों के बारे में भी कहा गया है कि प्रत्येक सूफ़ी विचारक कवि था।[166] यही बात वैष्णव-भक्त के लिए भी कही जा सकती है, परन्तु रीति-कवि इसी स्थल पर एक भिन्न भूमि पर खड़ा दिखाई देता है। उसके सामने रचना करने की न तो ऐसी कोई तात्कालिक प्रेरणा ही थी कि प्रतिभा हो या न हो पर कुछ पद लिखे ही जायें और न किसी मानसिक साधना में ही उसे सहायता लेनी थी। परिणामस्वरूप रीति-कवि वे ही जन हैं जिनमें प्रतिभा का कुछ-न-कुछ विलास अवश्य था। इसके अतिरिक्त रीति-कवि के सामने अभिव्यक्ति के अनुशासन की समस्या थी। उसे ऐसी बात कहनी थी, जिसे 'समझवार सराहें' एवं 'सुकवि रीझें'। पर भक्तकवि के सम्मुख श्रोता-समाज या पाठक-समाज का ऐसा तनिक भी बन्धन नहीं था। वह मनचाहे ढंग से टूटती लय एवं बिखरते शब्दों में भी अपनी बात कह सकता था। प्रशंसा उसे कवि-रूप में अर्जित करनी नहीं थी, जीविका का साधन वह थी नहीं। ऐसी स्थिति में अभिव्यक्ति सँवारने-सजाने का काम करने को उसे कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

इन तथ्यों का परिणाम यह हुआ कि जहाँ रीति-कवि एवं कविताओं की संख्या कम है, वही काव्य-कला की दृष्टि से वे अधिक समृद्ध हैं। प्रेमाभक्ति का एक सामान्य कवि रीति काव्य के सामान्य कवि की अपेक्षा इसी कारण काव्य-कला की कसौटी पर हीन उतरता है। घनानन्द जैसे अपवादों की बात को अलग ही रखना चाहिए।

ऐसी अवस्था में एक प्रश्न उठता है कि फिर रीतिकाल के अलंकरण आदि के प्रभाव कैसे आ गये? इसका सहज ही उत्तर है कि एक तो वे तत्त्व समस्त वातावरण में व्याप्त थे, दूसरे प्रेमाभक्ति के भी अच्छे कवि रीतिकाल के अच्छे कवियों के कुछ सम्पर्क में आते ही रहते थे। किशनगढ़, जयपुर, जोधपुर के दरबारों पर बृन्दाबन देव का प्रभाव था। वृन्द, राजसिंह, ब्रजदासी, सुन्दरि कुँवरि जैसे कवि उनके निकट सम्पर्क में थे। बिहारी नरहरि देव के सम्पर्क में आये थे। घनानन्द नागरीदास तो दरबारों से सम्बन्धित या दरबारों के स्वामी रहे हैं। फिर रीतिकाल के कवि स्वयं जब भक्तिपरक रचनाएँ करते थे तो उनकी कलागत सचेष्टता स्वभावतः आ जाती होगी। कभी-कभी भक्तों ने ऐहिक काव्य को स्वयं पारमार्थिक अर्थ में भी ग्रहण किया (चैतन्य महाप्रभु, विद्यापति एवं जयदेव की रचना के गहरे समर्थक थे)। इस प्रकार के आदान-प्रदानों ने पारस्परिक प्रभावों को गति दी होगी।

ऊपर विवेचित अन्तरों में दोनों प्रकार के काव्यों के मूल स्वरों का अन्तर समझना समझदार पाठक के लिए कठिन न होगा। एक के मूल में साधनानुभूति का स्वर है एवं दूसरे की जड़ में काव्यानुभूति। यों नकली सिक्कों की कमी दोनों

ही क्षेत्रों में नहीं है, उनसे सावधान रहने की आवश्यकता है और व्युत्पन्न पाठक में ऐसी सावधानता की अपेक्षा सदा की जाती है।

अभिव्यंजना के क्षेत्र में रीतिकाल ने इन कवियों को यदि कुछ प्रदान किया है तो इनसे ग्रहण भी कम नहीं किया है। लीलागान की दोनों परम्पराओं ब्रज-लीला एवं निकुंज लीला की समस्त स्थितियों, दृश्यों, घटनाओं के ऊपरी स्वरूप को राधाकृष्ण के नाम के साथ ही रीतिकालीन कवियों ने प्रेमाभक्ति के कवियों से ले लिया है। मूल दार्शनिक दृष्टि उन्होंने छोड़ दी थी एवं उन लीलाओं को अपने लौकिक शृंगारपरक अर्थों की ओर उन्होंने मोड़ लिया था। इस परिणति का एक शुभ प्रभाव भी हुआ कि रीतिकाल का काव्य उन्हीं लीला को चित्रित करते हुए भी भक्तिकाल से एक भिन्न रसात्मक स्तर पर प्रतिष्ठित दिखाई देता है, जबकि प्रेमाभक्ति का साहित्य उसी स्तर पर पूर्ववर्ती भक्ति की अपेक्षा नीचे स्तर पर उतर आता है।

परन्तु इससे इस प्रेमाभक्ति-काव्य का महत्त्व तनिक भी कम नहीं होता। प्रारम्भिक भक्तों एवं रीति-कवियों की मध्यवर्ती कड़ी ये कवि हैं। भक्तिकाल की परिणति रीतिकाल में होती है, यह बात हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में बहुधा कही गयी है, परन्तु इस विकास की प्रक्रिया क्या रही है, इसे स्पष्ट करने के उपयुक्त प्रयासों का कुछ अभाव-सा दृष्टिगोचर होता है। इससे यह धारणा बन जाती है कि सूरदास, तुलसीदास, कबीर या मीरा का काव्य ही देव, प्रताप साहि या भिखारीदास में परिणत हो गया था, पर वास्तव में भक्तिकाल के पर्यायवाची समझे जाने वाले कवियों एवं रीति कवियों की मध्यवर्ती कड़ी प्रेमाभक्ति की माधुर्योपासना वाले ये विविध सम्प्रदाय हैं। इन्हीं सम्प्रदायों की विविध लीला-परम्पराएँ आपस में टकराकर घुलती-मिलती रही हैं। और उन्हीं का समन्वित रूप 18वीं शती तक आते-आते उभर ही नहीं पाता, जनप्रिय भी हो जाता है। प्रेमाभक्ति के सम्प्रदायों का प्रचार-प्रसार होता है तथा दूसरी ओर युगल-लीलाओं अथवा ब्रज-लीलाओं के तत्त्व-दर्शन को प्रत्येक व्यक्ति न तो समझ पाता है और न वैसी मानसिक साधना ही कर पाता है जिसमें यह समस्त अभिव्यक्तियाँ लौकिक काम से ऊपर उठ जाती हैं।

इस स्थिति में राधा-कृष्ण का स्थूल रूप एवं भक्ति-भाव दोनों ही जनमानस में एक साथ चलते रहते हैं। लोक-मानस ऐसे विरोधाभासों को लिए बहुधा आगे बढ़ता रहता है। इस प्रकार धर्म-साधना एवं लीला-गान एक विकास-प्रक्रिया से होकर आगे बढ़ता है एवं इस प्रक्रिया का जब अन्य सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से संयोग होता है तो अपने ढंग का एक अपूर्व कलात्मक रंगीन काव्य रीतिकालीन काव्य के रूप में प्रादुर्भूत होता है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह साहित्य रीतिकाव्य को अपनी कतिपय विशेषताएँ समर्पित कर निःशेष हो जाता है बल्कि जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, वह रीतिकाव्य से स्वयं भी प्रभाव गहराकर समानान्तर गति से आगे बढ़ता

है। 18वीं शती के उत्तरार्द्ध में भक्ति के ये विविध सम्प्रदाय एक बार पुनः संगठित होकर पुनरुत्थान का प्रयास करते हैं। ललितकिशोरी देव रूपरसिक देव, विश्वनाथ चक्रवर्ती, गो. हरिराय वंशी अलि जी, चरणदास, बारन अली आदि भक्त और कवि विघटित होती हुई भक्ति-भावना सम्प्रदायों के पुनः संघटन का प्रयास करते हैं। यह पुनरुत्थान 19वीं शती के मध्य भाग तक विशेष गतिशील रहा। राम-सम्प्रदाय की रसिक शाखा इसी काल में फलती-फूलती है—परन्तु 19वीं शती के उत्तरार्द्ध से नये युग की परिस्थितियों से टकराकर यह पुनरुत्थान भी समाप्त हो जाता है। वस्तुतः मध्यकालीन धर्म-भावना की यह अन्तिम लौ थी और 19वीं शती के समाज की नयी शक्तियों ने सबसे पहले इसी को समाप्त करने की चेष्टा की। ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन प्रेमाभक्ति की मूल आत्मा के निकट कहीं से भी न थे। विकृतियों से भरी पतनोन्मुख सामन्ती व्यवस्था ने इस प्रेमाभक्ति के स्वरूप को भी इतना अधिक विकृत अथवा स्वाभाविक सीमाओं से दूर हटा दिया था कि स्वस्थ जीवन एवं पुष्ट धर्मचेतना के लिए इनको हटाना आवश्यक हो गया था। यों प्रवाहपतित जल की भाँति आज भी इस परम्परा में साधना और काव्य-रचना हो रही है पर स्पष्ट है कि वह जीवन्त प्रवहमान स्रोतस्विनी नहीं है।

सन्दर्भ

1. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ. 528-538
2. वही, पृ. 596-606
3. दे. प्रस्तुत प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय।
4. राम-सीता के रूप में ऐश्वर्य की भावना का मिश्रण अवश्य है, पर वह मुख्य नहीं है। इसके अतिरिक्त ऐश्वर्य की इस समाविष्टि के कारण की चर्चा हम चतुर्थ अध्याय में कर चुके हैं।
5. दे. चतुर्थ अध्याय।
6. बिहारी सतसई, 238 (रत्नाकर)।
7. बालअली : नेह प्रकाश (रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना में संगृहीत अंश से, पृ. 206)
8. प्रेम सखी : सीताराम नख-शिख वर्णन (रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना के संग्रह, पृ. 402 से)
9. पीताम्बरदेव की बानी, पृ. 68 (ह.लि. प्रति)।
10. अनन्य अली की वाणी : भोरता लीला (ह.लि.प्र.)।
11. अष्टाचार्यों की वाणी : नरहरिदेव की बानी, शृंगार रस के पद, 3
12. वही, सिद्धान्त के पद, 1
13. मनोहरदास : राधारमण रस सागर : 11
14. रामोपासक राम सखे इत्यादि में यत्र-तत्र राम का रूप-वर्णन मिल जाता है। पर राम सखे सख्य-भक्ति के उपासक थे, यह हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं। अतः उन चित्रणों को नित्य-विहारोपासकों के साथ मिलाना उचित न रहेगा।
15. श्री फल कंचन गिरि किधैं कुन्दन कलस अनूप।
    उपमां सब फिसली परें सुनि ले इनको रूप।। —अनन्य अली की वाणी (ह. लि. प्र.)।

16. (क) कुटिल लंब कल चीकने घने मिही महकान।
बार बार बर देत प्रिय बार बार निज प्रान।।
(ख) कहा अनंगी धनुष सम भूमंगी नव बाल।
जाकी भंगी मैं नचत नवल त्रिभंगीलाल।। —रसिकदास : सौन्दर्यलता।
(ग) मंगल आरति करत किशोर,
दीप दृगन करि चरन ङंडवत, चित्र जानकी रहिमन ठौर।
—पीताम्बर देव की बानी, पद 42

17. तोसी तुही हरिदास दुलारी,
तेरी सरिहू जौनहिं कोऊ तेरे रस वस कुंज बिहारी।
तेरो रूप कहत नहिं आवै तैसीये तेरी प्रीति महारी।
तैसी ये ललित केलि सुवैरासी रसिक सिरोमनि प्रान अधारी।।
—ललित किशोर देव : सिद्धान्त के पद, 68

18. बाल अली : नेह प्रकाश।

19. नैन अनियारे तारे पुंडरीक पान सारे
पुतरनि पे द्विरेफमन वारे है।
कछु कजरारे, सील सागर सुधा सुधारे
बरुनी विशाल धारे जोर छोरवारे हैं।
दीन पै सनेह वारे प्रीतम के प्रान प्यारे
उपमा न पावत विरंचि रचि हारे हैं।
मीन मृग खंजन बनाये विधि प्रेम सखी
वारि वन व्योम बसे लज्जित विचारे हैं। —प्रेम सखी : सीताराम नखशिख वर्णन।

20. रूपरसिक देव : नित्य विहार पदावली, 56
21. घनानन्द : सुजान हित, 18। —घनानन्द ग्रन्थावली, पृ. 8
22. प्रेम सखी : सीताराम नखशिख वर्णन।
23. रूपरसिकदेव : नित्य विहार पदावली, 50, 51, 53।
24. रसिकदास : सौन्दर्य लता। 2
25. वही, 5
26. वही, 6
27. बाल अली : नेह प्रकाश।
28. रसिकदेव : रस के पद 22। —अष्टाचार्यों की बानी, ह. लि. प्रति।
29. पीताम्बरदेव की बानी, पद 33
30. रामसखे : जानकी नौ रत्न माणिक्य।
—राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना में संगृहीत, पृ. 323
31. ललित किशोरीदेव : साखी।
32. रसिकदास : श्री राधा विपिनेश्वरी को परत्व। —ह. लि. प्रति, पृ. 93

33. (क) ज्यों जल और तरंग है त्यों पिय प्यारी रूप।
पूर्ण प्रेम माधुर्य मय श्री वृन्दावन भूप।। —गो. रूपलाल : रस रत्नाकर (ह. लि. प्रति)।
(ख) तू सिय पिय के रंग रंगी रंगे पीव तव रंग।
रहे अली इक रूप ह्वै जल मिले तरंग।। —बालअली : नेह प्रकाश।

34. महावाणी, सेवासुख, पद संख्या 9, पृ. 26
35. गो. रूपलाल : रस रत्नाकर (ह. लि. प्रति)।
36. ब्रह्मगोपाल : हरिलीला, दोहा 4, पृ. 3
37. (क) मंगल आरति करत किसोर
दीप दृगन करि चरन डंडवत चित्र जावकी रहि मन ठौर। —पीताम्बर देव, पद 42
(ख) करत कवनीय किशोर कुंवर वर नीराजन नैननि सों।
—रूपरसिकदेव : नि. वि. पदावली, 69
38. रूपरसिक देव : नि. वि. पदावली, 54
39. प्रियादास : रसिक मोहनी, दोहा 23
40. रसिकदास : सौन्दर्यलता।
41. बालअली : नेह प्रकाश, रामजी के वचन सीताजी के प्रति।
42. ललितकिशोरी देव की बानी, साखी।
43. राम सखे : पदावली। —भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' : रा. भ. म. उ. में संगृहीत, पृ. 325
44. रूपरसिकदेव : नि. वि. पदावली, पद 50
45. वही, लीला विंशति 'प्रेम मंजरी' 5
46. स्वामी नरहरि देव : रस के पद 6। —अष्टाचार्यों की बानी।
47. ललित किशोरी देव : साखी 138
48. वही, 139
49. ललित किशोरी देव : साखी 140
50. बालअली : नेह प्रकाश।
51. विश्वनाथ कविराज : साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक 187
52. वही, 3। 198
53. विश्वनाथ कविराज : साहित्य दर्पण, 3। 199
54. वही, 3। 198
55. स्वामी रसिकदेव (हरिदासी सम्प्रदाय) : सिंगार रस के पद, सं. 13, (अष्टाचार्यों की वाणी)।
56. स्वा. रसिकदेव : सिंगार रस के पद, 14 (अष्टचार्यों की वाणी)।
57. साहित्य दर्पण, 3। 201
58. नरहरिदेव : पद 8 (अष्टाचार्यों की वाणी)।
59. रसिकदास : अष्टक 7 (ह. लि. प्रति, पत्र 26)।
60. रूपरसिकदेव : नि. वि. पदा., 29
61. परसन को कर तरसहीं दरसन दृग चपलाइ।
होड़ परी भुज नैन सो लम्पट अति तरलाइ।।
—अनन्य अली की वाणी (डॉ. विजयेन्द्र स्नातक द्वारा राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य में पृ. 493 पर उद्धृत)।
62. रूपरसिकदेव : लीला विंशति, फूल विलास, 7
63. ब्रह्मगोपाल : हरिलीला, 9
64. बाल अली : नेह प्रकाश, प्रेम विलास।
65. स्व. रसिकदेव : सिंगार रस के पद, 3
66. रूपरसिकदेव : नि. वि. पदावली, 67
67. रसिकदास : कीर्तन संग्रह, भाग 3, पृ. 261

68. रूपरसिकदेव : नि. वि. पदा., 35
69. स्वा. रसिकदेव : सिंगार रस के पद, 7
70. स्वा. नरहरिदेव : शृंगार रस के पद, 2
71. पीताम्बरदेव : परमोज्ज्वल शृंगार रस की साखी, 5
72. राम सखे : पदावली (रा.भ.सा.म.उ., पृ. 325)।
73. सखियाँ सेज-रचना करके राधा से अनुरोध कर रही हैं–
निज करि सेज सँवारी पचि पचि,
पौढ़िये जू प्यारी बलि जाऊँ।
सुमन सुमन विचि रचि-रचि पचि-पचि,
सुभग वे सारी बलि जाऊँ।
सौरभ-सनी धनी धन हित,
चित दै चतुरारी बलि जाऊँ।
रूपरसिक सुख बिलसहु हुलसहु,
हों वलि बलिहारी जाऊँ। –रूपरसिकदेव : नि. वि. पदावली, 64
74. पीताम्बरदेव : पद 51
75. पीताम्बरदेव : पद 39
76. प्रेम सखी : सीताराम नखशिख वर्णन। –रा.भ.म.उ., पृ. 402
77. पीताम्बर देव : परमोज्ज्वल शृंगार रस की साखी, 10
78. ललित किशोरी देव : साखी 88, 222, 277
79. शीर्षक हमने ब्रजलीला नायक दिया है, पर इसके अन्तर्गत हम विवेचना के लिए रामभक्ति-साहित्य की भी वे रचनाएँ ले रहे हैं जो शुद्ध नित्यविहारोपासना या तत्सुखी शाखा से भिन्न हैं। इसे आवरण-लीला भी कहा जा सकता है।
80. चतुर्थ अध्याय में इन बातों का हम विस्तार से विवेचन कर चुके हैं।
81. वृन्दावन देव : गीतामृत गंगा, 4। 66
82. मनोहर दास : राधारमण रस सागर, सं. 11
83. देव : वृज माधुरी सार, पृ. 102
84. वृन्दावन देव : गीतामृत गंगा, 4। 66
85. सोमनाथ : रास पंचाध्ययी, छन्द 95, पृ. 41
86. बिहारी लाल : सतसई, सं. 302 (बिहारी रत्नाकर, ग्रन्थागार, बनारस)।
87. मतिराम, रसराज, छन्द 410
88. वृन्दावन देव : गीतामृत गंगा, 2। 22
89. वही, 4। 66
90. वृन्दावन देव : गीतामृत गंगा, 4। 88
91. सोमनाथ रत्नावली, स्फुट छन्द, सं. 50
92. वृन्दावन देव : गीतामृत गंगा, 4। 31
93. घनानन्द : प्रकीर्णक, सं. 2
94. घनानन्द : आनन्द पदावली, 167
95. नागरी दास : निम्बार्क माधुरी, पृ. 621 पर उद्धृत।
96. बणीठणी जी (रसिक बिहारी), निम्बार्क माधुरी, पृ. 604 पर उद्धृत।
97. मनोहरदास : राधारमण रस सागर, छन्द सं. 19

98. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, 8 । 37
99. मतिराम : रसराज, 78
100. नागरीदास : निम्बार्क माधुरी, पृ. 620 पर उद्धृत।
101. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, 2 । 10
102. रसराज, 60
103. ब्रजमाधुरी सार, पृ. 312, छन्द 32
104. घनानन्द : प्रकीर्णक, 13 । 6
105. सोमनाथ रत्नावली, स्फुट, 34
106. भक्ति सागर, पृ. 500
107. राधारमण रससागर, छन्द 25
108. गीतामृत गंगा, 3 ।5
109. वही, 3 । 7
110. वही, 3 । 12
111. गीतामृत गंगा, 3 । 33
112. दानलीला वर्णन : भक्ति सागर, पृ. 486-489
113. चरणदास : भक्ति सागर, पृ. 488
114. राम सखे : जानकी नौरत्न माणिक्य (रा.भ.म.उ., पृ. 323 पर संगृहीत)।
115. मनोहरदास : राधारमण रस सागर, स. 25
116. सोमनाथ : रास पंचाध्यायी, पृ. 37
117. बिहारी रत्नाकर, दोहा 291
118. नागरीदास : निम्बार्क माधुरी, पृ. 620
119. श्रीमद्भागवत्, 10 । 33 । 23-25
120. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, 5 । 16
121. जगन्नाथ कविराय : कीर्तन संग्रह भाग 2, पृ. 45
122. बनीठनीजी (रसिक बिहारी), निम्बार्क माधुरी का संग्रह, पृ. 604
123. गोपिन की ससक कसक जौ न आई मन, रसिक कहाए कहा रस कहू ओरई। —प्रकीर्णक, 31
124. विश्वनाथ कविराज : साहित्य दर्पण, 3 । 188
125. घनानन्द : सुजान हित, 2
126. सोमनाथ रत्नावली, स्फुट 36
127. गीतामृत गंगा, 8 । 58
128. बिहारी-रत्नाकर, 292
129. चंदसखी के भजन और लोक गीत (प्रभुदयाल मीतल), 129, पृ. 45
130. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा 6 । 5
131. वही, 6 । 16
132. गो. हरिराय : (रसिकराम), कीर्तन संग्रह, तीसरा भाग, पृ. 208
133. उ. नी. म., पृ. 548
134. सुजान हित 104 (घन आनन्द ग्रन्थावली)।
135. बृन्दाबन देव : गीतामृत गंगा, 8 ।49
136. चन्द्रसखी और उनका काव्य (सम्पादिका : पद्मावती शबनम), पृ. 46-47
137. ब्रजमाधुरी सार, पृ. 202

138. श्री सर्वेश्वर में नागर समुच्चय से संकलित (वर्ष 3, अंक 12 सं. 1012 वि.)।
139. चरणदास : शब्द वर्णन, भक्ति सागर ग्रन्थ, पृ. 358
140. नागरीदास : ब्रज-माधुरी-सार, पृ. 202
141. गीतामृत-गंगा, 1।22
142. गीतामृत गंगा, 1।28
143. पद्मावती शबनम् : चन्द्रसखी और उनका काव्य, पृ. 10
144. आर.ए. निकल्सन : दि मिस्टिक्स ऑफ इस्लाम, पृ. 102
145. नागरीदास : ब्रज माधुरी सार, पृ. 190-191
146. कीर्तन संग्रह, भाग 3, पृ. 257-258 आदि।
147. वही, पृ. 259
148. कीर्तन संग्रह, भाग 3, पृ. 259
149. वही, पृ. 257
150. डॉ. संसारचन्द्र : हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति, पृ. 69
151. देखिये द्वितीय अध्याय, शान्त-भक्ति-विवेचन, पृ. 104-107
152. साखी, सुन्दर विलास, काल चितानी को अंग, छन्द 15
153. सहजोवाई की बानी, पृ. 43
154. गुलाल साहव, कल्याण सन्तवाणी अंक, पृ. 226
155. सन्त काव्य, पृ. 375
156. वही, पृ. 374
157. वही, पृ. 376
158. चरणदास : ब्रह्मज्ञान सागर वर्णन (भक्तिसागर) पृ. 311
159. साखी आत्मानुभव को अंग, 1 और 10
160. केशवदास : अमीघूंट, पृ. 4
161. दयाबाई : कल्याण, सन्तवाणी अंक, पृ. 271
162. सन्तकाव्य, पृ. 377
163. सुन्दर विलास : पतिव्रत को अंग, 1
164. धरनीदास : सन्त काव्य, पृ. 401
165. कल्याण, सन्तवाणी अंक, पृ. 233
166. हादी हसन : स्टडीज इन पर्शियन लिटरेचर, पृ. 39

उपसंहार

18वीं शती के ब्रजभाषा के प्रेमाभक्ति-काव्य का अध्ययन करने के उपरान्त कतिपय बातें हमारे सम्मुख अत्यन्त स्पष्ट रूप में उभरकर आ जाती हैं। उन्हें संक्षेप में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है–

(1) भाव की दृष्टि से प्रेमाभक्ति को पाँच प्रमुख भक्ति-भावों–शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर में विभाजित किया जा सकता है। इनमें भी 18वीं शती के साहित्य में प्रधानता शान्त, दास्य एवं शृंगार की ही है।

(2) लीला की दृष्टि से 18वीं शती के ब्रजभाषा के प्रेमाभक्ति-साहित्य में तीन परम्पराओं की स्पष्ट स्थिति देखी जा सकती है–

(क) ब्रज-लीला (आवरण-लीला)

इस लीला-प्रकार में समस्त शास्त्रपुराणादि-वर्णित कृष्ण-चरित्र की घटनाएँ एवं अभिव्यक्तियाँ स्वीकार की गयी हैं। काव्य-चित्रण की दृष्टि से इस लीला की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(एक) इसमें कृष्ण के रूप-चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

(दो) इस परम्परा के काव्य-चित्रों के अनुसार कृष्ण बहु-वल्लभापति हैं।

(तीन) इस काव्य में मिलन-प्रसंगों में आवश्यक रूप से राधा का ही वर्णन नहीं किया जाता। जहाँ पर राधिका-चित्रण की ओर ध्यान भी है, वहाँ उनका रूप परकीया नायिका का अधिक है और स्वकीया पत्नी का गृहस्थ-रूप विरलता से ही उपलब्ध होता है।

(चार) ब्रज-लीला-काव्य में परकीया-भाव को बहुमान प्राप्त हुआ है।

(पाँच) ब्रज-लीला में विरह, पूर्वराग, मान प्रवास एवं प्रेम वैचित्य–इन सभी की स्वीकृति है। वास्तव में विरह-तत्त्व का चूड़ान्त रूप ब्रज-लीलाओं में है।

(छह) ब्रज-लीला में प्रेम का आदर्श गोपी-प्रेम है। इस प्रकार मधुर-भाव

के क्षेत्र में भी यह लीला गोपी-भाव पर अधिक बल देती है। इसी कारण इस परम्परा के काव्य में गोपी-भाव की अभिव्यक्ति नाना प्रकार से हुई है।

(सात) गोपी-भाव में भगवान के प्रति प्रत्यक्ष कान्ता जैसा प्रेम निवेदित किया जाता है। रामोपासकों की रसिक शाखा का स्वसुखी भाव गोपी-प्रेम का ही प्रतिरूप है। कृष्ण या राम को कान्ता रूप से पाने की अभिलाषा इस साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्रकट हुई है।

(आठ) इन आवरण या ब्रज-लीलाओं में उद्धव, हनुमान, सुबल, अर्जुन, नन्द-यशोदा, दशरथ-कौशल्या आदि के भावों का अनुगामी बनकर भी उपासना की जा सकती है। इसी कारण आवरण लीला-परम्परा के काव्य में मधुर भाव के अतिरिक्त अन्य प्रेम भाव भी प्राप्त हो जाते हैं।

(नौ) कृष्ण की ब्रज-लीला की एकदम समानार्थक स्थिति रामोपासकों में भी स्वीकृत है। साकेत-लीला ब्रज-लीला का ही पर्याय है।

(दस) ब्रज-लीला एवं साकेत-लीला का मुख्य अन्तर है कि साकेत-लीला में ऐश्वर्य की अनिवार्य स्वीकृति है, पर ब्रज-लीला में एकमात्र माधुर्य-भाव ही मान्य है।

(ग्यारह) दोनों लीलाओं का यह अन्तर कृष्ण एवं राम-सम्बन्धी पौराणिक आख्यानों के कारण हुआ है।

(बारह) 18वीं शती में वल्लभ, निम्बार्क एवं शुक मुख्यतः ब्रज-लीलाओं को अभिव्यक्ति देने वाले सम्प्रदाय हैं। इसके अतिरिक्त स्वामी नरहरि देव एवं स्वामी रसिक देव जैसे सखी-सम्प्रदायानुयायी जन भी ब्रज-लीला को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। राधावल्लभीय गो. हितरूप लाल में भी गोपी-भाव की स्वीकृति का अभाव नहीं है।

(तेरह) रीतिकाल की श्रृंगारिक प्रवृत्तियों एवं विलास-चेष्टाओं में ब्रज-लीला की अन्तिम परिणति हुई है।

(चौदह) काव्यगुण की दृष्टि से इस लीला के गायकों का साहित्य अधिक सम्पन्न है।

(ख) निकुंज-लीला

निकुंज-लीला शास्त्र-पुराणादि में वर्णित कृष्ण-लीला को एकदम अस्वीकृत करके विकसित होती है। लीला-गान को इस कृतित्व का मुख्य प्रदेय निम्नलिखित है—

(एक) राधा के अद्भुत रूप-सौन्दर्य का अंकन इस परम्परा के काव्य में प्रभूत मात्रा में हुआ है।

(दो) राधा की अपेक्षा कृष्ण में चाह एवं अभिलाषा का आधिक्य दिखाया गया है।

(तीन) युगल-स्वरूप के नित्य विहार के अत्यन्त मोहक शृंगारी काव्य-चित्र इस परम्परा की एक मुख्य विशेषता है।

(चार) इस परम्परा के अन्तर्गत मिलन की ही स्वीकृति है, विरह की नहीं।

(पाँच) लीला-वैचित्य के लिए मात्र छद्म विरह एवं छद्म मान इस परम्परा में स्वीकृत हैं। इस कारण प्रेमदशा का एक नया आयाम इस काव्य में उद्घाटित हुआ है जिसका पूर्ववर्ती काव्य में चित्रण नितान्त विरल है।

(छह) परकीया की धारणा तो इस लीला में वर्जित है ही, स्वकीया पर भी कोई बल नहीं दिया गया। कारण यह है कि युगल को 'नित्य किशोर' एवं 'अजन्मा' माना जाता है। अतः निकुंज-लीला सम्बन्धी साहित्य में राधा को परकीया रूप अपवाद के लिए भी प्राप्त नहीं होगा। व्यावहारिकता के क्षेत्र में 'दूलहा-दुलहिन' सम्बन्ध का सादृश्य व्यंजित होता है।

(सात) साधक के लिए एकमात्र सखी-भाव ही इस लीला में स्वीकृत है। दास, सखा आदि का प्रश्न इस साधना में नहीं उठता। इसी कारण बाल या ऐश्वर्य-लीलाएँ इस काव्य के क्षेत्र से दूर ही रखी गयी हैं।

(आठ) रामोपासकों की तत्सुखी शाखा, सखी-भावोपासना का ही प्रति रूप है। इस भाव में एकमात्र नित्य-दम्पति के सुख की ही भावना रहती है। इस साधना-प्रकार में अपना सुख उस सुख पर ही आधारित स्वीकार किया गया है। इसी कारण नित्य-विहारोपासकों ने युगल-केलि का अत्यन्त उल्लासमय एवं संवेग-प्रवण चित्रण किया है। युगल-विहार के प्रसंग आते ही सखी भावोपासक का मन तरलायित होकर नाना छन्दों में ढुलक जाता है।

(नौ) हरिदासी, राधावल्लभीय एवं ललित, इस लीला के मुख्य प्रतिष्ठापक सम्प्रदाय हैं, यद्यपि उसका प्रभाव प्रत्येक सम्प्रदाय पर प्राप्त हो जाता है। 18वीं शती में सम्भवतः एक भी भक्ति-सम्प्रदाय ऐसा न मिलेगा जिसके अनुयायियों ने सखी-भाव की अभिव्यक्ति न की हो। परिणामस्वरूप 18वीं शती का प्रेमाभक्ति-साहित्य मुख्यतः सखी-भावापन्न निकुंज-लीला का गान है। इसी कारण प्रकृति के अनेक उद्दीपन विभावान्तर्गत चित्र भी अंकित हुए हैं। प्रस्तुत काव्य

में प्रकृति का ही उपयोग है दम्पति के विहार का साधन बनना।

(दस) अत्यन्त सीमित क्षेत्र में संचरण करने के कारण प्रस्तुत काव्य में नव-नव रूप निर्माण क्षमता-प्रतिभा के दर्शन कम होते हैं और आधुनिक पाठक को कभी-कभी एक रस प्रतीत होने लगता है।

(ग) प्रेम-प्रतीक-भावधारा

(एक) यह परम्परा सगुण-लीला से एकदम पृथक् है। यहाँ पर लीला यदि है भी तो प्रभु के अनुग्रहों के रूप में ही व्यक्त हुई है। निर्गुणमार्गियों एवं सूफ़ियों में अवतार-तत्त्व स्वीकृत नहीं था। नरवपु में भूलोक में किसी स्थल (ब्रज या कोशल) पर लीला का प्राकट्य अथवा अन्य लोक में लीला का अहरह चलने वाला व्यापार इन मार्गों की पद्धति के अनुकूल नहीं है। इसी कारण इन सम्प्रदायों की भक्ति को रागानुगा न कहकर रागात्मिका कहना ठीक होगा, क्योंकि ये सम्प्रदाय किसी पूर्व-स्वीकृत चरित्र के भावों का अनुगमन करने के स्थान पर प्रभु से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं।

(दो) वस्तुतः गुणों की स्थापना कर देने के बाद भी ब्रह्म की निराकार धारणा वैष्णव-लीलावाद के अनुरूप नहीं थी। इसी कारण इन लोगों का 'प्रेम' प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुआ है।

(तीन) भावावेग की तीव्रता के कारण ये प्रतीक बहुधा व्यावहारिक वास्तविक प्रतीत होते हैं।

(चार) इन प्रतीकों में पति-पत्नी एवं सेवक-स्वामी के प्रतीक सन्तों को अत्यधिक प्रिय थे।

(पाँच) सूफ़ियों एवं सन्तों की प्रेम-भावना में मूलतः बड़ा अन्तर नहीं है। कहानी का आवरण हटा देने पर दोनों तत्त्वतः एक ही प्रतीत होते हैं।

(छह) प्रेम-प्रतीकवाद होने के कारण स्वकीया-परकीया का प्रश्न यहाँ पर नहीं उठाया जा सकता, परन्तु सन्तों ने इस प्रेम-प्रतीकवाद का आदर्श एक दूसरा प्रतीक 'पतिव्रता' उपस्थित किया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रेम की अनन्यता के क्षेत्र में वे स्वकीया की नैतिक दृष्टि को स्वीकार करते थे।

(सात) विरहानुभूति इस परम्परा के काव्य की एक मुख्य विशेषता है। आवरण-लीला (ब्रज-लीला) के गायकों ने विरह-वृत्ति को जो मान दिया है, सम्भवतः उसके मूल में यह विचारधारा विद्यमान थी।

(3) साधना की दृष्टि से यह काव्य 'प्रेमपरक रहस्यवाद' के अन्तर्गत परिगणित किया जाना चाहिए। बाह्य प्रतीकोपासना के साथ ही नित्यलीला की एक नितान्त मानसिक साधना इसमें अपेक्षित है। निकुंज-लीला के गायक तो शुद्ध रूप से इस प्रेम-रहस्यवाद के अन्तर्गत माने जा सकते हैं।

(4) 18वीं शती का ब्रज-भाषा का प्रेमाभक्ति-काव्य अपने कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से भक्तिकाल एवं रीतिकाल का मध्यवर्ती है। इस सम्बन्ध में मिश्र तथ्य ध्यान में रखने होंगे—

(क) इस साहित्य में व्यक्त लीलाओं का रूप एवं उनकी मूल विचार-वस्तु भक्तिकाल का ठीक अनुसरण है। इसी कारण काव्य की दृष्टि से पढ़ने वाले व्यक्ति को यह काव्य पिष्टपेषण-युक्त एवं एक सीमा के बाद उबाने वाला प्रतीत होता है, परन्तु यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि यह काव्य शुद्ध काव्य-रचना की दृष्टि से न रचा जाकर साधना-साधन के रूप में लिखा गया था।

(ख) मूल-तत्त्व-दर्शन की समानता होते हुए भी 18वीं शती का यह साहित्य अनुभूति की आवेगात्मकता की दृष्टि से भक्तिकालीन प्रेमाभक्ति-काव्य की अपेक्षा हीनतर है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैयक्तिक-साधना में पूर्ववर्ती तीव्रता एवं आत्मविश्वास का अभाव होने लगा था। इस काव्य में सम्प्रदायाचार्यों के गुणगान का बढ़ता हुआ स्वर इस आत्मविश्वास की क्षीणता का द्योतक है।

(ग) अलंकृति, भाषा के परिष्करण एवं अभिव्यंजना के उपादानों-प्रसाधनों का अधिक सचेष्ट प्रयोग इस काव्य में है। इस दृष्टि में प्रस्तुत साहित्य के शिल्प-विधान पर रीतिकालीन प्रवृत्तियों की स्पष्ट छाया है।

(घ) रीतिकालीन काव्य ने नायिका-भेद, नायक के रूप और रूप-प्रभाव, विरह की विविध दशाओं, बहुवल्लभाओं के साथ नाना क्रीड़ाओं आदि के प्रसंग एवं भाव, प्रेमाभक्ति की ब्रज-लीला (आवरण-लीला)—परम्परा से प्राप्त किये हैं। संयोग एवं मिलन की धनीभूत संवेगात्मकता, नायिका का सौन्दर्य एवं सौन्दर्य का प्रभाव, नायक की मिलनाकुलता आदि दशाएँ निकुंज-लीला परम्परा से ग्रहण की गयी हैं। बिहारी जैसे कवियों में आलोचकों ने मिलन-प्रसंगों की जो उत्कृष्टता देखी है, उसके मूल में कवि का साधनागत भाव विद्यमान है।

(ङ) प्रेम-प्रतीकवादी भावधारा ने रीतिकाव्य को बहुत प्रभावित भी नहीं किया एवं अपने शिल्प-विधान में यह धारा रीतिकाव्य से कम-से-कम प्रभावित भी होती है। सुन्दरदास या चरणदास जैसे कवि कम ही मिलेंगे, जिन पर कला-युग का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(5) इस प्रकार भक्तिकाल की प्रवृत्तियों का संक्रमण प्रेमाभक्ति की विविध स्थितियों के माध्यम से रीतिकाव्य में होता है। 18वीं शती का यह साहित्य इन दोनों कालों की प्रवृत्तियों की मध्यवर्ती कड़ी ही नहीं, अपितु रीतिकाव्य की समकालीन

समानान्तर प्रवहमान जीवन्त धारा भी है, जो 19वीं शती तक अनवरुद्ध गति से संचरित होती रहती है। यदि इन दोनों प्रकार के साहित्यों का समीपी एवं तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो इस सम्बन्ध की दिशा एवं काव्य-परम्परा के ऐतिहासिक बढ़ाव का अधिक साफ़ रूप सामने आ सकेगा और बहुत सम्भव है कि रीतिकाल-सम्बन्धी बहुत से विवादों का इससे परिशमन भी हो सके।

ग्रन्थ में प्रयुक्त शब्द-संक्षेप-सूची

अ.	अध्याय
अप्र.प्रब.	अप्रकाशित प्रबन्ध
अ.का.	अरण्य-काण्ड
अहि.सं.	अहिर्बुध्न्य-संहिता
आ.	आचार्य
उ.नी.म.	उज्ज्वल-नीलमणि
कि.का.	किष्किन्धा-काण्ड
चै.च.	चैतन्य चरितामृत
चै.	चौबोला
जी.गो.	जीव गोस्वामी
डॉ.	डॉक्टर
त.दी.नि.	तत्त्वदीपनिर्णय
द.वि.	दक्षिण विभाग
दी.द. गुप्त, डॉ.	डॉक्टर दीनदयालु गुप्त
दे.	देखिए
ना.प्र.स.	नागरी प्रचारिणी सभा
ना.भ.सू.	नारद भक्तिसूत्र
ना.द. शर्मा, डॉ.	डॉक्टर नारायण दत्त शर्मा
नि.वि.	नित्य विहार
नि.सं.कृ.भ.	निम्बार्क-सम्प्रदाय के कृष्णभक्त
हि.क.	हिन्दी कवि
नृ.रा.मि.	नृत्य-राघव-मिलन
प.रा.चतुर्वेदी	परशुराम चतुर्वेदी
परि.	परिच्छेद (परिभाषा के लिए भी यथास्थान देखें)
पू.वि.	पूर्व-विभाग

पृ.	पृष्ठ
ब.ली.	बयालीस लीला
बा.का.	बाल-काण्ड
भ.र.	(भगवत) भक्ति रसायन
भ.प्र.सिंह, डॉ.	डॉ. भगवती प्रसाद सिंह
(ह.) भ.र.सि.	(हरि) भक्ति-रसामृत-सिन्धु
म.ली.	मध्य लीला
रा.क्र.वि.	राधा का क्रमिक विकास
रा.च.मा.	रामचरितमानस
रा.त.प्र.	राम-तत्त्व-प्रकाश
रा.भ.म.उ.	रामभक्ति में मधुर-उपासना
रा.भ.र.सं.	राम-भक्ति में रसिक-सम्प्रदाय
ली.वि.	लीला विंशति
वै.	वैष्णव
वै.एण्ड शै.	वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलिजस सिस्टिम्स
वै.फे.मू.	अर्ली हिस्ट्री आफ़ दि वैष्णव, फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बेंगाल
श.भू. गुप्त, डॉ.	डॉ. शशि भूषणदास गुप्त
शा.भ.सू.	शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र
सि.	सिद्धान्त
सु.का.	सुन्दर-काण्ड
सु.म.सं.	सुन्दर मणि-सन्दर्भ
सू.सा.	सूरसागर
सं.	संख्या या संवत्
स्वा.	स्वामी
स्वा.ह.सं.वा.सा.	स्वामी हरिदास का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य
श्री.कृ.सं.	श्री कृष्ण-सन्दर्भ
ह.प्र.द्विवेदी	हजारी प्रसाद द्विवेदी
ह.सं.	हनुमत्संहिता
ह.लि.प्र.	हस्तलिखित प्रति
नि.मा.	निम्बार्क माधुरी

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. अनन्य-तरंगिणी — श्री रसिक अली
2. अनन्य-निश्चयात्म-ग्रन्थ — श्री भगवतरसिक
3. अनन्य मोदिनी — श्री प्रियादास
4. अमीघूँट-केशवदास — बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
5. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (दो भाग 2) — डॉ. दीनदयालु गुप्त
6. अष्टछाप परिचय — श्री प्रभुदयाल मीतल
7. अष्टादश सिद्धान्त के पद — स्वामी हरिदास
8. अष्टादश सिद्धान्त के पदों की टीका — श्री अमोलकर राम
9. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा — श्री परशुराम चतुर्वेदी
10. कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ — सम्पादक. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल
11. कबीर-ग्रन्थावली — डॉ. श्यामसुन्दर दास
12. कर्णानन्द (बंगला-ग्रन्थ) — श्री यदुनन्दन
13. कवित्त-रत्नाकर — श्री सेनापति
14. कीर्तन-संग्रह (भाग 2-3) — श्री लल्लुभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद
15. केलिमाल — स्वामी हरिदास
16. गीतामृत गंगा — श्री बृन्दाबन देव
17. गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — डॉ. जगदीश गुप्त
18. गोस्वामी हित हरिवंश : सिद्धान्त और साहित्य — श्री ललिताचरण गोस्वामी
19. गौरांग-भूषण मंजावली — गौरगणदास (बाबा कृष्णदास-प्रकाशक)

20. घनानन्द (ग्रन्थावली) — सम्पादक, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
21. घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा — डॉ. मनोहर लाल गौड़
22. चन्द्रसखी और उनका काव्य — सम्पादिका : सुश्री पद्मावती शबनम
23. चन्द्रसखी के भजन और लोकगीत — सम्पादक : श्री प्रभुदयाल मीतल
24. चिन्तामणि, भाग 1 — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
25. चैतन्य चरितामृत (बंगला-ग्रन्थ) — श्री कृष्णदास कविराज
26. चैतन्य चरितामृत (ब्रजभाषा) — श्री सुबल श्याम (बाबा कृष्णदास)
27. चौरासी वैष्णव की वार्ता — विद्या-विभाग, कांकरौली
28. जायसी ग्रन्थावली — सम्पादक : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
29. तसव्वुफ और सूफ़ीमत — श्री चन्द्रबली पाण्डेय
30. तुलसी-ग्रन्थावली, भाग 2 — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
31. देव और उनकी कविता — डॉ. नगेन्द्र
32. दोहाकोश — राहुल सांकृत्यायन
33. नागर समुच्चय — नागरीदास
34. निजमत-सिद्धान्त — किशोरदास
35. नित्य विहार-पदावली — रसिक देव
36. निम्बार्क-माधुरी — सम्पादक : ब्रह्मचारी विहारीशरण
37. पद्मावत-भाष्य — डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल
38. परमानन्द-सागर — सम्पादक : डॉ. गोवर्द्धनलाल शुक्ल
39. प्रियादास-ग्रन्थावली — प्रकाशक : बाबा कृष्णदास
40. प्रेमपाठ-(प्राणनाथ वाणी) — अमरवास बनमालीदास शर्मा (दार्जिलिंग)
41. प्रेमभक्ति-चन्द्रिका — श्री बृन्दाबन दास
42. प्रेमयोग — स्वामी विवेकानन्द
43. बयालीस लीला — ध्रुवदास
44. बिहारी रत्नाकर — सम्पादक : जगन्नाथदास रत्नाकर
45. ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन — डॉ. रामकृष्ण आचार्य
46. भक्तकवि व्यास जी — सम्पादक : वासुदेव गोस्वामी
47. भक्त नामावली — श्री बृन्दाबन दास
48. भक्तमाल — श्री नाभादास
49. भक्ति का विकास — डॉ. मुंशीराम शर्मा
50. भक्ति-दर्शन — डॉ. सरनाम सिह

51. भक्ति-योग — स्वामी विवेकानन्द
52. भक्ति-विलास — महाराज रघुराज सिंह
53. भक्ति-सागर — श्री चरणदास
54. भक्ति-सिद्धान्तमणि — श्री रसिक देव
55. भागवत-सम्प्रदाय — श्री बलदेव उपाध्याय
56. भारतीय-दर्शन — डॉ. उमेश मिश्र
57. भारतीय-दर्शन — श्री बलदेव उपाध्याय
58. भारतीय दर्शन का इतिहास — डॉ. देवराज
59. हिन्दुत्व — श्री रामदास गौड़
60. भारतीय साधना और सूर-साहित्य — डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम'
61. मतिराम और उनका काव्य — डॉ. महेन्द्र कुमार
62. मध्यकालीन धर्म-साधना — डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
63. मध्यकालीन प्रेम-साधना — श्री परशुराम चतुर्वेदी
64. मध्यकालन शृंगारक प्रवृत्तियाँ — श्री परशुराम चतुर्वेदी
65. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ — डॉ. सावित्री सिन्हा
66. महाकवि जायसी — श्री जयदेव कुलश्रेष्ठ
67. महावाणी — श्री हरिव्यास देव
68. माधुरी वाणी — श्री माधुरी दास
69. मुंशी अभिनन्दन-ग्रन्थ — सम्पादक : श्री रमाकान्त दीक्षित
70. मुक्तक काव्य-परम्परा और बिहारी — डॉ. रामसागर त्रिपाठी
71. युगल-शतक आदिवाणी — श्री भट्ट (सं. ब्रजवल्लभ शरण)
72. रस-सार — रसिक देव
73. रसराज — श्री मतिराम
74. राजस्थान का पिंगल-साहित्य — डॉ. मोतीलाल मेनारिया
75. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य — डॉ. विजयेन्द्र स्नातक
76. राधारमण-रस-सागर — श्री मनोहरदास (सं. बाबा कृष्णदास)
77. राधा सुधानिधि — श्री हित हरिवंश
78. रामकथा : उत्पत्ति और विकास — डॉ. कामिल बुल्के
79. रामचरितमानस — गोस्वामी तुलसीदास
80. रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय — डॉ. भगवती प्रसाद सिंह
81. रामभक्ति साहित्य में मधुर-उपासना — श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'
82. राम-रस-रंग — श्री रसरंगमणि

ख.	रामानन्द-सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	डॉ. बदरीनारायण श्रीवास्तव
83.	रास पंचाध्यायी	श्री नन्ददास
84.	रीतिकालीन काव्य में प्रेम-व्यंजना	डॉ. बच्चन सिंह
85.	रीतिकाव्य की भूमिका	डॉ. नगेन्द्र
86.	लीला विंशति तथा नित्य बिहार-पदावली	श्री रूपरसिक देव (प्रकाशक—माधुरीदास)
87.	विद्यापति	डॉ. शिवप्रसाद सिंह
88.	विलाप-कुसुमांजलि	बृन्दाबन दास
89.	वैष्णव-धर्म	श्री परशुराम चतुर्वेदी
90.	ब्रज-माधुरी-सार	श्री वियोगी हरि
91.	शब्दसार	श्री बुल्ला साहब
92.	शैव-मत	श्री यदुवंशी
93.	श्रीमद् वैष्णव सिद्धान्त रत्न-संग्रह	हकीम श्यामलाल, वृन्दावन
94.	श्री राधा का क्रम-विकास	डॉ. शशिभूषण दास गुप्त
95.	श्री हरिलीला	श्री ब्रह्म गोपाल (प्रका. : बाबा कृष्णादास)
96.	श्री हरिव्यास-यशामृत	श्री रूपरसिक देव (प्रका. : रामचन्द्रदास)
96ए.	हित हरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य	ललिता चरण गोस्वामी
97.	सहजोबाई की बानी	बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
98.	साहित्य-रत्नावली	किशोरी शरण अलि
99.	सिद्धान्त-रत्नाकर	निम्बार्क शोध-मण्डल
100.	सिद्ध-साहित्य	डॉ. धर्मवीर भारती
101.	सीताराम-नखशिख-वर्णन	प्रेमसखी
102.	सुन्दर-ग्रन्थावली	पुरोहित हरनारायण शर्मा
103.	सेवक-वाणी	सेवक जी
104.	सूफ़ीमत और हिन्दी-साहित्य	डॉ. विमल कुमार जैन
105.	सूफ़ीमत : साधना और साहित्य	रामपूजन तिवारी
106.	सूर और उनका साहित्य	डॉ. हरवंशलाल शर्मा
107.	सूर की झाँकी	डॉ. सत्येन्द्र
108.	सूर-निर्णय	द्वारिकादास पारिख, प्रभुदयाल मीतल
109.	सूरपूर्व-ब्रजभाषा-काव्य	डॉ. शिवप्रसाद सिंह
110.	सूरसागर	सूरदास
111.	सूर-साहित्य	डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

112. सूर-सौरभ — डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम'
113. सोमनाथ-रत्नावली — सोमनाथ
114. सन्त-काव्य — परशुराम चतुर्वेदी
115. स्फुट-वाणी — हित हरिवंश
116. स्वामी हरिदास अभिनन्दन-ग्रन्थ — सं. : छबीलेवल्लभ गोस्वामी
117. हित-चौरासी — हित हरिवंश
118. हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन — डॉ. हिरण्मय
119. हिन्दी और बंगाली के वैष्णव कवि (16वीं शती) — डॉ. रत्नकुमारी
120. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति — डॉ. संसारचन्द्र
121. हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी — डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त
122. हिन्दी-साहित्य (द्वितीय भाग) — डॉ. धीरेन्द्र वर्मा (सम्पादक)
123. " " — डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
124. हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग) — डॉ. नगेन्द्र
125. हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास (प्र. भाग) — डॉ. राजबली पाण्डेय
126. हिन्दी-साहित्य की भूमिका — डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
127. हिन्दी-साहित्य-कोश — डॉ. धीरेन्द्र वर्मा (सम्पादक)
128. हिन्दी-साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
129. हृदय-सर्वस्व — वंशी अलि (सं. एवं प्रकाशक नृसिंहदत्त किंगण)

1. अप्रकाशित हिन्दी-ग्रन्थ

1. अनन्य अली की वाणी (बाबा तुलसीदास, बाबा वंशीदास, गो. रूपलाल जी से कुछ सामग्री प्राप्त)
2. अष्टाचार्यों की वाणी (डॉ. शरण बिहारी गोस्वामी के संग्रह से)
3. किशोरी अलि की वाणी (डॉ. शरण बिहारी गोस्वामी के संग्रह से)
4. किशोरीदास की बाणी (बाबा कृष्णदास के संग्रह से)
5. गुलाबलाल कृत अष्टक (गो. हित रूपलाल)
6. गौतमीय तन्त्र (डॉ. श. बि. गो. के संग्रह से)

7. निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके हिन्दी कृष्ण-भक्तकवि (डॉ. नारायण दत्त शर्मा)
8. पीताम्बर देव की बानी (डॉ. श. वि. गो. के संग्रह से)
9. रस-कदम्ब-चूड़ामणि-ग्रन्थ-रसिकदास (बाबा कृष्णदास के संग्रह से)
10. रसिकदास का अष्टक (गो. रूपलाल के संग्रह से)
11. रसिक विलास-साधुचरण दास (बाबा कृष्णदास के संग्रह से)
12. रस-रत्नाकर-हितरूपलाल (गो. ललिता चरण के संग्रह से)
13. वृन्दावन-शतक—भगवत् मुदित (डॉ. श. वि. गो.)
14. बृहदुत्सव मणिमाल—रूपरसिक देव (ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य के संग्रह से)
15. स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य डॉ. गोपालदत्त शर्मा
16. सौन्दर्यलता—रसिकदास (बाबा वंशीदास के सौजन्य से)
17. हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य में सखी-भाव—शरणबिहारी गोस्वामी
18. श्री कृष्णदास जी भावुक के कतिपय पद गोस्वामी ललिताचरण जी से प्राप्त हुए।
19. इसके अतिरिक्त कुछ फुटकर पद, कुछ पुस्तकालयों के संग्रहों से भी प्राप्त हुए।
20. भक्तवर नागरीदास—इनके काव्य-विकास से सम्बन्धित प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का एक अध्ययन।

—डॉ. फ़य्याज़ अली खाँ

2. अंग्रेजी-ग्रन्थ

1. एलिगरी ऑफ़ लव — सी.एस. लेविस
2. ऑन रिलिजन : मार्क्स एण्ड एंगेल्स — मॉस्को पब्लिकेशन
3. ऑब्सक्योर रिलिजस कल्ट्स — डॉ. शशिभूषणदास गुप्त
4. आस्पेक्ट्स ऑफ़ भक्ति — के.सी. वरदाचारी (1956)
5. इण्डियन साधूज़ — जी. एस. घुर्ये
6. ए कॉम्प्रीहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, भाग 2 — सपादक—के.ए.एन. शास्त्री
7. ए जनरल इण्ट्रोडक्शन टु साइकोएनालिसिस — फ्रॉयड
8. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलिजन एण्ड एथिक्स—भाग 12 — फ्रॉयड

9.	ऐन आउटलाइन ऑफ़ रिलिजस लिटरेचर ऑफ़ इण्डिया	जे.एन. फर्कुहर
10.	एस्थैटिक एक्सपीरियन्स इन रिलिजन	गैडिस मैक ग्रेगर
11.	ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी	एस.एन. दासगुप्त, (1955)
12.	ग्लिम्पसेज़ ऑफ़ मेडीवल इण्डियन कल्चर	यूसुफ़ हुसैन
13.	चैतन्य-मूवमेण्ट	एस.टी. कैनेडी
14.	डेवलपमेण्ट ऑफ़ हिन्दू आइक्नोग्राफ़ी	जे.एन. बनर्जी
15.	द ग्लोरियस क़ुरान	एम. पिक्थैल
16.	द परशियन मिस्टिक्स	एफ.एच. डेविस
17.	द पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट ऑफ़ बंगाल	मणीन्द्र मोहन बोस कलकत्ता युनि. (1930)
18.	द माइण्ड एण्ड हार्ट ऑफ़ लव	एम. सी. डार्सी (फेबर एण्ड फेबर, लन्दन)
19.	द मिस्टिक्स ऑफ़ इस्लाम	आर.ए. निकल्सन
20.	द वैराइटीज ऑफ़ रिलिजस एक्सपीरियन्स	विलियम जेम्स
21.	द साइकॉलॉजी ऑफ़ रिलिजस मिस्टीसिज़्म	जे.एच. हवा
22.	पाथवेज़ टु गॉड इन हिन्दी लिटरेचर	आ.डॉ. रानडे
23.	फ़ैशन एण्ड सोसाइटी	डेनिस डि रूजमा (फेबर एण्ड फेबर, लन्दन)
24.	फ़ाउण्डेशन ऑफ़ कैरेक्टर	ए.एफ. सैण्ड
25.	बेंगाली लिटरेचर	जे.सी. घोष (ऑक्सफोर्ड लन्दन)
26.	भक्ति-कल्ट इन एन्शिएण्ट इण्डिया	बी.के. गोस्वामी
27.	मिस्टीसिज़्म इन महाराष्ट्र	आर.डी. रानाडे
28.	मैटिरियल्स फॉर द स्टडी ऑफ़ दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ द वैष्णव सैक्ट	हेमचन्द्र रायचौधरी
29.	रिलिजस कांशसनेस	जे.बी. प्रैट

30. एसेज़ ऑन द रिलिजस सैक्ट्स ऑफ़ हिन्दूज़ — एच.एच. विल्सन
31. लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ़ दि अरब्स — आर.ए. निकल्सन
32. वैष्णव फ़ेथ एण्ड मूवमेण्ट — एस.के. डे
33. वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स — डॉ. आर. जी. भण्डारकर
34. स्टडीज़ इन पर्शियन लिटरेचर — हादी हसन
35. सूफ़ीइज़्म — ए.जे. आरबेरी
36. हिन्दूइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म — चार्ल्स इलियट
37. हिन्दूइज़्म थ्रू दि एजेज़ — डी.एस. शर्मा

3. संस्कृत-ग्रन्थ

1. अणुभाष्य — वल्लभाचार्य
2. अन्तःकरणप्रबोध — वल्लभाचार्य
3. अलंकार-कौस्तुभ — कवि कर्णपूर
4. अहिर्बुध्न्यसंहिता — ऋग्वेद
5. आचार्य-स्तव-माला — अमोलक राम, शास्त्री
6. उज्ज्वल-नीलमणि — रूप गोस्वामी
7. कृष्ण-कर्णामृत — लीलाशुक
8. काव्यप्रकाश — आचार्य मम्मट (डॉ. सत्यव्रत सिंह का अनुवाद)
9. गीतगोविन्द — जयदेव
10. तत्वार्थ-दीप-निर्णय — श्रीवल्लभाचार्य
11. दशरूपक — धनंजय (डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत का अनुवाद, साहित्य निकेतन, कानपुर)
12. दशश्लोकी — निम्बार्काचार्य
13. नारद भक्तिसूत्र — गीता प्रेस, गोरखपुर
14. पद्म-पुराण
15. पद्यावली — सम्पादक : रूप गोस्वामी (बृन्दावन)
16. प्रमेय-रत्नावली — श्री बलदेव विद्याभूषण, संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता (सन् 1927)

17. ब्रह्मसंहिता	गौड़ीयमत, मद्रास
18. भक्ति-द्वैविध्य-निरूपणम्	गोस्वामी हरिराय
19. भगवद् भक्ति-रसायन	मधुसूदन सरस्वती (प्र. : साङ्ग वेद विद्यालय वाराणसी, सन् 1950)
20. हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु	रूप गोस्वामी
21. भक्ति-रस-तरंगिणी	नारायण भट्ट
22. रस-गंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
23. लघु-भागवतामृत	रूप गोस्वामी
24. विवेकचूडामणि	शंकराचार्य
25. विष्णुपुराण	
26. बृहदारण्यकोपनिषद्	
27. वैष्णवभक्ताब्जभास्कर	रामानन्द
28. शिवपुराण	
29. शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड	गोस्वामी गिरधर जी
30. श्री देवीभागवत	
31. श्री राधा-सिद्धान्तम्	महात्मा वंशी अलि
32. श्री स्तोत्र-रत्न	यमुनाचार्य
33. षट्-सन्दर्भ	जीवगोस्वामी (प्रकाशक : श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता)
34. षोडश-ग्रन्थ	वल्लभाचार्य (भट्ट रमानाथ शर्मा तथा कल्याण, सन्तवाणी अंक)
35. साहित्य-दर्पण	श्री विश्वनाथ कविराज
36. सुबोधिनी-भाष्य	श्री वल्लभाचार्य
37. सुन्दर-मणि-सन्दर्भ	श्री मधुराचार्य
38. हनुमत् संहिता	
39. हरिराय-वाक्यमुक्तावली	प्रकाशक, पुष्टिमार्गीय पुस्तकालय नडियाड
40. श्री राम-तत्त्व प्रकाश	श्री मधुराचार्य
41. विशिष्टाद्वैतकोश	सं. डी.टी. ताताचार्य
42. रामनवरत्न सार संग्रह	श्री रामचरणदास
43. हरि-भक्ति रसामृत सिन्धु	रूप गोस्वामी

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आलोचना
2. कल्पना
3. कल्याण
4. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका
5. भारतीय-साहित्य
6. भण्डारकर-ओरियण्टल-रिसर्च-इंस्टीट्यूट-जर्नल
7. ब्रज-भारती
8. वल्लभीय सुधा पत्रिका
9. श्री सर्वेश्वर
10. सम्मेलन-पत्रिका
11. हिन्दी-अनुशीलन एवं अन्य खोज-रिपोर्ट्स तथा विवरण इत्यादि।

डॉ. देवीशंकर अवस्थी : जीवनवृत्त

जन्म : 5 अप्रैल, 1930, ग्राम-सथनी बालाखेड़ा, जनपद-उन्नाव (उ.प्र.)

शिक्षा : आरम्भिक शिक्षा गाँव में और व्यक्तिगत स्तर पर। डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर से 1951 में बी.ए. और 1953 में एम.ए. (हिन्दी) प्रथम श्रेणी में। 1960 में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में 'अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति' विषय पर पीएच.डी.। 1952 में 'लॉ' की भी डिग्री ली।

आजीविका : 1953 से 1961 तक डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर में हिन्दी के प्राध्यापक। जुलाई, 1961 से मृत्युपर्यन्त दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक रहे।

निधन : 11 जनवरी, 1966 को दिल्ली में एक सड़क दुर्घटना के चलते ब्रेन हेमरेज से 13 जनवरी, 1966 को आकस्मिक अवसान।

प्रकाशित पुस्तकों का इतिवृत्त : (1) मौलिक : आलोचना–(i) आलोचना और आलोचना–1961, प्रज्ञा प्रकाशन, कानपुर, पुनःप्रकाशन–1995, वाणी प्रकाशन, दिल्ली; (ii) अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति–1968, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, पुनःप्रकाशन–2015, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली; (iii) रचना और आलोचना–1979, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, पुनःप्रकाशन–1995, वाणी प्रकाशन, दिल्ली; (iv) भक्ति का सन्दर्भ–1997, वाणी प्रकाशन, दिल्ली; (v) आलोचना का द्वन्द्व–1999, वाणी प्रकाशन, दिल्ली; (vi) विवेक के कुछ और रंग–2003, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली; (vii) देवीशंकर अवस्थी : संकलित निबन्ध–2008, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नयी दिल्ली; (viii) देवीशंकर अवस्थी : रचना संचयन–2012, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली।

(2) सम्पादित पुस्तकों का इतिवृत्त : (i) कविताएँ १९५४, साहित्य निकेतन, कानपुर (श्री अजित कुमार के साथ); (ii) कहानी-विविधा–1963, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; (iii) 'भूले-बिसरे चित्र' उपन्यास के संक्षिप्त संस्करण की भूमिका और सम्पादन–1963, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; (iv) विवेक के रंग–1965, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पुनःप्रकाशन–1995, वाणी प्रकाशन, दिल्ली; (v) नयी कहानी :

सन्दर्भ और प्रकृति—1966, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, पुनःप्रकाशन—1973, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; (vi) साहित्य विधाओं की प्रकृति—1981, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, पुनःप्रकाशन—1993, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; (vii) 'कलजुग' पत्रिका, फरवरी 1957 से जून-जुलाई 1957 (पाँच अंक) तक कानपुर से सम्पादन एवं मार्गदर्शन।

(3) **पत्र संकलन :** (i) 'हमकों लिख्यौ है कहा'—2001, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली (मित्रों के पत्र देवीशंकर के नाम); (ii) मेरे प्रेम-पत्र (पत्नी कमलेश के नाम)—2012, संवेद पुस्तिका, दिल्ली।

(4) **पुस्तक अनुवाद :** 'ईश्वर चन्द्र विद्यासागर' विनय घोष की अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद, जून 1968, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार।

(5) **देवीशंकर अवस्थी पर प्रकाशित पुस्तकें :** (i) मौलिक : देवीशंकर अवस्थी—2006, अरविन्द त्रिपाठी, साहित्य अकादमी से 'भारतीय साहित्य निर्माता सीरीज' में प्रकाशित विनिबन्ध (मोनोग्राफ); (ii) सम्पादित : आलोचना का विवेक—2004, सं. : राजेन्द्र कुमार (डॉ. देवीशंकर अवस्थी के अवदान पर एकाग्र) लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

□□

यह ग्रन्थ (शोध-प्रबन्ध) इस युग की संवेदनाओं को स्पष्ट करता है, उस युग पर अभी तक किसी दूसरे विद्वान का ध्यान नहीं गया। प्रेम लक्षणा भक्ति का सर्वांगपूर्ण विवेचन, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, कान्ता भाव, दाम्पत्य भाव आदि गार्हस्थ्य जीवन के पक्षों पर वैज्ञानिक दृष्टि से किसी और विद्वान ने दृष्टिपात नहीं किया।

डॉ. विजयेन्द्र स्नातक

देवीशंकर मूलतः नये साहित्य के समीक्षक हैं, पर जब वे अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति का विवेचन करते हैं तो किंचित् आश्चर्य होता है। नियतिकालीन क्षणों से गुज़रती अठारहवीं शताब्दी, सामन्तवाद का विलासी दौर, उस भोगविलास को व्यक्त करता ब्रजभाषा काव्य और उसमें भी किसी सीमा तक यथार्थ से पलायन करती प्रेमाभक्ति, ऐसे में देवीशंकर के सामयिक बोधवाले चिन्तन से संगति बिठाने में कठिनाई हो सकती है। पर प्रकारान्तर से यही इसका प्रमाण भी है कि वे नये साहित्य के विस्थापित अथवा उखड़े हुए पाठक नहीं हैं। वे परम्परा को क्रम में रखकर चीज़ों को देख सकने की क्षमता रखते हैं

डॉ. प्रेमशंकर

देवीशंकर अवस्थी आलोचना में किसी भी विभाजनवादी दृष्टि से ग्रस्त नहीं होते, बल्कि उससे निरन्तर संघर्ष करते मिलते हैं। वे पुरानी आलोचना दृष्टि से रार ठानते हैं, लेकिन पुराने साहित्य से नहीं। वे भक्ति-साहित्य के भी अच्छे अध्येता हो सके तो इसीलिए कि समकालीन साहित्य का मर्म पहचानने की उनकी दृष्टि अचूक है।

डॉ. राजेन्द्र कुमार
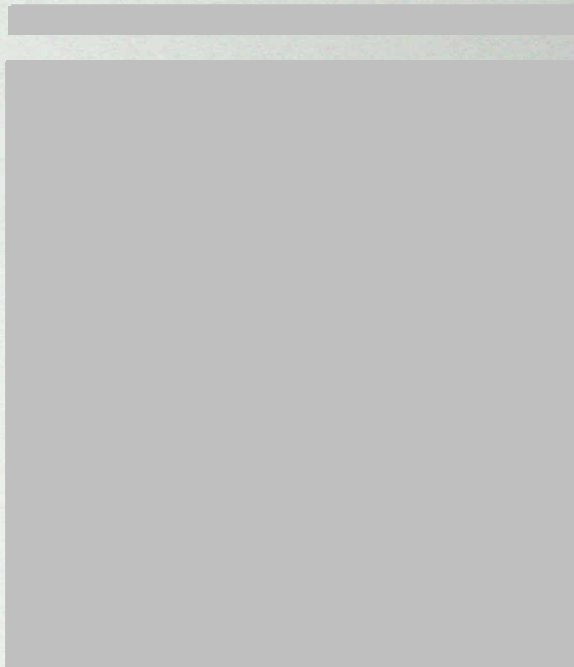
देवीशंकर अवस्थी

(1930-1966)

जन्म : 5 अप्रैल, 1930; ग्राम–सथनी बाला खेड़ा, ज़िला उन्नाव (उ.प्र.)।

शिक्षा : रायबरेली और कानपुर में।

1960 में आगरा विश्वविद्यालय से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में पीएच.डी.। इसके अतिरिक्त लॉ (कानून) की भी डिग्री ली थी।

कार्यक्षेत्र : 1953 से 1961 तक डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर में अध्यापन। 1961 से मृत्युपर्यन्त (13 जनवरी, 1966) दिल्ली विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग से सम्बद्ध।

रेखा अवस्थी

जन्म : 20 जून, 1947; लालगंज, रायबरेली (उ.प्र.)।

शिक्षा : एम.ए., भाषाविज्ञान में डिप्लोमा (दिल्ली विश्वविद्यालय), पीएच.डी. (भागलपुर विश्वविद्यालय)।

कार्यक्षेत्र : 1968 से 1973 तक भारत सरकार के अनुवाद विभाग में वरिष्ठ अनुवादक रहीं। दिल्ली विश्वविद्यालय के दयालसिंह कॉलेज के हिन्दी विभाग से 2012 में सेवानिवृत्त।

प्रकाशित पुस्तक : प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य।

सम्पादन : रागदरबारी : आलोचना की फाँस, प्रेमचन्द विगत महत्ता वर्तमान अर्थवत्ता, 1857 : बग़ावत के दौर का इतिहास, फ़ैज़, नागार्जुन, साहिर तथा हिन्दी-उर्दू साझा संस्कृति इत्यादि पुस्तकों का संचयन-सम्पादन।
जनवादी लेखक संघ की राष्ट्रीय सचिव एवं 'नयापथ' पत्रिका के सम्पादन से सम्बद्ध।

विशेष : आलोचक देवीशंकर अवस्थी की छोटी बहन।

कमलेश अवस्थी

जन्म : 24 दिसम्बर, 1939; कानपुर।

शिक्षा : एम.ए., पीएच.डी., आगरा विश्वविद्यालय।

विवाह : 1 जुलाई, 1956 को युवा मेधावी आलोचक देवीशंकर अवस्थी के साथ हुआ।

कार्यक्षेत्र : सेंटजेवियर्स स्कूल, दिल्ली में 1966-1969 तक अध्यापन, के.के. कॉलेज, कानपुर में 1969 से 1999 तक अध्यापन।

विशेष योगदान : 1995 में हिन्दी में युवा आलोचकों को प्रोत्साहित करने के लिए 'देवीशंकर आलोचना सम्मान' की स्थापना की।

प्रकाशित पुस्तकें : परम्परा और आधुनिकीकरण, देवीशंकर अवस्थी : रचना संचयन।

₹ 7500 (4 Vol. Set)

E-book Available

ISBN : 978-93-87648-27-2

www.vaniprakashan.in

रचनावली / Rachnawali

वाणी प्रकाशन

वाणी प्रकाशन का लोगो मक़बूल फ़िदा हुसेन की कूची से
Vani Prakashan's signature motif is created by Artist Maqbool Fida Husain